㉓
37

नन्द सरस्वती

- डॉ. राम

ओ३म्

महर्षि दयानन्द सरस्वती

१५·६
२८

- डॉ. रामप्रकाश आर्य

२५·६
२८

118329

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

118329

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
वर्ग संख्या १५.६/२८ आगत संख्या 118329

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वे दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

14 JUN 1997
J-62/96/96

-7 APR 2001
24651

31 MAY 2010
A-36/71/21

महर्षि दयानन्द सरस्वती

(जीवन व हिन्दी रचनाएं)

118329

लेखक

डा. राम प्रकाश आर्य

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रकाशक

वैदिक पुस्तकालय
दयानन्द आश्रम, केसरगंज
अजमेर–३०५००१

९५.६
२८

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

महर्षि दयानन्द सरस्वती
(जीवन व हिन्दी रचनाएं)

लेखक : डॉ. रामप्रकाश आर्य
प्रकाशक : वैदिक पुस्तकालय, केसरगंज, अजमेर
संस्करण : प्रथम, १९९५ ई.
मूल्य : दो सौ पचास रुपये मात्र
मुद्रक : सतीशचन्द्र शुक्ल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

प्रकाशक का वक्तव्य

सामान्य रूप से जिस समय घटना घटित होती है उस समय घटना का महत्त्व समझना और उसका मूल्यांकन करना कठिन है और सब के लिए संभव भी नहीं होता। घटना के तात्कालिक प्रभाव को अनुभव करते हुए समझते हैं यह सर्वविदित है। अतः उसके स्थायित्व के सम्बन्ध में विचार करने का अवसर नहीं आता। मनुष्य का स्वभाव है जैसे-जैसे समय वीतता जाता है स्मृति क्षीण से क्षीणतर होती जाती है और प्रभाव घटता जाता है। जब उस मनुष्य के साथ ऐसा होता है जिसके सामने घटित हुआ है फिर उसके लिए क्या कहा जावे जिसके सामने घटना घटी ही नहीं। इस कारण उस प्रभाव का मूल्यांकन करने की आवश्यकता पड़ती है। जब समाज में नई पीढ़ी आती है तब पुराने मूल्य का नई पीढी में संक्रमण हो इसके लिए यत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न भी शिथिल होकर जब वह प्रभाव समाज में तिरोहित होने लगता है तब समझदार लोग उस प्रभाव का पुनः स्मरण कराते हैं यह प्रयत्न अनुसंधान है। जानकारी कैसी भी हो वह स्मृति के आधार पर ही रह सकती है इसलिए जिसको स्मरण रखना है उसका बार-बार जानना आवश्यक है। आज स्वामी दयानन्द सरस्वती के वलिदान को एक सौ दस वर्ष से भी अधिक हो गये हैं। उनके स्वर्गवास के पश्चात् चार पीढ़ियाँ बीत गई हैं इसलिए नई पीढ़ी को आज उससे अवगत कराने की आवश्यकता है।

जहां खोज या अनुसंधान का प्रश्न आता है, यह कठिन कार्य है, व्यय साध्य भी। इसमें समय और शक्ति का भी व्यय बहुत होता है, खोज की प्रवृत्ति होने पर भी सामान्य व्यक्ति द्वारा इस प्रकार का कार्य किया जाना संभव नहीं हो पाता। सामान्य भारतीय की प्राथमिक आवश्यकता रोटी कपड़े मकान की चिन्ता पूरे जीवन उसका पीछा नहीं छोड़ती ऐसी परिस्थिति में अनिश्चित क्षेत्र में अपना पुरुषार्थ लगाना किस भी समझदार व्यक्ति के लिए उचित प्रतीत न हो यह स्वाभाविक है। आज अनुसंधान के नाम पर कुछ संस्थायें बनी हैं कुछ व्यक्ति कार्य कर रहे हैं उनमें से अधिकांश सरकार के पैसे का लाभ उठाने की इच्छा से ऐसा कर रहे हैं। जिनके पास साधन है वे अपना धन बचाने के लिए अपनी दुकान को शोध संस्थान नाम देते हैं। बचे लोग एक फैशन की तरह शोध शब्द का प्रयोग करते हैं, ये शोध के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं।

शोध अनिवार्य आवश्यकता है। जो शोध करता है उसे ही ज्ञान होता है, इस संसार में समृद्धि और उन्नति का मूल ज्ञान ही है। ज्ञान के अभाव में आध्यात्मिक उन्नति तो दूर भौतिक उन्नति भी नहीं हो सकती। संसार में ज्ञान को जो प्रथम ग्रहण करते हैं वे संसार को अपने पीछे चलाते हैं। इतिहास में भी जिन्होंने शोध किया है और शोध के परिणामों को शीघ्रतापूर्वक स्वीकार किया है वे विजयी रहे हैं। शस्त्रास्त्र प्रसंग मे जिनके हाथ में पहिले बन्दूक आई, जिन्होंने तोप को पहले अपनाया, जिन्होंने विमान, उपग्रह, बम बनाये वे संसार में विजयी रहे। हम ऐश्वर्य को ज्ञान के बिना प्राप्त करना चाहते हैं और ज्ञान के लिये प्रयत्न नहीं करते इस कारण हमारे धन से संसार के दूसरे लोग सम्पन्न होते जा रहे हैं। इस रहस्य को इस समय समझने की आवश्यकता है।

जैसे धन ज्ञान से प्राप्त होता है उसी प्रकार सत्ता भी ज्ञान से ही प्राप्त होती है। सांस्कृतिक सत्ता अपने ज्ञान के विस्तार का ही परिणाम है। आज समाज को विचारवान् बनाने के लिए विचार से परिचित होना और उसे प्रचारित करना आवश्यक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूरे जीवन इस कार्य का सम्पादन किया इसी कारण उनके अनुयायी समाज में प्रगति कर सके, उनके शिष्यों ने समाज का मार्गदर्शन किया, उसे नेतृत्व प्रदान किया। आज समाज उस विचार से वंचित होता जा रहा है। इस कारण हमें अपने और समाज के दोनों के लाभ के लिए उन विचारों से अवगत होना होगा। उन विचारों को तत्कालीन समाज में पड़े प्रभाव को देखना होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता को समाज की उस पुरानी सामग्री का अवलोकन, संग्रहण, अध्ययन और मूल्यांकन करना होता है। इस प्रकार वे विचार पुनः समाज के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी प्रकार का प्रयत्न है यह शोध ग्रन्थ। इस प्रयत्न से स्वामी दयानन्दजी के जीवन और कार्य से समाज पुनः परिचित हो सकेगा और उसमें बढ़ रही पाखण्ड अविश्वास की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने में सहायता मिल सकेगी।

शोधकार्य महत्त्वपूर्ण, उपयोगी विषय पर हुआ है। आदरणीय कै. देवरत्न आर्य के आग्रह को स्वीकार करते हुए इसे सभा ने प्रकाशित किया है। मुझे आशा है सभा के इस प्रयास से लेखक एवं पाठक दोनों ही लाभान्वित हो सकेंगे।

गजानन्द आर्य
मंत्री
परोपकारिणी सभा

प्रस्तावना

प्रबुद्ध वर्ग में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम न सुना हो । ज्यों-ज्यों समय व्यतीत हो रहा है, उनके अधिकाधिक गुण प्रकाश में आ रहे हैं और उनका महत्त्व उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है । कोई उन्हें धार्मिक नेता समझता है, कोई उनके सुधारक रूप की सराहना करता है, कोई उनको शास्त्रार्थ महारथी के रूप में स्वीकार करता है और कोई उनके व्यक्तित्व पर रीझता है, कोई उन्हें दार्शनिक मानता है और कोई उन्हें आदिम विद्रोही स्वीकार करता है । उनके इन्हीं रूपों पर कुछ शोध कार्य हुआ है, किन्तु उनका एक रूप अब भी उपेक्षितप्राय है और वह है हिन्दी भाषा और साहित्य के संबंध में उनका योगदान । प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में अग्रसर होने का विनम्र प्रयास है ।

स्वामीजी ने जो साहित्य हिन्दी को दिया है, वह डेमी आक्टेवो साइज के दस सहस्र[1] पृष्ठों में समाहित है । उनका यह साहित्य जितना विपुल है, उतना ही उपयोगी भी है । आश्चर्य तो यह है कि अहिन्दी भाषी प्रदेश का निवासी होकर, संस्कृत का प्रकाण्ड पंडित होकर भी उन्होंने अपनी रचनाओं का माध्यम हिन्दी रखा, हिन्दी को एक अभिनव नाम 'आर्य भाषा' से सम्बोधित किया, इसके प्रचार-प्रसार के लिये अहर्निश अनथक प्रयत्न किया, तर्कपूर्ण तुलनात्मक व्यंग्यमयी, मुहावरेदार संस्कृत तत्सम शब्दों से परिपूर्ण एक नवीन शैली दी, इसकी अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाकर खड़ी बोली के गद्य को स्थायित्व प्रदान किया, इसमें राष्ट्रीय एकता, क्रान्ति, देशोद्धार के विचार भरे, तथापि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों तथा आलोचकों ने उन्हें समुचित स्थान नहीं दिया । यह उपेक्षा यदि 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' अथवा बाणभट्ट की पत्र लेखा के समान अनायास होती तो क्षम्य हो सकती थी, पर यहां तो ऐसा प्रतीत होता है कि जानबूझ कर पक्षपातपूर्ण नीति का व्यवहार किया गया है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने स्वामीजी तथा उनके साहित्य की पर्याप्त उपेक्षा की है, कुछ अधिकारी विद्वानों ने तो ऐसी भयंकर भूलें की हैं कि उनकी विद्वत्ता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाने के लिये विवश होना पड़ता है । इस सन्दर्भ में कुछ तथ्य निम्न हैं—

१. हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंधलेखक आचार्यप्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वामीजी के साथ न्याय नहीं किया है । अपने इतिहास में स्वामीजी का उल्लेख केवल १३।। पंक्तियों में किया है ।[2] इसके भी आधे अंश में आर्यसमाज की चर्चा है और स्वामीजी के नाम के साथ कोई विशेषण भी नहीं दिया गया है । इसी पृष्ठ पर उनके एक समकालीन लेखक पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी की भी चर्चा है और उनके साथ 'विलक्षण प्रतिभा-

---

[1] Dictionary of National Biography Vol. I—S. P. Sen, Dayanand Saraswati—Page 407

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४४५

शाली विद्वान पंडित' विशेषण भी लगाया गया है तथा उनका परिचय ३० पंक्तियों में दिया गया है। इस पक्षपात का कारण अस्पष्ट नहीं है, शुक्लजी तथा फिल्लौरीजी दोनों ही साकारोपासना में विश्वास करते थे और स्वामीजी की आस्था निराकारोपासना में थी। प्राय: अन्य सभी इतिहासकारों ने शुक्लजी का अनुसरण गड्डुलिकाप्रवाह रूप में किया है।

२. डा. माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वान् व्यक्ति ने भी हिन्दी पुस्तकों का परिचय देते हुए स्वामीजी के सम्बन्ध में अपेक्षित सावधानी नहीं बर्ती। उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा भारत धर्म-महामण्डल काशी के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द को एक ही व्यक्ति मान लिया। दयानन्द सरस्वती की पुस्तकों में उन्होंने—आर्य गौरव —भारत धर्म महामण्डल बनारस तथा धर्म सुधाकर—'भारत धर्म सिन्डिकेट लिमिटेड बनारस'[1] को भी सम्मिलित कर लिया।

३. आचार्य राजबली पांडेय जैसे उद्भट विद्वान् ने भी दयानन्द स्वामी और स्वामी दयानन्द सरस्वती को एक मानकर उनके साहित्य की चर्चा की है। 'उपदेश मंजरी' को उन्होंने दयानन्द स्वामी की रचना बताया है और संस्कारचन्द्रिका तथा संस्कार प्रकाश[2] को दयानन्द सरस्वती की रचनाओं में सम्मिलित कर लिया है।

४. डा. प्रताप नारायण टंडन ने अपने इतिहास ग्रंथ में स्वामीजी के सत्यार्थप्रकाश को एक अनूदित ग्रंथ बताया है, "स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' का हिन्दी में अनुवाद किया।"[3]

५. डा. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आर्यसमाज की स्थापना का वर्ष १८६७ निर्दिष्ट किया गया है।[4]

६. डा. ओंकारनाथ शर्मा ने 'हिन्दी निबन्ध का विकास' में सत्यार्थप्रकाश को हिन्दी गद्य का सबसे बड़ा ग्रन्थ माना है, यह भी स्वीकार किया है कि अनेक भाषाओं में अनूदित होने का उतना गौरव किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं मिला, फिर भी स्वामीजी का परिचय केवल १६ पंक्तियों[5] में दिया गया है जबकि श्रद्धाराम फिल्लौरी के लिए ३९ पक्तियां प्रदत्त की गई हैं। डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में स्वामीजी का नामोल्लेख भी नहीं किया है, आर्यसमाज के संबंध में दो वाक्य अवश्य लिखे हैं।

७. डा. सत्येन्द्र द्वारा विरचित 'समीक्षात्मक निबंध' संग्रह में स्वामीजी का समावेश तो नहीं किया गया है, भारतेन्दु का परिचय प्रारम्भ करते समय 'क्या गदहा को चना चढ़ावे कि होई दयानन्द दुहरंगी'[6] का उल्लेख अवश्य किया गया है। श्री शिवकुमार शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां' में स्वामीजी के कार्य को 'चिरस्मरणीय' तो बताया

---

[1] हिन्दी पुस्तक साहित्य (१८६७-१९४२ ई.)—माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ ४७४

[2] हिन्दी में उच्चतर साहित्य—राजवली पांडेय—धर्म और दर्शन, पृष्ठ १३

[3] हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास, खण्ड १—प्रतापनारायण टण्डन, पृष्ठ २९३

[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा. नगेन्द्र तथा डा. सुरेशचन्द्र गुप्त, पृष्ठ ४४५

[5] हिन्दी निबंध का विकास—डा. ओंकारनाथ शर्मा, पृष्ठ ६१

[6] समीक्षात्मक निवन्ध—डा. सत्येन्द्र—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १५५

है पर उनका परिचय केवल एक प्रवट्टक (Paragraph) में ही दिया है। श्री यज्ञदत्त शर्मा ने 'प्रबंध सागर' में हिन्दी के जीवनी साहित्य में स्वामीजी का नामोल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार डा. शान्ति खन्ना ने अपने शोध प्रबंध 'आधुनिक हिन्दी का जीवनी परक साहित्य' में आत्मकथा के प्रसंग में स्वामीजी का नाम सम्मिलित नहीं किया है। संभवतः इन्हीं कारणों से प्रभावित हो डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त ने अपने शोध ग्रंथ 'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन' में उचित ही लिखा है, "स्वामी दयानन्द ने हिन्दी के लिये जो कार्य किया उस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने उन्हें प्रमुखता नहीं दी।"

हिन्दी साहित्य में ऐसे भी महारथी हुए हैं जिन्होंने स्वामी दयानन्द को 'कलियुगाचार्य' नाम से अभिहित किया, उनके सत्यार्थप्रकाश को 'मिथ्यार्थ प्रकाश' की संज्ञा दी है, स्वयं उपाध्यायजी ने आर्यसमाज को देश की उन्नति के लिये घातक माना है तथा उसे 'हिन्दू देवस्थानों और तीर्थों का विनाशक'[1] बताया है, परन्तु ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने स्वामीजी तथा उनके कार्यों का मूल्यांकन तटस्थ बुद्धि से किया है। इस दिशा में जो कार्य किया गया है उसकी संक्षिप्त रूपरेखा निम्न है—

१. मिश्र बन्धु—सर्वप्रथम मिश्र बंधुओं ने स्वामीजी के कार्य की आलोचना सहानुभूति पूर्ण तथा तटस्थ भाव से की है, उन्होंने तो उस युग का शीर्षक भी 'दयानन्दकाल' ही दिया है। उन्होंने इतना तक लिखा है, "यदि संसार के सर्वोत्कृष्ट महानुभावों की गणना की जाय तो स्वामी दयानन्दजी का उसमें प्रमुख स्थान होगा। इस पुस्तक के लेखक आर्यसमाजी नहीं हैं और प्रतिमा पूजन तथा श्राद्धतर्पण आदि में पूरा विश्वास रखते हैं तथापि औचित्य न छोड़ने के कारण उपर्युक्त बातें कहीं हैं।"[2] हिन्दी साहित्य कोश द्वितीय खण्ड में भी स्वामीजी का परिचय पृष्ठ २२६ से २२८ तक न्यायपूर्ण ढंग से दिया गया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम भाग—भारतेन्दु काल) में भी स्वामीजी तथा उनके कार्यों का परिचय पक्षपातहीन होकर दिया गया है, पर ये सब क्योंकि इतिहास ग्रन्थ हैं, अतः इसमें किसी एक व्यक्ति के साहित्य तथा उसकी विशेषताओं का वर्णन सीमित मात्रा में ही किया जा सकता है। इस विषय में सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १८५०-१९०० ई.)' है, पर इस ग्रन्थ में भी लेखक विशेष का वर्णन निर्धारित सीमा में ही किया गया है।

२. एक शोध प्रबंध 'भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य' प्रकाशित हुआ है, जिसकी लेखिका डा. कीर्ति लता हैं।' इस पुस्तक में 'सामाजिक सुधार सम्बन्धी विचार शीर्षक में आर्यसमाज की संक्षिप्त चर्चा की गई है, पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के साहित्य का कहीं स्पष्टोल्लेख नहीं है।

३. एक अन्य शोध प्रबन्ध डा. ज्ञानवती दरबार द्वारा लिखित है और उसका विषय' है 'भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा।' इसमें पृष्ठ ७८ से लेकर ९४ तक स्वामीजी विषयक

---

[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई.) —ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ २७९

[2] मिश्रबन्धु विनोद (खण्ड ३-४) —डा. श्यामबिहारी मिश्र, डा. शुकदेव बिहारी तथा गणेश बिहारी मिश्र, पृष्ठ ९६

चर्चा है । इसी प्रकार एक अन्य शोध प्रबन्ध श्री पी. के. केशवन नायर का 'दक्षिण भारत के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास' है, इसमें 'हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने वाले आदि मनीषी' शीर्षक से तीन पृष्ठों में स्वामीजी तथा आर्यसमाज का उल्लेख है । दोनों ही पुस्तकों का क्षेत्र व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में अत्यन्त संकुचित है ।

४. कुछ शोध ग्रन्थ ऐसे भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें स्वामीजी के वेद भाष्य की विस्तृत चर्चा की गई है, इनमें डा. सुधीरकुमार गुप्त का 'वेद भाष्य प्रणाली को दयानन्द सरस्वती की देन' राजस्थान वि. वि. द्वारा स्वीकृत, डा. रामनाथ वेदालंकार का 'वेद की विविध वर्णन शैलियां' आगरा वि. वि. द्वारा स्वीकृत, डा. परमानन्द का 'ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका अनुवाद मौलिक टिप्पणियों सहित'—पंजाब वि. वि. द्वारा स्वीकृत, डा. बद्रीप्रसाद का 'ऋग्वेद में गो शतक' राजस्थान वि. वि. द्वारा स्वीकृत, डा. नाथूलाल पाठक द्वारा रचित "ऐतरेय ब्राह्मणः एक अध्ययन" राजस्थान वि. वि. द्वारा स्वीकृत, डा. कुमारी विमला द्वारा रचित "सायण तथा दयानन्द के वेदभाष्य का तुलनात्मक विवेचन"—पटना वि. वि. द्वारा स्वीकृत आदि प्रमुख हैं, किन्तु विद्वतापूर्ण होते हुए भी उपर्युक्त ग्रन्थ अपने प्रबन्ध के क्षेत्र में नहीं हैं ।

५. एक शोध प्रबन्ध अंग्रेजी भाषा में डॉ. राधेश्याम पारीक द्वारा लिखित है और इसका शीर्षक है "Contribution of Arya Samaj in the making of Modern India" —राजस्थान वि. वि. द्वारा स्वीकृत, एक अन्य शोध प्रबन्ध डॉ. भवानीलाल भारतीय का 'ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन' राजस्थान वि.वि. द्वारा स्वीकृत है । यद्यपि इन दोनों पुस्तकों का हमारे ग्रन्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इनका यथा स्थान समुचित रूप से उपयोग किया गया है । कुछ अन्य प्रबन्ध भी हैं—'Philosophy of Dayanand by Prof. Ved Prakash' आगरा वि. वि. द्वारा स्वीकृत, श्री धनपति पांडेय का 'Arya Samaj and Indian Nationalism' पटना वि.वि. द्वारा स्वीकृत तथा डॉ. कु. सरस्वती पंडित का 'A critical study of the Contribution of Arya Samaj to Indian Education.' बड़ौदा वि.वि. द्वारा स्वीकृत, जो हमारे देखने में नहीं आये हैं ।

६. इस विषय में अपने दृष्टिकोण से सर्वाधिक उपयोगी शोध प्रन्बध डॉ. लक्ष्मी नारायण गुप्तकृत 'आर्यसमाज की हिन्दी भाषा और साहित्य को देन' (लखनऊ वि.वि.) है । अपने विषय का चयन करने में इससे पर्याप्त प्रेरणा मिली है और इसकी सामग्री का प्रभूत मात्रा में उपयोग भी किया गया है, किन्तु विषय किंचित् परिवर्तित होने के कारण इसमें आर्य-समाज और उसकी उपलब्धियों की चर्चा अधिक है और स्वामीजी की कम । जिस विषय पर प्रयास करने का हम साहस कर रहे हैं, वह अभी अछूता ही है । आधुनिकतम पुस्तकों में से एक है सन् १९७५ में प्रकाशित डॉ. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे कृत "हिन्दी गद्य साहित्य ।" पुस्तक का नाम देखकर किसी को भी भ्रम हो सकता है । पुस्तक के अन्दर हिन्दी गद्य साहित्य के बाद बहुत छोटे अक्षरों में (आर्यसमाज की हिन्दी गद्य साहित्य को देन) लिखा हुआ है । मूल प्रबन्ध का नाम सम्भवतः यही रखा होगा, किन्तु प्रकाशक महोदय ने विषय को व्यापक बनाने के लोभ में गौण को मुख्य और मुख्य को गौण कर दिया होगा । प्रबन्ध भक्ति-

प्रवण हृदय से लिखा गया है, हिन्दी साहित्य के आलोचकों तथा इतिहासकारों द्वारा आर्यसमाजी लेखकों के प्रति की गई उपेक्षा का इसमें विशद वर्णन है तथापि इसका सम्बन्ध आर्यसमाज से है और स्वामीजी की चर्चा उसमें आंशिक रूप से ही हो सकी है।

स्वामीजी के विषय में अधिकांश साहित्य आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखा गया है पर उसमें हिन्दी सेवा का पर्याप्त उल्लेख नहीं है, दूसरी ओर हिन्दी के गण्यमान्य विद्वानों ने जो कुछ लिखा है उसमें अन्य पक्ष उपेक्षित हैं। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। हिन्दी साहित्य के प्रेमियों को स्वामीजी की जीवनी, सिद्धान्त तथा उनकी रचना आदि विषयक परिचय कराने का संभवतः यह प्रथम प्रयास है। इस ग्रन्थ को हमने ११ अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय में स्वामीजी के पदार्पण करने के समय विद्यमान सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन करवाया गया है। द्वितीय अध्याय में उनकी आत्मकथा, जीवनियां, पत्र व्यवहार एवं विज्ञापनों के आधार पर उनका जीवन परिचय दिया गया है तथा उनके चरित्र निरूपण की चेष्टा की गई है। तृतीय अध्याय में उनकी हिन्दी तथा हिन्दी-इतर रचनाओं का परिचय दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में उनकी शिक्षाविषयक धारणाओं, माता-पिता तथा आचार्य के संबंध में उनके विचार तथा उनके द्वारा निर्धारित पाठ्य विधि का निर्देश किया गया है, आधुनिक युग के दृष्टिकोण से उसकी उपयोगिता तथा संक्षिप्त समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है। पंचम अध्याय में स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत राजा एवं उनके राजनीति-विषयक विचारों की चर्चा की है। षष्ठ अध्याय में उनके दार्शनिक सिद्धान्त अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा मुक्ति विषयक उनके विचारों को प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय में स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट वर्णाश्रम व्यवस्था अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास संबंधी उनके विचारों का परिचय कराया गया है। अष्टम अध्याय का विषय है स्वामीजी के स्वदेश अर्थात् देशप्रेम संबंधी विचार, आर्य भाषा (हिन्दी) के अर्थ की गई उनकी सेवायें तथा खान-पान, खाद्याखाद्य वस्तुओं के संबंध में उनके विचार। नवम अध्याय में स्वामीजी के हिन्दी में लिखित साहित्य के आधार पर उनकी भाषा-शैली का निरूपण किया गया है, हास्य व्यंग्य भी शैली का एक रूप ही है पर इसको अधिक महत्त्व प्रदान करने की दृष्टि से इसका विवेचन इसी अध्याय में पृथक् शीर्षक से किया गया है। दशम अध्याय में स्वामीजी के समकालीन लेखकों पर उनके प्रभाव की चर्चा की गई है। यह प्रभाव कथ्य के रूप में भी है और शैली के रूप में भी। उन विद्वानों की हिन्दी सेवा से स्वामीजी की हिन्दी सेवा की तुलना इस अध्याय में की गई है। अन्तिम अध्याय अर्थात् एकादश अध्याय में ग्रंथ में किये गये प्रयत्नों का निष्कर्ष एवं मूल्यांकन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वामीजी की लगभग सभी कृतियों का उपयोग किया है, उस विषय से सम्बद्ध अन्य विद्वानों के विचार भी दिये गये हैं। विषय क्योंकि लीक से कुछ हटकर है, अतः अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिये 'उद्धरणों' का पर्याप्त मात्रा में आश्रय लिया गया है। यद्यपि ये उद्धरण हिन्दी, संस्कृत, इंग्लिश आदि सभी भाषाओं में हैं, पर यथासम्भव हिन्दी भाषा को ही प्रमुखता दी गई है। यथास्थान सम्बद्ध विषय की किंचित् समीक्षा भी की गई है।

सन् १९६२ में मेरे अग्रज डॉ. ओमप्रकाश आर्य, बी. एम. एस. ने एक पत्र लिखकर मुझे सूचना दी कि हिन्दी में एक पुस्तक "हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन" प्रकाशित हुई है, जो बहुत अच्छी है और मुझे अवश्य पढ़नी चाहिये। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट आदेश तो नहीं दिया, पर मुझसे यह अपेक्षा अवश्य की कि मैं भी ऐसा ही कुछ कार्य करूँ; स्व. पूज्य पिताजी की भी कुछ ऐसी ही अभिलाषा थी। इस संकेत को ही मैंने आदेश माना और 'आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया' के आधार पर संकल्प कर लिया। हिन्दी के जिन विद्वानों से भी मिला, उन्होंने कोई न कोई कारण देकर मार्गदर्शन के लिये असमर्थता ही व्यक्त की—जिसने कुछ करने के मेरे संकल्प को और भी दृढ़ किया।

यह कहना यहाँ अप्रासांगिक न होगा कि यह कार्य मैंने Missionery Spirit से किया है और कई बार एक-एक पृष्ठ को लिखने में तीन-तीन दिन भी लगाये हैं। अर्थाभाव होते हुए भी मैंने अपने व्यय से ही भोपाल विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली, गोरखपुर विश्वविद्यालय, वाणिज्य तथा कला महाविद्यालय इन्दौर, शासकीय महाविद्यालय गंज बारनौदा, हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय सागर, उज्जैन विश्वविद्यालय तथा बरेली कालेज बरेली आदि के पुस्तकालयों से वस्तु संकलन किया है। उद्देश्य केवल यही रहा है "मंजिल मिले ना मिले मुझे इसका गम नहीं। मंजिल की जूस्तजू में मेरा कारवाँ तो है।" सर्वाधिक आभारी मैं अपने निदेशक डॉ. भगवती प्रसाद शुक्ल का हूं, जिन्होंने न केवल मार्गदर्शन किया, उत्साह-वृद्धि की, अपितु कार्य करने के लिये पूर्ण स्वतंत्रता भी दी। भोपाल के श्रद्धेय विनय मोहन शर्मा, मेरठ वि. वि. के विभागाध्यक्ष डॉ. रामप्रकाश अग्रवाल तथा लाहौटी (अमरावती) के प्रोफेसर डॉ. श्यामसुन्दर लाल दीक्षित का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने अपने आशीर्वाद एवं प्रेरणा प्रदान कर मुझे इस मार्ग के संकटों से उबारा। पूज्य आचार्य विश्वश्रवा: व्यास (बरेली) का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य व्यक्तिगत पुस्तकालय मेरी सहायता के लिये उपस्थित कर दिया। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों डॉ. भवानीलाल भारतीय, डॉ. सुरेन्द्र देव शास्त्री, डॉ. लक्ष्मीनारायण गुप्त, पं. वीरसेन वेदश्रमी, पं. बिहारीलाल शास्त्री, जिन्होंने मुझे सुझाव देकर कृतकृत्य किया, मैं अत्यन्त आभारी हूँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली का भी आभारी हूँ, जिसने शोधकार्य के लिये मुझे एक सहस्र रुपये प्रदान किये। अन्त में अपने परिवार के सदस्यों—धर्मपत्नी श्रीमती सुभाषिणी आर्या जिन्होंने इस कार्य के लिये सतत प्रेरणा दी, पुत्र प्रवीण आर्य इंजीनियर जिसने न केवल छिप-छिप कर इस ग्रन्थ का अध्ययन किया अपितु साज-सज्जा के सम्बन्ध में उपयोगी सुझाव भी दिये तथा पुत्री डॉ. नमिता आर्या Ph.D., जो इस प्रबन्ध की प्रथम पाठिका रही है, ऋणी हूँ।

412, मेमारान
(निकट बिहारीपुर मठिया)
बरेली-243003 (उ. प्र.)

डॉ. रामप्रकाश आर्य
पूर्व प्रोफेसर

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय

प्रस्तावना

प्रथम अध्याय १—२८

तत्कालीन परिस्थितियां

सामाजिक—ईसाई शासकों की गतिविधियां, स्त्री-दुर्दशा, विवाह, शिशु हत्या, वर्णाश्रम व्यवस्था, नया मध्यम वर्ग, **राजनैतिक**—विद्रोह की ज्वाला, **आर्थिक**—भूमिकर, अफीम से आय, नमक कर, टिकटों से आय, आयात कर, मुत्तर्फा, नील की खेती के दंगे, आय कर, रेलवे, **धार्मिक**—रामकृष्ण परमहंस, ब्राह्म समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, **साहित्यिक**—रामकाव्य, कृष्ण काव्य, गद्य का विकास।

द्वितीय अध्याय २९—६२

जीवन परिचय एवं चरित्र निरूपण

जन्म तथा शैशव, जिज्ञासा एवं वैराग्योदय, अमृत की तलाश, आदर्श गुरु की प्राप्ति, कार्य क्षेत्र में अवतरण, सुधार की मध्यम दशा, काशी-शास्त्रार्थ, सुधार की तीसरी अवस्था, बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना, दिल्ली दरबार की ओर, थियोसोफिकल सोसायटी से सम्बन्ध, मृत्यु की छाया, परोपकारिणी सभा की स्थापना, राजपूताने की ओर, जोधपुर में प्रवेश, षड्यंत्र का श्री गणेश, रोग की वृद्धि, क्या स्वामीजी को विष दिया गया था ? आबू भेजने का प्रस्ताव, जीव-मुक्ति, कुछ सम्मतियां, फार्कुहर के आक्षेप और उनके उत्तर, चरित्र निरूपण।

तृतीय अध्याय ६३—११०

हिन्दी तथा हिन्दी-इतर रचनाओं का परिचय

सन्ध्या, भागवत खण्डन, अद्वैतमत-खण्डन, गर्दभतापिनी उपनिषद्, सत्यार्थप्रकाश, पंचमहायज्ञविधि, वेदान्तिध्वान्तनिवारण, वेदविरुद्धमखण्डन, शिक्षापत्रीध्वान्त निवारण, आर्याभिविनय, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेद भाष्य, यजुर्वेद भाष्य, आर्योद्देश्यरत्नमाला, भ्रान्तिनिवारण, अष्टाध्यायी भाष्य, स्वरचित जन्मचरित्र, संस्कृतवाक्यप्रबोध, व्यवहार भानुः, गौतम अहल्या की कथा, भ्रमोच्छेदन, अनुभ्रमोच्छेदन, गोकरुणानिधि, वेदांग प्रकाश (वर्णोच्चारण शिक्षा, संधि-विषय, नामिक, कारकीय, सामासिक, स्त्रैणतद्धित, अव्ययार्थ, आख्यातिक, सौवर, पारिभाषिक, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिकोष, निघण्टु), दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह, शुद्ध मनुस्मृति, उपदेश मंजरी (पूना प्रवचन), ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, स्वामीजी के लोगों को बतलाये हुए औषधिप्रयोग, योगी का आत्मचरित्र, ऋषि दयानन्द के बनाये वा बनवाये ग्रन्थ।

चतुर्थ अध्याय १११—१४४

शिक्षा एवं निर्धारित पाठ्यविधि

पृष्ठभूमि, शिक्षा विषयक धारणायें (चरित्रवान्, वैदिक आधार, विद्यालय जाने की आयु, विद्यालयों का स्थान, निष्पक्ष एवं आदर्श अध्यापक, सार्वभौम सत्योपदेश, स्त्री शिक्षा, सह

शिक्षा, निःशुल्क शिक्षा, भाषा, विद्यार्थियों के लिये विधेय तथा निषिद्ध कृत्य), माता-पिता तथा आचार्य का स्थान, पाठ्यविधि, निषिद्ध ग्रन्थ, निष्कर्ष।

पंचम अध्याय १४५—१७०

राजा एवं राजनीति विषयक विचार

राजा के गुण एवं कर्त्तव्य, तीन सभायें, सभा के सदस्यों की योग्यता, मंत्री मण्डल, सेना एवं युद्ध, वेद कालीन अस्त्र-शस्त्र, स्वराज्य की कल्पना, चक्रवर्ती-राज्य, वेदों में राजाओं का इतिहास नहीं, स्वामीजी का सक्रिय राजनीति में योगदान, प्रजातन्त्रवाद तथा साम्राज्यवाद, निष्कर्ष।

षष्ठ अध्याय १७१—२०७

ईश्वर, जीव, प्रकृति और मुक्ति विषयक सिद्धान्त

तीन अनन्त सत्तायें, ईश्वर का स्वरूप, सृष्टि रचना का प्रयोजन, ईश्वर अवतार नहीं लेता, ईश्वर में अविश्वास, ईश्वर प्राप्ति। जीवपरिभाषा, जीवात्मा का स्वरूप, ईश्वर जीव का संबंध, पुनर्जन्म, वनस्पतियों में जीव। प्रकृति परिभाषा एवं अनेक नाम, जगत् उत्पन्न होता है, प्रकृति की आवश्यकता, चेतन सृष्टि की उत्पत्ति, जगत्-रचना का प्रयोजन, सृष्टि की आयु, प्रकृति उपासना से हानि। मुक्तिपरिभाषा एवं स्वरूप, दुःख प्राप्ति के कारण, मोक्ष में जीव कहां रहता है, मुक्ति से लौटना, मुक्ति की अवधि, निष्कर्ष।

सप्तम अध्याय २०८-२४०

वर्णाश्रम व्यवस्था

सामान्य परिचय, जाति भेद प्राचीन नहीं, जाति भेद की उत्पत्ति और वृद्धि, वर्ण परिवर्तन, जाति भेद से होने वाली हानियां, विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य, शूद्र एवं शुद्धि, प्राचीन वर्ण व्यवस्था के विभिन्न आधार। आश्रम व्यवस्था—जीवन यात्रा के चार पड़ाव, ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थ (कर्त्तव्य, दाम्पत्य प्रेम) गृहस्थाश्रम भयावह नहीं है, नियोग। वानप्रस्थाश्रम, वानप्रस्थ ग्रहण करने की अवस्था, वैदिक काल के वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम, निष्कर्ष।

अष्टम अध्याय २४१-२७४

स्वदेश, आर्य भाषा, खान-पान संबंधी विचार

विषय प्रवेश, देश से परिचय, देश के अतीत का गौरव, देश के पतन के कारण, देशोन्नति के उपाय, एकता के लिए प्रयत्न, तीन देवियों की प्रतिष्ठा, स्वराज्य के प्रथम प्रयोक्ता, मानसिक पराधीनता को दूर करना, नारी उद्धार, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग, राम और कृष्ण का आदर्श, एकता के लिये सक्रिय प्रयत्न। आर्य भाषा (हिन्दी)—राष्ट्र भाषा मानने वाले आदि मनीषी, संस्कृत की अवहेलना नहीं, आर्य भाषा में ग्रन्थ रचने का उद्देश्य, स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त हिन्दी प्रचार-प्रसार के साधन। खान-पान संबंधी विचार—तीन प्रकार के आहार, उच्छिष्ट भोजन, शूद्र के हाथ की रसोई, ग्रहण के समय भोजन, चौका लगाना, मादक द्रव्यों का निषेध, मांस भक्षण ?, गोवध, गोमेध आदि पशुओं का आलम्भन मधुपर्क में गोमांस, मांस और विज्ञान, निष्कर्ष।

नवम अध्याय २७५—३०१

भाषा शैली व हास्य व्यंग्य

संस्कृत की छाया, प्रारंभिक भाषा अशुद्ध थी, शुद्ध भाषा, रूपरेखा बनाना, वैधानिक मस्तिष्क, संश्लिष्ट वर्णन, बहुज्ञता, स्वामीजी कवि के रूप में, शैली, आत्मकथा के लेखक के रूप में।

हास्य-व्यंग्य—शब्दों की नई व्युत्पत्ति, उपसंहार।

दशम अध्याय ३०२—३३९

तत्कालीन लेखकों पर प्रभाव तथा उनकी हिन्दी सेवा से तुलना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (स्वामीजी से विरोध, जीवन संबंधी घटनाओं की तुलना, भारतेन्दु साहित्य पर स्वामीजी का प्रभाव, तुलना), पं. बालकृष्ण भट्ट (दयानन्द विषयक सम्मति, जीवन संबंधी कुछ विशेषतायें, स्वामीजी के समान विचार अथवा उनके विचारों का प्रभाव, निष्कर्ष) पं. प्रतापनारायण मिश्र (साहित्य पर स्वामीजी का प्रभाव, निष्कर्ष), राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (जीवन परिचय, भाषा संबंधी नीति, स्वामीजी से सम्पर्क, तुलना), पं. अम्बिकादत्त व्यास (संक्षिप्त जीवन परिचय, स्वामीजी से साक्षात्कार, अबोध निवारण, विचारों की तुलना), श्रद्धाराम फिल्लौरी (जीवन परिचय, स्वामीजी से सम्पर्क, स्वामीजी का प्रभाव), उपसंहार।

एकादश अध्याय ३४०—३५३

निष्कर्ष एवं मूल्यांकन

(क) हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में स्वामी दयानन्द का योगदान, उर्दू-फारसी के प्रभाव से मुक्ति, अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी का पृष्ठ पोषण, वैदिक विषयों का समावेश, तर्कपूर्ण शैली, विचार और कर्म में साम्य, हिन्दी में नवीन विचारों की उद्भावना, साहित्यशास्त्र के ज्ञाता, विविधता, हिन्दी प्रचार के साधन, हिन्दी साहित्य पर स्वामीजी का प्रभाव, दयानन्द युग (रचनाओं का परिमाण एवं प्राचुर्य, वय, योग्यता, निष्ठा, ख्याति, विचारधारा)।

(ख) प्रदेय एवं मूल्यांकन, उपसंहार।

सहायक ग्रन्थों की सूची ३५४—३६८

हिन्दी, संस्कृत, इंगलिश, पत्र-पत्रिकाय।

संकेत ३६९—

प्रथम अध्याय

तत्कालीन परिस्थितियां

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ में हुआ था। सन् १८६३ से उन्होंने सुधार अथवा प्रचार कार्य प्रारंभ किया और सन् १८८३ में इस अविरत कर्मयोगी का देहावसान हुआ। इन ५९ वर्षों में उन्होंने हिमगिरि के उत्तुंग शिखरों से समुद्र तट तक अनेक स्थानों का परिभ्रमण किया, अनेकों व्यक्ति, संस्थाओं, धार्मिक संस्थानों, विद्वानों तथा राजाओं से परिचय प्राप्त किया। कुछ से वे प्रभावित हुए और अनेकों को उन्होंने प्रभावित किया। उनके कार्य की महत्ता, दुरूहता तथा विशालता जानने के लिये यह आवश्यक है कि हम तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों पर दृष्टिपात करें। कोई उन्हें योगी समझता है और प्रकाण्ड विद्वान्, कोई समाज-सुधारक मानता है और कोई अंग्रेजों का वेतनभोगी अनुचर, कोई उनका मूल्यांकन साहित्यिकता के आधार पर करता है और कोई उनकी धार्मिक मान्यताओं के आधार पर। इन समस्त गुत्थियों को सुलझाने के लिये हमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों पर विचार करना होगा। इन परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

सामाजिक

१९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारतीयों के पतन की निर्लज्ज कहानी है। आलस्य, छल-कपट, स्वार्थलिप्सा और धार्मिक अंधविश्वासों में लीन होना उनका दैनन्दिन व्यवहार रहा है। एक ओर मुसलमानों के अत्याचारों ने उन्हें पीड़ित कर रखा था, दूसरी ओर अंग्रेजों की साम्राज्य विस्तार की नीति उनके लिये जानलेवा सिद्ध हो रही थी। अनेकों देशी रियासतें भांति-भांति के बहानों का आश्रय लेकर अंग्रेजी साम्राज्य में विलीन की जा रही थीं और प्रत्येक भारतीय को पाश्चात्य ढंग में रंगा जाने के लिये विवश किया जा रहा था। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में ब्रिटिश कूटनीति प्रविष्ट होती जा रही थी और हिन्दुओं के प्रतिनिधि उत्तरदायी व्यक्ति अपनी रंगरेलियों में लीन थे, "जो गृहस्थ नहीं हैं, उनके अंतःपुर में पुत्र-कलत्र, जिनकी आमदनी का कोई साधन नहीं है उनके डेरों पर हाथी और घोड़े, और जो त्यागी कहलाते हैं, उनके सन्दूकों में लाखों के तोड़े....सरल हृदय भक्त और भक्तिनों के विश्वास का घात करने वाले भगवा वेशधारी मठेश्वर भिन्न-भिन्न उपायों से अपने इन्द्रियसुख की साधना में मग्न दिखाई देंगे।"[1]

ईसाई शासकों की गतिविधियाँ— इन ईसाई ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों और विशेष रूप से हिन्दुओं को अपमानित करने में कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। आगरा के एक मजिस्ट्रेट ने एक आदेश प्रकाशित करवाया था—"प्रत्येक भारतीय चाहे वह किसी ओहदे पर हो, गलियों में विद्यमान प्रत्येक अंग्रेज को सलाम करने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये, यदि कोई भारतीय घोड़े पर अथवा किसी अन्य गाड़ी में सवार हो तो उसे यूरोपियनों के सम्मान में उतर जाना चाहिये और तब तक उसी स्थिति में रहना चाहिये जब तक वे वहाँ

---

[1] आर्यसमाज का इतिहास (प्रथम भाग) इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ६४

से गुजर न जायें। ऐसा न करने पर उन पर भारी जुर्माना किया जाना चाहिये।"[१] ब्रिटिश भारत में यह अलिखित विधान था। अंग्रेजों की जब इच्छा होती थी वे अकारण ही भारतीयों की पिटाई करते थे और कभी-कभी इस प्रकार लोग मर भी जाते थे। इन स्थितियों में घातकों को या तो कोई दण्ड ही नहीं दिया जाता था या केवल नाममात्र का दिया जाता था। ब्रिटिश पदाधिकारियों एवं धर्म प्रचारकों ने यह निश्चय कर लिया था कि वे येन केन प्रकारेण भारतीयों को ईसाइयत की दीक्षा देंगे। चार्ल्स ग्रान्ट ने लिखा था—"अंग्रेजी शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म की शिक्षा देना है।"[२] इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये उन्होंने विद्यालय, औषधालय आदि खोले। इन संस्थाओं में बाइबिल का अध्ययन अनिवार्य था तथा हिन्दू धर्म की बुराइयों और बाइबिल की अच्छाइयों का अतिरंजित वर्णन किया जाता था। और तो और जेल के कैदियों को भी बाइबिल अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती थी। ईसाई पादरियों के साथ प्रायः एक चपरासी तथा पुलिसमैन रहता था जिससे जनता उनका स्पष्ट विरोध करने में असमर्थ थी। ये प्रायः कहा करते थे कि रेल तथा तार की व्यवस्था भी ईसाइयत की ही देन है। ईसाइयों के अस्पतालों में सब प्रकार के बीमारों को प्रवेश दिया जाता था किन्तु "भारतीय चिकित्सकों के लिये बीमारों को देखने तथा कोई दवाई निर्दिष्ट करने का निषेध था।"[3] सार्वजनिक मार्गों तथा निर्माण कार्य के नाम पर मन्दिरों को गिरवा दिया जाता था और किसी हिन्दू के ईसाई धर्म में परिवर्तित हो जाने पर भी उसे पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार में दिलाये जाने का कानून बना दिया गया था। कभी-कभी मुसलमान भी इन ईसाइयों की लपेट में आ जाते थे। इसीलिये सर सैयद अहमद ने कहा था—"इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि सभी व्यक्ति चाहे वे शिक्षित हों अथवा अज्ञानी, प्रतिष्ठित हों अथवा सामान्य, विश्वास करते थे कि शासन वस्तुतः सच्चाई के साथ हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धर्म तथा रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने तथा उनके धर्म परिवर्तन कराने का इच्छुक है।"[४]

स्त्री-दुर्दशा—कहने के लिये स्त्रियों को 'देवी' के पद से विभूषित किया जाता था पर उनका अपमान करने में समाज सर्वाधिक अग्रणी था। राजपूतों का इतिहास तो 'कन्या हरण' की गाथाओं से ही भरा हुआ है, पर 'पैशाच विवाह' को भी समाज ने विवाह के रूप में स्वीकार कर रक्खा था। चूल्हे-चक्की में लीन होना तो उनका दैनन्दिन कार्य था ही, महीने में अनेक बार त्यौहारों तथा अन्य धार्मिक मान्यताओं के आधार पर उन्हें उपवास अथवा भूखा रहना पड़ता था। वैसे भी भोजन उन्हें पति के भोजन करने के बाद ही मिलता था और जूंठन का अंश उसमें अनिवार्य रूप से सम्मिलित होता था। मन भर जाने पर जिस प्रकार बच्चे को नया खिलौना ला दिया जाता है, उसी प्रकार मन भर जाने पर पुरुष एक ही समय अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था। राजाओं और नवाबों के हरमों में तो स्त्रियों की फौज रहती ही थी, सामान्यजन भी अनेक विवाह करना अपना अधिकार समझते थे, पर बेचारी

---

१. ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी एण्ड इंडियन रिनैसा, पार्ट १—आर. सी. मजुमदार, पृष्ठ ४१७
२. वही, पृष्ठ ४१८
३. वही, पृष्ठ ४२१
४. वही, पृष्ठ ४२३

स्त्रियों के लिये अत्याचार और विवशता यही कानून थे। एकाधिक विवाह करना तो दूर की बात है, पति की मृत्यु के बाद उन्हें पति की चिता के साथ जलने के लिये विवश किया जाता था। जीवित स्त्री का चिता की भयावह लपटों में लीन हो जाना परिवार एवं जाति के लिये बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। यदि कोई स्त्री किसी प्रकार अपने आपको सती होने से बचा लेती थी तो सारे शहर में कोहराम मच जाता था, "....but the whole city of Banares was in an uproar, at the rescue of Brahman's widow from the funeral pile"[1] पति की मृत्यु के बाद 'विधवा को एक कटोरा भांग और धतूरा पिला कर नशे में बदहोश'[2] कर दिया जाता था। शिक्षा का क्षेत्र स्त्रियों के लिये निषिद्ध था, संत लोग उन्हें 'द्वार किमेकं नरकस्य नारी' समझते थे और सामाजिक शिष्टाचार में लोग अतिथि सत्कार के नाम पर अपनी पत्नी तथा कन्याओं को भी भेज देते थे। इस्लाम मजहब वाले स्त्रियों को 'पैरों की जूती और घर की खेती' समझते थे और ईसाई लोग उनमें आत्मा का होना भी स्वीकृत नहीं करते थे। उन्हें केवल 'बच्चा पैदा करने की मशीन' समझा जाता था। घर के अन्दर भी उन पर कम अत्याचार नहीं किये जाते थे। पर-पुरुष से बात करने, किसी से छू जाने अथवा मिथ्या कलंक की चर्चा सुनकर उन्हें घर से बाहर कर दिया जाता था। दुराचारियों के विरुद्ध किसी की बांहें नहीं फड़कती थीं पर अत्याचार की शिकार अबलाओं को अपने परिवार, समाज तथा धर्म से च्युत अवश्य कर दिया जाता था।

विवाह—कारण कुछ भी रहा हो, पर यह सत्य है कि उन दिनों अनमेल विवाह का प्राचुर्य था। कब्र में टांग लटकाये वृद्धों के विवाह षोडशियों से कर दिये जाते थे। विवाह का अर्थ न समझने वाले दुधमुंहे बच्चों के भी विवाह कर दिये जाते थे। कभी-कभी तो जन्म से पूर्व ही बच्चों के विवाह नियत कर दिये जाते थे। कुछ वर्ष तक सन्तानोत्पत्ति न होने पर शक्तिहीन पुरुष भी दूसरा विवाह रचा लेते थे। दहेज-प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी, अन्य जाति से विवाह की बात तो दूर अन्तर्जातीय विवाह भी निषिद्ध थे। विवाह के लिये वर-वधू की सम्मति का कोई मूल्य नहीं था, यह कार्य प्रायः अभिभावक, पण्डित अथवा नाई किया करते थे। विवाहों में आडम्बर बहुत अधिक होता था। अनमेल विवाह का परिणाम यह होता था कि स्त्रियों की यौन भावना अतृप्त रहती थी और यदाकदा उनके पथभ्रष्ट होने की संभावना रहती थी। विधवा होने पर या तो उन्हें पति के साथ जलने अथवा परिवार वालों के अत्याचारों की नारकीय यातना में दग्ध होने के लिये विवश होना पड़ता था अथवा इस अवमानना से पीड़ित हो उन्हें कभी-कभी वेश्याजीवन यापन के लिये भी विवश होना पड़ता था। विवाहों में समाज की रुचि इतनी अधिक थी कि स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त लोग वृक्षों का भी परस्पर विवाह कर दिया करते थे। तुलसी और पीपल का विवाह उन दिनों पर्याप्त प्रचलित था। हिन्दू लोग अपने लगाये हुए वृक्षों के फल तब तक नहीं खाते थे जब तक कि वे इन वृक्षों का विवाह न कर लें। ये विवाह केवल एक परम्परा का निर्वाह मात्र नहीं थे। इन पर लोग सहस्रों व्यय किया करते थे, उधार लेकर भी, सोने और चांदी के

---

[1] रैम्बिल्स एण्ड रिकलेक्शन्स आफ एन इंडियन आफिशियल—डब्ल्यू. एच. स्लीमैन, पृ.२५

[2] शरत साहित्य १५वां भाग—नारी का मूल्य, पृष्ठ ७

आभूषणों को बेच कर भी इनको समारोहपूर्वक मनाया जाता था, अनेक लोगों को भोज में सम्मिलित किया जाता था। कोई नया तालाब बनवाने (खुदवाने) पर भी हिन्दू लोग तब तक उसका पानी नहीं पीते थे जब तक उसका विवाह किसी केले के पौधे से न कर दिया जाये। शादी विवाह को लोग संजोग की वस्तु समझते थे।

शिशु हत्याः—कुछ क्षत्रिय जातियों में कन्या के उत्पन्न होने के साथ ही उसकी हत्या कर दी जाती थी। कभी-कभी अंधविश्वास के कारण लोग मंदिर में देवता के समक्ष अपनी प्रथम सन्तान की बलि चढ़ा दिया करते थे। कुछ कन्याओं को देवदासी के रूप में मंदिरों में अर्पित कर दिया जाता था। कभी-कभी छोटी बच्चियों को अल्प मूल्य में वेश्याओं के हाथ बेच दिया जाता था; जो उन्हें अपने व्यवसाय का प्रशिक्षण देती थीं—"Litte girls were sold cheaply by 'Buragies' to protitutes who trained them for their trade."[२] बाल विधवाओं को भी पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। कभी कभी "मां बाप अपनी कन्याओं को वेश्यावृत्ति के लिये पट्टे पर दे देते थे।"[३] बच्चों के लिये शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी, बचपन से ही उन्हें भूत, प्रेत, चुड़ैल, हौआ आदि के नामों से आतंकित कर दिया जाता था। अशिक्षित और अत्याचार की चक्की में पिसती हुई माताओं से यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी कि वे बच्चों की शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दें। प्रायः प्रत्येक ग्राम में एक पाठशाला होती थी, जिसका संचालन जमींदारों की ओर से होता था। ब्रिटिश शासन की स्थापना होने पर जमींदारों ने यह पाठशालायें बन्द कर दीं, अंग्रेजों ने उनके पास इतना धन छोड़ा भी नहीं था। शिक्षा की अवस्था पर टिप्पणी करते हुए हावेल ने लिखा था—"ब्रिटिश शासन के अधीन भारत में पहले तो शिक्षा की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया, जब ध्यान दिया गया तो उसका तीव्रतम विरोध किया गया और अंत में जब वह प्रारम्भ की गई तो उसकी ऐसी पद्धति अपनाई गई जिसे सभी ने दोषपूर्ण माना।"[४]

अन्य सामाजिक कुरीतियांः—स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण व्यक्तियों के जानमाल की सुरक्षा का समुचित प्रबंध नहीं था। एक ओर यहां के निवासियों में असामर्थ्य, अशक्ति और शारीरिक कर्म में अनिच्छा विद्यमान हो गई थी और दूसरी ओर लूटमार तथा ठगी प्रथा ने देशवासियों को त्रस्त कर रक्खा था। इन ठगों की अपनी सांकेतिक भाषा थी और इनके चक्र में फंसने के बाद किसी का जीवित निकलना अत्यन्त कठिन था। लोगों का विश्वास था कि काशी में गंगा के किनारे मरने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, अतः मृत्यु से पूर्व वे वहां चले जाते थे, कभी परिवार के व्यक्ति रोगी को वहां पहुंचा देते थे—"Barbarous practices like taking the sick people to the river side to make them die were in vogue". यदि ये व्यक्ति वहां पहुंच कर भी स्वस्थ होकर वापस आ जाते थे तो समाज इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता

---

१. शरत साहित्य, १५वां भाग—नारी का मूल्य, पृष्ठ ३२

२. Contribution of Arya Samaj in the making of Modern India—Radhey Shyam Pareek, पृष्ठ २४

३. वही, पृष्ठ २६

४. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (८वां भाग)—डॉ. विनयमोहन शर्मा, पृष्ठ २०

था और उन्हें जाति से बहिष्कृत कर देता था। लोग स्वेच्छा से भी काशी पहुंच जाते थे और काशीकरवट (आरे से सिर चिरवा कर) दिवंगत होते थे। समुद्र यात्रा वर्जित थी और समाज में अखाद्य वस्तुओं का सेवन प्रचलित था। मद्य-मांस का सेवन तो प्रचलित था ही, इस पर लोग गर्व भी करते थे। कुछ लोगों ने एतदर्थ एक क्लब की स्थापना भी की थी—'कलकत्ता के कुछ पाश्चात्य सभ्यता के भक्त युवकों ने हिन्दू विश्वासों के प्रति वितृष्णा दिखाकर गो-मांस भक्षक क्लब तक की स्थापना कर डाली।'[1]

वर्णाश्रम व्यवस्था—वर्णव्यवस्था कर्मानुसार न होकर जन्मानुसार हो गई थी तथा सभी आश्रम गृहस्थ का ही परिवर्द्धित रूप हो गये थे—"अछूतों की दशा भी बड़ी दयनीय थी। उच्चवर्गीय हिन्दुओं के बीच में वे नहीं रह सकते थे। सवर्ण कहे जाने वाले हिन्दुओं के कुओं से वे पानी नहीं भर सकते थे।"[2] इस विकृत वर्णाश्रम व्यवस्था में कोई भी सुखी नहीं था। ब्राह्मणों की अवस्था भी शोचनीय हो गई थी, "जिस दक्षिणा के बल पर वे अपना कारोबार चलाते थे, उसके अभाव में उनका जीवन-ढांचा बालू की दीवार की नाईं धसकने लगा।"[3] समाज में सम्मान पाने योग्य ज्ञान, विद्या, तप तथा शील उनमें शेष नहीं रहा था, पाखण्ड और अहंकार की भावना का उनमें विकास हो गया था। देश में विदेशी शासन के कारण क्षत्रियों का शौर्य भी श्रद्धार्ह नहीं रहा था, वैश्य लोग भी भूखी और पीड़ित जनता का ध्यान न कर उसका मनमाना शोषण कर रहे थे, सभी वर्ण अपने-अपने स्वार्थ में लीन थे, कर्त्तव्य की ओर किसी का ध्यान नहीं था।

नया मध्यम वर्ग—१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इन परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन हुआ किन्तु वह भी देशवासियों के लिये श्रेयस्कर नहीं था। सन् ५७ का विद्रोह अथवा क्रांति शान्त हो चुकी थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्थान महारानी विक्टोरिया के प्रतिनिधि ने ले लिया था। महारानी की घोषणा के उपरान्त भी ब्रिटिश शासन न केवल भारतीयों के धर्म, समाज आदि में अनुचित हस्तक्षेप कर रहा था अपितु अनेकों कार्य भारतीयों से बदला लेने की प्रवृत्ति के आधार पर कर रहा था। हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का उन्होंने प्रत्येक संभव प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था, हर ऊंचे पद पर आसीन होने की योग्यता केवल यूरोपियन व्यक्तियों में ही मानी जाने लगी थी। नवाबी ताल्लुकेदारी, जागीरी आदि के समाप्तप्राय होने के कारण उच्च सामंत वर्ग क्षीण हो गया था। समाज में दो प्रकार के व्यक्ति शेष रह गये थे, एक वे जो पूर्णतः पाश्चात्य रंग में रंग गये थे और दूसरे वे जिन्होंने भारतीयता का आंचल और भी दृढ़ता से पकड़ लिया था। वणिक् वर्ग ने शिक्षा, रेल, तार आदि की सुविधाओं का लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया था। ब्रिटिश शासन का कार्य चलाने के लिये एक नवीन बाबू-वर्ग ने जन्म लिया जिसे 'नया मध्यमवर्ग समाज' कहना उचित होगा। इस वर्ग ने अंग्रेज़ी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया था, 'यह जाति शासक जाति की प्रबल समर्थक बन गई।'[1] इन लोगों को बाबू नाम से सम्बोधित किया जाता था और धीरे धीरे अंग्रेज शासक इन्हें सम्मान

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृष्ठ ११

२. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन—ल. ना. गुप्त, पृष्ठ ५

३. निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट—श्रीगोपाल पुरोहित, पृष्ठ १७

की दृष्टि से देखने लगे थे। इन बाबुओं में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति थी और इनकी नियुक्तियां सिफारिश तथा पक्षपात के आधार पर की जाती थी। इसी युग में भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करने के लिये अनेक व्यक्तियों ने जन्म लिया जिनमें राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि प्रमुख थे। इन लोगों ने देश में विद्यमान अनेकों कुरीतियों के उन्मूलन का प्रयत्न किया और भारतीय परम्पराओं की श्रेष्ठता का परिचय संसार को कराया। अनेकों विदेशियों ने भारतीय साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और उनमें से कुछ ने इस साहित्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की। उनके द्वारा प्रतिपादित निष्कर्षों से भले ही कोई सहमत न हो पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने इसके लिये अद्वितीय अध्यवसाय किया।

राजनैतिक

राजनीति और समाज का कुछ ऐसा गहन सम्बन्ध है कि दोनों का एक दूसरे से पृथक् होना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। सच्चे राजनीतिज्ञ को सामाजिक व्यवस्था का विशेष अध्ययन करना पड़ता है और सच्चा सामाजिक कार्यकर्त्ता भी राजनीति से तटस्थ नहीं रह पाता। जिस समय स्वामीजी ने अपने जन्म से इस धरित्री को पावन किया, भारतवासियों में अंग्रेजों के प्रति असंतोष की एक भावना व्याप्त हो रही थी। यह भावना ही प्रचण्ड होती हुई सन् १८५७ में क्रान्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई। यह प्रस्फुटन अनायास नहीं था। भारतीयों के हृदयों में अंग्रेजों के प्रति जो एक विद्वेष मवाद बन कर वर्षों से एकत्र हो रहा था, वह सामान्य घटना की एक ठोकर लगते ही फूट पड़ा। 'ईस्ट इण्डिया कंपनी के राज्य का विस्तार सन् १८३८ से क्लाइव की षड्यंत्रपूर्ण कूटनीति से प्रारंभ होता है।'[2] वारेन हेस्टिंग्ज ने रूहेलों, अवध की बेगमों तथा राजा चेतसिंह के साथ जो अभद्र और अन्यायपूर्ण व्यवहार किया, उसे यदि हम क्रान्ति के इस प्रासाद का प्रमुख स्तम्भ कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार नन्दकुमार की हत्या का मूल भी हेस्टिंग्ज ही था। नन्दकुमार ने सदस्य फ्रांसिस के माध्यम से वारेन हेस्टिंग्ज पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाये थे। 'अकेली मुन्नी बेगम से ही ३,५४,१०५ रुपये के उपहार वारेन ने रिश्वत के रूप में लिये थे।'[3] अनेक ताल्लुकेदारों तथा जमींदारों को उनके भूमि अधिकारों से इसलिए वंचित कर दिया गया था क्योंकि वे उस पर अपना वैध अधिकार सिद्ध नहीं कर सके थे। अकेली बम्बई के ही लगभग २० हजार रियासतों के मालिकों को सामान्यजन बनने पर विवश किया जा चुका था, राजाओं और नवाबों के विगत दिनों की स्मारक उपाधियों का भी अपहरण प्रारम्भ हो गया था और इसके लिए शासकों की ओर से कोई कारण नहीं दिया जाता था। सन् १८३३ के चार्टर एक्ट की धारा ८७ के अनुसार यह घोषित किया गया था कि किसी भारतीय को धर्म, जन्मस्थान, वंश अथवा रंग के आधार पर नौकरी से वंचित नहीं किया जायेगा, किन्तु २० वर्ष तक इस पर आचरण नहीं किया गया। श्री कैमरोन ने, जो कि गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य थे, संकेत किया—"उक्त

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम भाग)—वि. मो. शर्मा, पृष्ठ २५

२. वही, पृष्ठ ५

३. आधुनिक भारत का इतिहास—एस. एन. पाल, पृष्ठ २७

धारा के पास होने के बीस वर्ष बाद तक भी एक भी भारतीय इस सेवा में नहीं लिया गया।"[१]

लार्ड डलहौजी का 'लैप्स' का सिद्धान्त भी कम यंत्रणादायक नहीं था। अंग्रेज अपने आपको सर्वोच्च प्रभुशक्तिसम्पन्न समझते थे, उनके आश्रित राज्यों और रियासतों की आवाज न्यायालयों में भी दबा दी जाती थी, परिणामतः ब्रिटिश साम्राज्य धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। बर्मा, आसाम, कुर्ग, सिंध, पंजाब तथा अवध सब इसी अन्याय की चक्की में पिस रहे थे। स्वर्गीय दौलतराव सिन्धिया की विधवा पत्नी ने इस अन्याय के प्रतिरोध का प्रयत्न भी किया था। कुछ लोगों का विश्वास है कि उन्होंने नाना साहब तथा मैसूर, शोरापुर, सतारा, कोल्हापुर आदि स्थानों के राजाओं के सहयोग से अंग्रेजों के समूलोच्छेद का प्रयत्न भी किया था। अंततः जिन कारणों ने सन् ५७ में विद्रोह की ज्वाला को उद्दीप्त किया, उनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्न हैं—

१. अंग्रेजों की प्रशासनात्मक प्रणाली पूर्ववर्ती शासन से इतनी भिन्न थी कि जनता उससे एकाकार होने में असमर्थ थी।

२. नवीन प्रशासन प्रणाली ने अनेक व्यक्तियों और वर्गों के स्वार्थों को आघात पहुंचाया था। पवित्र एवं विद्वत्जनों द्वारा जो धार्मिक और शिक्षण संस्थायें चलाई जाती थीं, जिनके लिए पूर्ववर्ती प्रशासन द्वारा निःशुल्क भूमि प्रदान की जाती थी, उनकी सुविधाओं को कंपनी के शासन ने समाप्त कर दिया था।

३. मालगुजारी प्रथा में किये गये परिवर्तनों तथा परीक्षणों से किसान तथा जमींदार दोनों ही विक्षुब्ध हो गये थे। कृषक वर्ग अत्यधिक बढ़े हुए लगान के कारण विलाप कर रहा था और जमींदार भी प्रशासन एवं व्यवस्था के लिये दिये हुए अधिकारों के छिन जाने से व्यथित थे।

४. नई शासन व्यवस्था ने पुरानी व्यवस्था को, जिसमें व्यक्ति की सनक के आधार पर कार्य चलता था, समाप्त कर दिया था। नवीन कानूनी व्यवस्था के अनुसार धनी-निर्धन, दुर्बल-शक्तिशाली, ऊँचा-नीचा आदि सभी को एक समान समझा जाने लगा था। जिनके अधिकार छिन गये थे और जिन्हें विशिष्ट से सामान्यजन बनना पड़ा था, वे इस व्यवस्था से असंतुष्ट थे और निम्न व्यक्ति भी संस्कारवश नई व्यवस्था का लाभ नहीं उठा पा रहे थे। नई व्यवस्था सभी के लिये अपरिचित तथा प्रायः अबुद्धिग्राह्य थी।

५. पुलिस की नवीन व्यवस्था कार्य संचालन में अत्यधिक अक्षम थी, जान और माल दोनों ही असुरक्षित थे। पुरानी व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और नई व्यवस्था अभी प्रभावशील नहीं हो पाई थी।

६. जनता अंग्रेज-प्रशासकों के पास पहुंचने में असमर्थ थी, अतः अपने दुःख-दर्द की गाथा व्यक्तिगत रूप से उन्हें नहीं सुना पाती थी। दूसरी बात यह है कि ब्रिटिश प्रशासन मानवीयता का ध्यान दिये बिना यंत्रवत् कार्य करता था। परिणामतः प्रगति धीमी थी, कार्य

---

[१] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ३३८

करने में विलम्ब होता था और कानून में प्रायः परिवर्तन होता रहता था। न्यायालय की भाषा अंग्रेजी हो जाना भी असंतोष का प्रमुख कारण था।

७. भारतीयों का दीवानी और फौजदारी प्रशासन के सभी प्रमुख पदों से बहिष्कृत किया जाना भी असंतोष का एक प्रमुख कारण था। सर सैयद अहमद खां ने इस ओर संकेत किया था—"शासन का स्थायित्व और समृद्धि प्रजा के तौर-तरीके, रीति-रिवाज, प्रवृत्तियों आशा और आकांक्षाओं, स्वभाव और योग्यता के सम्यक्-ज्ञान पर निर्भर है, किन्तु जब तक जनता देश के प्रशासन में भागीदार नहीं होगी, विदेशी शासन यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।"[1] ऊंचे पदों से भारतीयों का निष्कासन मुसलमानों के लिये विशेष कष्टदायक था, क्योंकि उन्हें अपने प्रशासक होने की स्मृति अभी ताजा थी। राजा राममोहन राय के सुपुत्र श्री राजाराम को एक उच्च पद दिये जाने पर भारत के गवर्नर जनरल लार्ड आकलैण्ड ने कहा था—"भारतीय इसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखेंगे तथा कलकत्ता के पुराने भारतीयों की भावना इस प्रकार के परीक्षण के सर्वथा विरुद्ध है।"[2]

८. शिक्षित वर्ग के असंतोष का एक प्रमुख कारण भारतीयों को कोई राजनैतिक-अधिकार न दिया जाना था। भारतीयों को विधान सभा में एक भी स्थान प्राप्त नहीं था। प्रशासनिक सुधार के लिये की गई उनकी समस्त मांगों को निर्ममतापूर्वक ठुकरा दिया गया था।

(क) सेना में भरती करते समय सिक्खों और मुसलमानों को यह वचन दिया गया था कि उन्हें दाढ़ी-मूंछ मुंडवाने के लिये बाध्य नहीं किया जायेगा, किन्तु कुछ समय बाद इनको साफ करवाने के आदेश प्रसारित किये गये, जिन लोगों ने इन आदेशों का पालन नहीं किया, उन्हें सेवानिवृत्त कर दिया गया।

(ख) जेलों में पर्दानशीन महिलाओं को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के लिये विवश किया गया।

(ग) सिपाहियों को ये आदेश भी दिये गये कि उन्हें जहां भी भेजा जायेगा, उन्हें जाना पड़ेगा, इसमें विदेश यात्रा और समुद्र यात्रा भी सम्मिलित थी।

९. जनवरी १८५७ में एक ब्राह्मण सिपाही दमदम में अपने चौके के बाहर टहल रहा था। एक खलासी ने आकर उससे पानी पिलाने की प्रार्थना की, उसने उत्तर दिया—तुम्हारे स्पर्श से मेरा लोटा खराब हो जायेगा—तब खलासी ने उत्तर दिया—"तुम्हें अपनी जाति का बहुत ध्यान है, कुछ दिन प्रतीक्षा करो, फिर साहब लोग (अंग्रेज) तुम्हें गाय और सूअर की चर्बी में भिगोये हुए कारतूस दांत से काटने को देंगे, फिर तुम्हारी जात कहाँ जायेगी?"[3] सिपाही ने यह समाचार अपने साथियों को दिया जो जंगल की आग की भांति सर्वत्र फैल गया। कुछ लोगों का कथन है कि यह कार्य जानबूझ कर किया गया था ताकि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को ही सरलता से ईसाई बनाया जा सके।

---

[1] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ४१०

[2] वही, पृष्ठ ४११

[3] वही, पृष्ठ ४६७

विद्रोह की ज्वाला सर्वत्र फैल गई, यूरोपियन लोग इसका ग्रास बनते गये, कुछ स्थानों पर स्त्रियां और बच्चे भी इसकी भेंट कर दिये गये। बन्दियों को कारागार से मुक्ति दिलाई गई, सरकारी दफ्तरों को भस्मसात् कर दिया गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि विद्रोह प्रारंभ होने के समय स्वामीजी कानपुर में थे और एक घोड़े पर सवार होकर उन्होंने स्वयं इसका नेतृत्व किया था।[1] नाना साहब ने पहिले अंग्रेजों की सुरक्षा का प्रयत्न किया, एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर किये। जून १८५७ में सती चौराघाट पर ४० नौकाओं में आवश्यक खाद्य पदार्थों के साथ अंग्रेजों को बिठाया गया और उन्हें इलाहाबाद भेजने की व्यवस्था की गई। ज्यों ही अंतिम व्यक्ति नाव में बैठा, एक बिगुल बजा, सभी स्थानीय मल्लाह पानी में कूद पड़े और तैरकर तट की ओर जाने लगे। कुछ अंग्रेजों ने उन पर गोलियों की बौछार की, भारतीयों की ओर से भी उत्तर दिया गया—एक नाव में आग लगी, और फूस की छत होने के कारण सभी नावें उस अग्नि की लपेट में आ गईं, कुछ लोग जान बचाने के लिये नदी में कूद पड़े, किन्तु सिपाहियों की मार से कोई बच नहीं पाया। इलाहाबाद के कुछ मुसलमान जमींदारों ने विद्रोहियों का साथ इसलिये दिया कि अंग्रेजों को नष्ट कर शासन में उलट-पलट चाहते थे। व्यक्तिगत स्वार्थों तथा महत्त्वाकांक्षाओं के कारण भी कुछ लोग इसमें सम्मिलित हुए। कुछ मुस्लिम नेताओं तथा मौलवियों ने साथ इसलिए दिया कि उनका विश्वास था कि अंग्रेजों के जाने के बाद भारत में पुनः मुसलमानों का शासन हो जायेगा। फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्ला ने घोषणा की—"(अंग्रेजों ने) अब न्याय के सभी सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी है और मुसलमानों की सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिये उतारु हो गये हैं, इसलिये उनसे छुटकारा पाने का केवल एक ही उपाय है—जिहाद।"[2]

क्रान्ति के समय सेना में भारतीयों की संख्या २,३२,०२४ थी जबकि यूरोपियन सैनिकों की संख्या केवल ४५,५२२ थी जिनमें ६,१७० ऑफिसर भी सम्मिलित थे। तथापि निश्चित योजना और केन्द्रीय संगठन, योग्य नेतृत्व तथा उच्च आदर्शों के अभाव, भारतीय शासकों के असहयोग, शिक्षित वर्ग में अरुचि तथा अंग्रेजों की कूटनीति आदि के कारण भारतीयों को पराजय का मुख देखना पड़ा। क्रान्ति के दिनों में अंग्रेजों तथा भारतीयों दोनों पक्षों की ओर से इतने अमानवीय तथा क्रूर कार्य किये गये कि एक लेखक ने उसे 'दो दैत्य जातियों का संघर्ष' कहा है। इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में भारतीयों द्वारा अंग्रेजों पर किये गये अत्याचारों का तो अतिरंजित वर्णन है किन्तु अंग्रेजों द्वारा की गई असंख्य भारतीयजनों, निर्दोष महिलाओं और अबोध बच्चों की हत्या की घटनाओं को कुछ इतिहासवेत्ताओं के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। पाठ्य पुस्तकों के ये विवरण प्रायः अंग्रेजों द्वारा लिखे गये हैं और उन्हें अपने इन कुकृत्यों पर लज्जा के स्थान पर गर्व है, उन्होंने यह वर्णन इस प्रकार किया मानो वह वीरता का कार्य हो। क्रान्ति के बाद अंग्रेजों द्वारा किये गये अत्याचारों की गाथा बड़ी निर्मम है। जनरल नील ने मेजर रेनाड को लिखित आदेश दिया था—"कुछ विशिष्ट दोषी ग्रामों को नष्ट कर दिया जाये और उनमें निवास करने वाले सभी मनुष्यों को मौत

---

[1] इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के पंचम अध्याय में किया गया है।

[2] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ४९९

के घाट उतारा जाये....तीन दिनों तक जहां भी वे गये उन्होंने अपने प्रतिशोध की भावना का परिचय दिया, उन निर्जन ग्रामों में सर्वत्र वृक्षों की शाखाओं पर लटकी हुई लाशें ही दृष्टिगोचर होती थीं।"[१] उन सेनाओं ने रास्ते में पड़ने वाले अनेक गांवों को जला दिया और वहां से मनुष्यों का नामोनिशान भी मिटा दिया। सारा वायुमण्डल सड़ी हुई लाशों की दुर्गन्ध से दूषित हो गया। श्री भोलानाथ चन्द्र ने लिखा है—"तीन महीनों तक लगातार आठ गाड़ियां सूर्योदय से सूर्यास्त तक चौराहों और बाजारों में लटकाई गई लाशों को ढोती रहीं।"[२]

क्रान्ति विफल भले ही हो गई हो पर यह प्रभावहीन नहीं रही। इसके परिणामस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी विलुप्त हो गई—"सन् १८५७ का महान् विस्फोट, भारतीय शासन के स्वरूप और देश के भावी विकास में मौलिक परिवर्तन लाया।"[३] शासकों और शासितों के मध्य अविश्वास बढ़ता गया, ब्रिटिश साम्राज्ञी ने भारत सरकार का भार अपने हाथों में ले लिया। १ नवम्बर १८५८ को साम्राज्ञी की ओर से वह घोषणा हुई जिसमें उदार नीति के अनुसरण का विश्वास दिलाया गया। 'इंडियन कौंसिल एक्ट १८६१' के अनुसार विधानसभा में भारतीयों का भी कुछ प्रतिनिधित्व होने लगा, उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई तथा 'दण्ड विधान' का भी निर्माण किया गया। जान लॉरेन्स को जहां भी विद्रोह के लक्षण दिखाई देते थे, वह वहां स्वयं पहुंचकर सरदारों के सामने तलवार और कलम रख देता था और उन्हीं से पूछता था कि वे इन दोनों में से किससे शासित होना चाहेंगे? परिणामतः प्रायः कलम की ही विजय होती थी। सेना में ब्रिटिश सैनिकों की संख्या का अनुपात बढ़ा दिया गया, सैनिकों को संगठित न होने देने के लिये प्रत्येक टुकड़ी में विभिन्न जाति और धर्म वाले व्यक्तियों को रखा जाने लगा। सेना को जनता से दूर रखा जाता था और भारतीय समाचार पत्रों का वहां प्रवेश निषिद्ध हो गया था, सेना के सभी प्रमुख पदों पर अंग्रेजों को अधिष्ठित किया गया और पुराने से पुराना भारतीय ऑफिसर भी नये अंग्रेज ऑफिसर के सामने निम्न स्तर का समझा जाने लगा, अधिक प्रभावशाली अस्त्र केवल अंग्रेजों को ही दिये गये। ब्रिटिश शासन ने भारतीय सैनिक शक्ति को यथासंभव दुर्बल बनाने का प्रयत्न किया, 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का श्रीगणेश भी इस युग से हुआ। हिन्दू और मुसलमानों में मतभेद तो पहिले ही थे किन्तु उनको अधिकाधिक बढ़ाने और भड़काने का प्रयत्न ब्रिटिश शासन ने किया। अपनी असफलता पर भारतीय निराश हो गये थे, अतः वे पाश्चात्यता की लहर में बहने के लिये विवश हो गये, अंग्रेजी शिक्षा ने इस विचार को और भी अधिक प्रश्रय दिया। इस पाश्चात्य प्रभाव का विरोध करने के लिये भारतीयों में एक ऐसा वर्ग भी जागृत हुआ जिसने पुरानी परम्पराओं, विचारधाराओं और मान्यताओं को और भी अधिक दृढ़ता से पकड़ना प्रारंभ किया। ब्रिटिश प्रशासकों का भारतीयों के प्रति व्यवहार असहानुभूतिपूर्ण होता गया और प्रत्येक स्थिति में वे शीघ्र और दमनकारी निर्णय लेने लगे। ब्रिटिश लोगों ने भारत में अपने कारखाने खोलने भी प्रारंभ कर दिये, जिनमें काम भारतीय करते थे और लाभ अंग्रेजों को

---

[१] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ५९२-५९३

[२] वही, पृष्ठ ५९३

[३] आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ १५९

प्राप्त होता था। क्रांति का एक परिणाम यह भी हुआ कि अंग्रेजों को मुसलमानों से घृणा हो गई और उन्हें वे अपना शत्रु समझने लगे। लायल ने लिखा—"After the Mutiny the British turned on the Muhammadans as their real enemies."[१] क्रांति असफल भले ही रही हो किन्तु आने वाले भारत के लिये वह शक्ति का प्रतीक बन गई।

स्वामीजी ने इस क्रान्ति आन्दोलन में सक्रिय योगदान दिया या नहीं, यह विवादास्पद हो सकता है, पर यह निश्चित है कि ये घटनायें उनके सामने घटीं, उन्होंने इन पर मनन किया और इनको दृष्टिगत करते हुए अपने भावी कार्यक्रम का निर्धारण किया। अंग्रेजों ने बहुत से वचन दिये थे पर उनमें ईमानदारी नहीं थी। प्रत्येक अंग्रेज और भारतीय प्रशासक यह जानता था कि ये वचन कभी पूरे नहीं किये जा सकेंगे। लार्ड लिटिन ने तो स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उन्होंने भारतीयों को धोखा दिया था "—they had cheated the Indians."[२] अंग्रेजों के इस व्यवहार ने भारतीयों में एक नई राष्ट्रीयता को जन्म दिया जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। शासकों की शोषक नीति के परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में सात अकाल पड़े जिनमें दस लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई तथा उत्तरार्द्ध में २४ अकाल पड़े जिनमें ४२ लाख व्यक्ति कालकवलित हुए। अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति व्यवहार इतना रूक्ष तथा पाशविक था कि कभी-कभी वे सम्माननीय भारतीयों को भी रेल्वे-कम्पार्टमेण्ट्स से बाहर निकाल देते थे, बात या बिना बात के उनकी पिटाई भी करते थे। इस युग में नये समाज सुधारक भी उत्पन्न हुए, भारतीय समाचार पत्रों का स्वर भी बदला और उन्होंने भी अंग्रेजों के अत्याचारों का विरोध उग्र भाषा में करना प्रारंभ किया।

इस युग में भारतीयता दोराहे पर खड़ी थी, कुछ इसका संचालन यूरोपीय पद्धति पर करना चाहते थे और कुछ इसे विशुद्ध वैदिक युग की ओर ले जाना चाहते थे। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ व्यक्ति "अध्ययन तो करते थे मिल्टन और मिल आदि के विचारों का, किन्तु घरों में पण्डों-पुरोहितों के विचारों और मूर्त्ति पूजा का प्रचार था।"[३] भारतीयों की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए श्रीमती एनीबेसेन्ट ने लिखा है—"जब कर्म करना चाहिए तब भारतीय हिचकते हैं, जहाँ ग्रहण करना चाहिये वहाँ वे पूछते हैं, जहाँ प्रतिरोध करना चाहिये वहाँ समर्पण कर देते हैं, उनमें आत्मविश्वास और उस साहस का अभाव है जिससे सफलता प्राप्त होती है।"[४] देश की इस राजनीति का प्रभाव समाज, धर्म तथा अर्थ सभी पर पड़ा, अतः उस समय के सभी धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन राजनीति के रंग में रंगे हुए दिखाई देते हैं।

आर्थिक

अंग्रेजों की राजनीति तो विनाशकारी थी ही, किन्तु उससे अधिक अनर्थकारी थी उनकी आर्थिक नीति। मूलतः वे भारत में शासक बन कर नहीं, व्यापारी बन कर

---

[१] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ६६१

[२] वही, पृष्ठ ६६३

[३] आधुनिक हिन्दी साहित्य—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ ८५

[४] कन्ट्रीब्यूशन ऑफ आर्यसमाज इन दि मेकिंग ऑफ मॉडर्न इण्डिया—राधेश्याम पारीक, पृष्ठ ३८

आये थे। आर्थिक शोषण के समस्त प्रकारों का उन्होंने समग्र रूप से प्रयोग किया। भारत के कलाकारों को नष्ट किया गया, विदेशी माल का आगमन नित्यप्रति बढ़ता गया और देशी माल की बिक्री समाप्तप्राय हो गई। "उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के एकमात्र साधन कृषि के ह्रास से भी अधिक भयावह परिणाम हुआ।"[1] शासकों की नीति के परिणामस्वरूप भारत केवल कृषिप्रधान देश रह गया और उसमें भी भूमि पर अत्यधिक लगान की वृद्धि हो गई। सम्पूर्ण देश और विशेषत: बंगाल दुर्भिक्ष की छाया से ग्रस्त हो गया, वहाँ "जनसंख्या एक तिहाई रह गई और यह एक तिहाई भाग भी केवल वन्य पशुओं के निवास से युक्त एक जंगल के समान हो गया।"[2] राजनैतिक अधिकारों का दुरुपयोग करके ब्रिटिश शासकों ने जानबूझकर भारतीय व्यापार और वाणिज्य के बदले ब्रिटिश व्यापार को प्रश्रय दिया और इस प्रकार विश्व का एक समृद्धतम देश निर्धनतम होने के लिये विवश हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य की आय के प्रमुख साधनों पर विचार करना भी यहां अनुचित नहीं होगा।

(१) **भूमिकर**—भारतीय शासन की आय का सर्वप्रमुख साधन भूमिकर था। उनकी आधी आय तो केवल इसी साधन से होती थी और इसमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती थी। निम्न तालिका से यह वृद्धि स्पष्ट हो जायेगी—

सन्	—	पौण्डों में आय[3]
१८१७-१८	—	१,२३,६३,६३४
१८२७-२८	—	१,३७,५४,७०३
१८४७-४८	—	१,४४,३७,२५४
१८५७-५८	—	१,५३,१७,९११

(२) **अफ़ीम से आय**—ब्रिटिश शासन की आय का अन्य प्रमुख साधन अफ़ीम थी। बनारस और पटना में अफ़ीम की खेती पर कंपनी का एकाधिकार था और वे इसको १२० प्रतिशत के लाभ पर बेचते थे। मालवा की अफ़ीम को ब्रिटिश क्षेत्र में निर्यात के लिये लाने पर पर्याप्त संक्रमण-कर देना पड़ता था। भारत में खपत की जाने वाली अफ़ीम पर भी टैक्स लगता था। सन् १७९४ और १८२३ के मध्य इस स्रोत से शासन की आय २० लाख स्टर्लिंग से भी अधिक हो गई थी। चीन देश के निवासियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध अफ़ीम का सेवन करवाया जाता था।

(३) **नमक कर**—कंपनी के क्षेत्र में बनाये गये नमक से कम्पनी को पर्याप्त आय होती थी, शेष भारत में बने नमक पर ब्रिटिश क्षेत्र में आने पर काफी अधिक टैक्स लगाया जाता था। अफ़ीम के समान नमक पर भी कम्पनी का एकाधिकार था। बंगाल में कम्पनी के एजेण्ट नमक बनाते थे और उस पर लगा ५ शिलिंग प्रति मन का टैक्स लागत मूल्य में जोड़ दिया जाता था। पंजाब की खानों से प्राप्त नमक पर ४ शिलिंग

---

[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ ७३

[2] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ४१२

[3] वही, पृष्ठ ३५२

प्रति मन के हिसाब से टैक्स लगाया जाता था । 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण में स्वामीजी ने नमक और जंगलात कानून का विरोध किया है ।[१] बम्बई में नमक-निर्माता पात्र से नमक उसी समय उठा सकते थे जब वे उस पर १ शि० ६ पैंस प्रतिमन के हिसाब से टैक्स दे दें । १७९२ से १८४४ तक कम्पनी ने केवल इस स्रोत से ६ करोड़ स्टर्लिंग कमाये । नमक नियमित रूप से ब्रिटेन से भी आता था जिस पर आयात कर नाममात्र का ही था ।

(४) टिकटों से आय—अदालत तथा व्यापारिक कागजों पर लगाये जाने वाले टिकटों से भी सरकार को पर्याप्त आय होती थी । इसके अतिरिक्त स्प्रिट, मादक पदार्थ, औषधियों तथा पटसन पर लगाये कर भी आय के अच्छे साधन थे ।

(५) आयात कर—विदेशों से लाये जाने वाले सामान पर लिया गया आयात कर भी शासन की आय का अच्छा साधन था । ब्रिटेन से आने वाले सामान पर इस कर का प्रतिशत अपेक्षाकृत कम होता था । उदाहरणार्थ विदेशी पुस्तकों पर यह कर 3 प्रतिशत था जबकि ब्रिटेन से आने वाली पुस्तकें करमुक्त थीं, ब्रिटेन से आने वाले सूती और रेशमी कपड़ों पर कर ५ प्रतिशत था और अन्य देशों से आयात किये इसी माल पर यह कर १० प्रतिशत था । समुद्र मार्ग से आने वाले ब्रिटिश सामान पर यह कर ५ प्रतिशत था जबकि अन्य देशों से इस पर १० प्रतिशत कर लिया जाता था ।

(६) मुतर्फा (Mutarfa) टैक्स—यह क्रूर और यंत्रणादायक टैक्स व्यवसाय, धन्धों (जिसमें जुलाहे, बढ़ई, धातु का काम करने वाले, सभी दुकानदार और फेरी वाले भी सम्मिलित थे) पर लगाया जाता था । यह टैक्स सस्ते औजारों और छोटी मशीनों पर भी लगाया जाता था । यदि यह टैक्स सिद्धान्ततः बुरा था तो इसके लिये जाने का ढंग और भी अधिक बुरा था । श्री जे. डब्ल्यू. बी. डाइक्स जो कि मजिस्ट्रेट थे और स्वयं टैक्स एकत्र किया करते थे, उन्होंने 'हाउस आफ कामन्स' के समक्ष साक्षी देते हुए कहा था—"यह (टैक्स) खेती करने वालों को छोड़ कर लगभग सभी पर लगाया जाता था,……यदि कोई बुढ़िया गली के कोने पर सब्जी बेचती थी, तो सब्जी बेचने के लिये भी उस पर टैक्स लगाया जाता था ।"[२]. साल में कुछ रुपये कमाने वाले पर भी यह टैक्स था किन्तु सैकड़ों रुपये कमाने वाले यूरोपियन इससे मुक्त थे ।

ब्रिटिश प्रशासन का व्यय अत्यधिक था, यह व्यय प्रायः ब्रिटिश अफसरों के अत्यधिक वेतन पर तथा ब्रिटेन का साम्राज्य बढ़ाये जाने वाले युद्धों पर होता था जिनमें लाभ ब्रिटेन का होता था और व्यय भारत के सिर डाल दिया जाता था । केवल १८५७-५८ में ही व्यय आय से ९५,३३,७९५ पौंड अधिक था । ब्रिटेन की साम्राज्य विस्तार की नीति के कारण भारतीयों पर कर्जा बढ़ता जा रहा था । १८३७-३८ तक यह ऋण ३,३७,७२,७१८ पौण्ड हो गया था और १८५७-५८ में इसकी सीमा ६,९४,७३,४८४ पौण्ड तक पहुंच गई । इतना तो

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन—डा० ल० ना० गुप्त, पृष्ठ ७३

२. ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ३५६

रजिस्टर्ड ऋण था, इसके अतिरिक्त ट्रेजरी नोट्स का ऋण और था। यह धन इंग्लैण्ड भेजा जाता था, भारत की वित्तगंगा सूखती जा रही थी और टैक्स का प्रवाह कूलों को लांघ गया था। जो धन एक बार भारत से बाहर चला गया, वह फिर कभी यहाँ लौट कर नहीं आया।

(७) नील की खेती के दंगे—ब्रिटेन के नील के खेतीहरों ने जो अत्याचार यहाँ के किसानों पर किये, वह संभवतः भारत में ब्रिटिश राज का सर्वाधिक कालिमामय अध्याय है। यह विचित्र संयोग है कि ब्रिटिश उपनिवेशों में १८३३ में गुलामी प्रथा समाप्त की गई, उसी समय रूप परिवर्तित करके इसका श्रीगणेश भारत में किया गया। नील की खेती का एक प्रकार 'रैयती खेती' था, जिसमें किसान अपने ही खर्चे पर अपनी ही भूमि में खेत के मालिक के साथ समझौता करता था। इस समझौते में यह निश्चित होता था कि किसान को उसके उत्पादन पर कितना मूल्य मिलेगा। मूल्य देते समय किसानों को दिया गया अग्रिम धन उसमें से काट लिया जाता था। किसानों से बीज, समझौते के लिये स्टाम्प की कीमत, ढुलाई का खर्चा आदि के नाम पर बहुत सा धन ले लिया जाता था। उनके उत्पादन पर जो मूल्य उनको दिया जाता था, वह बाजार से बहुत कम, प्रायः आधा या एक-तिहाई होता था। इंडिगो कमीशन ने खेतीहरों से नील खरीदने के लिये जो दर निर्धारित की थी वह ४) प्रतिमन थी जबकि बाजार में इसका भाव १० से लेकर ३०) प्रतिमन तक था। खेती करवाने के लिये मालिक भूमि का चुनाव स्वयं करते थे, प्रायः यह सर्वोत्तम भूमि होती थी, जिस पर अन्य कई लाभदायक पदार्थ बोये जा सकते थे, किसानों को समझौते से अधिक भूमि पर खेती करनी पड़ती थी, सामान को तोलते समय भी उनको धोखा दिया जाता था। परिणामतः किसान के पास रुपया बहुत कम शेष रह जाता था और जो रह भी जाता था वह गुमाश्ते इत्यादि की भेंट हो जाता था। आय न होने के कारण किसान अग्रिम धन वापिस नहीं कर पाता था, परिणामतः उसे पुनः घाटे की खेती करने के लिये बाध्य होना पड़ता था। एक बार इन मालिकों के चक्र में जो आ जाता था, वह पीढ़ी दर पीढ़ी इनसे उऋण नहीं हो पाता था। एक बार ऋण लेकर उसकी स्वतंत्रता सदा के लिये समाप्त हो जाती थी। यद्यपि कहने को दास प्रथा समाप्त हो गई थी, किन्तु खेती न करने पर इन किसानों पर "तरह-तरह के नृशंस अत्याचार किये जाते थे, उन्हें गोदामों में बन्द कर दिया जाता था, उनके मकान जला दिये जाते थे और उनकी पिटाई भी की जाती थी।"[1] किसान का नील की खेती करने को मना करना अंग्रेजों की प्रतिष्ठा का प्रश्न था, अतः इस स्थिति में वे उनके लहलहाते खेतों को नष्ट कर देते थे, उनके मकानों को गिरा दिया जाता था, उनके बागों को उजाड़ दिया जाता था, उनके फलों के वृक्षों को काट दिया जाता था और उन्हें बलात् खेती करने के लिये विवश किया जाता था। मि. ई. डब्ल्यू. एल. टावर, जो कभी जिलाधीश थे, उन्होंने सत्य ही लिखा है, "नील का एक डिब्बा भी इंग्लैण्ड मानवरक्त से रंजित हुए बिना वहाँ नहीं जाता था।"[2]

---

[1] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ९१६

[2] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ९२१

(८) **आय कर**--सन् १८६० में बम्बई प्रान्त के कई भागों में ग्रायकर लगाया गया। जनता इसके पूर्णरूप से विरुद्ध थी। १४ नवम्बर, १८६० को २० साहूकार कुछ सूचना पाने के लिये कर नियोक्ता के कार्यालय में गये, जनता ने यह समझा कि वे ग्रायकर देने पर सहमत हो गये हैं, लगभग ४-५ हजार व्यक्तियों ने कार्यालय को घेर लिया और ग्रायकर के फार्मों को फाड़ दिया। इस प्रकार फाड़े हुए फार्मों की संख्या ४०० रही होगी। सूरत में तीन हजार लोगों ने घोषणा की कि वे ये फार्म्स नहीं भरेंगे और जब तक कर निर्धारण वापिस नहीं लिया जाता, वे अपनी दुकानें नहीं खोलेंगे। फलस्वरूप डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट और उनकी पुलिस वहाँ पहुंची तथा भीड़ को जबरन तितर-बितर किया। इसी प्रकार 'बेसिन' (Bassein) में ५ दिसम्बर को ४ हजार व्यक्ति मामलातदार के कार्यालय के समक्ष एकत्र हुए और उन्होंने अपने नोटिस तथा फार्म वहीं फैंक दिये। दुर्व्यवहार के आधार पर एक व्यक्ति गोवर्धनदास को हिरासत में ले लिया गया, इस पर जनता क्रुद्ध तथा अनियंत्रित हो गई और उसे हिरासत से छुड़ा लिया।

अंग्रेजों द्वारा किये गये आर्थिक शोषण की कहानी बड़ी दारुण और बहुत लम्बी है, अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिये उन्होंने उचित और अनुचित क्या नहीं किया। इस शोषण के लिये उन्होंने मजिस्ट्रेट, पुलिस अत्याचार आदि सभी का प्रयोग किया। उनकी आर्थिक नीति के फलस्वरूप यदि किसी को कुछ लाभ हुआ तो उच्चवर्गीय कुछ लोगों को ही। भारतीय ग्राम व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण भारतीय कृषकों की दशा बिगड़ती ही गई, तरह-तरह के कानून उन पर लादे गये, कारीगरों के अंगूठे काटे गये, यहाँ के उद्योग-व्यवसाय का जानबूझकर विनाश किया गया। सोने की चिड़िया भारत के पर कट जाने के कारण दाने-दाने को तरस गई। जितने अधिक और भयंकर दुर्भिक्ष इस समय में पड़े उतने उससे पूर्व भारत के इतिहास में कभी नहीं पड़े थे। पहले के दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के कारण अथवा अन्न की कमी के कारण होते थे, किन्तु ये दुर्भिक्ष मानव निर्मित थे। देश में रेलों का निर्माण हो चुका था, अनाज सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था, किन्तु ऐसे विषम समय में भी अनाज का प्रचुर मात्रा में निर्यात तो किया गया किन्तु उसको अकालग्रस्त क्षेत्र में नहीं भेजा गया। अफसरों की उदासीनता, सहानुभूति का अभाव, करों का भारी बोझ, अन्यायपूर्ण लगान नीति और सामान्य गरीबी ने इन अकालों को और भी अधिक भयावह बना दिया। दुर्भिक्ष के कारणों का पता करने के लिये जितने भी अधिक कमीशन बने, उन्होंने स्वीकार किया कि शासन ने इनसे निपटने के लिये समुचित उपाय नहीं किये। उन्होंने यह भी सिफारिश की कि भविष्य में इनको रोकने के लिये नई रेलवे लाइनें डाली जायें, जहाँ एक लाइन् है, वहाँ दो लाइनें की जायें, नये मार्गों का निर्माण किया जाये और नई नहरों का भी निर्माण किया जाये तथा अकालग्रस्त क्षेत्र में अधिक आर्थिक सहायता प्रदान की जाये। इन अकालों के कारण मृत व्यक्तियों की संख्या देख कर कोई भी व्यक्ति भौंचक्का रह सकता है, यह संख्या निम्न थी—

वर्ष	मृतकों की संख्या
१८००-२५	१०,००,०००
१८२५-५०	४०,००,०००
१८५०-७५	५०,००,०००

(९) रेलवे—रेलवे को भी आय का एक प्रमुख साधन माना जाता है, किन्तु १९वीं शताब्दी को दृष्टिगत करते हुए यह धारणा सत्य नहीं है। गारंटी सिस्टम के अनुसार विभिन्न कंपनियों द्वारा १८५९ तक ५०,००० मील लम्बी लाइन डाली गई थी। सन् १८६९ तक रेलवे के बजट में घाटा १,६६,५०,००० रुपये हो गया था। ९ जनवरी, १८६९ को जान लॉरेन्स ने रेलवे पर की गई इस फिजूलखर्ची की कड़ी आलोचना की थी। इससे जो लाभ मिलता था वह इस पर लगाई गई पूंजी के ब्याज के तुल्य भी नहीं था। भारतवर्ष की परिस्थितियों के अनुसार जल मार्ग द्वारा किया गया यातायात रेलवे की अपेक्षा काफी सस्ता तथा उपयोगी था। वस्तुतः भारत के बहुत से बड़े नगर गंगा अथवा अन्य बड़ी नदियों के किनारे बसे हुए हैं, सिंधु तथा ब्रह्मपुत्र नदियों में भी नावें तथा स्टीमर चलाये जा सकते हैं। रेलों के निर्माण के कारण जलमार्ग द्वारा यातायात को विस्मृत कर दिया गया। ब्रिटिश शासन ने निश्चित रूप से सिंचाई की अपेक्षा रेलों को प्रश्रय दिया। सन् १८८० तक रेलों पर १२ करोड़ स्टर्लिंग का खर्चा आया जबकि सिंचाई पर केवल एक करोड़ बीस लाख रुपया ही खर्च हुआ। सर आर्थर काटन ने एक प्रसंग में कहा—"भारत को जो चाहिये वह जलमार्ग का यातायात है, रेलवे इसे पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ रही है, न तो वे नियत दर पर सामान ले जा सकती हैं, न उतना भार ढो सकती हैं और उनकी सहायता के लिये देश का प्रतिवर्ष ३० लाख रुपया व्यय होता है। नहर मार्ग से स्टीम बोट पर इसका ८वां भाग ही व्यय होता।"[१] सर आर्थर काटन ने एक बात और कही कि रेलें दुर्भिक्ष से रक्षा नहीं कर सकतीं, रेलें मनुष्यों और पशुओं को भोजन नहीं दे सकतीं, पीने का पानी देना भी उनके लिये असंभव है। सर आर्थर के सुझावों को रद्द कर दिया गया था क्योंकि सिंचाई योजनाओं से भारतीयों का भला होता था और रेलों से अंग्रेजों का।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक नीति भारतीयों की सुविधा के लिये नहीं अपितु अपनी सुविधा के लिये बनाई थी, उनके सभी कार्यों में उनका स्वार्थ-साधन ही प्रमुख था, इसके लिये उन्होंने शास्त्र का प्रयोग कम और शस्त्र का अधिक किया, उनकी नीतियां सदा एक-सी नहीं रहीं, आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन होता ही रहा। "इंग्लैण्ड के मिल-मालिक और व्यवसायी लोग भारतवर्ष को कच्चा माल देने वाले कृषिप्रधान उपनिवेश में परिणत करने में सफल हो रहे थे।"[२] भारत से कच्चा माल बाहर जाता था और बना हुआ माल वापिस होता था, दोनों ही सौदों में भारतीयों को घाटा होता था। भारत में जो मिल-कारखाने लगे भी, उनका स्वामित्व भी प्रायः विदेशियों के पास रहा, इस युग में यहां की प्राकृतिक सम्पदा का भी सम्यक्-उपयोग नहीं हो पाया, कृषकों के लिये भी नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रचार नहीं किया गया। अंततः स्वदेशी आन्दोलन का जन्म जिसमें विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, देश में नये कारखानों की स्थापना आदि प्रमुख थे, इसी आर्थिक नीति के कारण हुआ। स्वयं स्वामीजी ने सर्वप्रथम विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का संदेश दिया, जर्मनी में स्थित अपने शिष्यों से देश में कला-कौशल के विस्तार के लिये पत्र व्यवहार किया।

---

[१] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ८६१

[२] आधुनिक हिन्दी साहित्य—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ ७३

धार्मिक

भारत को कृषि प्रधान तथा धर्म प्रधान देश कहा गया है । १९वीं शताब्दी में परिस्थितियां कुछ ऐसी परिवर्तित हुई कि कृषिप्रधान देश दाने-दाने को तरस गया और धर्म के नाम पर केवल अंधविश्वास और आडम्बर ही शेष रह गये । वेदों का पठन-पाठन प्रायः समाप्त हो गया और उनका स्थान ले लिया गपोड़ों से परिपूर्ण १८ पुराणों ने, निराकार और निर्विकार एकेश्वर के स्थान पर नानाविध मूर्त्तियों की स्थापना की जाने लगी, वैदिक वर्णव्यवस्था को भूली हुई जाति शैव, शाक्त और रामानुज आदि सम्प्रदायों में अपने आपको परिगणित करने लगी, तन्त्रग्रन्थ और वाममार्ग की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गई; भंग, मद्य आदि सभी मादक पदार्थ धार्मिकजनों के लिये ग्राह्य हो गये, तथाकथित पुरोहित और पण्डे सगर्व कहने लगे--"जिसने न पी गांजे की कली, उस लड़के से लड़की भली ।" धार्मिकजनों के लिये परस्त्रीगमन एक सामान्य बात हो गई, उन्होंने योगिराज कृष्ण की भी नटनागर, राधावल्लभ तथा माखनचोर आदि नामों से स्तुति की; तथाकथित समाज, धार्मिक काव्य राधाकृष्ण की अश्लील और अशोभनीय गाथाओं से भर गया, चोरी की प्रवृत्ति बढ़ती गई, अवसर मिलने पर लोग मंदिरों से भगवान् की मूर्त्ति भी अपहृत करने लगे और दुर्गुणों के कारण खोखली हिन्दू जाति में छल, अभिमान और झूठ कूट-कूट कर भर गया ।

धर्म के नाम पर सत्यनारायण की कथा, रामचरितमानस का पाठ, भूतप्रेत बाधा और जन्मपत्री के ग्रह ही प्रमुख रह गये । धर्म के नाम पर दासी प्रथा जारी की गई, धर्म के नाम पर भक्तों ने अपनी प्रथम सन्तान को देवता की भेंट कर दिया, धर्म के नाम पर ही सांस्कृतिक तीर्थ भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये । सती प्रथा को प्रश्रय इसी धर्म ने दिया, नरबलि की प्रथा इस धर्म ने चलाई और स्त्रियों की शिक्षा का अधिकार इस धर्म ने छीना । अस्पृश्यता का श्रीगणेश इसी धर्म ने किया और निरीह पशुओं की हत्या कर यज्ञों को कलंकित किया गया । नरमेध, अजामेध, गोमेध, अश्वमेध आदि के अशुद्ध अर्थ कर मांस भक्षण की अनुज्ञा इस धर्म ने की । सारा धर्म चौके में सिमट गया, कहीं एकाशना, कहीं उपवास, कहीं सखरी-निखरी आदि की मान्यताओं ने देश के वैभव पर ही चौका लगा दिया ।[1] वाममार्ग ने काममार्ग के निकृष्टतम रूप को धारण कर लिया था, "कौलाचार्य व्याघ्रचर्म पहने घुटे सिर लम्बी शिखा और सिन्दूर से रंगे हुंए आध्यात्मिक गुरु की हैसियत से धर्म सभा का संचालन करता था, इसके बाद हरएक को देवी के प्रसाद की तरह, तरह-तरह की मदिराओं को एक में मिला कर तैयार की हुई शराब पीने को दी जाती, कुण्ड में आग जलती रहती जिसमें भांति-भांति के मसाले, घी, अनाज, धूप आदि की आहुतियां देकर हवन होता रहता ....तब कौलाचार्य पुरुषों और महिलाओं को आज्ञा देता कि वे एकदम नंगे होकर देवी के

---

१. शैव और वाममार्ग दोनों ने एकत्र होकर निर्लज्ज असभ्यतावर्द्धक मूर्त्तियां बनाईं । "इन दोनों ने सम्मति करके भग लिंग की मूर्त्ति बना कर उसकी पूजा प्रचलित की, जलहरी उसका नाम रक्खा । विषयासक्ति की ओर नरनारी झुके, पामरपन धर्म बन गया ।"

—महर्षि दयानन्द से पूर्व का भारत—पं० आत्माराम अमृतसरी, पृष्ठ ८७

सामने मैथुन करें।"[१] अवतारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई, विवाह के बाद नवोढा बहू को लोग पंडों को दान कर देते थे, तुलसी पीपल आदि वृक्षों के विवाह भी हिन्दू लोग धर्म के नाम पर करते थे। यत्रतत्र माता पूजन और शीतला पूजन की भरमार थी।

हिन्दुओं की पतितावस्था को देखकर विधर्मियों ने अपना जाल फैलाना प्रारंभ कर दिया था। तलवार के जोर से इस्लाम फैला था, कभी-कभी इतना कहना ही पर्याप्त होता था कि किसी कुए में गाय की बांटी मिली है और उसका जलपान करने वाले सभी हिन्दू धर्मच्युत कर दिये जाते थे, भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर ईसाई लोग हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित कर रहे थे, "(हिन्दू लोग) पूर्वजों को भूल चुके थे, घर छोड़ चुके थे, जीवन उद्देश्यहीन था, प्राचीन आदर्श सामने नहीं था, विकाऊ बैल की तरह खरीददार की तलाश में खड़े थे कि दया करके पादरियों ने इन भटकी भेड़ों को प्रभु ईसामसीह के रेवड़ में धड़ाधड़ मिलाना प्रारंभ कर दिया, बेठिकानों को ठिकाने लगा दिया। अब क्या था, रास्ता साफ था, भेड़ों ने बाड़ा देख लिया। भेड़िया धसान का भला हो, भेड़ें स्वयं ही रेवड़ में पहुँचने लगीं...."[२] जिन ईसाई लोगों ने यहाँ धर्म प्रचार प्रारंभ किया था, उनकी कुछ पृष्ठभूमि जानना यहाँ उपयोगी होगा।

ईसाइयों की बी. एम. एस, एल. एम. एस. आदि ११ मिशनरियाँ यहाँ धर्म परिवर्तन का कार्य कर रही थीं। ब्रिटेन से आने वाली इन मिशनरियों के देश में १८वीं शताब्दी के प्रारंभ में दशा यह थी, "मदिरापान एक कहावत सा बन गया था, समाज का कोई वर्ग ऐसा नहीं था जो इस राष्ट्रीय पाप से मुक्त हो, वहाँ के मदिरा विक्रेता प्रत्येक यात्री को मदिरापान का निमंत्रण देते थे।"[३]. वैवाहिक क्षेत्र में पवित्रता एक उपहास की वस्तु थी, "Purity and fidelity to the marriage vow were sneered out of fashion."[४] ब्रिटेनवासियों का कोई धर्म नहीं था और इस शब्द को सुनकर लोग केवल हँसा करते थे, ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि मजदूर लोग बाजार में जानवरों की भाँति अपनी पत्नियों को नीलाम करते थे। मुर्गे लड़ाना और सांड लड़वाना उनके समय गुजारने का साधन था। आदमियों और स्त्रियों को सड़कों पर कोड़े मारे जाते थे, कैदियों को शराब पीने के लिए प्रेरित किया जाता था क्योंकि अवैतनिक जेलर की आजीविका का कोई साधन नहीं था। "Drunkenmen among the prisoners was encouraged, for the unpaid jailers lived by the sale of beer"[५] उजाड़ गिरजाघरों की स्थिति खाली पड़ी भैंस शालाओं से अच्छी नहीं थीं, छोटे बच्चे वहीं पत्थरों से खेला करते थे और मुर्गियाँ वहीं अण्डे सेती थीं। इस पृष्ठभूमि से आये पादरियों ने यहाँ आकर अपने आपको अशिक्षित जनता का 'धर्म गुरु' मानना प्रारंभ कर दिया था।

---

१. महाराजा—दीवान जरमनी दास, पृष्ठ ३५

२. पद्मपराग-प्रथम भाग--पद्मसिंह शर्मा, पृष्ठ १३

३. दी क्रिश्चियन मिशनरीज इन बंगाल—कान्तिप्रसन्न सेनगुप्ता, पृष्ठ १

४. वही, पृष्ठ १

५. वही, पृष्ठ २

भारत की इस हीन दशा पर जिन संस्थाओं और सुधारकों ने दृष्टिपात किया और कु-प्रथाओं को दूर करने का प्रयत्न किया उनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है—

(१) **रामकृष्ण परमहंस**—इनका वास्तविक नाम गदाधर था तथा जन्म २० फरवरी, १८३४ को हुआ था। इनके जीवन की प्रबल इच्छा थी 'रघुवीर' की भक्ति करके उनके दर्शन करना, किताबों का कीड़ा बनना उन्हें पसन्द नहीं था। वे सदा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की संगति में रहा करते थे। वे काली माँ की उपासना करते थे, प्रतिदिन काली की मूर्त्ति को कपड़े पहनाते, स्नान कराते, खाना खिलाते तथा चाँदी की खाट पर लिटा दिया करते थे। एक बार वे ६ मास तक समाधि की स्थिति में रहे। २५ वर्ष की अवस्था में उनकी इच्छा के अनुरूप उनका विवाह षड्वर्षीया शारदामनी के साथ कर दिया गया था। अपने जाति अभिमान पर विजय पाने के लिए उन्होंने "चाण्डाल के कार्य करने शुरू किये। वे मंदिर में अपने बालों से झाड़ू लगाने का कार्य करने लगे तथा उन्होंने भिखारियों, शूद्रों तथा मुसलमानों के भोजन की जूठी पत्तलों तथा अवशिष्ट अंशों को ही अपना भोजन बनाया।"[१] उनके मस्तिष्क में यह विचार आया कि वे राम को ईश्वर के रूप में देखें। "इन्होंने हनुमान की तरह खाना-पीना और पेड़ों पर कूदना प्रारंभ कर दिया तथा अपने मुख से 'रघुवीर' का उच्चारण करने लगे। अन्त में राम और सीता का दर्शन हुआ।"[२] सन् १८६६ में 'अल्लाह' को प्रत्यक्ष रूप में देखने का प्रयास किया, इसके पश्चात् उनको ईसामसीह के दर्शन हुए जो उनके शरीर में समा गये थे और वे स्वयं चेतनाहीन हो गये। इसके बाद इन्होंने गौतमबुद्ध को भी देखा और निर्वाण प्राप्त किया। विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार करन वाले स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के अन्यतम शिष्य थे।

(२) **ब्राह्म समाज**—"यह १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानव मस्तिष्क को आन्दोलित करने वाले, नवीन विचारों और विश्वास के आधार पर उग्र सुधारवादी आन्दोलन का सर्वाधिक प्रभावशील परिणाम है।"[३] ब्राह्म समाज की स्थापना सन् १८२८ में राजा राममोहन राय ने की। 'उपनिषदों को प्रमाण मान कर उन्होंने हिन्दू धर्म की वैज्ञानिकता प्रमाणित की।'[४] राजा राममोहन राय जन्मना ब्राह्मण थे और उनका पैतृक व्यवसाय मुसलमान शासकों की सेवा था, अतः उनकी शिक्षा का आरंभ अरबी फारसी से ही हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध एक पुस्तिका लिख कर उन्होंने बंगला भाषा में सर्वप्रथम गद्य की रचना की। मूर्त्तिपूजा का विरोध पिता को रुचा नहीं, अतः उन्होंने पुत्र को घर से निकाल दिया। सन् १८०४ में वे रंगपुर की कचहरी में मुहरिर नियुक्त हुए। १८११ में इनके बड़े भाई का देहावसान हुआ, तत्कालीन सती-प्रथानुसार इनकी भाभी को चिता पर चढ़ने के लिए विवंश होना पड़ा। "चिता की ज्वाला जब सह्य न हुई तो वह वहाँ

---

[१] नारायण अ. ग्रन्थ—१९वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन—हरिदत्तवेदालंकार, पृष्ठ ७९

[२] आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास—साहनी, पृष्ठ १५३

[३] दी ग्रोथ ऑफ न्यू इण्डिया—ऐन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पार्ट ३, मजूमदार, पृष्ठ ८७२

[४] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—८वाँ भाग, पृ. ११

से उठ कर भागी।''[1] सम्बन्धियों ने उन्हें पुनः बलात् चिता में झौंक दिया, उनका करुण चीत्कार दबाने के लिए शंख, खड़ताल तथा अन्य वाद्य बजाये गये। अबला पर किये गये इस अत्याचार तथा उसके करुण चीत्कार ने राजा राममोहन राय को सदा के लिए सती प्रथा का विरोधी बना दिया।

राममोहन ने बंगला, संस्कृत, अंग्रेजी के अतिरिक्त थोड़ीसी यूनानी और इबरानी भाषा भी सीखी। ब्राह्म समाज में उन सभी को प्रवेश मिल जाता था जो मूर्त्तिपूजा का तिरस्कार करते थे तथा भगवान की एकता में विश्वास करते थे। उन्होंने पाश्चात्य आचार-विचारों के आगे न तो आत्मसमर्पण ही किया और न उनका प्रबल विरोध ही। राजा राममोहन राय के बाद ब्रह्म समाज का नेतृत्व महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के हाथ में आया। उन्होंने वेदों के केवल उतने अंश को ही मान्य किया जितना एकेश्वरवाद का समर्थन करता था। 'वे हिन्दू धर्म को रूढ़िवादिता से पृथक् कर उसे यूरोप के नवीन ईसाई मत के साथ प्रतिष्ठित करना चाहते थे।'[2] वे एक 'तत्वबोधिनी' नामक सभा चला रहे थे जो कुछ समय बाद इसी में विलीन हो गई। ''केशवचन्द्र सेन की तीव्र धर्मनिष्ठा, उत्कट उत्साह तथा आश्चर्यजनक वक्तृत्व शक्ति ने इस आन्दोलन को विख्यात किया और इसके सदस्यों की संख्या में वृद्धि की।''[3] इनके विचार अधिक उदार थे, अतः उदारता के नाम पर हिन्दुत्व के पवित्र चिह्न यज्ञोपवीत को इन्होंने तिलांजलि दे दी। वे धीरे-धीरे ईसाईयत से प्रभावित होने लगे। ''केशव ने नव विधान की घोषणा के बाद अपने धर्म संघ में ईसाइयों की बपतिस्मा तथा प्रभु की व्यालू (लार्ड्स सपर) आदि अनुष्ठानों को भी समाविष्ट कर दिया।''[4] बम्बई प्रान्त में ब्राह्मसमाज का दूसरा रूप प्रार्थनासमाज के रूप में विकसित हुआ। समाज के सदस्यों में इन्होंने महिलाओं को भी सम्मिलित किया। श्री आर. जी. भण्डारकर, महादेव गोविन्द रानाडे आदि इसके सदस्य थे। इन लोगों ने जातिप्रथा के उच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री-शिक्षा तथा बालविधवा निषेध आदि सुधारों की ओर ध्यान दिया। ''योगी अरविन्द के कथनानुसार राजा राममोहन राय केवल उपनिषदों तक ही पहुंच पाये परन्तु स्वामी दयानन्द ने उससे भी आगे बढ़कर वेद धर्म का प्रतिपादन किया।''[5] इस संबंध में श्री जॉन. आर. हिनेल्स ने लिखा—"**If the Brahma Samaj served to some extent as a meeting-ground of Eastern and Western ideologies, the Arya Samaj, founded by Swami Dayanand Saraswati in 1875, serves its antithesis in its uncompromising rejection of every foreign impulse**"[6] अर्थात् यदि ब्रह्म समाज को कुछ सीमा तक पूर्वीय और पाश्चात्य आदर्शों का सन्धि स्थल कहा जाय, तो सन् १८७५ में स्वामी

---

[1] नारायण प्र. ग्रन्थ, पृष्ठ ७४

[2] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—८वाँ भाग, पृष्ठ १२-१३

[3] ऐन एडवान्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—पार्ट ३, पृष्ठ ८७३

[4] आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन—डा. वी. पी. वर्मा, पृष्ठ २८

[5] हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, पृष्ठ ९

[6] **Hinduism John R. Hinnells + Eric J. Sharpe**—पृष्ठ ८३

१५६
२८

दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्यसमाज और उसका प्रत्येक विदेशी प्रवृत्ति का दृढ़ निषेध इसके विपरीत है।

118329

(३) **थियोसोफिकल सोसायटी**—सन् १८७८ ई. में अमेरिका से थियोसोफिकल सोसायटी के प्रेसीडेण्ट हैनरी आलकाट का एक पत्र स्वामीजी के नाम आया था जिसमें उन्हें 'most honourable Pandit' कहा गया था और उनसे पद-प्रदर्शन की याचना की गई थी --"We approach you not in pride but humility, that we are prepared to receive your counsel and do our duty as it may be shown to us."[1] उसी पत्र में यह भी लिखा था कि हम आपके चरणों में उसी भाव से आते हैं जिस प्रकार पिता के चरणों में पुत्र। यह सोसायटी १८७५ ई. की १७ तारीख को अमेरिका में स्थापित हुई थी। इसकी स्थापना मैडम ब्लैवेट्सकी और कर्नल आलकाट के उद्योग से हुई थी।[2] मैडम रूस में एक जर्मन परिवार में उत्पन्न हुई थी। १७ वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ और ३ माह बाद इन्होंने पति का परित्याग कर दिया। "अलग रहकर बरसों तक मैडम ने संदिग्ध जीवन व्यतीत किया।"[3] पति के जीवित रहते ही इन्होंने मैटोविच नाम के एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित किया। इसी संबंध से एक पुत्र भी हुआ जिसके बारे में मैडम ने बहुत सी आध्यात्मिक कल्पनायें करके लोगों को समझाने का प्रयत्न किया। १८७५ के अप्रेल माह में मैडम ने झूठ बोलकर अपने आपको विधवा बताकर माइकेल थाटले नाम के व्यक्ति से विवाह कर लिया, अपनी अवस्था उसने ४३ के स्थान पर ३६ वर्ष लिखाई। रूस में बदनाम होकर मैडम ने अमरीका में आश्रय लिया और आध्यात्मिक विषय पर लेख लिखकर अपना निर्वाह किया, यहां ही उनका परिचय कर्नल आल्काट से हुआ, दोनों मिलकर आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखते थे, किन्तु इससे उनका गुजारा भी नहीं हो पाता था। मैडम ने एक पत्र में लिखा—"Tomorrow there will be nothing to eat. Something quite out of the way must be invented."[4] तंग आकर इस युगल ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना की। एक ने मंत्रीत्व का कार्य संभाला और दूसरे ने प्रधान के पद को सुशोभित किया। सन् १८७७ में मैडम की प्रसिद्ध पुस्तक 'Isis unveiled' प्रकाशित हुई, जिसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन था, ईसाईयत पर आक्षेप थे और जादू तथा चमत्कार की संभावनायें थीं। मि. होम ने इस पुस्तक की भयंकर आलोचना की, परिणामतः मैडम को मुंह छिपाने के लिये भारत आना पड़ा, उन्होंने एक पत्र में लिखा—"मैं इसीलिये भारत को जा रही हूं। लज्जा और खिझलाहट से तंग आकर मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूं जहां मेरा नाम कोई न जानता हो। होम के द्वेष ने यूरोप में सदा के लिये मेरा नाश कर दिया।"[5]

इस युगल ने अपना निश्चय आर्यसमा[illegible] एक पत्र में लिखा तथा थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज में विलीन करनी चाही और स्वामी दयानन्द सरस्वती

गुरुकुल कांगड़ी

---

[1] आर्यसमाज का इतिहास, भाग एक—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ११६

[2] इसी वर्ष भारत में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी।

[3] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ११७

[4] वही, पृष्ठ ११८

[5] वही, पृष्ठ ११९

15.6,28 (GK)
118329

को सर्वसम्मति से इस सोसायटी का मुखिया स्वीकार किया। कर्नल ग्राल्काट को विश्वास था कि वह पं. दयानन्द को ग्रपने जाल में फंसा लेगा, पर यहां उसे निराशा ही हाथ लगी। कालान्तर में थियोसोफिस्टों ने संसार के कर्ता ईश्वर के ग्रस्तित्व को न मानना प्रारंभ किया, समझौतों के विरुद्ध ग्रार्यसमाज के सदस्यों को ग्रपनी सोसायटी में मिलाने का प्रयत्न किया। चमत्कारों को योग सिद्धि माना, हिमालय से उन्हें सीधे संदेश मिलने लगे—इत्यादि कारणों से ग्रार्यसमाज से सोसायटी का विच्छेद ग्रनिवार्य हो गया। उन्होंने इतनी तक गर्वोक्ति की; "....ग्रार्य सामाजिक रूप से मिले या न मिले इसकी हमें परवाह नहीं है। इसमें उन्हीं की ग्रौर कदाचित् समाजों की हानि है।"[१] इन लोगों ने जो चमत्कार दिखाये, बाद में ज्ञात हुग्रा कि वे सब छल मात्र थे। मैडम के झूठे पत्रों पर जब ग्रदालती जांच का प्रश्न ग्राया था तब वे स्वास्थ्य के ग्राधार पर एक झूठा डाक्टरी प्रमाण पत्र लेकर पुनः योरोप को रवाना हो गई। इसके बाद श्रीमती एनीबीसेन्ट इसकी नेत्री बनीं। Theosophy शब्द ग्रीक भाषा के Theos (God) ग्रौर Sophia (Wisdom) शब्दों से मिल कर बना हैं, जिससे इसका ग्रर्थ ईश्वर का ज्ञान होता है।"[२] किन्तु क्रिया क्षेत्र में इन लोगों को ईश्वर के ग्रस्तित्व में ही विश्वास नहीं रहा था।

(४) बहावी आन्दोलन—बहावी ग्रान्दोलन का श्रीगणेश १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक धर्म सुधार ग्रान्दोलन के रूप में हुग्रा तथा इसने मुस्लिम समाज में फैले हुए भ्रष्टाचार पर ग्राक्रमण प्रारंभ किया। बहावियों ने उग्र रूप से ग्ररब के पैगम्बर की ग्रास्था की सच्चाई पर लौटने की वकालत की, किन्तु धीरे-धीरे इसका स्वरूप राजनैतिक होता गया। इसके संस्थापक सैयद ग्रहमद की प्रबल ग्रभिलाषा थी, पंजाब में सिक्खों ग्रौर बंगाल में अंग्रेजों को उखाड़कर पुनः मुसलमानों का शासन स्थापित किया जाय। वास्तव में इस मत के प्रवर्तक ग्रब्दुल वाहब (जिनके नाम पर बहावी नाम पड़ा) विचारों में काफी उदार थे, उन्होंने शिया ग्रौर सुन्नियों दोनों को ही ग्रपने मत में स्थान दिया था। सैयद ग्रहमद का संबंध योद्धा दल से था, जो ग्रपनी उद्देश्यपूर्ति के लिये हथियार भी उठाना चाहते थे। शरीयतुल्ला ने धार्मिक अंधविश्वासों ग्रौर भ्रष्टाचार को दूर करने में काफी प्रयत्न किया। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने बंगाली कृषकों में उत्साह जागृत किया। उनके पुत्र मोहम्मद मुशीन उर्फ दूधू मियां ने प्रवेश को कई हलकों में बांट दिया, ग्रपने मत वालों को एकता के सूत्र में पिरोना, धर्म परिवर्तन कराना तथा धन संग्रह करना उसका प्रमुख कर्तव्य था। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई मुंसिफ के न्यायालय में नहीं जाता था, उसने जमींदारों द्वारा लगाये गये ग्रन्यायपूर्ण टैक्सों का विरोध किया ग्रौर घोषणा की कि सभी भूमि ग्रल्लाह की है। जब एक हिन्दू जमींदार ने ग्रपने ग्राश्रितों पर टैक्स लगाया तब इन बहावियों ने, "एक ब्राह्मण पुरोहित की हत्या की, दो गायों को मारा ग्रौर उसका रक्त हिन्दू मंदिरों पर छिड़का, दूकानों को लूटा ग्रौर जो मुसलमान उनके मत में नहीं मिले उनका ग्रपमान किया ग्रौर हिन्दुग्रों के जानमाल पर भयंकर ग्राक्रमण किया।"[3]

---

[१] ग्रार्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ १२३

[२] ग्राधुनिक भारतीय संस्कृति—एल. पी. शर्मा, पृष्ठ ६३

[३] ब्रिटिश पैरामाउण्ट्सी, पृष्ठ ८८६

धीरे-धीरे इसका स्वरूप राजनैतिक होता गया। एक पैम्फलेट में मुसलमानों को जिहाद के लिये उभाड़ा गया, सिक्ख शासकों को जिन्होंने हजारों मुसलमानों को मारा था, अत्याचारी कहा गया और उन पर यह लांछन लगाया गया कि वे मुसलमानों को गोहत्या की अनुमति नहीं देते। फिर इन्होंने ब्रिटिश शासकों से युद्ध करने की योजना बनाई। यह आन्दोलन क्रांति आन्दोलन की अपेक्षा अधिक योजनाबद्ध तथा व्यवस्थित था। धार्मिक मान्यताओं के आधार पर इसको अधिक समर्थन नहीं मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी के आविर्भाव के समय हिन्दुओं पर सभी ओर से विपत्ति के पहाड़ टूट रहे थे। अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद आदि तो उनके आंतरिक व्यवधान थे, मुसलमान उनके धर्म परिवर्तन का प्रयत्न कर रहे थे, पुनः उन्हें गुलाम बनाने की आकांक्षा उनमें बलवती हो उठी थी। ईसाई तरह-तरह के प्रलोभन, प्रवंचनायें देकर तथा अत्याचार करके उन्हें अपने खेमे में आने को प्रेरित कर रहे थे, हिन्दू धर्म का अन्दर आने का द्वार बन्द हो चुका था और केवल बहिर्मार्ग ही शेष रह गया था। शिक्षा का अभाव था, मन सदियों की दासता से परिपूर्ण था और आत्मविश्वास का अभाव उन्हें पाश्चात्यता की ओर ले जा रहा था। कुण्ठाग्रस्त होने के कारण कोई भारतीय वस्तु, परम्परा तथा आचरण उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं होता था। इस बीमार जाति की नब्ज ठीक समय पर स्वामी दयानन्द जैसे डाक्टर ने पकड़ी और रोग का निदान कर उसे रोगमुक्त करने का अनथक प्रयास किया।

साहित्यिक

साहित्य क्योंकि समाज का दर्पण होता है, अतः साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन किये बिना तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान भी अपूर्ण ही रहेगा। यद्यपि १९वीं शताब्दी को गद्य का युग कहा जाता है फिर भी इसमें काव्य का नितान्त अभाव नहीं रहा। यह ठीक है कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में काव्य में कोई नवीन प्रेरणा, नवीन आदर्श तथा नवीन शैली नहीं रही। फिर भी काव्य का सृजन तो होता ही रहा।

राम काव्य--इस युग से पूर्व राम काव्य के आदर्श वाल्मीकि तथा तुलसी थे। राम का चरित्र चित्रित करते समय कहीं भी उन्होंने (तुलसी ने) भारतीय संस्कृति के मूल मर्यादा-भाव पर मलीनता की छाया नहीं आने दी। उनका शृंगार भी दीपशिखा की भांति जगमगाता और उज्ज्वल भाव किरणें विकीर्ण करता है।''[1] किन्तु इस युग के राम काव्य पर भी कृष्ण काव्य की छाया पड़ने लगी। इस युग के कवि राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला आदि को अयोध्या की गलियों में घुमाने लगे, सरयू के किनारे उनका विहार प्रारंभ हो गया। राम भी 'होली' तथा 'रास' आदि क्रियाओं में तल्लीन होने लगे। कृष्ण की गोपिकाओं की भांति राम ने भी अयोध्या की अनेक स्त्रियों से प्रेम करना प्रारंभ कर दिया। सीता का स्वरूप पतिव्रता का न रह कर प्रेमिका रूप में परिणत हो गया। राम के लिए अष्टयाम लिखे गये और उनके नखशिख का वर्णन किया गया। राम का दरबार मुगलों का दरबार हो गया, ''गद्दे,

---

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, आठवां भाग, पृष्ठ ३५

तकिये, फर्श, कालीन, पर्दे, शमादान, जुहार करने की प्रथा आदि सब बातें राम के दरबार में मिल जाती हैं।"[१]

इन कवियों ने राम को विवाह के समय द्यूतक्रीडा में भी व्यस्त दिखाया है। 'स्वामी भगवत दास रामानुजी' ने अपने 'श्री राम रहस्य' में (सन् १८३२ में) राम के एकान्त गुप्त चरित्र का उल्लेख किया है। उन्होंने राम के समक्ष एक सखी द्वारा रतिदान की याचना कराई है—

" येक सषी रामहिं भरि अंका। लैगे जहां भवन निहसंका।
कहिसि करहु दासी पर दाया। मदन मोहि मारत रघुराया।
जथा मत गज केदलि उपारै। इम मन मथ मम जघन बिदारे।"[२]

राम सरयू तीर के कुंजों में सीता के साथ रति करते हैं तथा सीता के बराबर ही अन्य स्त्रियों से भी प्रेम करते हैं। "कृष्ण यदि रासलीला करते थे तो राम जलविहार करते हैं। कृष्ण यदि रूठी हुई राधा को मनाते थे तो रामायण[३] में राम सीता के विभिन्न अंगों को स्पर्श कर उसका मान भंग करना चाहते हैं।"[४] रामनाथ प्रधान के राम कानों में मुरकी, बाहों में बाजूबन्द, कलाइयों में कड़े पहने हुए हर वक्त पान चबाते रहते हैं, यज्ञ में सीता घूंघट किये हुए आती है। इस युग के काव्यों में राम और सीता भक्ति के आलंबन न होकर शृंगार के आलंबन हो गये हैं, वे आराध्य न होकर विलासी पुरुष और स्त्री के प्रतीक हो गये हैं। श्री बालकृष्णराव ने इस सम्बन्ध में उचित ही लिखा—"वे (राम) सखियों के साथ छेड़छाड़ करने लगे, सीता की सखियों की बेणी भी गूंथने लगे। कृष्ण के समान वे भी रसिया बन गये।"[५] यह काव्य अधिकांश में अवधी भाषा में ही रचा गया, मुक्तक छंदों तथा लघु प्रबंधों के रूप में ही उसका विस्तार हुआ। कुछ कवियों की भाषा में उर्दू-फारसी के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

"सुन री सखी उस इश्क की कहानी।
दिल दरदी दिलदार दरश बिन देखि नजर भर करत दिवानी।"[६]

इन कवियों ने चित्रकूट को भी वृन्दावन में परिणित कर दिया। इन रसिक पंथ वालों में राम की 'तिरछी चितवन' और 'बांकी अदा' के गीत गाने प्रारंभ कर दिये। राम के चरित्र को ये लोग जितना गिरा सकते थे, उतना गिरा दिया।

"पियहंसि रस रस कंचुकि खोलें।
चमकि निवारति पानी लाड़िली, मुरक मुरक मुख बोले।"[७]

---

[१] आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा. ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ १९०
[२] वही, पृष्ठ १९४
[३] रींवा के महाराज विश्वनाथ सिंह (१८३३-५४)
[४] वही, पृष्ठ १९५
[५] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास-आठवां भाग, पृष्ठ ३५-३६
[६] वही, पृष्ठ ४१
[७] हिन्दी साहित्य का इतिहास--रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १५४

कृष्ण काव्य—इस युग के साहित्यकारों ने जब मर्यादा पुरुषोत्तम राम की ही मर्यादा तोड़ दी, तब नटनागर, गोपिका-वल्लभ कृष्ण के सम्बन्ध में उनसे संयम की आशा कैसे की जा सकती थी ? पद्माकर भट्ट ने होली के अवसर पर कृष्णजी की अच्छी गत बनवाई है—"छीनि पीतंबर कम्बर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी। नैन नचाय कही मुसुकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।" रामभक्त कवियों ने राम और सीता को किसी रूप में प्रस्तुत किया हो, पर इतना स्पष्ट है कि वे दोनों पति-पत्नी थे। राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में यह बात असंदिग्ध नहीं है। काव्य शास्त्र की दृष्टि से इन लोगों ने प्रेम का परिपाक परकीया में ही माना है, "परकीया से छुप-छुप करके प्रेम करना विशेष आनन्द का विषय समझा जाता रहा है। वीरगाथा काल में पुरुष की रूमानी शौर्य प्रदर्शन की भावना का प्रदर्शन युद्ध में स्त्रियों को जीतकर लाने के वर्णन से प्रकट हुआ....विद्यापति में यह भावना परकीया प्रेम के रूप में प्रकट हुई।"[1] फिर तो यह परम्परा काव्य में एक लीक सी बन गई, विकृत कामवासनायें और अश्लीलता इसमें अनायास ही सम्मिलित हो गई। और तो और नवयुग के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी राधा-कृष्ण का वर्णन निम्न प्रकार किया—

"फबी छबि थोरे ही सिंगार।
बिना कंचुकी बिनु कर कंकन सोभा बढ़ी अपार।
खसि रहि तन में तन सुख सारी खुलि रहे सोंधे बार,
हरीचन्द मनमोहन प्यारों रीझो है रिझवार।"[2]

युग का प्रभाव इतना पड़ा कि कृष्ण ने सलाम और जुहार स्वीकार करना प्रारंभ कर दिया। अनेक लोगों ने मुगलों के अनुकरण पर दाढ़ी बढ़ा ली। कृष्ण और रुक्मिणी के विलास का वर्णन करते समय "जिस कमरे का उल्लेख किया गया है उसमें बढ़िया पर्दे लगे हुए हैं, एक कोने में जल रहे शमादान से निकली सुगंध चारों ओर फैल रही है, गलसुई तथा अन्य प्रकार के तकिये रक्खे हुए हैं।"[3] नखशिख का वर्णन करते हुए कुछ कवियों ने मुहांसों, तिल, गोदना तथा चेचक के दागों आदि तक का वर्णन किया है—"उनकी रचनाओं को ठीक-ठीक समझने के लिये काव्यशास्त्र व ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद, शरीर विज्ञान आदि का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।"[4] इन शृंगारी कवियों ने नाम ही केवल राधा और कृष्ण का लिया, किन्तु उनकी नायिकायें वस्तुतः अपने आश्रयदाता सामन्तों की रखेलियां ही थीं। ऐश्वर्य, विलास की सभी सामग्री वहां विद्यमान थीं, बहुमूल्य पर्दे, दूधिया चादरों और मुलायम कालीनों के अतिरिक्त इन नायिकाओं के वस्त्र भी मखमल और कमख्वाब के थे, वे गोटा लगा लहंगा, साड़ी अथवा घाघरा पहनती थीं। सारा काव्य शृंगार में आपादमस्तक निमग्न है, नायिका-भेद, चमत्कार, अलंकारप्रियता, बारह-मासा तथा अष्टयाम वर्णन इस युग के काव्य की अन्यतम विशेषतायें हैं। वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, पुराने भावों का पिष्टपेषण है और नायिकाभेद की विस्तृत

---

१. भारतेन्दु साहित्य—रामगोपाल सिंह चौहान, पृष्ठ २५८
२. वही, पृष्ठ २६९
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ २०५
४. वही, पृष्ठ २३४

चर्चा है। कृष्ण के जीवन का सुदर्शन चक्र, अर्जुन को उपदेश, द्रौपदी का चीर विस्तार, कालिया नाग तथा हस्तिचाणूर का मर्दन, शिशुपाल वध तथा उनका योग उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता।

गद्य का विकास—१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में यद्यपि खड़ी बोली का नाम कर्णगोचर नहीं होता, फिर भी बृजभाषा, राजस्थानी, अवधी, मैथिली, दक्खिनी हिन्दी आदि में यह गद्य उपलब्ध होता है। "पूर्वीय भाषा को जानने वालों में हिन्दी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् १७८६ ई. में विलियम जोन्स ने किया।"[१] अपभ्रंश के लोकभाषा न रहने पर उसका स्थान उत्तर में कुरुजनपद में व्यवहृत कौरवी या खड़ी बोली ने ले लिया। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में इसका भिन्न-भिन्न नाम रहा। "पुराने बहमनी राज्य क्षेत्र में इसे हिंदवी, हिंदी और दक्खिनी कहा जाता था। हिंदवी उसे कहते थे जो सबके लिये बोधगम्य थी।"[२] खड़ी बोली की दो साहित्यिक शैलियां विकसित हुई, एक का नाम ठेठ हिन्दी अथवा शुद्ध हिन्दी था और इसमें संस्कृत तथा प्राकृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग होता था। दूसरी शैली का नाम उर्दू था, यह शब्द तुर्की विजेताओं द्वारा दिया हुआ है और इसका अर्थ होता है "The tent, camp, dwelling or encampment of a cheif[3] अर्थात् तम्बू, सैन्य निवास अथवा किसी सरदार का निवास स्थान। इसमें पर्शियन तथा अरबी शब्दों का बाहुल्य होता है और प्रायः इसे फारसी लिपि में लिखा जाता है।

अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार तथा नवयुग की आवश्यकताओं के अनुसार खड़ी बोली गद्य का प्रयोग बढ़ता गया। इससे पहले भी यदाकदा खड़ी बोली गद्य का प्रयोग मिलता है, किन्तु इसका नियमित प्रवाह इसी युग से प्रारम्भ हुआ। अनेक विद्वानों का मत है कि खड़ी बोली गद्य का श्रीगणेश सन् १८०० में फोर्ट विलियम कॉलेज से हुआ। यह भी विचित्र संयोग है कि "फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष जोन बोर्थविक गिलक्राइस्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक चिकित्सा अधिकारी के रूप में प्रविष्ट हुए थे।"[४] कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में पं. सदल मिश्र और लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिन्दी गद्य को जन्म दिया। डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस धारणा को नितान्त निर्मूल माना है। फोर्ट विलियम कॉलेज ने गद्य की परम्परा का विकास अवश्य किया पर उसे जन्म नहीं दिया। "अंग्रेजों के संरक्षण में आधुनिक खड़ी बोली का जन्म तो नहीं हुआ, उसका स्वतंत्र अस्तित्व पहले से ही था और १९वीं शताब्दी में वह स्वतंत्र रूप से बढ़ भी रहा था, किन्तु अंग्रेजों के माध्यम द्वारा.......खड़ी बोली गद्य को प्रोत्साहन, विकसित होने का, अवश्य प्राप्त हुआ।"[५]

---

[१] The developement of Hindi Prose Literature in the early Nineteenth Century—Shardadevi Vedalankar, page XIII

[२] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, अष्टम भाग, पृष्ठ ५६

[३] The developement of Hindi Prose, page XIV

[४] वही, पृष्ठ २९

[५] आधुनिक हिन्दी साहित्य—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ २७

आधुनिक गद्य की भाषा के रूप में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी को लेकर काफी संघर्ष हुआ है। तर्क की सहायता से असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। प्रारंभ में मुसलमान उर्दू को मुसलमानों की ही भाषा समझते थे। हिन्दी गद्य प्रासाद के प्रमुख स्तम्भ सैयद इंशाअल्ला खां का कथन है, —"जबान उर्दू शाहजहांनाबाद के 'नजीब' दरबारी मुसलमानों की जबान है, कुछ उन हिन्दुओं की नहीं जिन्होंने बोलना-चालना, खाना-पीना, रहना-सहना सब मुसलमानों से सीखा है, फिर भी उनका कौल व फेल किसी ऐतबार के काबिल न हुआ।"[१] शायर सौदा 'हिन्दी की नापाक जमीं पर' सिजदा भी नहीं करना चाहते थे। एक मौलवी असगर अली ने तो यहां तक कह डाला "संयुक्त प्रान्त में हिन्दी नाम की किसी भाषा का अस्तित्व ही नहीं है, न था, यह तो हिन्दुओं ने उर्दू की उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकाने के लिए संस्कृत शब्दों को मिला-मिला कर हिन्दी की एक नई भाषा पैदा कर ली है।"[२] एक सत्यप्रेमी मुसलमान सैयद सुलेमान नदवी ने इस कथन को चुनौती दी और कहा "हकीकत यह है कि उर्दू का नाम तेरहवीं सदी हिज़्री में एकाएक आ गया।"[३]

उपरोक्त संघर्ष बड़ा लम्बा है। हिन्दी ने अनेक संघर्ष झेले। अंततोगत्वा १८३७ में कंपनी ने अदालती तथा अन्य शासन संबंधी कार्यों में फ़ारसी बिल्कुल हटा दी और उसका स्थान भारतीय भाषाओं को दे दिया। स्वामीजी के आविर्भाव के समय भी यह संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। स्वयं हिन्दी वाले यह निर्णय नहीं कर पाते थे कि गद्य-पद्य की भाषा एक ही हो अथवा भिन्न-भिन्न। काव्य के लिये लोग ब्रज का माधुर्य ही पसन्द करते थे और गद्य के लिये उन्हें खड़ी बोली रुचिकर थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी यथासम्भव इस परम्परा को निभाया, सन् ५७ की क्रांति से तीन वर्ष पूर्व ही फोर्ट विलियम कॉलेज तोड़ गया दिया। इस कॉलेज के मुंशियों और पंडितों ने कई ग्रन्थ प्रकाशित किये पर उनमें मौलिक कम ही थे।

खड़ी बोली गद्य परम्परा का सर्वाधिक लाभ संभवतः ईसाई धर्मप्रचारकों ने उठाया। उन्होंने हिन्दी में बाइबिल का अनुवाद किया तथा कई छोटे ट्रेक्ट प्रकाशित किये। यद्यपि उनका उद्देश्य हिन्दी का प्रचार व प्रसार नहीं था, फिर भी यह कार्य उनके द्वारा आनुषंगिक रूप से हुआ। हिन्दी में पत्रकारिता का श्रीगणेश भी इस युग में हुआ। भारतेन्दु युग से हिन्दी गद्य साहित्य की कई विधाओं का सृजन प्रारंभ हुआ। उपन्यास तथा निबंधों के अतिरिक्त भारतेन्दु ने नाटकों का सृजन, अनुवाद तथा अभिनय भी प्रारंभ किया, पुराने ग्रन्थों की टीकायें तथा आलोचनायें भी प्रारंभ हुईं, लेखकों ने समाचार पत्रों के माध्यम से भी अपने निर्भीक विचारों को अभिव्यक्ति दी। इस युग के साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य की काफी छाप है। कुछ रचनाओं में राष्ट्रीयता का स्वर भी धीरे-धीरे मुखर होना प्रारंभ हो गया है। हिन्दी के लिये उस समय लेखक और पाठक जुटाना भी साधारण कार्य नहीं था, उस युग के साहित्य में अन्य बातों के अतिरिक्त अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति तथा उनका गुणगान समाहित रहता था, विरोध भी किया जाता था तो डंके की चोट पर न होकर दबे स्वर में। साहित्य उस समय भी देश निर्माण की

---

[१] आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का विकास—डा. श्याम वर्मा, पृष्ठ ३६

[२] आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा. श्रीकृष्ण लाल, पृष्ठ १५७

[३] आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का विकास—डा. श्याम वर्मा, पृष्ठ ३८

अपेक्षा मनोरंजन का साधन अधिक था। नवीन विषयों को भी प्रायः प्राचीन परिपाटी के माध्यम से स्पष्ट किया जाता था। "इस परिपाटी के सन्दर्भ में 'मुकरी' के माध्यम से नवीन सामयिक दृष्टि की आलोचना जन्मोत्सव, मंगल, बधाई, स्यापा, आगमन, विवाह आदि प्राचीन परम्पराओं को आधार बनाकर नवीन सन्दर्भों को समायोजित करना भारतेन्दुकाल की एक विशेष प्रवृत्ति बन गई थी।"[1]

उस युग में हिन्दी के सहायक कम थे और विरोधी अधिक। अपना खून-पसीना एक करके जो हिन्दी की सेवा कर भी रहे थे, उनके पास भी साधनों का अभाव था। ऐसे समय में स्वामी दयानन्द ने अवतरित होकर हिन्दी का पृष्ठ पोषण किया। इसे आर्ष भाषा के नाम से परिचित कराया। उनके विचारों से कोई सहमत हो या न हो, यह प्रश्न दूसरा है किन्तु इस विषय में तो सभी का मतैक्य है कि उन्होंने हिन्दी की निःस्वार्थ सेवा की है। उन्होंने काव्य भले ही न लिखा हो, किन्तु जो लिखा वह भारतेन्दु बाबू से परिमाण में कहीं अधिक है। उनकी रचनाओं और विशेषकर सत्यार्थप्रकाश का जितना प्रचार हुआ उतना सौभाग्य उस समय की संभवतः किसी रचना को प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण देश की एकता के लिये राष्ट्रभाषा का ज्ञान आवश्यक माना और मरणपर्यन्त इसी भाषा में अपनी सभी रचनायें करते रहे। उन्होंने खड़ी बोली को ही राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान किया, लिपि इसकी देवनागरी रखी और यथासंभव इसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का समावेश किया।

---

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, आठवां भाग, पृष्ठ ८७

द्वितीय अध्याय

जीवन परिचय एवं चरित्रनिरूपण

पिछले अध्याय में स्वामीजी के आविर्भाव के समय विद्यमान विभिन्न परिस्थितियों पर विचार किया गया है। इस अध्याय में 'उन्नीसवीं सदी के श्रेष्ठतम महापुरुष स्वामी दयानन्द'[1] के जीवन चरित्र पर दृष्टिपात करना अनुपयुक्त न होगा। यों तो हिन्दी, इंगलिश, उर्दू, बंगला तथा संस्कृत आदि विभिन्न भाषाओं में लिखे गये उनके दो दर्जन से अधिक जीवन चरित्र उपलब्ध होते हैं तथापि उर्दू भाषा में लिखा पं. लेखराम का 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र', बंगला भाषा में बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित तथा पं. घासीरामजी द्वारा हिन्दी में अनूदित दो भागों में उपलब्ध 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र', तथा आर्य भाषा में रचित स्वामी सत्यानन्दजी का 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' इस विषय के आधार ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त पं. भगवद्दत्तजी द्वारा संपादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' तथा कर्नल आलकाट को प्रेषित 'ऋषि दयानन्द का स्वरचित जीवन चरित्र' भी कम उपयोगी नहीं है। इधर हाल ही में प्रकाशित प्रो. बी. के. सिंह के 'स्वामी दयानन्द' तथा पं. दीनबन्धु शास्त्री के 'योगी का आत्मचरित्र' में इस विषय में नवीन दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

स्वामीजी के जीवन की कुछ प्रमुख घटनायें निम्न हैं—

जन्म तथा शैशव—गुजरात में अन्य प्रदेशों की अपेक्षा सन्ततिमोह अधिक है, अतः स्वामीजी ने जानबूझ कर अपने जन्म तथा परिवार का विस्तृत परिचय नहीं दिया है, फिर भी इतना तो स्पष्ट है "संवत् १८८१ के वर्ष में दक्षिण गुजरात प्रान्त, देश काठियावाड़ के मजोकठा देश, मौर्वी का राज्य, औदीच्य ब्राह्मण के घर में मेरा जन्म हुआ था।"[2] मूल नक्षत्र में जन्म ग्रहण करने के कारण इनका नाम मूलशंकर रखा गया था, कुछ लोगों के मतानुसार इनका नाम दयाल अथवा दयाराम भी था तथा उनके पिता का नाम कर्शनजी[3] लालजी त्रिवाड़ी

---

१. हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा —डा. बद्रीदास, पृष्ठ १२८

२. ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्म चरित्र —सं. पं. भगवद्दत्त, पृष्ठ ३

३. आर्य समाजिक जगत् में स्वामीजी के पिता का नाम 'अम्बाशंकर' प्रसिद्ध है। पं. लेखरामजी ने भी जीवन चरित्र के पृष्ठ २० पर लिखा है, "पिछले वर्ष दीवाली के अवसर पर अमृतसर में एक महात्मा साधु (जिनकी आकृति स्वामीजी से मिलती थी और जिनके विषय में लोगों में प्रसिद्ध था कि वह स्वामी दयानन्दजी का भाई है, जिनका नाम गोविन्दानन्द सरस्वती है, जो छः वर्ष तक स्वामीजी के साथ गंगा तट पर विचरते रहे) से भेंट हुई, उन्होंने कहा कि स्वामीजी के पिता का नाम अम्बाशंकर औदीच्य ब्राह्मण था।" पं. देवेन्द्रनाथ मुखर्जी ने सिद्ध किया है कि गोविन्दानन्दजी न तो स्वामीजी के भाई थे और न उनके द्वारा निर्दिष्ट स्वामीजी के पिता का नाम अम्बाशंकर था। उनके अन्वेषण के अनुसार "टंकारा में किसी अम्बाशंकर नामक व्यक्ति का पता नहीं लगा।" (महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र भाग २, पृष्ठ ३७१)

अथवा त्रिवेदी था। कर्शनजी प्रसिद्ध साहूकार, जमींदार, घोर शिवभक्त तथा जमेदार थे।[1] प्रथम पुत्र होने के नाते स्वामीजी के जन्म पर परिवार ने अत्यन्त हर्ष मनाया तथा जी खोलकर लोगों को दान-दक्षिणा दी। पांचवें वर्ष में उन्हें देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराया गया, ८वें वर्ष में उनका उपनयन संस्कार किया गया तथा गायत्री एवं सन्ध्या की उपासना विधि सिखाई गई स्वामीजी के ''सभी सगे संबंधी शैव थे, विशेष करके उनके पिता तो पक्के शिवोपासक थे।[2] स्वामीजी को शिक्षा दी गई कि वे मिट्टी की पिण्डी बनाकर प्रतिदिन उसका पूजन किया करें।

जिज्ञासा एवं वैराग्योदय—१४वें वर्ष की अवस्था तक स्वामीजी ने यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण तथा कुछ-कुछ अन्य वेदों का पाठ भी पूरा कर लिया था, शब्द रूपावली तथा व्याकरण के छोटे ग्रन्थ भी उन्होंने पूर्ण कर लिये थे। उस वर्ष 'शिवरात्रि' पर माता के प्रतिषेध करने पर भी उन्होंने व्रत रखा। मंदिर में विद्यमान सभी व्रतधारी निद्रामग्न हो गये, एकमात्र जागने वाला था बालक दयाल और उसकी जिज्ञासावृत्ति। वह त्रिशूलधारी, पाशुपतास्त्रग्राही, डमरुनिनादी परब्रह्म शंकर के दर्शन करना चाहता था, पर परिस्थिति चक्र ने उसे दिखाया कुछ और ही। एक चूहे ने तथाकथित शंकर की पिण्डी पर उत्पात मचाना प्रारम्भ किया और फिर उस पर चढ़े भोग का भी आस्वादन उसने किया। अपनी रक्षा में असमर्थ शिव को देख कर बालक की आस्था को ठेस लगी और तभी उसने सच्चे शंकर की खोज का निश्चय किया। व्रत-उपवास छोड़कर उसने घर की शरण ली और क्षुधानिवारण का प्रयत्न किया। उस दिन से ही उनके जीवन की दशा परिवर्तित होने लगी।

दो वर्ष बाद स्वामीजी सपरिवार अपने एक मित्र के घर नाच देखने गये हुए थे, अचानक उन्हें समाचार मिला कि उनसे दो वर्ष छोटी बहिन विषूचिकाग्रस्त हो गई है, वैद्य-औषधि सभी कुछ निष्फल हुआ और चार घण्टे के अल्प समय में ही उसने सदा के लिये संसार से मुख मोड़ लिया। सभी परिचितजन विलाप कर रहे थे पर दयानन्द का मन गंभीर-चिंतन में लीन हो गया। भगवान् बुद्ध की भांति उन्होंने भी सोचा कि एक दिन इसी प्रकार उनका भी शरीरपात हो जायेगा—सारा संसार इसी पथ का पथिक हो जायेगा। वे ऐसे उपाय का चिन्तन करने लगे जिससे जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति मिल जाये। एक कष्ट का अभी निदान हो भी न पाया था कि दूसरा अनभ्रवज्रपात भी उनके हृदय पर हुआ, तीन वर्ष बाद उनसे अत्यधिक स्नेह करने वाले चाचा भी हैजे से पीड़ित होकर सदा के लिये उनका साथ छोड़ गये। स्वामीजी की आँखों से अजस्र अश्रुपात हुआ, उनकी आंखें सूज गई, वैराग्य के जो भाव कुछ काल के लिये दब गये थे, पुनः प्रचण्ड रूप में उद्दीप्त हो गये। पण्डितों और मित्रों ने बताया कि अमरता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय योगाभ्यास है।

अमृत की तलाश— वैराग्य की प्रवृत्ति को रोकने के लिये सांसारिकों के पास एक ही घिसा-पिटा नुस्खा है— विवाह बंधन में बांध देना। सामान्यतः नून, तेल, लकड़ी का चक्कर वारि-बुद्बुदों की भांति वैराग्य भावना को नष्ट कर देता है, पर विशिष्ट व्यक्तियों की बात

---

१. मराठी भाषा में जमेदार का अर्थ होता है राज कर उगाहने वाला

२. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश—स्वामी सत्यानन्द, पृष्ठ ३५

ही कुछ और होती है। स्वामीजी के विवाह की चर्चा ने उन्हें गृहस्थी से और भी अधिक विमुख कर दिया। एक स्त्री के स्नेहपाश में फंसने की अपेक्षा उन्होंने संसार को मोहपाश से छुड़ाने का मार्ग अपनाया, संसार के सरल और ढलवां मार्ग पर न चलकर उन्होंने उन्नति के कंटीले, विषम और दुर्गम मार्ग को चुना। भगवान् शंकर की भांति वैराग्य उनमें समाविष्ट हुआ और तथागत की भांति उन्होंने भी गृह त्याग किया। २२ वर्ष की अवस्था में "(शौच के बहाने एक धोती साथ लेकर) घर छोड़ के शाम के समय भाग उठा।"[१] इस यात्रा के अनजान पथिक के मार्ग में व्यवधान कम नहीं थे, घर वालों को तो उन्होंने धोखा दे दिया पर मार्ग में उनके आंचल में बंधे सौ रुपयों, कर्णाभूषण तथा हाथों की चार अंगूठियों को भी कुछ वैरागियों ने ठग लिया। रात्रि के अंधकार में उन्होंने श्मशान के पास एक निर्जन कुटिया में विश्राम किया, वहाँ भी उन्हें सरकारी गुप्तचर समझकर उन पर कटारों से वार करने का प्रयत्न किया गया, "आधी रात बीतने के बाद कई ठग (दस्यु) अचानक उस घर में प्रवेश कर मुझ को सरकारी गुप्तचर समझकर मुझ पर कटारों से चोट पहुंचाने के लिये तैयार हो गये थे।"[२]

मूलशंकर को एक ही धुन थी कि किसी प्रकार कोई योगी मिले और वे योगाभ्यास सीखकर अमरता का उपाय जान सकें। वे ब्रह्मचारी थे, अतः "उस समय गुजरात में संन्यासियों की भांति बना बनाया भोजन नहीं मिलता था, हाथ से बनाना पड़ता था।"[३] उन्होंने दीक्षा लेकर अपना नाम भी "शुद्ध चैतन्य" ब्रह्मचारी रख लिया था। भोजन बनाने के झंझट से उनके पठन-पाठन में बहुत व्यवधान होता था। बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्हें कोई संन्यासी की दीक्षा नहीं देता था। अन्ततोगत्वा एक संन्यासी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास लेकर वे स्वामी दयानन्द सरस्वती बन गये। एक बार उनके इस नवीन रूप का अता-पता एक व्यक्ति ने उनके पिता को दे दिया, सिद्धपुर के मेले में चार सिपाहियों सहित आकर पिता ने पुत्र को पकड़ लिया तथा उनके गेरुए वस्त्र तथा तूम्बे को फैंक दिया। अवसर पाकर स्वामीजी एक बार पुनः उनकी आंख से ओझल हो गये, पिता-पुत्र की वही अंतिम भेंट थी।

स्वामीजी ने अपनी शिक्षा के साथ-साथ योगियों की तलाश जारी रखी। एतदर्थ उन्होंने चाणोद कर्णाली, आबू, टिहरी हरिद्वार, केदारनाथ, रुद्रप्रयाग, शिवपुरी, ओखीमठ, वसुधारा, बद्रीनारायण आदि अनेक स्थानों का भ्रमण किया। कई व्यक्तियों द्वारा प्रशिक्षित होकर उन्होंने वैशेषिक तथा परमार्थिक योग में दक्षता प्राप्त कर ली। इस अकुतोभय, असीम साहसी और अमोघकष्टसहिष्णु की यातनाओं को सुनकर हृदय थर्रा जाता है। "अतः मैंने नीचे उतरना ही युक्तियुक्त समझा और कुछ घास के गुल्म को दृढ़ पकड़ कर मैं धीरे-धीरे उतरने लगा.......मैंने देखा कि चारों ओर ऊंची-ऊंची भूमि, छोटे-छोटे पर्वत, और मनुष्य के लिये अगम्य और मार्गहीन वनस्थली थी।"[४] अलखनन्दा के तट की स्थिति तो और भी अधिक भया-

---

[१] ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्म चरित्र, पृष्ठ १३

[२] योगी का आत्मचरित्र-(उत्तरार्द्ध), पृष्ठ २४

[३] महर्षि दयानन्द—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १५

[४] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, प्रथम भाग—घासीरामजी, पृष्ठ ७९

वह है, "क्षण-क्षण में बढ़ते हुए शीत का सहन करना एक बार तो उन्हें असंभव-सा जान पड़ा, प्यास के कारण गला सूख रहा था, होठ शुष्क हो रहे थे, कण्ठ में कांटे पड़ गये थे और क्षुधा ने भी घोर रूप धारण कर रखा था। इन दोनों बाधाओं से बचने के लिये स्वामीजी ने हिम का एक टुकड़ा लेकर चबाया। परन्तु उसने कुछ भी सहारा न दिया। उदर की आग उससे शान्त न हुई। तब वे नदी पार करने में साहस से प्रवृत्त हुए। उस जगह अलखनन्दा कहीं तो बहुत गम्भीर और कहीं दो-चार हाथ गहरी थी। उसका पाट ८-१० हाथ का था। वह हिम के छोटे-छोटे, तिरछे और नुकीले टुकड़ों से भरी हुई थी। नदी को चीर कर पार करते समय ये नुकीले हिमखण्ड श्री स्वामीजी महाराज के नंगे पांवों पर बार-बार आघात करते थे। इससे उनके पैरों के तलुए छिल गले, उंगलियों में घाव हो गये, और स्थान-स्थान से रक्त बहने लगा।"[1] इन यात्राओं के मध्य ही उन्हें उन तन्त्र ग्रन्थों के देखने का अवसर प्राप्त हुआ जिनमें मातृगमन, कन्यागमन, चाण्डालीगमन, नंगी स्त्रियों की पूजा आदि को विधेय बताया गया है, गढ़ मुक्तेश्वर में उन्हें गंगा में बहते हुए एक शव को निकाल कर उसे चीरकर नाड़ीचक्र परीक्षा का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने देखा इस संबंध में 'हठप्रदीपिका' आदि का वर्णन पूर्णत: मिथ्या है। इन्हीं दिनों उन्हें नर्मदा के मूलस्रोत के अनुसंधान का भी अवसर प्राप्त हुआ।

विभिन्न प्रदेशों की इस यात्रा में स्वामीजी को विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हुआ। सच्चे योगी से लेकर पक्के ठगों तक का अनुभव उन्हें भलीभांति हुआ था, मंदिरों के भ्रष्टाचार और वैरागियों के राग से भी उनका परिचय हुआ। योग के सम्बन्ध में उनके अनुभव, सिद्धियों आदि का विशद् विवेचन 'योगी का आत्मचरित्र' में दिया गया है। अनेक स्थल ऐसे हैं जिन पर सहसा विश्वास करना असंभव हो जाता है।

(क) "....एक मास की दुर्गम यात्रा असाधारण योगी ने केवल १२ घण्टे में की थी।"[2].

(ख) "....चित्त के बंधन को ढीला कर देने से और चित्त के प्रचार-स्थान जानने से चित्त को योगी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर सकता है।"[3]

(ग) "....संयम सिद्ध योगी लोग अदृश्यचर और अन्तरिक्षवासी सिद्ध पुरुषों के दर्शन करते हैं और उनके साथ वार्तालाप भी करते हैं।"[4]

(घ) "...आकाश गमन शक्ति आदि।"[5]

इस यात्रा के कुछ विचित्र अनुभवों का भी उन्होंने वर्णन किया है। एक बार लामा के विचार से स्वामीजी को प्राण दण्ड सुनाया गया, उनके शरीर में सैकड़ों जोंक लगाये गये थे और उनको मारने के लिये 'शवदेहों से परिपूर्ण एक गंभीर कुए में भूखा मारने के लिये

---

१. श्रीमद्दयानन्दप्रकाश—स्वामी सत्यानन्द, पृष्ठ ६८
२. योगी का आत्मचरित्र, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १३६
३. वही, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १५६
४. वही, पृष्ठ १५२
५. वही, पृष्ठ १७६

छोड़ दिया गया था।"[1] . एक बार नर्मदा के स्रोत की ओर जाते समय क्षुधा पिपासा से व्याकुल होकर वन में एक पेड़ के नीचे बैठ गये, जीवित रहने की आशा भी समाप्त हो गई, इतने में एक भालू मुंह में मधुमक्खियों का छत्ता लेकर उसे स्वामीजी के पास छोड़ गया, मधु चाटने के बाद उनमें पुनः शक्ति का संचार हुआ।

आदर्श गुरु की प्राप्ति —स्वामीजी ने घर छोड़ने के १५ वर्ष तक जिज्ञासु का जीवन व्यतीत किया और वे सन् १८६० में गुरु विरजानन्द के चरणों में पहुंचे। स्वामीजी के प्रायः सभी जीवनी लेखक उनके १८५७ से १८६० के जीवन के संबंध में मौन रहे हैं, इसी समय भारतवासियों ने विदेशी अंग्रेजों के प्रति सशस्त्र विद्रोह किया था। संभवतः इसीलिये लेखकों ने 'नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक यात्रा की....'[2] कहकर संतोष कर लिया है। कुछ लेखकों के अनुसार उन दिनों स्वामीजी को भंग पीने की बुरी आदत पड़ गई थी "At this time he contacted the bad habit of drinking bhang"[3] विगत कुछ वर्षों में कई विद्वानों ने इन तीन वर्ष पर पड़े पर्दे को हटाने का प्रयत्न किया है। इन लेखकों में प्रमुख हैं 'योगी के आत्म चरित्र' के लेखक पं. दीनबन्धु शास्त्री, 'अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द' के लेखक वासुदेव वर्मा आदि। इन लेखकों का विश्वास है कि सन् १८५७ के विद्रोह में स्वामीजी ने न केवल तत्कालीन नेताओं को प्रेरणा ही दी थी बल्कि इसका नियोजन भी उनके द्वारा किया गया था तथा इसमें उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था। इस विषय का विशद् विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के पंचम अध्याय में किया गया है।

तीन वर्ष तक लगभग अज्ञातवास करने वाले स्वामीजी १९१७ विक्रमी (सन् १८६०) की कार्तिक सुदी २ को दण्डी स्वामी विरजानन्द के द्वार पर दिखाई पड़ते हैं। उस समय स्वामी विरजानन्दजी की आयु ८० वर्ष की थी, वे ५ वर्ष की अवस्था में अपनी आँखें खो चुके थे, बचपन में ही भाई तथा भावज के दुर्व्यवहार का भी उन्हें शिकार होना पड़ा था। वे वेदों के माने हुए ज्ञाता थे और वृद्धावस्था में भी वे सम्पूर्ण भारत में वेदों के पुनरुद्धार के लिए प्रयत्नशील थे। शिष्य तो उनके बहुत से थे पर ऐसा कोई नहीं था जो उनके विचारों के अनुरूप हो, जो उनके स्वप्न को साकार कर सके। व्याकरण के सम्बन्ध में स्वामीजी ने तब तक जो कुछ पढ़ा था, वह सब गुरु के दृष्टिकोण से अनार्ष एवं अग्राह्य था। गुरु के आदेश पर उन सभी पुस्तकों को स्वामीजी ने यमुना में प्रवाहित कर दिया। संन्यासी होने पर भी स्वामीजी का विद्यार्थी जीवन आदर्श था, प्रातःकाल उठकर वे गुरु के लिए नदी से जल लाते थे, संध्योपासन के बाद कुछ चने चबा लेते थे जो उन्हें दुर्गा खत्री की कृपा से प्राप्त होते थे। रात्रि में अध्ययन के लिए तेल की आवश्यकता थी जो उन्हें चार आने प्रतिमाह के हिसाब से लाला गोवर्धन सर्राफ से प्राप्त होता था। एक बार उग्र स्वभावी गुरु ने स्वामीजी पर लाठी से प्रहार भी किया था जिसका निशान उनके हाथ पर मरणपर्यन्त बना रहा। स्वामीजी इसे भी गुरु का अमित उपकार समझकर ही स्मरण करते थे। दण्डीजी ने स्वामीजी को अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अध्यापन किया।

---

[1] योगी का आत्म चरित्र, पृष्ठ २२३

[2] महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र —पं० लेखराम, पृष्ठ ४०

[3] लाइफ एण्ड टीचिंग्स ऑफ स्वामी दयानन्द—बाबा छज्जूसिंह, पार्ट १, पृष्ठ २१

शिक्षा समाप्त होने पर स्वामीजी भी अन्यजनों की भाँति आध सेर लौंग लेकर गुरु सेवा में उपस्थित हुए, पर असामान्यजनों के कार्य भी असामान्य होते हैं। गुरुजी ने जो अपेक्षा की वह अपूर्व थी "सत्य शास्त्रों का उद्धार, मतमतान्तरों की अविद्या को मिटा, संसार में वैदिक धर्म का प्रचार कर देश का उपकार करो।"[१] स्वामी ने गुरु दक्षिणा देने में कुछ ननुनच नहीं की और तथास्तु कहकर सब स्वीकार कर लिया। दयानन्द ने इस शपथ को किस प्रकार निभाया इसके विषय में सत्य ही कहा गया है—"Never was any human pledge Kept more loyally and faithfully"[२] अर्थात् कोई भी मानवप्रतिज्ञा कभी भी इतनी भक्ति और विश्वास के साथ नहीं निभाई गई।

कार्य क्षेत्र में अवतरण—गुरु से आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद स्वामीजी आगरा पहुँचे। "सती प्रथा, पर्दा, खान-पान के बंधन, जाति के कड़े विभाग, अस्पृश्यता" आदि से ग्रस्त हिन्दू धर्म किसी सुधारक को पुकार रहा था। स्वामीजी ने यह आवाज सुनी, अपने अद्वितीय पाण्डित्य, अखण्ड-ब्रह्मचर्य, अपूर्व ईश्वर विश्वास, प्रबल तार्किक शक्ति और देशोद्धार की भावना लेकर वे कार्य क्षेत्र में उतर पड़े। उन्होंने पहला संदेश जो भारत की जनता को दिया "वह निराकार ईश्वर की उपासना का था।"[३] उनके दृष्टिकोण के अनुसार देशोन्नति में महत्तम अन्तराय प्रतिमा पूजन था। पहले तीन वर्षों में उन्होंने वैष्णव मत का खण्डन तथा शैव मत का प्रतिपादन किया। शिव का पक्ष लेने पर भी वे उसे पार्वती का पति न मानकर परमेश्वर का वाचक ही समझते थे। उस समय तक उनके सुधार कार्य की पूर्ण रूपरेखा निश्चित नहीं हुई थी, शंका होने पर वे उसका समाधान गुरु से कर लिया करते थे। प्रचार के लिए उन्होंने तीन साधनों को अपनाया था (१) व्याख्यान (२) विज्ञापन और (३) शास्त्रार्थ के लिये विरोधी को ललकारना। उन्हें सरस्वती कुछ ऐसी सिद्ध हो गई थी कि बड़े-बड़े विद्वानों की बोलती भी उनके सामने बन्द हो जाती थी। इसी समय से उन्होंने गो-रक्षा के लिए भी प्रयत्न प्रारंभ कर दिये थे। उनकी वक्तृत्व कला और विद्वता का आतंक लोगों पर इतना छा गया था कि उसकी प्रतिध्वनि सामान्य एवं अशिक्षित महिलाओं के स्वरों में भी मिलने लगी।........ एक वृद्धा मां ब्रह्माजी की मूर्त्ति के दर्शन करके आ रही थी। स्वामीजी ने उससे पूछा—क्या ब्रह्माजी ने उसे कुछ उपदेश भी दिया है, उसने उत्तर हां में दिया। स्वामीजी ने कहा कि चलो और इससे कहो कि मेरे सामने कुछ बोले, तब वृद्धा ने हँस कर कहा—"स्वामीजी! यह मूर्त्ति तो क्या आपके सामने सभी चुप हो जाते हैं, जो बोलता है, पीठ पीछे ही बोलता है।"[४]

सुधार की मध्यम दशा—१८६७ के वर्ष में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था, उससे एक माह पूर्व ही स्वामीजी वहाँ पहुंच गये और नगर से तीन मील दूर अपना डेरा डाल लिया। श्रद्धामयी हिन्दू जाति के प्रत्येक प्रदेश के व्यक्ति वहां उपस्थित थे, टुकटुक दीदम दम न कसीदम वाले वृद्ध भी वहां थे और दुधमुंहे बच्चे भी, असूर्यम्पश्या रमणियां भी वहां

---

[१] महर्षि स्वामी दयानन्दजी का जीवन चरित्र—चिम्मनलाल वैश्य, पृष्ठ ३३

[२] आधुनिक भारतीय संस्कृति—एल. पी. शर्मा, पृष्ठ ३९

[३] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ६१

[४] श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृष्ठ ११२

थीं और आधुनिकता में आप्लावित देवियां भी वहां उपस्थित थीं। जिस प्रकार गंगा में अनेकों नद-निर्झर मिल जाते हैं, इसी प्रकार अनेक प्रान्तों, भाषाओं, विचारधाराओं, मान्यताओं के व्यक्ति वहां विद्यमान थे। स्वामीजी ने आंखें खोल कर देखा "भोगमय त्याग, दुराचारमय साधु स्वभाव।"[1] ., वैरागियों के पास अन्तःपुर और पुत्र कलत्र, त्यागियों के पास हाथी, घोड़े और लाखों के आभूषण और भगवा वेष को कलंकित करने वाले विश्वासघाती मठेश्वर। एक ओर मानव द्वारा संचित विकार और दूसरी ओर प्रकृति का अनुपम सौन्दर्य, सतत् प्रवहमान भागीरथी, उत्तुंग हिमालय, गिरि काननों की अटूट शृंखला और नैसर्गिक वैभव का अक्षय भण्डार। स्वामी दयानन्द ने वहीं पाखण्डखण्डिनी पताका गाड़ दी और अपने उपदेशों से पीयूष प्रवाह प्रारंभ किया। एक संन्यासी के मुख से मूर्त्ति पूजा का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का मिथ्यात्व, पुराणों की कपोल-कल्पना तथा पर्व स्नान की निष्फलता सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। यहां पर ही काशी के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी विशुद्धानन्द से स्वामीजी की मुठभेड़ हुई। विवाद का विषय था 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्'—विशुद्धानन्दजी का दुर्बल पक्ष देखकर लोगों को और भी अधिक आश्चर्य हुआ। कुम्भ के इस मेले ने स्वामीजी की कीर्ति को दूर-दूर तक फैला दिया। स्वामीजी ने गृह तो पहले ही त्याग दिया था, अब सर्वस्व त्याग का निश्चय किया, एक कौपीन को छोड़कर शेष समस्त सामग्री उन्होंने गरीबों में वितीर्ण कर दी। स्वामीजी ने गंगा पार जाकर कुछ समय तक तपस्या की और देशोन्नति के कार्य के लिये अपने आपको और अधिक सन्नद्ध कर लिया।

सुधार की प्रथमावस्था में उनका ध्यान सम्प्रदाय तक ही सीमित था, अब उसका क्षेत्र विस्तृत होकर सम्पूर्ण आर्य जाति तक हो गया। उन्होंने अठारह पुराण, मूर्त्तिपूजा, शैव शाक्त सम्प्रदाय तन्त्रादि ग्रन्थ, मादक द्रव्यों का प्रयोग, परस्त्रीगमन, चोरी, छल-अभिमान आदि-आदि आठ गप्पों का खण्डन प्रारंभ किया। स्वामीजी जहाँ भी जाते, वहाँ धूम मच जाती। उन दिनों वे "गंगा तट पर रेती में विश्राम करते। रात को बालू का सिरहाना बना कर सो जाते।"[2] उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर सहस्रों व्यक्तियों ने अपनी कण्ठियां तोड़ डालीं तथा मूर्त्तियों को गंगा के अर्पण कर दिया। स्वामीजी की ख्याति के साथ उनके शत्रुओं की संख्या भी बढ़ने लगी, जिन लोगों के स्वार्थों पर चोट लगी थी, उन्होंने स्वामीजी को नीचा दिखाने के लिये कई घृणित उपायों का अवलम्ब लेना प्रारंभ किया। राव कर्णसिंह ने तो उनको समाप्त करने के लिए तलवार का भी आश्रय लिया, "स्वामीजी ने झपट कर उसे उनके हाथ से छीन लिया और भूमि पर टेककर दबाव से उसके दो टुकड़े कर डाले।"[3] इसी प्रकार स्वामीजी को एक ब्राह्मण ने पान में जहर दिया, पता लगने पर स्वामीजी ने न्यौली क्रिया द्वारा विष को शरीर से निकाल दिया। उस व्यक्ति के पकड़े जाने पर भी स्वामीजी ने यही कहा—"मैं संसार को कैद कराने नहीं आया हूं, वरन् कैद से छुड़ाने आया हूं।"[4]

---

१. महर्षि दयानन्द—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ४०

२. वही, पृष्ठ ४४

३. श्रीमद्दयानन्द चित्रावली, पृष्ठ १५

४. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ७१

काशी शास्त्रार्थ—स्वामीजी ने अंगद शास्त्री, हलधर ओझा आदि पंडितों से अनेक शास्त्रार्थ किये और सर्वत्र विजयश्री उन्हें ही प्राप्त हुई। पौराणिकों का गढ़ काशी उनकी परीक्षा का अन्यतम स्थान था। वे २२ अक्टूबर १८६९ई० को राजा माधोसिंह के आनन्दबाग में ठहरे। धर्म प्राण काशी नगरी उस समय भी अपराजिता थी, वहां पहुंचकर शास्त्रार्थ के लिये समस्त पौराणिक पंडितों को ललकारना स्वामी दयानन्द जैसे व्यक्ति का ही कार्य था। स्वामीजी अपने व्याख्यानों में लगातार मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, पुराण आदि का यथा पूर्व खण्डन करते रहे। दिनांक १६ नवम्बर १८६९[१] को जगत् प्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ आनन्दबाग में दुर्गा कुण्ड के समीप हुआ था। इसके निर्णायक स्वयं महाराज काशी नरेश थे, "दुर्भाग्यवश उस सभा के निर्णायक काशी नरेश महाराजा ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह थे, जो स्वयं मूर्त्ति पूजक थे और इसलिये निष्पक्ष निर्णय नहीं दे सकते थे।[२]

एक और कौपीनधारी, ईश्वर विश्वासी अपने दो-तीन साथियों के साथ योगिराज दयानन्द और दूसरी ओर मूर्त्तिपूजा में आस्था रखने वाले प्रसिद्ध ५१ पौराणिक विद्वान् जिनमें स्वामी विशुद्धानन्द और बाल शास्त्री के अतिरिक्त हिन्दी-संस्कृत के विद्वान् पं. अम्बिकादत्त व्यास तथा हिन्दी के युग प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी थे। इसके अतिरिक्त सनातन धर्म का जयनिनाद करने वाली असंख्य जनता और काशी के प्रसिद्ध गुण्डों की अक्षौहिणी सेना उनका साथ देने के लिये वहां उपस्थित थी। पौराणिकों की धींगामस्ती के कारण कोतवाल रघुनाथ प्रसाद द्वारा किया प्रबन्ध भी विशृंखलित कर दिया गया। शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ और उसका विषय था 'वेदों में पाषाणदि मूर्त्ति पूजा का विधान।' पौराणिकों ने अनेक प्रश्न किये पर वे लक्ष्य सिद्धि में सफल न हो सके, स्वामीजी से विशुद्धानन्दजी ने अप्राकरणिक बातों का पूछना प्रारम्भ किया, स्वामीजी ने अधर्म के लक्षण पूछकर उन्हें मौन कर दिया। चार घण्टे के शास्त्रार्थ में पंडितम्मन्य व्यक्ति वेदों में मूर्त्तिपूजा का विधान नहीं दिखा सके। सन्ध्या के धुंधलके में माधवाचार्य ने दो पन्ने स्वामीजी को पढ़ने को दिये, जब तक स्वामीजी ने इन पन्नों को देखा, पंडितों का इशारा पाकर निर्णायक काशी नरेश खड़े हो गये और ताली पीट दी। सारा जनसमुदाय 'सनातम धर्म' की जय बोलने लगा।

यह शास्त्रार्थ इतना महत्त्वपूर्ण था कि देश के सभी समाचार पत्रों ने इसकी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिनमें से कुछ निम्न हैं—

(क) "वेद से प्रतिमा पूजन व्यवस्था देकर कोई पण्डित स्वामी दयानन्द को न हरा सका।"[३] —तत्वबोधिनी, ज्येष्ठ १७९४ बंगाब्द।

(ख) " काशी के पण्डितों को उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) जीत लिया और काशी के पंडितों ने झूठ ही अपनी जय की धूम मचा दी।"[४]—रूहेलखण्ड समाचार, नवम्बर १८६९.

---

१. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह—भवानीलाल भारतीय, पृष्ठ ९

२. स्वामी दयानन्द—वी. के. सिंह, पृष्ठ ४८

३. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह, पृष्ठ १३

४. वही, पृष्ठ १४

(ग) "....पंडित लोग यद्यपि अपने ज्ञान शास्त्र का अतिगर्व करते थे, परन्तु उनकी बडी भारी हार हुई ।"[1] —हिन्दू पैट्रियट

(घ) "....The Pandits did not produce at the time, nor have they produced since, a single passage from the Vedas that could dislodge the Swami from his position." —The christian Intelligence[2].

(ङ)"....बाल शास्त्री से यह पूछने पर कि विजय किसकी हुई, उन्होंने 'नम्र वाक्यों में उत्तर दिया कि हम गृहस्थ और वह यती संन्यासी और हमारे पूज्य, हमारा उनका शास्त्रार्थ कहां बन सकता है ।"[3]

(च) "श्री 'प्रसाद' के 'तितली' उपन्यास में स्वामी दयानन्द सरस्वती के काशी शास्त्रार्थ में विजयी होने का उल्लेख मिलता है ।"[4]

शास्त्रार्थ की पराजय से खिसियाकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ६४ प्रश्नोंवाली एक 'दूषण मालिका' लिखी जिससे उनकी "शास्त्रीय योग्यता का दिवालियापन ही झलकता है ।"[5] बाद में काशी नरेश ने अपने दुर्व्यवहार के लिये स्वामीजी से क्षमायाचना की। उन्होंने "स्वयं की कुर्सी पर स्वामीजी को बिठलाया, यह कह कर क्षमा मांगी कि आप जो चाहें खण्डन करें, मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूं.... एक मन मिठाई भी स्वामीजी के डेरे पर भिजवाई ।"[6]

सुधार की तीसरी अवस्था—रूढ़ियों की गढ अपराजिता काशी को पराजित कर स्वामीजी प्रयाग के कुंभ मेले पर पहुंचे । वहां ईसाई धर्म में दीक्षित होने के अभिलाषी कई व्यक्तियों को उन्होंने आर्य बनाया । माधवचन्द्र चक्रवर्ती, जो प्रसिद्ध तार्किक थे, स्वामीजी के प्रभाव में आकर पूर्ण आर्य बन गये । स्वामीजी का यश उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा था । केवल शास्त्रार्थ एवं अपने डेरे पर प्रचार करने की रीति को छोड़कर स्वामीजी अब नियम-

---

१. आर्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ ७९

२. Life & Teachings of Swami Dayanand pt. I, पृष्ठ ८३

३. महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—चिम्मनलाल वैश्य, पृष्ठ ८४

४. हिन्दी गद्य साहित्य—डा. व. सी. सोनवणे, पृष्ठ २९१

५. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह, पृष्ठ १७

६. महर्षि दयानन्द सरवस्ती का जीवन चरित्र—पं. लेखराम, पृष्ठ १७७
काशी शास्त्रार्थ विषय पर एक सुन्दर नाटक बरेली निवासी बाबू चन्द्रनारायणजी एडवोकेट द्वारा लिखा गया है जो कि 'आर्यमित्र' के नवम्बर १९७२ के विशेषांक में प्रकाशित हुआ है ।....इसी प्रकार काशी शास्त्रार्थ की शताब्दी पर एक लेख आचार्य विश्वश्रवाः व्यास द्वारा लिखा गया है जो आर्यमित्र के 'ऋषिबोधांक' ८ मार्च सन् १९७० में प्रकाशित हुआ है । उसके पृष्ठ ४३ पर लिखा है--"अब एक सौ वर्ष बाद फिर हमने काशी के पण्डितों को अवसर दिया कि अब भी उन्होंने कोई वेद मंत्र ढूंढ पाया हो जिसमें उन्हें मूर्त्तिपूजा दिखाई देती हो वे दिखावें । परन्तु काशी के विद्वान् समझते हैं कि वेदों में मूर्त्ति-पूजा नहीं है । अतः वे चुप रहे ।"

पूर्वक सभायें करने लगे और उनमें व्याख्यान देने लगे। व्याख्यानों में प्रयुक्त प्रभावमयी संस्कृत का स्थान हिन्दी भाषा ने ले लिया, मात्र कौपीन का स्थान सभा में अन्य वस्त्रों ने ले लिया। इसी समय उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' की भी रचना की। मिर्जापुर, कासगंज, जलेसर, कर्णवास, फर्रुखाबाद आदि स्थानों पर भ्रमण करते हुए स्वामीजी १८७२ ई. के दिसम्बर माह में कलकत्ता पहुंचे, वहां बड़े नाटकीय ढंग से प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी बाबू केशवचन्द्र सेन से उनका परिचय हुआ। केशवचन्द्र सेन ने कुछ देर बात करके स्वामीजी से पूछा कि क्या वे केशवचन्द्र सेन से मिले हैं ? स्वामीजी के हां कहने पर उन्होंने फिर पूछा—कब ? स्वामीजी ने उत्तर दिया—अभी, स्वामीजी ने यह भी कहा—"जैसी बातें आपने की हैं वैसी किसी दूसरे से नहीं हो सकतीं।" दोनों महाशयों ने एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा। केशव बाबू को दुःख था कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी भाषा से पूर्णतः अपरिचित है और स्वामीजी को शोक था कि ब्राह्मो समाज का विख्यात नेता संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ है। एक की दृष्टि पूर्वाभिमुख थी और दूसरे की पश्चिमाभिमुख, एक 'ब्रह्मा से जैमिनी पर्यन्त ऋषियों का अन्यतम व्याख्याता'[1] बनना चाहता था और दूसरा एक नया धर्म स्थापित कर अपने आपको ईसा और मुहम्मद की श्रेणी में रखना चाहता था।

स्वामीजी को सभा में वस्त्र पहिनने तथा हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने की प्रेरणा केशव बाबू से ही मिली थी और केशव बाबू की योग में अभिरुचि स्वामी दयानन्द की प्रेरणा का ही परिणाम था। स्वामीजी को आर्यसमाज का संगठन करने की प्रेरणा भी संभवतः ब्राह्मो समाज के आधार पर हुई थी। योग शक्ति के आधार पर स्वामीजी परोक्ष कल्पना भी कर लेते थे, उनके जीवन में ऐसे अनेक निदर्शन उपलब्ध होते हैं। एक बार अनेक व्यक्तियों के सामने स्वामीजी ने कहा—"एक मनुष्य मेरी ओर चला आता है। उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा।"[2] थोड़ी देर में एक ब्राह्मण मिठाई लेकर आ पहुंचा, एक टुकड़ा कुत्ते के आगे फैंकने पर कुत्ता उसे खाकर शीघ्र ही मर गया।

बम्बई में आर्य समाज की स्थापना—स्वामीजी को प्रायः बम्बई से निमंत्रण प्राप्त होते रहते थे, पर वे वहां सन् १८७४ में पहुंचे। स्वामीजी ने अपना कार्य वैष्णव मत के खंडन से प्रारम्भ किया था, धीरे-धीरे पूरा पौराणिक जगत् ही उनके क्षेत्र में आ गया, फिर उनकी विचारधारा का संघर्ष मौलवियों और पादरियों से भी प्रारम्भ हो गया। फलतः बम्बई पहुंचने पर जहां एक ओर विशाल जन समुदाय ने उनका भव्य-स्वागत किया वहां कुछ कुटिल लोगों ने न केवल उन्हें अपमानित करने का अपितु प्राण लेने का भी प्रयास किया। "वल्लभ सम्प्रदाय के मुखिया गोसाईं जीवाजी ने अपने नौकर बलदेव के हाथों उन्हें विष दिलाने की कोशिश की, पर उनकी दुरभिसंधि विफल हो गई।"[3] बम्बई में स्वामीजी का पहला भाषण २५ नवम्बर १८७४ को हुआ जिसकी परिसमाप्ति हुल्लड़बाजी में हुई। उसके बाद सभा में आने वाले श्रोताओं को शुल्क देकर आना पड़ता था।

---

[1] महर्षि दयानन्द—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ६३

[2] वही, पृष्ठ ६७

[3] स्वामी दयानन्द—बी. के. सिंह, पृष्ठ ५९

बम्बई में स्वामीजी से अनेक पुरुषों ने एक संगठन बनाने की प्रार्थना की। संगठन की रूपरेखा निर्धारित हो जाने पर उसके नामकरण का भार भी स्वामीजी पर रखा गया। उनका सुझाया हुआ नाम 'आर्यसमाज' सभी को पसन्द आया और सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया। चैत्र सुदी १ सम्वत् १९३१ (७ अप्रेल १८७५ ई.) को बुधवार के दिन आर्यसमाज की स्थापना की गई। आर्यसमाज की स्थापना तिथि के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, अतः इस पर संक्षिप्त चर्चा करना यहां असमीचीन न होगा।

(१) इस मत के अनुयायियों के अनुसार आर्यसमाज की स्थापना बम्बई में न होकर राजकोट में हुई। "राजकोट का आर्यसमाज वास्तव में भारतवर्ष का पहला आर्यसमाज था।"[1] यह सूचना काठियावाड़ के धर्मोपदेशक पं. श्रीकृष्ण शर्मा ने दी थी। स्वामीजी १८७४ ई. के दिसम्बर माह में राजकोट गये अवश्य थे। संभवतः वहां उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लोगों से चर्चा भी की हो पर विधिवत् वहां आर्यसमाज की स्थापना नहीं हुई। उस समय तक आर्यसमाज के नियम-उपनियम भी नहीं बने थे। यह पक्ष अब केवल इतिहास का ही विषय रह गया है और सामान्यजन इसे असत्य मान चुके हैं।

(२) दूसरे पक्ष वाले स्थापना का दिनांक चैत्र शुक्ल ५ सम्वत् १९३१ (१० अप्रेल, १८७५ ई.) मानते हैं। अधिकांश विद्वानों को यही मत मान्य है। पं. लेखरामजी ने बहुत खोज-बीन के पश्चात् इसी तारीख का समर्थन किया है।[2] इसके लिये एक बड़ा पुष्ट प्रमाण 'टाइम्स ऑफ इंडिया के १० अप्रेल १८७५ ई. के प्रभात संस्करण का निम्न अंश माना जाता है— "A meeting will be held at 5.30 p.m. today ...., when Pandit Dayanand Saraswati Swami will perform the ceremonies for the formation of Aryasamaj. All well wishers of the cause are invited to attend''[3] पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने आर्यसमाज बम्बई के पुराने रजिस्टर को देखकर इसी तिथि को प्रामाणिक माना है। बहुत समय तक सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा भी इसी तिथि को प्रामाणिक मानती रही।

तीसरे पक्ष वाले स्थापना दिवस का दिनांक चैत्र सुदी १, सम्वत् १९३१ (७ अप्रेल १८७५ ई.) बुधवार मानते हैं। आर्यसमाज बम्बई में लगे शिलालेख पर यही तिथि प्रदर्शित की गई है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने दिनांक २७ जनवरी, १९४०[4] के निर्णय में इसी को प्रामाणिक माना है। टाइम्स ऑफ इंडिया में दी गई उपरोक्त सूचना का आर्यसमाज की स्थापना से कोई सम्बन्ध नहीं, वह उसके प्रथम अधिवेशन की सूचना है—इसमें foundation शब्द प्रयुक्त न कर formation का प्रयोग किया गया है। आर्यसमाज काकड़वाड़ी से एक पुस्तक गुजराती भाषा में उपलब्ध हुई है जिसका नाम है "मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास" जिसके लेखक का नाम है दामोदर सुन्दरदास। इसमें एक स्थान पर लिखा है".....सम्वत् १९३१ नी सालना चैत्र सुदी १वें दिने प्रथम मुम्बई मा एक आर्यसमाज स्वर्गवासी रा. रा. गिरधर

---

१. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, प्रथम भाग—घासीरामजी, पृष्ठ ३५६

२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, पृष्ठ २६९-७०

३. आर्यसमाज और उसका संदेश—रघुनाथप्रसाद पाठक, पृष्ठ १५७

४. वही, पृष्ठ १६१

लाल दयालदास कोठारी बी. ए., एल. एल. बी हाईकोर्ट ना प्लीडर ना प्रमुच पणानीचे स्थापना वथयो।''[१] अर्थात् आर्यसमाज की स्थापना सम्वत् १९३१[२] को श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी की अध्यक्षता में हुई। निष्कर्ष यह निकलता है कि तृतीय पक्ष ही प्रामाणिक है। 'आर्य पर्व पद्धति' की सूची में स्थापना दिवस का दिनांक चैत्र सुदि ५ दे रखा है और इसके विधान में तिथि चैत्र सुदी प्रतिपदा की गई है।[3] सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा इसी वर्ष १२ अप्रैल, १८७५ (चैत्र सुदी प्रतिपदा) से स्थापना शताब्दी[४] मना रही है।

उस समय आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये, जिनमें प्रमुख बातें थीं—सब मनुष्यों का हित, वेदों का प्रामाण्य, स्त्री तथा पुरुष दोनों का सभासद् होना, सदाचार की प्रमुखता, एकेश्वर की स्तुति-प्रार्थना, स्त्री तथा पुरुषों के लिये पृथक् विद्यालयों की स्थापना, नौकरी आदि के समय आर्यसामाजिकों को प्राथमिकता आदि। बम्बई से स्वामीजी अहमदाबाद और बड़ौदा पधारे। बड़ौदा में वे राज्य के अतिथि थे। वहाँ एक शास्त्रार्थ में नमूना दिखाने के लिये स्वामीजी ने कठिन संस्कृत में भाषण दिया था। १८७५ ई. में श्रीयुत महादेव गोविन्द रानाडे के निमंत्रण पर वे पूना गये जहाँ उनके १५ प्रभावशाली व्याख्यान हुए। पूना में इन व्याख्यानों से हलचल मच गई, वे व्याख्यान पुस्तक रूप में 'उपदेश मंजरी' के नाम से उपलब्ध भी होते हैं। रानाडे महोदय के उद्योग से स्वामीजी की सवारी बड़ी शान से निकली, विरोधियों ने एक आदमी का मुंह काला करके गधे पर बिठाकर गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए स्वामीजी ने कहा था कि नकली दयानन्द का मुंह इसी प्रकार काला होना चाहिये।

दिल्ली दरबार की ओर—सार्वदेशिक नगर बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हो जाने के बाद स्वामी का कार्य कुछ हल्का हो गया। जो कार्य उन्हें अकेले करना पड़ता था, अब उसमें एक संस्था का समावेश हो गया। स्वामीजी जहां भी जाते थे, उनके व्याख्यान के बाद वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो जाती थी। आर्यसमाज का आन्दोलन प्रबलतर होता जा रहा था। एक जनवरी १८७७ ई. को महारानी विक्टोरिया के भारत की महारानी होने के उपलक्ष्य में विशाल दरबार होने वाला था, वहां सभी राजाओं और धार्मिक नेताओं के पहुंचने की संभावना थी, अतः स्वामीजी ने अपने विचारों के प्रसार के लिये यह उपयुक्त अवसर समझा। उनकी महती अभिलाषा थी कि आर्यावर्त के राजाओं में सच्चे आर्य धर्म का प्रेम उत्पन्न हो जाये। उनका विचार था कि राजाओं के सुधार के बाद ही प्रजा का सुधार हो सकेगा, नेताओं के एकमत होने के बाद ही अनुयायियों में एकता आयेगी।

---

१. आर्यसमाज और उसका संदेश—रघुनाथप्रसाद पाठक, पृष्ठ १६५

२. "गुर्जर और बम्बई प्रान्त में नवीन वर्ष कार्तिक प्रतिपदा से प्रारंभ होता है और उत्तरीय भारत में वर्ष का आरंभ चैत्र प्रतिपदा से होता है। तद्नुसार····संवत् १९३१ की चैत्र शुक्ला प्रतिपदा उत्तरीय भारत में संवत् १९३२ की चैत्र शुक्ला प्रतिपदा होगी।

३. आर्य पर्व पद्धति—भवानी प्रसाद, पृष्ठ ७०

४. सार्वदेशिक साप्ताहिक शताब्दी विशेषांक—१३ अप्रेल १९७५, पृष्ठ १९

दिसम्बर माह के अन्त में स्वामीजी दिल्ली पहुंच गये और शेरमल के अनार बाग में अपना डेरा जमाया। तब तक उनके कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' भी पूर्ण हो चुकी थी। सभी प्रकार के व्यक्ति स्वामीजी के दर्शनों के लिये उपस्थित होते थे। स्वामीजी के अनुरोध पर इन्दौर नरेश ने प्रयत्न किया था कि सभी नरेश इकट्ठे हों और स्वामीजी के विचारों का श्रवण करें, किन्तु नरेशों को वहाँ इतना अवकाश नहीं था, कभी उन्हें लाट साहब की हाजरी में, कभी फौज के निरीक्षण में कभी जुलूस और कभी थियेटर में व्यस्त रहना पड़ता था। अतः स्वामीजी का यह कार्यक्रम सफल न हो सका। दूसरा प्रयत्न उन्होंने देश के सभी सुधारकों को एक विचार का करने का किया। स्वामीजी के निमंत्रण पर बा. केशवचन्द्र सेन, सर सैयद अहमद खां, मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बा. नवीनचन्द्र राय, मुन्शी इन्द्रमणि और बा. हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि महानुभाव स्वामीजी के स्थान पर एकत्र हुए।"[1] यह सभा क्योंकि गुप्त थी, अतः इसकी पूर्ण कार्यवाही उपलब्ध नहीं होती। फिर भी प्रतीत होता है कि "सभा का जहाज वेद की निर्दोषता पर आकार टकराया। ब्राह्मसमाजी और मुसलमान वेद की ईश्वरीयता और निर्दोषता को नहीं मान सके।"[2]

मार्च १८७७ में स्वामीजी चांदपुर गये जहाँ 'आनन्दस्वरूप' मेला था जिसका उद्देश्य धर्माधर्म का निर्णय था। धर्म चर्चा प्रारंभ होने से पूर्व कुछ लोगों ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि मुसलमान और हिन्दू मिलकर ईसाइयों को नीचा दिखायें, किन्तु स्वामीजी क्षणिक समझौते के स्थान पर पक्षपातरहित न्याय को प्रमुखता देते थे। यह मेला समाप्त कर स्वामीजी पंजाब प्रान्त की ओर उन्मुख हुए। पहला पड़ाव लुधियाना में दीवान रत्नचन्द्र के बाग में हुआ। सायंकालीन व्याख्यान में पौराणिकों के विरुद्ध काफी मसाला था, परिणामतः स्वामीजी को हिन्दू स्थान छोड़कर डा. रहीम खां की कोठी में जाना पड़ा। पंजाब का शिक्षित समाज ईसाईयत की ओर ढुलकता जा रहा था। अतः स्वामीजी का विशेष मोर्चा ईसाईयत के विरुद्ध ही हुआ। फलतः अनेक पंजाबी युवक ईसाई होने से बच गये।

स्वामीजी के व्याख्यानों से शहर के शिक्षित समाज में हलचल पैदा हो गई, स्थान-स्थान पर आर्यसमाजों की स्थापना होने लगी। लाहौर में आर्यसमाज के नियमों का संशोधन किया गया और उनकी संख्या २८ के स्थान पर १० कर दी गई[3] और नियमों तथा उपनियमों को पृथक् कर दिया गया। परिवर्तित नियम अधिक व्यापक हैं, इन नियमों में ईश्वर के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन है। स्वामीजी से अनुरोध किया गया कि वे आर्यसमाज के गुरु अथवा आचार्य का पद ग्रहण करें, किन्तु उनका उद्देश्य तो गुरुडम की जड़ काटना था, वे इस अनुरोध को कैसे स्वीकार करते। विरोधियों ने स्वामीजी का विरोध गाली-गलौज और

---

[1] महर्षि दयानन्द—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ८३
"उन दिनों जबकि जिहाद और ईसाइयों के धर्मयुद्ध की चर्चा व्याप्त थी, विभिन्न विरोधी मतावलम्बियों को एकत्र कर सम्मिलित रूप से कार्य करने का उनका (स्वामीजी) विचार अद्भुत था।" दी कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया वॉल्यूम ४, दी रैलीजियन्स, पृष्ठ ६३५

[2] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १०१

[3] वर्तमान समय में ये नियम उसी रूप में उपलब्ध होते हैं।

ईंट-पत्थर फैंकने से पूर्ण करना चाहा, पर उससे स्वामीजी की कीर्ति कलंकित नहीं हो पाई। जालंधर में ऋषि दयानन्द के मेजबान को ब्रह्मचर्य की शक्ति पर विश्वास नहीं होता था, वे इसके लिये कोई प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते थे। एक दिन सरदार विक्रमसिंह अपनी घोड़ागाड़ी में विराजमान थे, पर गाड़ी चल नहीं पा रही थी "विक्रमसिंहजी ने घोड़ों को बहुतेरे कोड़े लगाये परन्तु वे गाड़ी को न खींच सके। सरदार महोदय ने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो महाराज (स्वामीजी) ने गाड़ी को छोड़ दिया और कहा कि ब्रह्मचर्य के बल का प्रमाण आपको मिल गया।"[१]

बम्बई, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी, सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। इसके अतिरिक्त उन लोगों की संख्या और भी अधिक थी जो सदस्य न होते हुए भी स्वामीजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके भक्त तथा अनुयायी हो गये। बहुत से लोग स्वार्थपरता के कारण सत्य को व्यक्त तो नहीं कर सकते थे, पर उसका अनुभव अवश्य करते थे। इसी समय स्वामीजी ने गो-रक्षा के लिये सबसे ऊंची आवाज उठाई, 'गोकरुणानिधि' लिखी तथा इसके लिये विस्तृत आंदोलन की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऋषि ने तर्क की वह ढाल खड़ी की कि हिन्दुओं पर पादरियों और मौलवियों के तीर निष्फल हो गये। इतना ही नहीं हिन्दुओं में न केवल अपनी रक्षा का अपितु शत्रु पर प्रत्याक्रमण का साहस भी आ गया था। रुड़की में स्वामीजी के व्याख्यानों में इंजीनियरिंग कॉलेज के विद्यार्थी और प्रोफेसर भी आया करते थे। स्वामीजी ने वेदों तथा अन्य आर्षग्रन्थों का प्रमाण देकर उन्हें बताया कि प्रायः सभी मुख्य-मुख्य वैज्ञानिक सिद्धान्त जिन पर नये विज्ञान को गर्व है, हमारे साहित्य में विद्यमान है। बरेली में पुरानियों के बाद किरानियों की आलोचना की "यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के बेटे पैदा होना बताते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।"[२] यह सुनकर कलेक्टर साहब तथा कमिश्नर साहब रुष्ट हो गये, अगले दिन उन्होंने कहलवाया कि स्वामीजी बहुत सख्ती से काम न लिया करें। अगले दिन स्वामीजी ने और भी अधिक निर्भीक स्वरों में कहा—"लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलेक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हों, हम तो सत्य ही कहेंगे।"[३] भय नाम का शब्द तो उनके शब्दकोष में था ही नहीं। आर्यसमाज की स्थापना हो जाने के बाद से स्वामी दयानन्द के सभी भाषणों में देशभक्ति का स्वर अधिक स्फुट होता गया। सन् १८७९ में उन्होंने फर्रुखाबाद की सभा में गोरक्षा के लाभ बताते हुए कहा—"गो-हत्या से इतनी हानि हो रही है परन्तु खेद है कि राज पुरुष इस पर कुछ भी ध्यान नहीं देते। यह दोष अधिक हमारा अपना है। हममें एकता का सर्वथा अभाव है। यदि मिलकर गो-वध बन्द कराने का निवेदन करें तो क्या नहीं हो सकता।"

थियोसोफिकल सोसायटी से सम्बन्ध—यह मात्र संयोग ही है कि बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना ७ अप्रैल, १८७५ को हुई और उसके लगभग ७ माह बाद अमेरिका में 'थियोसो-

---

[१] श्रीमद्दयानन्दप्रकाश—स्वामी सत्यानन्द, पृष्ठ ३४७

[२] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ११३

[३] कल्याण मार्ग का पथिक—श्रद्धानन्द, पृष्ठ ५३

फिकल सोसायटी' की स्थापना हुई। दोनों का सम्बन्ध यदि हम क्रिया-प्रतिक्रिया का माने तो अत्युक्ति न होगी। आर्यसमाज की स्थापना के बाद सारे देश में दयानन्द के धर्म प्रचार का तूफान उमड़ पड़ा। योरोप और विशेषकर अमेरिका के लोग इस तूफान से घबराये, उन्होंने अनुभव किया कि अब ईसाईयत की खैर नहीं है। 'एंडो जैक्सन डेविस' ने लिखा "मुझे एक आग दिखलाई पड़ती है, जो सर्वत्र फैली हुई है। वह भाग सनातन आर्य धर्म को स्वाभाविक पवित्र दशा में लाने के लिए आर्यसमाज रूपी भट्टी में से निकली है और भारत के एक परम योगी दयानन्द सरस्वती के हृदय में प्रकाशित हुई है।"[१] हिन्दू-मुसलमान और ईसाइयों ने इस आग को बुझाने का प्रयत्न किया। कर्नल आल्काट और मैडम ब्लेवेट्सकी जो वैज्ञानिक रीतियों से अमेरिका में ईसाई धर्म की सिद्धि किया करते थे, उन्होंने स्वामीजी को अपने जाल में फंसाना चाहा। हेनरी आल्काट ने, जो कि थियोसोफिकल सोसायटी के अध्यक्ष थे, एक पत्र जनवरी १८७८ को स्वामीजी को लिखा—"To the most honourable Pandit Dayanand Saraswati, India.....We need the assistance, not only of the young and enthusiastic, but also wise and venerated. For this reason we come to your feet as children to a parent and say look at us, our teacher teach us what we ought to do. Give us your counsel, your aid."[२]

स्वामीजी जैसा सावधान व्यक्ति भी एक बार तो इस जाल में फंस गया। उन्होंने इसे आल्काट महोदय की सदाशयता ही समझा और अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी बड़ी भावुक शैली में उत्तर दिया—"स्वस्ति श्रीयुतानवद्यगुणालंकृतेभ्यः सनातन सत्यधर्म प्रियेभ्यः पाखण्डमतनिवृत्तचित्तेभ्योऽउद्वैतेश्वरोपासनमिच्छुभ्यो बन्धुवर्गेभ्यो महाशयेभ्यः के श्रीयुत्हेनरी एस ओल्काटाख्यप्रधानादिभ्यः श्रीमन्मेडम एच. पी. विलावस्टक्याख्यमन्त्रिसहितेभ्यः[३] थीयोसोफिकल सोसाईट्याख्यसभासद्भ्यो दयानन्द सरस्वतिस्वामिन आशिषो भवन्तुतमाम् ॥....पंचसहस्रावधिसंवत्सरप्रमित व्यतीतात् कालान्महाभाग्योदयेनासमक्षव्यवहाराणामस्मत्प्रियाणां पातालदेशे निवसतां युष्माकमार्ध्यावर्त्तनिवासिनाभस्माकं च पुनः परस्परं प्रीत्युद्भवोपकारपत्रव्यवहार-प्रश्नोत्तरकरणसमय आगतः ॥....यावन्ममसामर्थ्यमस्ति तावदहं साहाय्यमपि दास्यामि।"[४]

कर्नल आल्काट पहले एक सिपाही था, परन्तु उस समय एक समाचार पत्र के संवाददाता के रूप में एक आध्यात्मिक घटना की छानबीन में लगा हुआ था। मैडम से मिलकर उसने थियोसोफिकल सोसायटी बनाने का निश्चय किया, एक प्रधान बना और दूसरे ने मन्त्रीत्व का कार्य संभाला, कोषाध्यक्ष का पद एक लखपति को सौंपा गया जिसने इनकी काफी आर्थिक चिन्तायें दूर कर दीं। अपने मिथ्याव्यवहार के कारण अमेरिका तथा योरोप में बदनाम हो जाने पर दोनों महानुभावों ने अपने चरण भारत की ओर बढ़ाये। इस सोसायटी ने सर्वसम्मति से

---

१. वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा, पृष्ठ ५३९

२. आर्यसमाज का इतिहास, भाग १—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ११६

३. मैडम का विशेष परिचय प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के पृष्ठ २८-२९ पर देखा जा सकता है।

४. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १०१

यह स्वीकार किया कि इसे आर्यसमाज से मिला दिया जाये और इसका नाम 'दी थ्योसोफिकल सोसाइटी ऑफ दी आर्यसमाज ऑफ इंडिया' रख दिया जाये। यह भी निश्चय किया गया कि इसके पथप्रदर्शक तथा मुखिया आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती रहेंगे। प्रधान तथा मन्त्री दोनों महानुभाव जनवरी १८७९ को बम्बई पहुंच गये और व्यग्रता से स्वामीजी से मिलने का अवसर खोजने लगे। स्वामीजी से उन लोगों का मिलन सहारनपुर में हुआ। स्वामीजी के शिष्यों ने अनेक स्थानों पर इस युगल के व्याख्यान करवाये। लगभग १ वर्ष तक इनका तथा आर्यसमाज का प्रेम-सम्बन्ध चलता रहा, फिर ये लोग अपने असली रंग में आने लगे और अन्ततोगत्वा सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति आ गई।

विच्छेद के कई कारण थे, पहला कारण तो यह हुआ कि इस युगल को निश्चय हो गया कि स्वामीजी इनके गुरु ही रहेंगे, शिष्य नहीं बन सकेंगे। स्वामीजी को अपने तर्क जाल में फंसा लेना इन लोगों के लिए संभव नहीं हुआ। भारतवर्ष की तत्कालीन स्थिति देख कर इन्हें यह निश्चय हुआ कि यहाँ की भोली जनता इनका गुरुत्व स्वीकार कर लेगी और इन्हें कुछ न कुछ शिष्य मिल ही जायेंगे। अतः इन्होंने अपना दल पृथक् बनाना ही उचित समझा। दूसरा कारण उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि उनके सिद्धान्त आर्यसमाज की अपेक्षा बौद्ध लोगों के अधिक समीप है, अतः उनका रुझान उधर होने लगा। तीसरा कारण यह भी था कि थ्योसोफी आर्यसमाज की शाखा थी, किन्तु इन लोगों ने कुछ आर्यसमाजियों को ही थ्योसोफिस्ट बनाना प्रारंभ कर दिया "जो मूल संस्था का सभ्य है, उसे शाखा का सभ्य बनने की क्या आवश्यकता है?"[१] चौथा एवं सबसे बड़ा पार्थक्य का कारण यह था कि इन लोगों को ईश्वर के अस्तित्व में ही सन्देह होने लगा था, मैडम ने योग सिद्धि के नाम पर 'हिमालय से सीधा सन्देश' खोई वस्तु का पता लगाना आदि चमत्कार भी प्रदर्शित करने प्रारंभ कर दिये थे। इन लोगों के कपट तथा आडम्बरों का भण्डाफोड़ कुछ समाचार पत्रों ने प्रारम्भ कर दिया। एक बार अप्रेल मास में लाहौर में इन लोगों ने यह चमत्कार दिखाने की घोषणा की कि जो कोई व्यक्ति इस समय अपने हाथ की उंगली कटवायेगा, उसकी उंगुली चमत्कार द्वारा जुड़ जायेगी, एक सिख ने हिम्मत करके उंगली काट दी"[२] पर उंगली जुड़ न सकी।

कहां इस युगल का छल-प्रपंच और कहां स्वामीजी की सदाशयता। एक पत्र में स्वामीजी ने कुछ कार्यों के लिए आल्काट साहब को पूर्णरूप से अधिकृत कर दिया था—"**I hereby authorise Henry S. Olcott, to caste my vote upon all questions relating to the Theosophical Society.**"[३]

एक पत्र में स्वामीजी ने आल्काट महोदय के हिन्दी अध्ययन प्रारंभ करने पर प्रसन्नता व्यक्त की थी। और तो और कर्नल महोदय के अनुरोध पर स्वामीजी ने आत्म चरित्र प्रकाशित करवाने का भी वचन दे दिया था। "—**I shall give you a brief account of me after**

---

[१] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १२०

[२] वही, पृष्ठ १२१

[३] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १५३

sometime. I shall do this work myself or have it done directly under my own eye"[1] यह वचन स्वामीजी ने निभाया भी। इस युगल की वैदिक सिद्धान्तों से विमुखता देखकर स्वामीजी ने समस्त ग्रार्यसमाजियों को सचेत कर दिया। सन् १८८० में मेरठ में स्वामीजी ने एक व्याख्यान में ग्रार्यसमाज का थ्योसोफी से सम्बन्ध विच्छेद होने की स्पष्ट घोषणा कर दी। उन्होंने कहा—"किसी ग्रार्यसमाजी को थ्योसोफी का सभ्य न बनना चाहिये।"[2] इस घोषणा के उत्तर में मैडम ने एक विस्तृत पत्र स्वामीजी को लिखा था, जिसमें उनकी गर्वोक्ति स्पष्ट झलकती है—"रही यह बात कि ग्रार्य सामाजिक हम से मिलें या न मिलें, इसकी हमें परवाह नहीं है। इसमें उन्हीं की ग्रौर कदाचित् समाजों की हानि है।"[3] कभी इस युगल ने घोषणा की थी कि स्वामीजी वेदों को छोड़ दें तो भी वे नहीं छोड़ेंगे, किन्तु ग्रब जो शिष्य बन कर ग्राये थे, वे गुरु बनने का स्वप्न देखने लगे, जो ग्रपनी सोसायटी को ग्रार्यसमाज की शाखा घोषित कर चुके थे, ग्रब ग्रार्यसमाजियों को ग्रपने में सम्मिलित करने का प्रयत्न करने लगे। इसके बाद थ्योसोफिकल सोसायटी की क्या ग्रवस्था हुई, इसका चित्रण उनके एक प्रतिष्ठित सदस्य वी. पी. वाडिया ने निम्न प्रकार किया है—"थ्योसोफिकल सोसायटी पर जितना समय, शक्ति ग्रौर धन व्यय किया जाता है, उन्होंने यह साबित कर दिया है कि सोसायटी की बुराइयां इतनी गहराई तक पहुंची हुई हैं ग्रौर इतनी विस्तृत हैं कि उनका इलाज करना कठिन है।"[4]

मैडम ब्लैवेट्सकी ने ग्रपनी पुस्तक "From the Caves and Jungles of Hindustan" में स्वामीजी के सम्बन्ध में एक घटना लिखी है। स्वामीजी एक स्थान पर शैवमत का खण्डन कर रहे थे तब " एक मतान्ध शैव ने कृष्ण सर्प उनकी विवस्त्र टांगों पर फैंक कर कहा कि ग्रब वासुकी देवता स्वयं ही प्रकट कर देगा कि हम में से कौन सच्चाई पर है....ग्रपनी एड़ी से स्वामीजी ने उसके सिर को कुचल डाला ग्रौर कहा—तुम्हारा देवता तो बहुत शिथिल रहा....सबसे कह दो कि कैसी ग्रासानी से झूठे देवता नष्ट हो जाते हैं।"

मृत्यु की छाया—'Coming events cast their shadows before' ग्रर्थात् ग्रागामी घटनायें पहले से ही ग्रपना ग्राभास दे जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी को मेरठ में ही कुछ ग्राभास होने लगा था कि उनके जीवन के दिन ग्रब ग्रधिक नहीं हैं। मेरठ ग्रार्यसमाज के उत्सव पर ग्रन्तिम व्याख्यान देते हुए उन्होंने ग्रपने ग्रनुयायियों को उच्च जीवन बनाने का तथा ग्रपनी ग्रावश्यकताग्रों को स्वयं पूर्ण करने का संदेश दिया था। उन्होंने यह भी संकेत दे दिया था कि वे सदा उनके साथ नहीं रहेंगे, "महाशयो! मैं कोई सदा नहीं बना रहूंगा। विधाता के नियम न्याय में मेरा शरीर भी क्षणभंगुर है। काल ग्रपने कराल पेट में सबको पचा डालता है। ग्रन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथ टूटना है....सोचो, यदि ग्रपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे ग्रांख मींचने के पीछे क्या करोगे....मुझे विश्वास है ग्रापमें ऐसे ग्रनेक सज्जन उत्पन्न होंगे जो उत्तमोत्तम कार्य कर दिखायेंगे....ग्रार्यसमाज का बड़ा विस्तार हो

---

[1] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र ग्रौर विज्ञापन, पृष्ठ १६३

[2] ग्रार्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १२२

[3] वही, पृष्ठ १२३

[4] वही, पृष्ठ १२६

जायेगा। कालान्तर में ये वाटिकायें हरी-भरी फूली-फली और लहलहाती दिखाई देंगी। ईश्वर कृपा से सब कुछ होगा, परन्तु मैं नहीं देख सकूंगा।"[1] अनेक बार के विषपायी, 'जीवेम शरद: शतम्' की साक्षात् मूर्त्ति के उपर्युक्त शब्द निराशा और पराजय के सूचक भले न हो, उनकी परोक्ष दृष्टि का परिचय अवश्य देते हैं।

परोपकारिणी सभा की स्थापना—स्वामीजी बहुत कुछ कार्य कर चुके थे पर बहुत कुछ फिर भी शेष था, उन्हें यह भी चिन्ता सताने लगी थी कि उनके अभाव में देश में बिखरी हुई समाजों का क्या होगा, उन्हें संगठित कर एक सूत्र में पिरोने वाली संस्था इस समय तक निर्मित नहीं हुई थी, पारस्परिक विवादों को निपटाने का भी कोई उपाय नहीं था। वे अपना कोई स्मारक नहीं चाहते थे जो गुरुडम अथवा मूर्त्तिपूजा का रूप ले ले। एक बार कविराज श्यामलदास ने स्वामीजी से कहा था कि वह उनकी एक ऐसी पाषाण मूर्त्ति बनवाना चाहते हैं, जो बाद में उनका स्मारक बन सके। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि ऐसा भूल कर भी न करना क्योंकि यही तो मूर्त्तिपूजा की जड़ होती है। स्वामीजी यह भी चाहते थे कि वैदिक धर्म के प्रचारक विदेश में भेजे जायें, जिस वैदिक प्रेस की उन्होंने स्थापना की थी, वह भी निराधार था। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए स्वामीजी ने 'परोपकारिणी सभा' बनाने का विचार किया तथा अपने वसीयतनामे "स्वीकारपत्र" में निम्न विशिष्ट बातें लिखीं—

"मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस (२३) सज्जन आर्य पुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यंत्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उसको परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अध्यक्ष बना कर यह स्वीकारपत्र लिखे देता हूं कि समय पर काम आवे।"[2]

इन २३ सदस्यों में न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधि थे अपितु एक लंदन में भी विद्यमान थे। इन सदस्यों में १ प्रोफेसर, १ जज, १ कौंसिल का मेम्बर, ५ आर्यसमाज के मंत्री व प्रधान, १ गुमाश्ता, १ साहू, २ डिप्टी कलेक्टर तथा असिस्टेण्ट कमिश्नर, १ वर्कशाप के सुपरिण्टेन्डेन्ट, ७ राजा, १ इतिहासकार, १ रईस तथा १ कविराज थे।

इस सभा को धर्मप्रचार के अतिरिक्त 'आर्यावर्त्त के अनाथ और दीनजनों की शिक्षा और पालन में'[3] खर्च करने का अधिकार था। स्वामीजी के देहावसान के समय प्रयुक्त किये जाने वाले सामान का भी स्पष्ट निर्देश था, "जब मेरा शरीर छूटे तो न उसको गाड़ें न जल में बहावें न जंगल में फैंकें, सिर्फ चन्दन की चिता बनवावें और जो यह संभव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पांच सेर कपूर, अढ़ाई मन अगर तगर और दस मन काष्ठ लेकर....भस्म करें।"[4] सभा के निर्णयों के सम्बन्ध में उन्होंने विधान बनाया कि निर्णय सर्वसम्मति से हो, सर्व सम्मति न होने पर निर्णय बहुमत से हो और सभापति का मत सदा द्विगुण समझा

---

[1] श्रीमद्दयानन्द प्रकाश—स्वामी सत्यानन्द, पृष्ठ ४६७

[2] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, परिशिष्ट सं. ७, पृष्ठ ३२९

[3] वही, पृष्ठ ३३०

[4] वही, पृष्ठ ३३१

जावे। किसी सभासद् का देहान्त अथवा वैदिक धर्म छोड़ने पर ही उसका स्थानापन्न नियुक्त किया जाये। सभी विवादों का निर्णय यथासंभव अपने आप किया जाये, अन्य कोई उपाय न होने पर विवाद न्यायालय में ले जाया जाय। सभा के सभी सदस्यों के लिये सदाचार पूर्वक जीवन बिताना स्वामीजी ने अनिवार्य माना है। इस सभा के माध्यम से 'ऋषि... सोये हुए राजपूताना....शेर को जगाना चाहते थे, वे आर्य जाति द्वारा मनुष्य जाति के धार्मिक और सामाजिक उद्धार का नेतृत्व आर्य नरेशों के हाथ में देना चाहते थे।''[1]

राजपूताने की ओर—''दुर्भाग्यवश राजपूत रियासतें बहुत ही पिछड़ी हुई थीं, उनके शासक अदूरदर्शी थे और अपनी रियासतों में सुधार लाने की उनकी न कोई नीति थी और न कोई कार्यक्रम। मदिरा, नारी और नाचगान में वे मस्त रहते थे और अपना समय अनुचित कार्यों में नष्ट करते रहते थे।''[2] चित्तौड़ के महाराणा सज्जनसिंह भी अपवाद न थे, उनका मन भी नास्तिकता की ओर मुड़ चला था। उनके सहयोगी पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और कविराज श्यामलदास महाराणा के इस रुझान से बहुत चिंतित थे, अतः यदा-कदा वे उनसे धार्मिक चर्चायें करते रहते थे। समाचार सुनाते समय उन्हें वे स्वामीजी के समाचार बड़े चाव से सुनाते थे और अन्त में उन्होंने महाराणा के हृदय में स्वामीजी के दर्शनों की प्रबल इच्छा उत्पन्न कर दी। पण्ड्याजी, 'सत्यार्थप्रकाश' की एक प्रति महाराणा के पास ले गये, जिसे उन्होंने बड़े मनोयोग से पढ़ा और उसके लेखक से मिलने की उनकी इच्छा और भी बलवती हो गई। उन्हीं महाराणा को जी. सी. एस. आई. की उपाधि देने के लिये लार्ड रिपन भी वहां पहुंचने वाले थे। उस अवसर पर आयोजित दरबार में अनेक गणमान्य सरदारों तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के आने की संभावना थी, अतः निमंत्रण मिलने पर स्वामीजी ने वहां पहुंचना उपयुक्त समझा।

स्वामीजी के सामने चित्तौड़ का वही गढ़ था जिसमें अनेक भारतीय ललनाओं ने अपना मूक बलिदान किया था, जो सदियों तक मेवाड़ घराने की राजधानी रह चुका था, जो राजपूतीआन का गौरवचिह्न था। दरबार की समाप्ति पर महाराणा ने स्वामीजी को उसी गढ़ में बुलाया। स्वामीजी ने राजनीति का उपदेश दिया और वेश्यागमन के दोष दिखाकर वे लौट आये। इस निर्भीक वाणी को सुनकर महाराणा अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने अपने अमात्यवर्ग से कहा—''केवल एक यही मनुष्य है जो बिना लाग लपेट के सदुपदेश करता है।''[3]

४ दिसम्बर सन् १८८१ को महाराणा स्वयं स्वामीजी के डेरे पर पधारे। श्रद्धा का जो अंकुर पहले ही विद्यमान था, वह इस समागम से और भी अधिक पुष्पित और पल्लवित हो गया। महाराणा ने अपने साथ सवार कराके चित्तौड़ के अनेक दर्शनीय स्थल दिखलाये और प्रार्थना की कि वे जब भी उदयपुर जायें, उन्हें साथ लेकर जायें। जब स्वामीजी वहां से विदा होने लगे तो सम्मान प्रदर्शन के लिये महाराणा ने उन्हें ५०० रुपये दिये तथा अन्य दरबारियों ने भी २००) रु. भेंट किये। चित्तौड़ दरबार के अवसर पर शाहपुराधीश राजाधिराज सर नाहरसिंहजी ने भी स्वामीजी के दर्शन किये और आजन्म उनकी शिक्षाओं का पालन करते रहे।

---

१. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १३५

२. स्वामी दयानन्द—बी. के. सिंह, पृष्ठ ८२

३. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग—घासीरामजी, पृष्ठ २८४

उदयपुर प्रवेश—आर्यसमाज के उत्सव में स्वामीजी को बम्बई जाना पड़ा, वहां से वे रतलाम पहुंचे। रतलाम से जावरा, चित्तौड़ होते हुए वे निम्बाहेड़ा पहुंचे। निम्बाहेड़ा के राजकर्मचारियों ने स्वामीजी के लिये पालकी का प्रबन्ध कर दिया। थोड़ी दूर जाने पर पालकी स्वामीजी का भार सहन न कर सकी और टूट गई। कई कोस पैदल चलकर स्वामीजी ११ अगस्त, १८८२ को सकुशल उदयपुर पहुंच गये। उनका भव्य स्वागत किया गया और उन्हें नौलखा बाग में ठहराया गया। महाराणा के विशेष अनुरोध पर स्वामीजी ने चातुर्मास वहीं व्यतीत करने का निश्चय किया। महाराणा प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल उनके दर्शन करने के लिये जाते थे। स्वामीजी ने महाराणा को संस्कृत पढ़ाना प्रारंभ किया और उन्हें मनुस्मृति के ७, ८, ९ अध्याय भी पढ़ाये, श्लोकों का पदच्छेद और सन्धि आदि समझाने के लिये स्वामीजी स्लेट का प्रयोग करते थे। इस प्रकार "दो तीन मास में ही महाराणा को संस्कृत का साधारण ज्ञान हो गया और वह सरल श्लोक, कविता आदि समझने में समर्थ हो गये।"[१]. स्वामीजी ने महाराणा से बलिदान किये जाने वाले पशुओं की ओर से वकालत की और उनका बलिदान दशहरे के अवसर पर भी किसी सीमा तक कम कर दिया। स्वामीजी ने महाराणा के महल में प्रतिदिन हवन होने की व्यवस्था कर दी। महलों में वेश्यानृत्य के स्थान पर स्वामीजी ने वेदगान प्रारंभ करवा दिया और महाराणा के वेतनभोगी गायक इनायतखां को वेदगान सिखाने का भी प्रयत्न किया।

स्वामी दयानन्द को अपने पक्ष में कर लेने के विचार से महाराणा ने उन्हें प्रलोभन देकर एकलिंग के मन्दिर का महन्त नियुक्त करने का अपना विचार प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने झुंझलाकर उत्तर दिया—"आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखाकर परमात्मदेव से विमुख करना चाहते हैं····आपके जिस छोटे से राज्य और मन्दिर से मैं एक दौड़ लगा कर बाहर जा सकता हूं वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञा भंग करने के लिये विवश नहीं कर सकता····मुझे ऐसे शब्द कहने का फिर कभी साहस न कीजियेगा। मेरी धर्म की ध्रुव धारणा को धराधाम और आकाश की कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती।"[२]. महाराणा से यही कहते बना कि मैं तो आपकी दृढ़ता देखने के लिये ही यह कह रहा था। स्वामीजी ने उन्हें नियमित दिनचर्या करने का उपदेश दिया जिसमें तीन घड़ी रात रहे उठना, एक गिलास शीतल जलपान, ईश्वर उपासना, वायु सेवन आदि भी समाविष्ट था। साहित्य सेवन का भी उन्हें निर्देश दिया पर अश्लील साहित्य के परिहार के लिये भी कहा।

छः मास से अधिक स्वामीजी उदयपुर रहे। शाहपुरा के लिये प्रस्थान करते समय महाराणा ने उन्हें एक मानपत्र, एक कीमती शाल, एक सौ रुपये नकद तथा वेदभाष्य के लिये दानस्वरूप १२००) रुपये भेंट किये। स्वामीजी गोरक्षा के घोर पक्षपाती थे और एतदर्थ तीन करोड़ हस्ताक्षर कराकर गोवध बन्द कराने के लिये एक मेमोरेण्डम महारानी विक्टोरिया की सेवा में भेजना चाहते थे। यहां ही उन्हें अंग्रेजी के अध्ययन में रुचि हुई थी, उन्होंने अंग्रेजी

---

१. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग—घासीरामजी, पृष्ठ २९९

२. श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ ५१२

अक्षर सीख लिये थे और लिफाफों पर स्थान का नाम अंग्रेजी में अपने हाथ से लिखने लगे थे। "पण्ड्या मोहनलाल ने एक दिन महाराज को 'Heley's Grammar' पढ़ते देखा था।"[1] उदयपुर में ही एक साधु सहजानन्द ने स्वामीजी को पद्मासन लगाये जल पर ध्यानावस्थित देखा था, कभी-कभी स्वामीजी २४ घण्टे तक असम्प्रज्ञात समाधि लगा लेते थे।

९ मार्च १८८३ को स्वामीजी शाहपुरा पहुंचे, उनके निवास का प्रबन्ध महाराज के राजकीय बाग में किया गया। सायंकाल महाराज परिषद् वर्ग सहित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। पांच दिन तक परस्पर वार्तालाप हुआ, उसके बाद सायंकाल ६ से ९ बजे तक महाराजा स्वामीजी के पास पहुंचते थे जिसमें १ घण्टे तो धर्म विषय पर चर्चा होती थी और २ घण्टे तक उनका अध्ययन चलता था। यहां महाराजा ने स्वामीजी से मनुस्मृति, पातंजल योगशास्त्र तथा वैशेषिक दर्शन का कुछ अंश पढ़ा, कभी-कभी वे प्रातःकाल भी स्वामीजी के साथ भ्रमणार्थ चले जाते थे और एकान्त में उनसे प्राणायाम सीखा करते थे। स्वामीजी मध्याह्न में भोजन के पश्चात् गर्मियों में १६ मिनट और शीतकाल में १४ मिनट निद्रा लिया करते थे। लेटने के कुछ क्षण बाद ही वे प्रगाढ़ निद्रा में लीन हो जाते थे और १६ मिनट पूर्ण होते ही अंगड़ाई लेकर उठ बैठते थे। खाने के मामले में स्वामीजी कच्ची-पक्की, सखरी-निखरी रसोई के चक्कर में नहीं पड़ते थे। यहां ही उन्हें महाराजा जसवन्तसिंहजी जोधपुराधीश का निमंत्रण आया, महाराज प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह उदयपुर में ही स्वामीजी से जोधपुर पधारने की प्रार्थना कर चुके थे, अतः स्वामीजी ने जोधपुर जाने का विचार किया।

शाहपुराधीश नहीं चाहते थे कि स्वामीजी जोधपुर जायें क्योंकि वे जोधपुराधीश और स्वामीजी के स्वभाव को भली-भाँति जानते थे। जोधपुराधीश एक वेश्या नन्हीं भगतन (नन्हीं जान) पर बुरी तरह आसक्त थे और स्वामीजी इस पापकर्म को जानकर उसे अनदेखा-अनसुना नहीं कर सकते थे। अतः शाहपुरा से जाते समय अपना कर्त्तव्य समझते हुए महाराजा ने स्वामीजी से नम्र निवेदन किया कि आप वहाँ जाकर वेश्याओं का अधिक खण्डन न करें। इस चेतावनी का स्वामीजी पर विपरीत ही परिणाम हुआ, उन्होंने उत्तर दिया—"मैं बड़े-बड़े कंटीले वृक्षों को नहुरने से नहीं काटा करता। उनके लिये तो अति तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।"[2] शाहपुराधीश का स्वागत सम्मान स्वीकार करने के बाद स्वामीजी अजमेर पहुंचे जहां उन्होंने सेठ फतहमल की कोठी में निवास किया। अजमेर के लोग भी भली-भाँति जानते थे कि वह मरुभूमि न केवल प्राकृतिक दृष्टि से अपितु धार्मिक दृष्टि से भी ऊसर है, अतः उनका भी प्रयत्न यह था कि स्वामीजी वहां न जायें। कुछ भक्तों ने स्वामीजी से इतना तक कहा—"भगवन्! वह मूल राक्षस का देश है, वहाँ न जाइये।"[3] पर दृढ़ निश्चयी दयानन्द के विचार और होनी के प्रसार को कौन टाल सका है। सेवाव्रती दयानन्द ने केवल इतना ही कहा—"यदि लोग हमारी

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ ३०५

[2] वही, पृष्ठ ३२३

[3] वही, पृष्ठ ३२४

उंगलियों की बत्तियां बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा।"[१]

जोधपुर में प्रवेश—२९ मई सन् १८८३ को अजमेर से रेल पर सवार होकर स्वामीजी पाली स्टेशन पहुंचे। उस समय रेल का अंतिम स्टेशन पाली ही था, वहां ही राज्य की ओर से स्वामीजी के लिये यानादि का प्रबन्ध था। एक हाथी, तीन रथ, एक सेजगाड़ी, तीन ऊंट और चार सवार थे, कौन जाने यह भव्य स्वागत 'विषकुम्भं पयोमुखम्' की भूमिका था। वहाँ से जोधपुर १८ कोस है, अतः अगले दिन प्रातःकाल स्वामीजी ने पाली से प्रस्थान किया, रास्ते में उन्हें तथा उनके साथियों को बहुत कष्ट हुआ। बहुत जोर की वर्षा हुई और सारा सामान भीग गया—वर्षा क्या थी मानों भक्तों की आशा पर तुषारापात था, सामान का भीगना ही अनुयायियों के नयनों का भीगना था। भयंकर झंझावात से रथ की छत तक उड़ गई, मानो ये सभी घटनायें किसी अनिष्ट की सूचना दे रही थीं। दिन भर स्वामीजी ने रोहट में विश्राम किया और रात्रि में नियत स्थान के लिये कूच कर दिया। ३१ मई की प्रातःकाल स्वामीजी जोधपुर पहुंचे, राज्य की ओर से राव राजा जवानसिंह ने कुछ दूर बढ़कर उनका स्वागत किया। सर कर्नल प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह स्वामीजी के पहुंचते ही स्वागत के लिए उपस्थित हुए, सर प्रतापसिंह ने नमस्ते करके २५) नकद तथा एक मोहर स्वामीजी को भेंट की। फैजुल्ला खां की कोठी में स्वामीजी के लिये सभी समुचित सुविधायें जुटा दी गईं, गले में कुछ कष्ट होने के कारण महाराजा जसवन्तसिंह वहां स्वयं उपस्थित न हो सके।

स्वामीजी के जोधपुर पहुंचने के १७ दिन बाद महाराजा जसवन्तसिंह उनके दर्शनों को उपस्थित हुए तथा उन्होंने नमस्कार पूर्वक १००) रुपये तथा ५ मोहरें भेंट स्वरूप दीं। शिष्टतावश वे स्वामीजी के समक्ष कुर्सी पर न बैठकर फर्श पर ही बैठने लगे, स्वामीजी ने उनका हाथ पकड़ कर उन्हें कुर्सी पर बैठाया। महाराजा के अनुरोध करने पर स्वामीजी ने उपदेश गंगा प्रवाहित करनी प्रारम्भ कर दी। राजनीति के अनर्घ रत्नों के साथ उन्होंने जयचन्द्र के दृष्टान्त से प्रारंभ करने, स्वदेशद्रोह और फूट के दोष दिखाते हुए ऐक्य और स्वदेशप्रेम के गुण बतलाये। लगभग तीन घण्टे तक स्वामीजी उन्हें उपदेश देते रहे, महाराजा ने उससे पूर्व ऐसा सारगर्भित और उपयोगी व्याख्यान कभी न सुना था, उन्होंने अनुरोध किया कि वहां की जनता को भी अपने पीयूषमय उपदेश से अनुगृहीत करें।

अगले दिन से ही शाम के ४ बजे से ६ बजे तक फैजुल्ला खां की कोठी के सहन में स्वामीजी के व्याख्यान होने लगे। धीरे-धीरे श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी, उन्होंने जीवन में ऐसे निर्भीक और तर्कपूर्ण वचन कभी सुने ही नहीं थे। जनता की तथाकथित अन्ध-आस्थायें अनन्त में विलीन होने लगीं। इन व्याख्यानों में स्वामीजी ने क्षत्रियों के चरित्र संशोधन तथा गोरक्षा पर अत्यधिक बल दिया। स्वामीजी की निर्भीकता देखकर रावराजा तेजसिंह कुछ

---

१. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ ३२४

आशंकित हो उठे , उन्होंने स्वामीजी को परामर्श दिया अथवा अनुरोध किया कि वे महाराजा के चरित्र के विषय में कुछ न कहें । स्वामीजी को ऐसा परामर्श देना मानो सोते सिंह को जगाना था । उन्होंने भरी सभा में वेश्यागमन के दोषों को दिखाने और वेश्यागामियों को फटकारने में तनिक भी संकोच नहीं किया और इस सम्बन्ध में वही शब्द कहे जो वह सदा कहते थे अर्थात् क्षत्रिय सिंह हैं और वेश्या कुतिया है ।[1]

स्वामीजी ने जब जोधपुर में प्रवेश किया था, वह रियासत विचित्र स्थिति में थी 'It was virtually governed by Muhammedans, one Faijullah Khan was the Prime-Minister"[2] अर्थात् वस्तुतः इसका प्रशासन मुसलमानों के हाथ में था और फैजुल्ला खां इसके प्रधानमन्त्री थे । मुसलमानों के धर्म बन्धु इन शासकों की सहायता करते थे और लाभ उठाते थे । महाराजा की एक बदनाम मुस्लिम महिला से अत्यधिक घनिष्ठता थी, जिसका शासकों पर पर्याप्त प्रभाव था और जिसकी बात हर स्थिति में मानी जाती थी । वह सरलतापूर्वक शासन के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकती थी, "भ्रष्टाचार और अपहरण निर्दोष व्यक्तियों के जीवन का रस चूस रहे थे और उसका प्रतिकार यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था ।"[3]. महाराजा के सम्बन्धियों और सामान्यतः राजपूतों की कोई चिन्ता नहीं करता था । स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान में कहा—"जो व्यक्ति रियासत का नमक खाते हैं और उसे अदा नहीं करते, वे मनुष्य तथा भगवान दोनों की दृष्टि में देशद्रोही हैं ।"[4]. मुस्लिम सम्प्रदाय को तो ये शब्द बुरे लगने ही थे, प्रधानमन्त्री फैजुल्ला खाँ इतने खिसिया गये कि उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि यह मुस्लिम रियासत होती और आप ऐसा उपदेश देते तो जीवित नहीं बच सकते थे। स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया—"मैं भी उस समय ऐसा ही कार्य करता, दो राजपूतों की पीठ थपेड़ देता और वह आपकी अच्छी तरह खबर लेते ।"[5]

स्वामीजी जोधपुर में चार माह रहे । इस बीच महाराजा तीन बार स्वामीजी के पास गये और तीन बार स्वामीजी महाराजा के पास गये । एक बार जब स्वामीजी वहां पहुंचे तो महाराजा नन्हींजान वेश्या से प्रेमालाप में व्यस्त थे । महाराजा ने नन्हींजान को वहाँ से भेजने का प्रयत्न किया, उस समय कोई नौकर न होने पर उसकी कुर्सी पर स्वयं महाराजा ने अपना कन्धा भी लगा दिया। अंतिम दृश्य को स्वामीजी ने देख लिया और कहा "Alas ! that a bitch should share the embrace of a lion"[6] अर्थात् शोक है कि एक कुतिया एक शेर का आलिंगन कर रही है, परिणामस्वरूप कुत्तों की ही उत्पत्ति हो सकती है । इस घटना के बाद स्वामीजी ने एक पत्र सर प्रतापसिंह को लिखा जिसमें उन्होंने व्यक्त किया—"मुझको इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान, आप और बाबा

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ ३२६

[2] लाइफ एण्ड टीचिंग्स, द्वितीय भाग—छज्जूसिंह, पृष्ठ ८१

[3] वही, पृष्ठ ८१

[4] वही, पृष्ठ ८२

[5] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र द्वितीय भाग—घासीरामजी, पृष्ठ ३२८

[6] लाइफ एण्ड टीचिंग्स, पृष्ठ ८३

साहब रोगयुक्त शरीर वाले हैं... मैं चाहता हूं कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझ से सुनकर सुधार लेवें, जिससे मारवाड़ तो क्या अपने आर्यावर्त्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें।"[1] महाराजा पर स्वामीजी की बात का इतना प्रभाव पड़ा था, इसका उदाहरण स्वामीजी की मृत्यु के ८-९ वर्ष बाद की एक घटना से मिलता है। एक रात्रि को भाटी अर्जुनसिंह और नन्हींजान ने स्वामी जी के विषय में कुछ अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया। महाराजा ने सुन लिया और अतिक्रुद्ध होकर कहा—"तुम उनके महत्त्व को क्या जानते हो, मैं जानता हूं और सत्य कहता हूं कि यदि महाराजा तख्तसिंह का पेशाब हूं और यदि स्वामीजी इस समय जीवित होते तो मैं राज्य छोड़कर संन्यास लेकर उनके साथ चला जाता।"[2].

जोधपुर में स्वामीजी प्रातःकाल चार बजे उठते थे, कुल्ला दातुन करके थोड़ी-सी सौंफ फांककर दो-चार घूंट जल पी लेते थे और ४-५ करवट लेते और ५ बजे भ्रमण करने चले जाते। लौटते समय उनकी गति इतनी तीव्र होती थी कि वे पसीने-पसीने हो जाते थे। भ्रमण को जाते समय हाथ में एक मोटा सोटा रखते थे। भोजन केवल एक ही बार करते थे, रात्रि में सोने से पहले दुग्धपान किया करते थे। स्वामीजी को आम बहुत प्रिय था, आम खाते समय जो भी उनके पास होता उसे भी आम खिलाते और तदुपरान्त दूध पिलाते। कभी-कभी अमरस और दही का श्रीखण्ड भी बनवाते थे। एक बार स्वामीजी के विश्राम करते समय गलती से ४-५ खवासिनें उनके कमरे में आ गईं, उन्हें देखकर सहसा बड़े जोर से चिल्लाये। पुराने पहरेदारों को बदलवा दिया और नयों को आदेश दिया कि किसी स्त्री वा लड़की को बंगले के पास न आने दो। एक बार प्रातःकाल स्वामीजी ने एक पहलवान को देखा जो प्रतिदिन अपने नहाने के लिए रहट चला कर एक हौज भरा करता था, उसे अपनी शक्ति पर बड़ा गर्व था। एक दिन स्वामीजी ने रहट चला कर हौज भर दिया और वायु सेवनार्थ आगे चले गये। पहलवान के पूछने पर उन्होंने बताया कि अभी तो उनका व्यायाम पूरा भी नहीं हुआ था, अतः उन्हें टहलने के लिये आगे जाना पड़ा। पहलवान यह सुनकर हक्का-बक्का रह गया।

षड्यंत्र का श्रीगणेश—व्याख्यान तथा महल में वेश्या को कुतिया कही जाने वाली चर्चा नन्हींजान ने भी सुनी। गुस्से में भर कर वह कहने लगी "Is this a Faquir or a devil ?"[3] यह कोई फकीर है या शैतान—इसे न तो महाराजा का डर है और न मेरा। उसने अपनी शक्ति एवं अस्तित्व का परिचय देने के लिये एक योजना बनाई, अपने कुछ विश्वस्त आदमियों को इसमें योग देने के लिये सहमत कर लिया। षड्यंत्र के प्रथम चरण के के रूप में २५ या २६ की रात्रि को स्वामीजी का भृत्य कल्लू कहार ६००-७०० रुपये का माल (मोहर आदि) लेकर खिड़की की राह से भाग गया, पहरे वालों ने भी अपने कार्य में प्रमाद किया। राजाज्ञा हुई कि उसे पाताल से भी ढूंढ निकालना चाहिये, पर परिणाम कुछ नहीं निकला। "ऐसी बातें देख कर महाराज (स्वामी) को जोधपुरवास से ग्लानि हो गई तथा

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४५४-५५

२. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र-द्वितीय भाग, पृष्ठ ३२९

३. लाइफ एण्ड टीचिंग्स, पृष्ठ ८३

जोधपुर के मनुष्यों के ऊपर से उनका विश्वास उठ गया और उन्होंने वहाँ से चलने का संकल्प कर लिया ।''[1] पर किसे मालूम था कि उनकी यह यात्रा महायात्रा होगी ।

२७ सितम्बर को सामान्य प्रतिश्याय होने के कारण स्वामीजी अस्वस्थ थे । वही स्थिति २८ को भी रही, २९ सितम्बर की रात्रि को यथा नियम उन्होंने दुग्ध पिया । यह दूध उन्हें शाहपुरा से लाये हुए महाराज धौड़ मिश्र[2] रसोइये ने पिलाया । जीवनी लेखकों का मत है कि इस दूध में ''बहुत बारीक पिसा हुआ कांच मिला था ।''[3] थोड़ी देर बाद उदरशूल के कारण उनकी निद्रा भंग हो गई । उनका जी मिचलाने लगा और तीन बार वमन हुई । विष प्रयोग का सन्देह होने पर स्वामीजी ने स्वयं ही पानी पीकर वमन किया । वमन के बाद भी जी मिचलाना कम न हुआ, उन्होंने अग्निकुण्ड में धूप डलवाकर सुगन्ध फैलवा दी । वमन करने में उन्हें बहुत कष्ट होता था, इससे उनकी अंतड़ियों और यकृत पर सूजन आ गई । स्वामीजी ने रावराजा तेजसिंह को बुलवा कर निवेदन किया कि उनकी चिकित्सार्थ किसी हिन्दू चिकित्सक को बुलाया जाय । कारागार के चिकित्सक डा. सूरजमल ने आकर नाड़ी देखकर बुखार उतारने के लिये Diaphoretic Mixture दिया । महाराजा प्रतापसिंह को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने रावराजा तेजसिंह के साथ डा. अलीमर्दान खां को चिकित्सा के लिये भेजा । ''वह एक तीसरे दर्जे के हास्पिटल का असिस्टेन्ट था परन्तु पहले दरजे का खुशामदी और कपटी था ।''[4] डा. अलीमर्दान खां ने स्वामीजी के पेट पर पट्टी बंधवाई और Salvation Pills देने को कहा । गोलियां आने पर स्वामीजी ने डा. सूरजमल से पूछा कि वे उन्हें खायें या नहीं ? डाक्टर सूरजमल ने कहा कि खा सकते हैं । बाद में उक्त डाक्टर ने देवेन्द्र बाबू से कहा था कि मेरा अंतकरण उस औषधि को देने का नहीं करता था, पर वे दूसरे डाक्टर की चिकत्सा में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे ।

रोग की वृद्धि—२ अक्टूबर को अलीमर्दान खां ने पेट साफ करने के लिये जुलाब देने का प्रस्ताव किया । स्वामीजी ने पूछा कि कितने दस्त आवेंगे तो डाक्टर ने उत्तर दिया— ६ या ७ । उसने सूरजमल से फिर कहा कि स्वामीजी हृष्टपुष्ट हैं, इन्हें जुलाब भी चौगुनी मात्रा में देना चाहिये । सूरजमल ने चाहते हुए भी फिर प्रतिरोध नहीं किया । ४ तारीख की प्रातःकाल स्वामीजी को लगभग ४० दस्त आये । डा. अलीमर्दान खां से स्वामीजी ने कहा कि आप तो कहते थे ६-७ दस्त आयेंगे, इस पर डाक्टर चुप हो गया । सायंकाल तक दस्त आने पर मूर्च्छा आने लगी, जुलाब Compound Jalap powder का था, उसकी मात्रा भी दुगुनी दी गई थी । किसी तरह दस्त बन्द न होने पर अलीमर्दान खां ने Bismuth और Doner's astringent Pills दीं । स्वामीजी के रुग्ण होने का प्रथम समाचार १२ तारीख को 'राजपूताना गजट' में प्रकाशित हुआ ।

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३६

[2] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १३६ पर रसोइये का नाम जगन्नाथ लिखा हुआ है ।

[3] महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—चिमनलाल वैश्य, पृष्ठ २३१

[4] वही, पृष्ठ ३३७

क्या स्वामीजी को विष दिया गया था ?—पंडित लेखराजजी ने इस विषय में जो खोज की, उससे उन्होंने चार परिणाम निकाले—

(क) स्वामीजी की मृत्यु दूध के साथ दिये विष से हुई
(ख) विष की प्रेरणा नन्ही जान के षड्यंत्र से हुई
(ग) जोधपुर में उनका इलाज ठीक प्रकार नहीं हुआ
(घ) डा. अलीमर्दान खां के इलाज से रोग वृद्धि हुई

(क) स्वामीजी का स्वास्थ्य इतना अच्छा था कि सामान्य उदर शूल न तो उनके लिये प्राणलेवा हो सकता था और न उस प्रकार के लक्षण उत्पन्न कर सकता था, अतः यह तो निश्चित है कि उनको विष दिया गया था। यह विषय मतभेद का हो सकता है कि विष किसने दिया और कौन सा दिया था ? जनश्रुति के आधार पर विष जगन्नाथ अथवा धौड़ मिश्र ने दिया था, कहने वाले यह भी कहते हैं कि स्वामीजी के दिवंगत होने के बाद जोधपुर के कुए में एक लाश मिली थी जो रसोइये की थी और उसने पश्चाताप के कारण आत्महत्या कर ली थी।"[1] दूसरा पक्ष यह भी है कि काफी समय पश्चात् रुड़की जिले में एक पुलिया पर उस रसोइये को देखा गया था जो कि पागल हो गया था।[2] स्व. शाहपुराधीश सर नाहरसिंह जी ने मथुरा की जन्म शताब्दी पर एक वक्तव्य देकर बताया था कि स्वामीजी के काम करने वाले रसोइये उन्होंने भेजे थे और वे उस समय भी उनके पास थे। हो सकता है कि रसोइये कि अनुपस्थिति में विष किसी अन्य नौकर ने मिला दिया हो। यदि यह विष किसी अन्य ने मिलाया हो तो यह निश्चित है कि यह बारीक पिसा हुआ कांच नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि इसको पीसने के लिये पर्याप्त समय चाहिये, दूसरा बारीक पीसा जाने पर भी यह दूध अथवा पानी की सतह पर जम जायेगा, तीसरी बात यह है कि दुग्धपान करने पर गले में इसका अनुभव होने लगेगा। चौथी बात यह है कि जो लक्षण उसके बाद उत्पन्न होंगे वे स्वामीजी में विद्यमान नहीं थे। कांच के प्रयोग से आंतें छिल जायेंगी, परिणामतः मल के साथ रक्त आयेगा, एक कटन की सी अनुभूति होगी और वमन का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह विष कांच न होकर कुछ अन्य था। हमारा विश्वास है कि यह Arsenic (संखिया) था। कारण निम्न हैं—

(a) Medical Jurisprudence के अनुसार "Having no odour and little in any taste, white arsenic lends itself to admixture in milk, sweetmeats—for homicidal purpose[3] अर्थात् आर्सेनिक में कोई गंध नहीं होती,स्वाद भी नहीं होता,मनुष्य की हत्या के उद्देश्य से इसे दूध अथवा मिठाई में मिलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह सस्ती है, सरलता से उपलब्ध है और इसे मिलाने में कोई कठिनाई नहीं होती। जहां तक इसके प्रभाव

---

[1] आर्य समाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३२२

[2] महर्षि की मृत्यु का प्रामाणिक विवेचन—आर्यमित्र नवम्बर १९७२, पृष्ठ २७

[3] Hand Book of Medical Jurisprudence and Toxicology —Khan Bahadur Ardeshir K. Turner-Page 148

का संबंध है, इससे शुष्कता आती है, गले में सिकुड़न तथा पेट में दर्द होता है, वमन, अतिसार मूत्रनाली से रुधिर निकलता, मल का रंग काला होना, मूत्रावरोध, पेशियों की अकड़न, अनायास मांसपेशियों का सिकुड़ जाना, तन्द्रा, शक्तिहीनता आदि[1] लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। एक अन्य भैषज ग्रन्थ के अनुसार आर्सेनिक की दो तीन ग्रेन की मात्रा ही तीन दिनों में प्राणघातक हो सकती है, उसके अनुसार इसके प्रयोग से उत्पन्न होने वाले लक्षण निम्न हैं—''भयंकर जी मिचलाना, मूर्च्छा का भाव, शक्ति का एकदम क्षीण हो जाना, इसके बाद वमन, अत्यधिक जलन, उदरशूल, दबाने से बढ़ना, उदर शूल का अधिकाधिक प्रबल होना, भयंकर अतिसार, जरा सी चीज़ से वमन हो जाना, नाड़ी क्षीण हो जाना, ठण्डा और चिपचिपा पसीना, अकड़न, सिकुड़ना, तन्द्रा और पक्षाघात आदि।[2] लगभग यह सभी लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में उत्पन्न हो गये थे। यदि केवल इतना ही होता तो स्वामीजी शायद इसको सहन कर जाते, पर उसके बाद भी डाक्टर अली मर्दान खां द्वारा विष देने की प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई।

डा. अली मर्दान खां ने जो छ: Salvation pills स्वामीजी को दी थी उसकी एक Salvation pill में ३ ग्रेन केलोमील और एक चौथाई ग्रेन अफीम होती है।''[3] डा. खान ने स्वामीजी के अच्छे स्वास्थ्य का बहाना बना कर इसकी भी सामान्य से चौगुनी मात्रा दी थी। दूसरे दिन उसने जो Compound Jalak Powder दिया, इसमें भी ३-४ ग्रेन केलोमेल मिलाया जाता है, किन्तु डा. खान ने इसकी मात्रा भी ८ ग्रेन दी थी। इस प्रकार स्वामीजी के उदर में २६ ग्रेन केलोमेल पहुंचा दिया गया था। केलोमेल मर्करी क्लोराइड होता है, जिसकी ''५ ग्रेन की मात्रा के प्रयोग करने से बड़े आदमी की मृत्यु हो सकती है।''[4] इसके प्रधान लक्षण "Concomitant symptoms, also haematimesis, meloena and haematuria—skin eruptions of an erythematous or eczematous character pains in the abdomxin, anorexia, colic, salivation.''[5] होते हैं। श्री घासीरामजी ने भी लिखा है—''Calomel के अधिक मात्रा में खाने का दूसरा परिणाम यह हुआ कि महाराज के गले, जिह्वा, तालू, सिर और मस्तिष्क पर आंवले पड़ गये।''[6]

डा. सूरजमल ने देवेन्द्र बाबू से कहा था कि जो चिह्न स्वामीजी के शरीर में प्रकट हुए वह पिसे कांच के नहीं थे। अजमेर के हकीम पीर इमाम अली ने स्वामीजी को देख कर यही कहा था कि उन्हें संखिया दिया गया है। ''After having thoroughly examined the Swami he gave it, as his opinion, that he had been poisoned the arsenic having been administered to him, he could not say how.''[7]

---

१. Hand book of Medical Jurisprudence and Taxicology—khan Bahadur Ardishir Turner Page 150

२. A Study on Materia Medica-- N. M. Choudhary, Page 69-70

३. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३७

४. Hand Book of Medical Jurisprudence, Page 159

५. वही, पृष्ठ १५९

६. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३८

७. लाईफ एण्ड टीचिंग्स, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८८

निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वामीजी को निश्चित रूप से विष दिया गया था और वह विष आर्सेनिक ही था, डा० अलीमर्दान खां ने केलोमेल देकर उस विष के प्रभाव को कई गुना बढ़ा दिया।

आज के कुछ विद्वानों का मत है कि स्वामीजी को कोई विष नहीं दिया गया था। उनका कहना है कि इसका विवरण राजकीय रिकार्ड में नहीं मिलता। विष यदि किसी सामान्यजन द्वारा दिया जाता, तो इसको रिकार्ड में भी रखा जाता, किन्तु यह तो दिया ही गया था अधिकारियों की साजिश से, अतः उसका उल्लिखित न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दूसरी बात है कि सभी लोग विशेषतः प्रशासक अपने कुकृत्य को छिपाते हैं, उसका ढिंढोरा नहीं पीटते। दूसरा कारण यह भी दिया जाता है कि उस समय के समाचार पत्रों में इसकी कोई चर्चा नहीं है—कारण अधिक अस्पष्ट नहीं है, स्वामीजी की बीमारी का समाचार ही लोगों को काफी समय बाद दिया गया, या तो डा० खान ने महाराजा को यह रिपोर्ट दी होगी कि बीमारी सामान्य है अथवा यह भी संभव है कि विशाल षड्यंत्र के कारण इस समाचार को प्रकाशित करने पर बंधन लगा दिया गया हो। इतने समय के बाद जिन लोगों की ओर से यह मत व्यक्त किया जा रहा है, उनका सम्बन्ध प्रदेश विशेष से है और वे चाहते हैं कि कलंक उनके माथे से मिट जाये।

(ख) दूसरा प्रश्न यह होता है कि विष दिलाने के षड्यंत्र का सूत्रधार कौन था ? नन्हींजान, प्राइम मिनिस्टर फैंजुल्ला खां, अन्य मुस्लिम अधिकारी तथा कुछ चक्रांकित सम्प्रदाय के व्यक्ति स्वामीजी से असंतुष्ट थे ही। नन्हींजान के लिये तो जीवन-मरण का प्रश्न था, अतः इन सभी का इस षड्यंत्र में सम्मिलित होना असंभव नहीं है। फिर भी प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या कोई वेश्या, वह कितनी ही प्रतिष्ठित क्यों न हो, क्या महाराजा की इच्छा के विरुद्ध इतना बड़ा कार्य कर सकती है ? इन लोगों ने निश्चय ही यह कुकृत्य किया पर इसकी प्रेरणा कुछ इससे भी बड़े स्तर पर थी। श्री डी. पी. जौहरी के वक्तव्य से इस प्रश्न का रूप कुछ और ही दिखाई देता है, वे पानी की तलाश में एक तालाब के किनारे पहुंचे और वहां उन्होंने ७० वर्ष के वृद्ध आर्यसमाजी को संध्या करते देखा। जब उन्होंने संध्या समाप्त की तो श्री जौहरी ने उनसे स्वामीजी की मृत्यु के संबंध में बातचीत आरंभ की। जौहरीजी के प्रश्नों का उत्तर देने से पहले उनसे यह शपथ ले ली कि उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जायेगा....“जिन दिनों महर्षि दयानन्द जोधपुर में थे, अंग्रेजी सरकार की ओर से रियासत के एक अंतरंग विषय पर चिट्ठी प्राप्त हुई, जिसका उत्तर शीघ्र मांगा गया था, रियासत की कौंसिल आदि अभी उस पर विचार कर ही रही थी कि महाराजा ने उस चिट्ठी की चर्चा महर्षि से कर दी। महर्षि ने जो सलाह दी उसके अनुसार उत्तर भेज दिया गया। उत्तर ऐसा चमत्कारपूर्ण था कि इंडिया आफिस चकित हो उठा ...(पूछे जाने पर) महाराजा ने सरलता से स्वामीजी का नाम लिख भेजा। तब विलायत से गवर्नर जनरल की यह भर्त्सना की गई कि स्वामी दयानन्द जैसे राजद्रोही को प्रचार करने के लिये खुला क्यों छोड़ दिया गया।”[1]. अतः अंग्रेजी सरकारी एजेन्ट का इसमें हाथ होना भी असंभव

---

१. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३२१-२२

नहीं है। श्री साहनी ने लिखा है, "....अधिकतर विचारकों का मत है कि डा० न्यूटन ने संखिया दिया था।"[१] विष-प्रयोग के षड्यंत्र की आशंका इससे और भी प्रबल हो जाती है कि रावराजा तेजसिंह और प्रतापसिंह को सब कुछ ज्ञात होने पर भी बहुत समय तक महाराजा जसवन्तसिंह स्वामीजी को देखने नहीं पहुंचे। स्वामीजी के स्पष्ट प्रतिषेध करने पर भी उनके इलाज के लिये एक मुसलमान डाक्टर को भेजा गया, रियासत में डा० रोडम्स और डाक्टर नवीनचन्द्र गुप्त जैसे योग्य चिकित्सकों के होते हुए भी उन्हें स्वामीजी के इलाज के लिये नहीं भेजा गया। परिणाम यही निकलता है कि इस षड्यंत्र में नन्हींजान वेश्या, फैजुल्ला खां, अलीमर्दान खां तथा ब्रिटिश शासकों का निर्देश सभी सम्मिलित हैं।

(ग) विगत पृष्ठों में दिये गये विवरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि डा. अली मर्दान खां न केवल अयोग्य चिकित्सक था अपितु उसने चिकित्सा भी मनोयोग से नहीं की। जानबूझ कर उन्हें विषपूर्ण औषधियां अधिक मात्रा में दीं। स्वामीजी की चिकित्सा न केवल जोधपुर में अनुचित रूप से हुई अपितु आबू में भी अंग्रेज डाक्टर नें पूर्ण उपेक्षा वृत्ति का परिचय दिया। डाक्टर सूरजमल भी अपने मौन के लिये क्षम्य नहीं है, यदि वे अपनी स्पष्ट सम्मति दे देते तो डाक्टर अली मर्दान खां की दी हुई दोषपूर्ण औषधि का सेवन स्वामीजी नहीं करते, ऐसा प्रतीत होता है कि डा. सूरजमल की भी कुछ विवशता थी क्योंकि उन्होंने जब वह प्रथम बार स्वामीजी को देखने गये तो कहा था—"आप ऋषि तुल्य लोग हैं, आप इस राक्षस भूमि में क्यों आ गये?"[२]

आबू भेजने का प्रस्ताव—१५ अक्टूबर को स्वामीजी की दशा देख कर डा. अली मर्दान खां भी भयभीत हो गया और उसने स्वामीजी को आबू भेजने का प्रस्ताव किया। रेजिडेन्सी सर्जन रोडम्स की भी यही सम्मति हुई। १६ अक्टूबर को तीसरे पहर महाराजा जसवन्त सिंह और सर प्रतापसिंह स्वामीजी को विदा करने आये, २५००) रु. और दो दुशाले उन्हें भेंट किये, सम्मान प्रदर्शन के लिये महाराजा ने स्वयं उसमें कन्धा दिया और वाष्पावरुद्ध कण्ठ से उनसे पुनः जोधपुर पधारने की प्रार्थना की। ये खोखली औपचारिकतायें ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो जनरल मैकबेथ राजा डंकन की हत्या करने के बाद शोक प्रदर्शन कर रहा हो।[३] थोड़ी दूर जाकर स्वामीजी के शरीर के भार से पालकी का बेंत का फर्श टूट गया। स्वामीजी को गर्मी बहुत लगती थी और दिन में कई बार मूर्च्छा हो जाती थी। १७ अक्टूबर को वे रोहट पहुंचे। स्वामीजी को आबूपर्वत की ओर ले जाया गया, जहां मार्ग में उन्हें डा. लछमनदास मिले। स्वामीजी का परिचय प्राप्त कर उन्होंने थोड़ा सा अमोनिया पानी में घोल कर तीन बार स्वामीजी को दिया। स्वामीजी ने आंखें खोलीं और कहा कि उन्हें किसी ने अमृत दिया है जिससे उनकी अचेतनता भी दूर हो गई और जिह्वा भी खुल गई। स्वामीजी ने प्रेम भरी दृष्टि से डाक्टर की ओर देखा। डा. लछमनदास स्थानान्तर होने के कारण अजमेर जा रहे थे, पर उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे आबू ही लौटकर स्वामीजी की सेवा करेंगे चाहे नौकरी रहे या चली जाये।

---

[१] आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास—साहनी, पृष्ठ १४४

[२] महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र द्वितीय भाग, पृष्ठ ३४४

[३] The Complete Works of William Shakespeare : Macbath, page 1109.

आबू पहुंचने से पहले स्वामीजी को दिन-रात ४० दस्त आते थे, वहां जाकर रात्रि में केवल तीन या चार ही रह गये। स्वामीजी को दूध में अरारोट दिया जाने लगा और उनकी दशा में सुधार होने लगा। डा. लछमनदास ने अपने ऑफिसर से स्वामीजी की सेवा करने के लिये छुट्टी मांगी पर उन्हें वह न दी गई, उन्होंने त्यागपत्र भी लिख दिया जिसे एक बार तो स्वामीजी ने ही फाड़ डाला, दुबारा लिखने पर उसे भी स्वीकार नहीं किया गया। उनके ऑफिसर डा. स्पेन्सर ने उन्हें अजमेर जाने के लिये विवश किया। डा. लछमनदास यही कह कर चले गये कि उन्हें यदि अजमेर ले आया जाये तो वे स्वामीजी की सेवा कर सकेंगे। डा. स्पेन्सर ने चिकित्सा का भार संभाला पर वह प्रारम्भ से ही प्रतिकूल पड़ा। यह भी संभव है कि उन्हें स्वामीजी की बीमारी समझ में न आई हो और यह भी संभव है कि उन्हें भी षड्यंत्र में सम्मिलित होने का आदेश मिला हो।

पुनः अजमेर को—२६ अक्टूबर को स्वामीजी को पुनः अजमेर ले जाया गया, स्वामीजी की इच्छानुसार अजमेर स्टेशन पर उनके लिये दही का प्रबन्ध किया गया, २-३ अंजली खाने पर ही उसने विष का सा कार्य किया। सामान्यतः दही अतिसार में लाभ करता है, पर स्वामीजी को एक ओर तो विष की गर्मी थी और दूसरी ओर ठण्डी हवा के कारण उनके फेंफड़ों पर न्यूमोनिया का प्रभाव हो गया था, अतः दही देना हानिकारक रहा। स्वामीजी को भिनाय की कोठी पर पहुंचाया गया और उसी समय डा. लछमनदास को बुलाया गया, उन्होंने देखते ही कहा कि स्वामीजी को न्यूमोनिया है और उन्होंने कुछ अपथ्य लिया है। दिन-रात के परिश्रम के बाद उनकी स्थिति कुछ सुधरी। डाक्टर का निर्देश था कि स्वामीजी को खुली हवा में बिल्कुल न रखा जाये और विष की गर्मी के कारण स्वामीजी ठण्डी हवा की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव करते थे। प्रतिषेध किये जाने पर भी वे अपना पलंग दरवाजे के पास डलवा देते थे और दरवाजे-खिड़की भी खुलवा लेते थे। स्वामीजी ने डाक्टर को कुछ दक्षिणा १२००) रु. दिलवानी चाही पर उन्होंने उत्तर दिया—"महाराज मेरे पास यदि धन होता तो मैं इतना धन आपके एक लोम पर निछावर कर देता।"[1] स्वामीजी ने उनसे यवनों के छल का वर्णन किया इससे प्रतीत होता है कि उन्हें सन्देह था कि अली मर्दान खां ने उन्हें औषधि में विष दिया है।

२९ अक्टूबर को लाहौर से पं. गुरुदत्त और लाला जीवनदास आ गये और उदयपुर से पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या भी आ गये। डा. लछमनदास की सेवा से एक बार पुनः कुछ स्वास्थ्य सुधार हुआ, पर स्वामीजी के शीतल वायु का पुनः सेवन करने के कारण स्थिति बिगड़ती ही गई। ३० अक्टूबर को डाक्टर लछमनदास ने भी कह दिया कि वह इलाज नहीं करेंगे, जो कुछ होना था उसे वे भली-भांति देख रहे थे और अपने कुपथ्य से स्वामीजी उस अन्त को निकट ला रहे थे। अजमेर के सिविल सर्जन डा. न्यूमैन को बुलाया गया। डा. लछमनदास की चिकित्सा के सम्बन्ध में सिविल सर्जन ने कहा—"यदि १० अंग्रेज डाक्टर भी मिल कर चिकित्सा करते तो इससे बढ़कर न कर सकते थे।" डा. न्यूमैन के निर्देश पर राई की खूब गरम-गरम पुलटिस स्वामीजी की पीठ पर लगाई गई। इस पर डा. लछमनदास ने पं. गुरुदत्त से

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३४८

कहा कि वैसे स्वामीजी दो-चार दिन और जीवित रह जाते परन्तु अब शीघ्र ही शरीरपात हो जायेगा। कुछ समय बाद स्वयं स्वामीजी ने कह दिया कि अब उनका अन्त समय है अतः सब उपचार छोड़ दिये जायें।

जीव मुक्ति—लाला जीवनदास के यह पूछने पर कि आप कहाँ हैं ?, स्वामीजी ने उत्तर दिया 'ईश्वरेच्छा' में। आत्मानन्द के सिर पर हाथ रख कर उन्हें आनन्द से रहने का स्वामीजी ने आशीर्वाद दिया। घोरतम कष्ट सहन करते हुए भी उनके मुख से एक बार भी हाय या अन्य कोई कष्टसूचक शब्द नहीं निकला, उन्हें तेज और अंधकार का भाव दिखाई दे रहा था।....सभी आगन्तुक व्यक्तियों को स्वामीजी ने अपने पीछे खड़ा करवा लिया तथा सभी द्वारों और गवाक्षों को खुलवा लिया। वार और पक्ष पूछने के बाद छत और दीवारों की ओर दृष्टि करके कई वेद मंत्र पढ़े। तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वरोपासना की और भाषा में ईश्वर का गुण कीर्तन किया, गायत्री मंत्र का पाठ कर समाधिस्थ रह कर ही आंखें खोल दीं और कहने लगे—"हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो, आहा !!! तैंने अच्छी लीला की।"[१] इतना कह कर वे लेट गये, स्वयं एक करवट ली और एक प्रकार से श्वास रोक कर उसे एकदम सदा के लिये बाहर निकाल दिया। इस प्रकार इस दैवीय विभूति की पार्थिव लीला समाप्त हुई, प्रभु का भक्त प्रभु के समीप ही पहुंच गया।

३१ तारीख को केले के पत्ते और पुष्पादि से उनकी अर्थी सजाई गई, वेदमंत्रों से आकाश को गुंजायमान करता हुआ और नयनों में गंगा-जमुना प्रवाहित करता हुआ, समस्त प्रदेशों से आया हुआ भक्त समूह जुलूस के रूप में नगर के गली-कूचों में चल दिया। उनके स्वीकार पत्र के अनुसार सामग्री जुटाई गई और संस्कारविधि के अनुसार उनका अंत्येष्टि संस्कार कर दिया गया। उनके पार्थिव शरीर ने भी अंतिम समय तक अबोध नगर को प्रकाश प्रदान किया, भक्तों को सुवासित किया और संभवतः उठता हुआ धूम्र अतिशीघ्र जोधपुर पहुंचकर षड्यंत्रकारियों के मुख को मलिन करने जा रहा था।

कुछ सम्मतियां—स्वामीजी की मृत्यु का समाचार दावाग्नि की तरह सारे देश में फैल गया, सभी समाचार पत्रों ने इस पर टिप्पणी की। उस समय तार और पत्रों की इतनी बहुतायत थी कि डाक तार विभाग वाले घबरा गये। 'देश हितैषी' पत्र ने लिखा, "स्वामीजी की मृत्यु पर शोक प्रकाशित पत्र और तार इतने आये कि यदि मैं उन्हीं को मुद्रित करता रहूं तो मेरे समाचार पत्र के लिये एक साल से भी अधिक होंगे।"[२] 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक बाल कृष्ण भट्ट ने लिखा,...."आर्यसमाज की बांह टूट गई। सरस्वती का भण्डार लुट गया। यह इन्हीं का काम था कि धर्म पुस्तक वेद का मनुष्य मात्र के लिये उपदेश किया, आज वह वेद का सूर्य सदैव लुप्त हो गया।"[3] 'बंगाली कलकत्ता' ने लिखा, "वह पूर्ण योगी थे और जैसा सर्वोत्तम ज्ञान उनमें आया वैसा कदाचित् ही किसी अन्य में देखने आये।"[४] प्रिन्सिपल डा. स्काट ने कहा,

---

[१] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३५३

[२] महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—चिम्मनलाल वैश्य, पृष्ठ २४०

[३] वही, पृष्ठ २४१-४२

[४] वही, पृष्ठ २४६

वर्तमान समय में संस्कृत का एक ही बड़ा विद्वान्, साहित्य का पुतला, वेदों के महत्त्व को समझने वाला अत्यन्त प्रबल नैयायिक यदि भारतवर्ष में हुआ तो वह महर्षि दयानन्द सरस्वती था।"[1] गांधीजी उनके अछूतोद्धार से प्रभावित थे तथा उनसे ईर्ष्या भी करते थे, "उनका चरित्र मेरे लिये ईर्ष्या और दुःख का भी विषय है— ईर्ष्या इसलिये कि मैं उनकी भांति ब्रह्मचारी न बन सका, दुःख इसलिये कि मैं उनका पूर्णतया अनुसरण नहीं कर सका।"[2] सर सैयद अहमद खां ने कहा— "वह इतने विद्वान् और अच्छे आदमी थे कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिये सम्मान पात्र थे। उनके समान व्यक्ति समूचे भारत में कोई नहीं मिल सकता।"[3]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें आधुनिक भारत का महान मार्गदर्शक माना है, सत्य के प्रति उनकी स्पष्ट दृष्टि और उनके साहस की सराहना की है, प्रसिद्ध इतिहासकार रघुनाथ सरकार ने उनके सम्बन्ध में कहा कि जब भी भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जायेगा, इस नंगे फकीर दयानन्द को उच्च स्थान दिया जायेगा, के. एम. मुंशी ने उनके चरित्र को महान तथा उनके पाण्डित्य को अति विशाल बताया है। मैकडानल, कर्नल स्काट, मैडम ब्लावट्सकी आदि विद्वानों ने उन्मुक्त कंठ से स्वामीजी के गुणों की प्रशंसा की है। ग्रन्थ की कलेवरवृद्धि के भय से हम उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे। इन सद्गुणों की गणना के अतिरिक्त चित्र का एक अन्य पक्ष भी है, निष्पक्षता की दृष्टि से उसका भी यहाँ कुछ विवेचन किया जाना आवश्यक है।

एक अंग्रेज विद्वान् फार्कुहर ने अपनी पुस्तक 'Modern Religious Movement in India' में स्वामीजी के तथा उनके आर्यसमाज पर कुछ आक्षेप किये हैं, जिनमें कुछ का स्तर अति निम्न तथा लेखक की मनोवृत्ति का परिचायक है। कुछ आक्षेप और विवेचना निम्न है—

(क) "In the first edition of Satyarth Prakash....he approved of beef eating under certain conditions, but in the second edition it is condemned." सत्यार्थप्रकाश में मांस भक्षण का प्रश्न तो उठाया गया है, पर उसमें कहीं भी 'गोमांस भक्षण' की चर्चा नहीं है। स्वामीजी ने उस संस्करण का संशोधन नहीं किया था, अतः लिपिकार अथवा मुद्रणपत्र संशोधकों ने धूर्ततावश "ऋषि के मन्तव्यों के विरुद्ध अनेक बातें सत्यार्थप्रकाश में मिला दीं।"[4] ज्ञात होने पर द्वितीय संस्करण में अशुद्ध बातों का संशोधन कर दिया। इसके बाद भी पुराने संस्करण के अशुद्ध उद्धरणों को देने में कौनसी बुद्धिमत्ता है?

(ख) सर बैलेण्टाइन चिरौल ने अपने (Indian Unrest, Page 109) पर स्वामीजी को 'Political Schemer' राजनैतिक योजना निर्माणक बताया है। फार्कुहर महोदय के गले में यह बात नहीं उतरी और उन्होंने लिखा—"This we believe to be complete mistake, although as we shall show, his unhealthy teachings has produced

---

१. महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—चिम्मनलाल वैश्य, पृष्ठ २५४

२. आर्यमित्र निर्वाणांक— २९-१०-६७, पृष्ठ १२

३. महर्षि दयानन्द—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १६३

४. सत्यार्थप्रकाश —सं. युधिष्ठिर मीमांसक—'सत्यार्थप्रकाश का ऐतिहासिक विवरण,' पृष्ठ २५

very unhealthy political fruits.[1] इतिहास साक्षी है कि स्वामीजी की शिक्षायें कितनी उचित थीं अथवा अनुचित और उनके क्या परिणाम निकले, किन्तु लेखक महोदय का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक था, उन्हें हर वस्तु अपने देशहित को दृष्टिगत करते हुए ही लिखनी थी, अतः उनसे इससे अधिक कुछ अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी।

(ग) "He had read with his blind teacher the best that Hindu literature contained on grammar and philosophy, but he had no complete Vedic education. The time he spent with Virajanand was unsufficient for this purpose. Hence, believing the Veda to God's knowledge, he necessarily concluded that corresponded with his own conviction"[1] जहां तक Complete शब्द का प्रश्न है, वह तो केवल भगवान् से ही सम्बद्ध है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि वेदों का जितना ज्ञान स्वामीजी को था, उतना उस समय के किसी भारतीय अथवा अभारतीय को नहीं था। स्वामीजी का तो जन्म ही एक वेदपाठी परिवार में हुआ था, अनेक गुरुओं से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की, अतः उन जैसे योगी तथा तपस्वी के लिये उतना समय ही पर्याप्त था, वेदों से पूर्णतः अपरिचित किसी विदेशी अथवा मूढ के लिये उतना समय अवश्य अपर्याप्त होता। यदि वेदों को 'ब्रह्मज्ञान' कहना स्वामीजी का अपना विश्वास था, तो इससे उनकी महत्ता कम न होकर बढ़ ही जाती है।

(घ) "Dayanand's translation reduces to nonsense"[2] वेदों को गडरियों के गीत समझने वाले उपमहाद्वीप के निवासी से इससे अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती। लेखक महोदय ने स्वयं तो वेद पढ़े नहीं। वेदों में अनेक देवताओं को मानने वाले भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों की सम्मति ही उसे अधिक रुचिकर प्रतीत हुई। जो व्यक्ति दयानन्द से शास्त्रार्थ में हार चुके थे, उन्हीं के वचनों को लेखक ने प्रामाणिक माना है।

(ङ) किन्हीं अग्निहोत्री महोदय का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा है कि स्वामीजी ने वार्तालाप करते हुए एक बार बताया था "His statement about the Veda were not matter of convictions, but of diplomacy,........Dayanand had been dead when the pamphlet appeared"[3] किसी की मृत्यु के ८ वर्ष बाद किसी के बारे में कुछ असंगत बात उड़ा देना हद दर्जे की बेईमानी है। इस तथाकथित पैम्फलेट को किन्हीं रामभजदत्त ने नष्ट कर दिया था, ऐसी निरर्थक बातों पर चर्चा करना ही समय नष्ट करना है।

(च) अपना ग्रन्थ लिखते-लिखते लेखक ने एक भविष्यवाणी भी की थी—"Yet there is no risk involved in prophesying that the Samaj will not have a great history....The false interpretation of The Vedas, on which the whole structure rests, will inevitably crumble as enlightenment proceeds"[4] आंख के

---

१. Modern Religious Movement in India, Page 115

२. वही, पृष्ठ ११८

३. वही, पृष्ठ ११९

४. वही, पृष्ठ १२७

अन्धे भी जानते हैं कि विद्वान् लेखक की भविष्यवाणी कितनी असत्य सिद्ध हुई है, भविष्यवक्ता भी दिवंगत हो गये, उनका साम्राज्य भी भारत से उन्मूलित हो गया और जिस संस्था की उन्होंने चर्चा की है, उनकी दुर्भावनाओं के बाद भी वह फली फूली है, उसने इतिहास निर्मित किया है, वेदों के ऋषिकृत भाष्य की ओर संसार का ध्यान जा रहा है और जागृति के आने के साथ उस संस्था की जन्म शताब्दी जोर शोर से मनाई जा चुकी है।

चरित्र-निरूपण—हमारा विश्वास है कि सृष्टि के प्रारंभ से वेद के 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उमे श्रियमश्नुताम्' का आदर्श उदाहरण या तो योगिराज श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत किया है अथवा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने। उन्होंने शंकर और तथागत की भांति गृह त्याग किया, अरविन्द के समान योग साधा, अपने उद्देश्य के लिये अभूतपूर्व तपस्या की और देशोद्धार के लिये अपने आपको लगा दिया। पूर्ण ब्रह्मचर्य भीष्म ने भी धारण किया पर अपने पिता की वासनापूर्ति के लिये, हनुमान ने भी किया पर अपने प्रभु को रिझाने के लिये, किन्तु दयानन्द ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, अपने देशवासियों के उद्धार के लिये। अहमन्यता को प्रश्रय न देकर उन्होंने सदा पक्षपात शून्य सत्याचरण को प्रश्रय दिया, चारों वेदों को अवतरित कर उनका द्वार समस्त मानवों के लिये खोल दिया, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का न केवल स्वप्न संजोया अपितु उसे क्रियारूप में भी परिणत किया। उनकी रचनाओं के गुणों को छोड़ कर यदि केवल विस्तार ही देखा जाय तो वह १०,००० पृष्ठों[1] तक पहुंचता है। "अपने युग के महत्तम वैदिक विद्वान् दयानन्द"[2] के सम्बन्ध में अरविन्द की यह उक्ति "दयानन्द की मंत्रों की व्याख्या इस विचार से नियंत्रित है कि वे धार्मिक नैतिक और वैज्ञानिक सत्य की एक पूर्ण ईश्वर प्रेरित शक्ति है"[3] सत्य है। अन्त में शंकर की भांति उन्होंने विषपान किया और उन्हीं की तरह अमर भी हो गये।

◆

---

[1] डिक्शनरी ऑफ नेशनल बायोग्रेफी, पृष्ठ ४०७

[2] वही, पृष्ठ ४०७

[3] श्री अरविन्द साहित्य खण्ड १०, पृष्ठ ६८

तृतीय अध्याय

हिन्दी तथा हिन्दी-इतर रचनाओं का परिचय

स्वामीजी की रचनाओं के सम्बन्ध में उल्लेख कई ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, पर सर्वत्र उनकी संख्या भिन्न है। वेदशास्त्र तालिका[1] में यह संख्या २८ है, आर्यसमाज के इतिहास[2] में यह ४७ तक पहुंच गई है। हिन्दी साहित्य कोश[3] ने उनकी ३८ रचनाओं का उल्लेख किया है। घासीरामजी[4] ने यह संख्या २२ प्रदर्शित की है और कर्त्तव्यदर्पणकार[5] ने २३। श्री छज्जूसिंह[6] ने केवल ९ रचनाओं की चर्चा की है और डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त[7] ने इनका विस्तार १७ तक किया है।

स्वामीजी की कुछ रचनायें ऐसी हैं जिनका उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होता है, पर वे उपलब्ध नहीं होतीं। कुछ ऐसी हैं जिनके अनेक भाग हैं, अतः कुछ लेखकों ने उनकी रचना एक पुस्तक के रूप में की है और कुछ ने उन्हें विभिन्न पुस्तकों के रूप में उल्लिखित किया है। कुछ रचनायें ऐसी हैं जिनका संशोधन स्वामीजी ने स्वयं किया है और कुछ का भार अपने सहायकों पर छोड़ दिया है। कुछ ऐसी भी रचनायें जो उनके निर्देशन में तैयार की गई हैं और कुछ का संस्कृत वाला भाग उनका है और हिन्दी वाला उनके सहायकों का। अतः रचनाओं की संख्या के सम्बन्ध में वैषम्य हो जाना स्वाभाविक है।

स्वामीजी के मुख्य एवं गौण, संस्कृत भाषा तथा आर्यभाषा के समस्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन संस्करण विशेषों का प्रयोग किया गया हैं, उनका उल्लेख भी परिचय के साथ है।

(१) **संध्या**—यह पुस्तक आगरा में सं. १९२० वि. में लिखी गई; पं. लेखरामजी के अनुसार "स्वामीजी के उपदेश से एक संध्या पुस्तक जिसके अन्त में लक्ष्मीसूक्त था और एक आने में बेची गई।"[8] प्रस्तुत पुस्तक सेठ रूपलाल ने प्रकाशित की थी, किन्तु आजकल कहीं उपलब्ध नहीं होती, अतः उसके आकार-प्रकार के संबंध में कोई जानकारी नहीं दी जा सकती।

---

[1] वेदशास्त्र तालिका—जियालाल वर्मा, पृष्ठ १३२

[2] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ३३३

[3] हिन्दी साहित्य कोश, भाग २—धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ २२८

[4] महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, भाग २—घासीराम, पृष्ठ ४२८

[5] कर्त्तव्य दर्पण—नारायण स्वामी, पृष्ठ ३४३

[6] लाइफ एण्ड टीचिंग्स ऑफ स्वामी दयानन्द—बाबा छज्जूसिंह, पृष्ठ १०९

[7] हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन—डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त, पृष्ठ १७

[8] महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—पं. लेखराम, पृष्ठ ५०

संध्या विषय स्वामीजी के अन्य ग्रन्थों, सत्यार्थप्रकाश,[१] संस्कारविधि[२] तथा पंचमहायज्ञविधि[३] में भी उपलब्ध होता है, पर उनमें कहीं भी लक्ष्मी-सूक्त का उल्लेख नहीं है।

(२) **भागवत खण्डन**—"श्रीमद्भागवत वैष्णव संप्रदाय का प्रधान ग्रंथ है। अत: इसका दूसरा नाम 'वैष्णवमतखण्डन' भी है।"[४] यह ग्रन्थ संवत् १९२३ में लिखा गया और आगरा[५] दरबार में १० नवम्बर सन् १८६६ से १९ नवम्बर सन् १८६६ तक हजारों की संख्या में वांटा गया। यह ट्रैक्ट ७-८ पृष्ठों का संस्कृत भाषा में था।[६] स्वामीजी की श्रीमद्भागवत में बिलकुल आस्था नहीं थी, वे 'भागवत' को भड़वा और मन्दिरों को अड्डा बतलाते थे[७] विष्णु दीक्षित पंडित ने जब स्वामीजी से श्रीमद्भागवत सप्ताह का माहात्म्य पूछा तो उन्होंने हंसकर उत्तर दिया—'दु:ख उठाने और क्लेश के अतिरिक्त कोई फल नहीं है।' वे इसके स्थान पर लोगों को गायत्री के पुरश्चरण का सुझाव देते थे। संवत् १९२१ में महाराजा जियाजीराव सिंधिया आलीशाह के द्वारा श्रीमद्भागवत सप्ताह मनाया गया। पहले दिन अनिष्ट के रूप में महारानीजी का पांच महीने का गर्भस्राव हुआ, दूसरे दिन रावजी शास्त्री के घर मृत्यु हो गई।[८] तीसरे दिन कोठी मण्डप के सामने एक सांड पर किसी ने खड्ग प्रहार किया। कथा के १० दिन पश्चात् नगर में हैजे का प्रकोप हुआ और कुछ दिन बाद छोटे महाराज की हैजे से मृत्यु हो गई। यह पुस्तक १८ × २२ के आठ पेजी आकार में ज्वाला प्रकाश प्रेस, आगरा में छपी थी।

(३) **अद्वैतमतखण्डन**—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' का प्रतिपादन करने वाला नवीन वेदान्त हिन्दुओं के बड़े-बड़े विद्वानों की भूमि रहा है। स्वामी शंकराचार्य ने अपने तर्कजाल से अनेक विद्वानों और भक्तों को इसमें उलझा दिया था। ज्येष्ठ संवत् १९२७ वि. में स्वामी दयानन्द ने इस मत पर प्रहार करने के लिये 'अद्वैतमतखण्डन' की रचना की। प्रसिद्ध जीवनीकार श्री घासीरामजी लिखते हैं—"इस बार दयानन्द ने इसी दुर्ग पर गोला बरसाया और उसके खण्डन में 'अद्वैतमतखण्डन' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की।"[९] यह ट्रैक्ट स्वामीजी ने 'कविवचनसुधा'[१०] नामक हिन्दी के मासिक पत्र में भाषा-अनुवाद सहित संस्कृत में मुद्रित कराया।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश २९वीं बार—दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ २३
२. संस्कारविधि २३वीं बार—दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ २०८
३. दयानन्द ग्रंथमाला—शताब्दी संस्करण, प्रथम भाग, पृष्ठ ८४९
४. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ १०
५. लार्ड लारेन्स का दरबार
६. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—लेखराम, पृष्ठ ७०
७. वही, पृष्ठ ६६
८. वही, पृष्ठ ५४-५५
९. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, प्रथम भाग—घासीराम, पृष्ठ २३१
१०. कविवचनसुधा जिल्द १ संख्या १४, १५ ज्येष्ठ सुदी १५ और आषाढ सुदी १५ संवत् १९२७ तद्नुसार १३ जून सन् १८७०, पृष्ठ ८७, ९०, ९२, ९६.

इस ट्रैक्ट के लिखने के पूर्व स्वामी दयानन्दजी भी जीव और ब्रह्म की एकता में विश्वास करते थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने स्वयं लिखा है—"अहमदाबाद से होता हुआ बडोदरे शहर में आकर ठहरा.......मैं ब्रह्म हूं, अर्थात् जीव—ब्रह्म एक है, मुझको ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने करा दिया....... वहां ठीक-ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूं।"[१] पर्याप्त अध्ययन और मनन के बाद उनकी धारणा में परिवर्तन हुआ और उपर्युक्त ट्रैक्ट में उन्होंने अद्वैतमत का बड़ा सबल खण्डन किया।

(४) गर्दभतापिनी उपनिषद्—अपने भाषणों में स्वामीजी कभी-कभी श्रोताओं का मनोरंजन किया करते थे। श्रोताओं के मनोरंजन के लिये उन्होंने "रामतापिनी, गोपाल-तापिनी" आदि उपनिषदों के सदृश एक 'गर्दभतापिनी उपनिषद्' बनाई थी और कभी-कभी उसके वचन सुनाकर श्रोताओं का मनोरंजन किया करते थे।[२] पं. घासीरामजी द्वारा सम्पादित जीवन चरित में लिखा है—

"स्वामीजी ने राम-तापिनी और गोपाल-तापिनी उपनिषदों की तरह एक गर्दभतापिनी उपनिषत् भी बना रक्खी थी, जिसमें से वह कभी-कभी वचन उद्धृत करके सुनाया करते थे।" (खेद है कि उसकी कोई लिपि नहीं रखी गई। यदि वह होती तो अवश्य ही उससे पाठकों का बड़ा मनोरंजन होता।)[३]

(५) सत्यार्थप्रकाश—बहुचर्चित सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ है। स्व. पं. गुरुदत्त विद्यार्थी ने इसको कम से कम १८ बार पढ़ा और हर बार उन्हें मन और आत्मा के लिये नवीन भोजन मिला।[४] श्री धर्मवीर प्रेमी ने इसे 'आर्यसमाज का बाइबिल'[५] कहा है। लाला हरदयाल ने इस ग्रंथ के सम्बन्ध में लिखा है—"इस महान् ग्रन्थ के अध्ययन से मेरी विचारधारा ही बदल गई। सोई हुई जाति के स्वाभिमान को जागृत करने वाला यह ग्रन्थ अद्वितीय है।"[६] डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त इस ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य का युग निर्माता कहने में अत्युक्ति नहीं समझते।[७]

सत्यार्थप्रकाश २९वां संस्करण (जिसका प्रस्तुत ग्रन्थ में उपयोग किया गया है) वैदिक यन्त्रालय, अजमेर द्वारा मुद्रित तथा प्रकाशित है और इसका कलेवर ९॥ ईंच × ७ ईंच के ३८६ पृष्ठों में समाया हुआ है। दयानन्द ग्रन्थमाला[८] शताब्दी संस्करण के प्रथम भाग में इसको समाविष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ के लिखवाने का श्रेय बनारस के तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर राजा जयकिशनदास को है। इस ग्रन्थ के लिखवाने और छपवाने का सारा भार

---

[१] ऋषि दयानन्द स्वरचित लिखित वा कथित जन्म चरित्र, पृष्ठ १८-१९

[२] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—यु. मी. पृष्ठ १५

[३] महर्षि दयानन्द का जीवनचरित, पहला भाग—घासीरामजी, पृष्ठ ३१६

[४] आर्योदय (सत्यार्थप्रकाश विशेषांक), पृष्ठ ६०

[५] नारायण अभिनंदन ग्रन्थ—धर्मवीर प्रेमी, पृष्ठ २९४

[६] आर्योदय (सत्यार्थप्रकाश विशेषांक), पृष्ठ ३६

[७] हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन—डा. ल. ना. गुप्त, पृष्ठ ७२

[८] दयानन्द ग्रंथमाला, श. सं. प्रथम भाग, पृष्ठ ७७ से ७९६ तक

उन्होंने अपने ऊपर लिया था। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रारम्भ वाराणसी में १२ जून सन् १८७४ शुक्रवार को हुआ था और इसकी पांडुलिपि को अंतिम रूप[१] अजमेर में दिया गया। इसको अनेक प्रकाशकों ने प्रकाशित किया है, अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है और इसके अनेक संस्करण निकले हैं। सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण से पूर्व ही पाठकों द्वारा उसकी मांग बहुत बढ़ गई थी, अतः प्रकाशन के पूर्व ही १२० पृष्ठ[२] वाला अंश स्वामीजी ने एक रुपये में बेचना प्रारंभ कर दिया था।

अनेक क्रांतिकारी विचारों के अतिरिक्त इसके प्रथम संस्करण में अंतिम दो समुल्लासों (अध्यायों) का समावेश नहीं किया जा सका था। ये दोनों समुल्लास जिनका सम्बन्ध ईसाई तथा यवन मत समीक्षा से था, अगले संस्करण में स्वामीजी के दिवंगत होने के पश्चात् ही सम्मिलित किये जा सके। कई व्यक्तियों ने यह सन्देह भी व्यक्त किया कि ये अंश स्वामीजी की रचना नहीं है। स्वामीजी के पत्र-व्यवहारादि से यह मिथ्या धारणा नितान्त निर्मूल ज्ञात होती है।

सत्यार्थप्रकाश आज जिस रूप में उपलब्ध होता है, उसको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध दश समुल्लासों[३] में विभक्त है और उत्तरार्द्ध चार में। पुस्तक की भाषा के संबंध में स्वामीजी ने स्वयं ही लिखा है "उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठनपाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा लिखने और बोलने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"[४] ग्रन्थ निर्माण का मुख्य प्रयोजन स्पष्ट ही है 'अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।'[५] स्वामीजी को अपने किसी सिद्धान्त या बात पर दुराग्रह नहीं था, सत्य को ग्रहण करने के लिये वे सदा उद्यत थे। "इस ग्रन्थ में जो कहीं भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा।"[६]

ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में अर्थात् प्रथम दश समुल्लासों में वैदिक धर्म का तार्किक एवं सप्रमाण प्रतिपादन किया गया है। शेष अंश में एतद्देशीय तथा विदेशीय मत की समीक्षा की गई है। सब समुल्लासों के प्रारंभ में वर्ण्य विषय के आधार पर कुछ शीर्षक दिये गये हैं, किन्तु प्रथम

---

[१] सार्वदेशिक साप्ताहिक, १३ अक्टूबर १९७४, पृष्ठ १

[२] सत्यार्थ प्रकाश आ. श. स. —यु. मी. —स. प्र. का. ऐ. वि., पृष्ठ २३

[३] अध्याय के अर्थ में समुल्लास (सम्यक्-उल्लास) का प्रयोग इसमें पूर्व कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में 'उल्लास' का प्रयोग अवश्य किया है।

[४] सत्यार्थप्रकाश, २९वीं आवृत्ति, भूमिका पृष्ठ १

[५] वही, भूमिका पृष्ठ २

[६] वही, भूमिका पृष्ठ २

समुल्लास में इस प्रकार का कोई शीर्षक नहीं दिया गया है। ऋग्वेद के "ओम् शन्नो मित्रः शं वरुण:"[१] मंत्र से इसका शुभारम्भ किया गया है। (स्वामीजी को यह मंत्र बहुत प्रिय प्रतीत होता है। उनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्याभिविनय'[२] का श्रीगणेश भी इसी मंत्र से हुआ है। 'उपदेशमंजरी'[3] के प्रथम प्रवचन के प्रारंभ में भी इसके दर्शन होते हैं।) स्वामीजी के मतानुसार भगवान के अनन्त गुण हैं, अतः उसके नाम भी अनन्त हैं। इस समुल्लास में कुल (१००) सौ नामों की चर्चा की गई है और व्याकरणानुसार उनकी व्युत्पत्ति भी प्रदर्शित की गई है। उनकी दृष्टि से परमेश्वर का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण नाम 'ओ३म्' है। इसकी सिद्धि उन्होंने 'अवतीत्योम्'[४] (रक्षा करने वाला) के रूप में की है। भक्त भगवान् से अपेक्षा करते हैं कि वह उनकी रक्षा करे, इसीलिये सभी मतों में भगवान् का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम इसका पर्यायवाची ही मिलता है। पं. हरिशरणजी सिद्धान्तालंकार के अनुसार ईसाइयों के GOD के मूल में भी 'गुड रक्षणे' धातु है और मुसलमानों का अल्लाह भी 'अलं' = वारण और 'ला' = प्राप्त कराना अर्थात् विघ्नों की निवारण की शक्ति का आदान किये हुए'[५] भी यही अर्थ द्योतित करता है। इन नामों की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण व्याख्या पं. विद्यासागरजी[६] ने 'अष्टोत्तर शत नाम मालिका' में प्रस्तुत की है।

द्वितीय समुल्लास में 'बालशिक्षा' का वर्णन किया गया है। पहले भाग्यवान् सन्तान की परिभाषा, उसकी प्राप्ति के उपाय तथा जन्मोपरान्त मां द्वारा करणीय कार्यों की चर्चा की गई है। प्रारंभिक सामान्य शिक्षा के बाद "जब पांच-पांच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराये।"[७] मां को चाहिए कि बच्चों को प्रारंभ से ही यह शिक्षा दें कि भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि कोई वस्तु नहीं है। स्वामीजी का जन्मपत्र तथा फलित ज्योतिष में कोई विश्वास नहीं है और जन्मपत्र को तो वे शोक पत्र[८] ही कहते हैं। लोक प्रसिद्ध लीला, रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि को वे महापामर कृत्य निर्दिष्ट करते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा और उसकी रक्षा के उपाय बच्चों को उसी समय से ही बता देने चाहिएं। अधिक लाड़-प्यार से बच्चे विगड़ जाते हैं, अतः यथासमय उनकी ताड़ना अवश्य करनी चाहिए। ये ताड़ना उनके जीवन के लिये अमृततुल्य होती है, किन्तु ये ताड़ना माता, पिता अथवा अध्यापक द्वारा कभी भी ईर्ष्या या द्वेष की भावना से नहीं की जानी चाहिए। अध्यापक बच्चों को सदा यह समझायें कि वे उनके गुणों का ही अनुकरण करें, अवगुणों का नहीं। जो माता-पिता अपने बच्चों को इसके विपरीत शिक्षा देते हैं, वे उनके शत्रु होते हैं।

---

१. ऋग्वेद 'हिन्दी भाष्य' १।९०।९, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४४८
२. दयानन्द ग्रन्थमाला, श. स. प्रथम भाग, पृष्ठ १
३. पूना प्रवचन अर्थात् उपदेश मंजरी —दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ १
४. स. प्र., पृष्ठ १
५. आर्योदय—सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, पृष्ठ १९
६. अष्टोत्तर शत नाम मालिका —विद्यासागर शास्त्री, पृष्ठ २५ से २२९ तक
७. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५
८. वही, पृष्ठ १६

तृतीय समुल्लास में अध्ययन तथा अध्यापन विधि की व्याख्या की गई है। विद्यार्थी कहां पढ़ें, विद्यालयों की कैसी व्यवस्था हो, गुरु द्वारा कैसी शिक्षा दी जाये, कौन से ग्रन्थ पढ़ाये जायें और किन्हें त्याज्य समझा जाये—इन सब विषयों का विशद् एवं पूर्ण विवरण इस समुल्लास में उपलब्ध होता है। इस विषय में स्वामीजी के मन्तव्यों की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ के 'चतुर्थ अध्याय' में की गई है।

चतुर्थ समुल्लास में समावर्तन, विवाह एवं गृहस्थाश्रम विधि की चर्चा की गई है। आचार्य कुल से पितृकुल में लौटकर आना ही समावर्तन है। विवाह केवल शादी (शाद होना=प्रसन्न होना) ही नहीं है, यह Marriage=(merry-making)=आनन्द मनाना भी नहीं है। अपितु यह 'विशेषेण वहनं' (विशेष रूप से किसी भार का वहन करना) एक कर्त्तव्य है। स्वामीजी के मतानुसार 'विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत, विद्या, बल को प्राप्त होके सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति के अर्थ होता है।'[1] इस समुल्लास में चर्चा की गई है कि विवाह करने का अधिकार किसे है, कौनसी कन्या विवाह योग्य होती है, विवाह का समय वा प्रकार कौनसा होता है, विवाह की दृष्टि से कौन कुल त्याज्य है? स्वामीजी के दृष्टिकोण से वर-वधू यथासंभव दूर देश के होने चाहिएं, उनमें समान गुण होने चाहिएं तथा उनका वर्ण भी गुण कर्मानुसार होना चाहिए। इन विषयों की पुष्टि के लिए उन्होंने 'मनुस्मृति' का पर्याप्त सहारा लिया है। उनके मतानुसार नक्षत्र नामवाली, नदी नामवाली, पर्वत नामवाली, पक्षी नाम वाली, भीषण नाम वाली का विवाह नहीं होना चाहिए। विवाह के लिए उपयुक्त कन्या 'न पीले वर्ण वाली, न अधिकांगी अर्थात् पुरुष से लम्बी, चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोम रहित, न बहुत लोम वाली, न बकवाद करनेहारी और भूरे नेत्र वाली होनी चाहिए।'[2] इसके बाद ब्राह्म आदि[3] आठ प्रकार के विवाहों की भी चर्चा की गई है और यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि उनमें कौनसा श्रेष्ठ और कौनसा निकृष्ट है।

इसके पश्चात् गर्भाधान, जात-कर्म आदि संस्कारों का वर्णन है, स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार, गृहस्थियों के कर्त्तव्य तथा पंच महायज्ञों का उपदेश किया गया है। प्रसंगवश पुनर्विवाह की भी चर्चा हुई है "जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह हो जाना चाहिए।"[4] द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिए। जो व्यक्ति अपने को संयत न रख सकें, उनके लिए स्वामीजी ने 'नियोग' का विधान किया है। यह नियोग केवल सन्तानोत्पत्ति के निमित ही किया जाना चाहिए, उसके पश्चात् 'नियुक्त स्त्री-

---

१. संस्कारविधि, २३वीं बार, पृष्ठ १२१-१२२

२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४७

३. वही, पृष्ठ ५५

४. वही, पृष्ठ ६८

पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।'[1] नियोग केवल आपत्काल की व्यवस्था है। विधवायें देवर के साथ नियोग कर सकती हैं क्योंकि "देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते।"[2] गृहस्थाश्रम को स्वामी ने श्रेष्ठ आश्रम माना है क्योंकि "गृहस्थ ही के आश्रम से सब आश्रम स्थिर रहते हैं, बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।"[3]

पंचम समुल्लास में वानप्रस्थ एवं संन्यास विधि का वर्णन किया गया है। वानप्रस्थ ग्रहण करने के समय के सम्बन्ध में वे कहते हैं—'जब गृहस्थ शिर के केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे।'[4] वानप्रस्थ मनुष्य को स्वाध्यायशील, जितात्मा, विद्या का दान देने वाला, दयालु तथा किसी से कुछ पदार्थ न लेने वाला होना चाहिए। वह अपनी पत्नी को साथ ले जा सकता है किन्तु "तथापि उससे विषय चेष्टा कुछ न करे, भूमि पर सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में बसे।"[5] ....७५वें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जाये। उस समय अपनी पत्नी को भी पुत्रों के पास भेज देवे। इसके अतिरिक्त भी मनुष्य को जब भी वैराग्य प्राप्त हो तो वानप्रस्थ से अथवा गृहस्थ से सीधा संन्यास ग्रहण कर सकता है। संन्यासियों को पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा पालन, परोपकार[6] आदि का व्यवहार करना चाहिए। संन्यासी को चलते समय अपनी दृष्टि पृथ्वी पर रखनी चाहिए, मद्य-मांसादि का सेवन उसके लिए वर्जित है, अधिकाधिक प्राणायाम उसका कर्त्तव्य है। 'जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है।'[7] संन्यास ग्रहण का अधिकार मुख्यतः ब्राह्मण को ही है। संन्यासियों को उपदेश करते हुए वेदादि शास्त्र विरुद्ध बातों, मृतक श्राद्ध आदि अन्य पाखण्डों का खण्डन करना चाहिए।

षष्ठ समुल्लास में स्वामीजी ने राजधर्म की व्याख्या की है। राजा होने का अधिकारी कौन है, तीन सभाओं[8] (विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा, राजार्य सभा) द्वारा शासन किस प्रकार चलता है, सभापति के गुण क्या हैं, सफल राजा कौन है, पार्षदों की संख्या कितनी होनी चाहिए, राज्यसभासद्, मंत्री तथा दूत किस प्रकार के हों आदि, सभी प्रश्नों के उत्तर इसमें हैं। इसके अतिरिक्त, राजा के कर्त्तव्य, राज्य रक्षा के प्रकार, राजा की दिनचर्या, कर ग्रहण की नीति, संधि आदि छः कर्म, संग्राम नीति, विवादास्पद विषयों का निपटारा आदि भी इसी के क्षेत्र में समाहित हो जाते हैं। स्वामीजी के अनुसार दण्ड व्यवस्था कठोर होना परमावश्यक है। वे लिखते हैं,

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ६९
[2] वही, पृष्ठ ७१
[3] वही, पृष्ठ ७५
[4] वही, पृष्ठ ७६
[5] वही, पृष्ठ ७७
[6] वही, पृष्ठ ७९
[7] वही, पृष्ठ ८१
[8] वही, पृष्ठ ८५

"जो दण्ड है वही पुरुष, राजा, वही न्याय का प्रचारकर्त्ता और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्णों और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है।"[१] दण्ड का प्रयोग सब प्राणियों के लिये समान नहीं होना चाहिए—जानकार अथवा ब्राह्मण को उसी अपराध पर शूद्र से कई गुना अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए। "जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे, अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए, मंत्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उनसे न्यून को सात सौ गुणा और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा...."[२] राजा एवं राजनीति विषयक विस्तृत चर्चा इस पुस्तक के पंचमाध्याय में की गई है।

सप्तम समुल्लास में स्वामीजी ने ईश्वर तथा वेद विषय की व्याख्या की है। वस्तुतः ईश्वर तथा वेद को एक दूसरे से पृथक् करना असंभव है। यदि एक मरीचिमाली है तो दूसरा उसकी भास्वर किरणें। ईश्वर विषय का विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के षष्ठ अध्याय में है, फिर भी संक्षेप में इतना तो कहा जा सकता है कि स्वामीजी की मान्यता के अनुसार आर्यसमाज के दूसरे नियम के रूप में "ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है।"[३] वेद विषय की चर्चा उनके 'वेद भाष्य' के प्रसंग में ही करना अधिक समीचीन होगा। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने से भी पापियों के पाप छूटते नहीं। इनका लाभ केवल इतना ही होता है—"स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानिता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।"[४]

अष्टम समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की विशद् विवेचना की गई है। पहला प्रश्न तो यही उठता है कि प्रकृति है क्या, इसका निमित्त कारण और उपादान कारण क्या था, यह जड़ है वा चेतन, यह नश्वर है वा अविनश्वर, छहों शास्त्रों में प्रकृति का जो स्वरूप है वह क्या परस्पर विरोधी है, आदि सभी प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर इस समुल्लास में दिये गये हैं। इसी प्रसंग में ये विषय में आ गये हैं कि आदि सृष्टि कहां हुई, इस देश का नाम आर्यावर्त्त कैसे पड़ा, आर्यावर्त्त की सीमा क्या थी, आर्यों और अनार्यों में क्या भेद था, आदि आदि। प्रकारान्तर से स्वदेशी और विदेशी राज्य की चर्चा भी आ जाती है और स्वदेश भक्ति से ओतप्रोत स्वामीजी का भावुक हृदय कह उठता है "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहना किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो

---

[१] सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ ८७

[२] वही, पृष्ठ १०५

[३] स. प्र. आवरण, पृष्ठ ३

[४] स. प्र., पृष्ठ १११

कुछ है सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है....कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।"[1]

नवम उल्लास में विद्या-अविद्या तथा बंधन-मोक्ष का विश्लेषण किया गया है। अविद्या अथवा अज्ञान बंधन का कारण है और विद्या मोक्षदात्री है। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि जीव मुक्तिसुख कैसे भोगता है तथा मुक्ति में जीव का किसी में लय नहीं होता तथा जीव की मुक्ति से पुनरावृत्ति भी होती है। मुक्ति के साधनों की भी इसमें चर्चा की गई है। इस विषय का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के षष्ठाध्याय में किया गया है। किन कर्मों से पुनर्जन्म में क्या फल मिलता है—इसका भी संक्षिप्त दिग्दर्शन इस समुल्लास में है। अत्यन्त तमोगुणी वृक्ष, सर्प, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं, मध्यम तमोगुणी हाथी, घोड़े, सुअर आदि का रूप धारण करते हैं, उत्तम तमोगुणी चारण, सुन्दर पक्षी तथा पिशाच में परिणत हो जाते हैं। उत्तम सत्वगुण वाले विविध विमानादि के बनानेहारे होते हैं। "जो उत्तम रजोगुणी हैं वे गन्धर्व, (गाने वाले) गुह्यक (वादित्र बजाने हारे), यक्ष (धनाढ्य), विद्वानों के सेवक और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूप वाली स्त्री का जन्म पाते हैं।"[2]

दशम समुल्लास का विषय है आचाराऽनाचार भक्ष्याऽभक्ष्य। 'यथा संख्यमनुदेशः समानाम्'[3] के अनुसार आचार का सम्बन्ध भक्ष्य पदार्थों से है और अनाचार का अभक्ष्य से। आचारयुक्त कार्यों के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं—"मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन रागद्वेष रहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से कर्त्तव्य जानें वही धर्म माननीय और करणीय है।"[4] धर्म के लक्षण भी इस समुल्लास में बताये गये हैं, इन्द्रिय संयम पर भी इसमें बल दिया गया है, वृद्ध पुरुषों की परिभाषा भी इसमें की गई है और देव पूजा की महत्ता भी इसमें दर्शाई गई है, सबसे अधिक बल इस बात पर दिया गया है कि विदेशयात्रा से आचार भ्रष्ट नहीं होता—"भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छ कुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचार भ्रष्ट धर्महीन नहीं होते किन्तु देशदेशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं!!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो और क्या है?"[5] पाकशाला की शुद्धि को वे आवश्यक मानते हैं पर खान-पान में छूतछात को वे देश के लिये अभिशाप समझते हैं। उनके मत में अभक्ष्य दो प्रकार का होता है अर्थात् धर्म-शास्त्रोक्त तथा वैद्यक-शास्त्रोक्त। मनुस्मृति के 'वर्जयेन्मधुमांसं च' में उनकी पूरी आस्था है।[6] मांसभक्षण के सम्बन्ध में अनेक आर्यसमाजी आज भी प्रश्नवाचक चिह्न लगाये हुए हैं, अतः इसका विश्लेषण इस पुस्तक के अष्टम अध्याय में पर्याप्त रूप से किया गया है। अंत में उच्छिष्ट भोजन के संबंध में चर्चा की गई है।

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १४१

[2] वही, पृष्ठ १६०

[3] अष्टाध्यायी २।३।५०

[4] स. प्र., पृष्ठ १६१

[5] वही, पृष्ठ १६५

[6] वही, पृष्ठ १६७

उपर्युक्त विवरण के साथ ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध सम्पन्न हो जाता है। उत्तरार्द्ध के चारों समुल्लासों के प्रारंभ करने के पूर्व उन्होंने एक-एक अनुक्रमणिका भी दी है। एकादश समुल्लास में भारतवर्ष में प्रचलित कुछ आस्तिक मत-मतान्तरों का खण्डन-मण्डन किया गया है। उनके दृष्टिकोण से वेदों की अप्रवृत्ति और नाना मतमतान्तरों के प्रसार का कारण महाभारत का युद्ध है। देश को एकसूत्रता में पिरोने के लिए उन्होंने इस कार्य का बीड़ा उठाया है, फिर भी जो उनसे असहमत है उनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं--"इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।"[1].... उनके कथनानुसार देश की अधोगति का सर्वप्रथम कारण स्वार्थी ब्राह्मणों का जाल है। मत-मतान्तरों के प्रादुर्भाव का 'प्रधान आधार महर्षि वेद-व्यास के नाम पर लिखे गये आधुनिक १८ पुराण हैं।'[2] उन्हीं के आधार पर मूर्त्तिपूजा, मृतक श्राद्ध आदि की पुष्टि की जाती है। रोम के पोपों का पाखण्ड प्रदर्शित करते हुए उन्होंने देशी पोपों पर भी जमकर प्रहार किया है। वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतों की इसमें आलोचना की गई है, वाममार्गियों की विषयासक्ति और लम्पटता का काफी विशद् वर्णन इसमें किया गया है। तथाकथित चक्रांकित आदि बाह्य-चिह्नों तथा विख्यात तीर्थों की वास्तविकता का भी इसमें दिग्दर्शन कराया गया है। हिन्दी साहित्य में प्रचलित कई मत कबीर मत, नानक पंथ, वल्लभ मत आदि की यथार्थता का भी इसमें बोध कराया गया है। समुल्लास के अन्त में आर्य राजाओं का इतिहास दिया गया है, जिन्होंने अनुमानत: ४१५७ वर्ष, ९ मास, १४ दिन तक राज्य किया।[3]

द्वादश समुल्लास में आर्यावर्त्त के ही नास्तिक मतों—चार्वाक बौद्ध, जैन आदि के मतों की विवेचना की गई है। समुल्लास के पूर्व में लिखी अनुभूमिका (२) में स्वामीजी ने लिखा है "वाल्मीकीय और महाभारतादि में जैनियों का नाम मात्र भी नहीं लिखा और जैनियों के ग्रन्थों में वाल्मीकीय और भारत में कथित 'रामकृष्णादि' की गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत पीछे चला।"[4] जैनियों के मत के विषय में लिखने में स्वामीजी को काफी श्रम करना पड़ा, "क्योंकि ये लोग (जैनी) अपने पुस्तकों को किसी अन्य मत वाले को देखने, पढ़ने वा लिखने को भी नहीं देते।"[5] इस समुल्लास में क्रमश: चार्वाक, बौद्ध और जैन मत की समीक्षा की गई है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो बौद्ध और जैन को एक ही समझते हैं। स्वामीजी का निश्चित मत है कि मूर्त्तिपूजा का प्रचलन जैनियों से ही हुआ "इसी से हम कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा जैनियों से चली है।"[6] अन्य विषयों के अतिरिक्त जैनियों के केशलुंचन, मुख पर पट्टी बांधना, उष्ण जल पान, जैन दया तथा असंभव आयुमान आदि की भी विस्तृत चर्चा इसमें की गई है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७१

२. ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इति हास —युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ३७

३. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २५३

४. वही, पृष्ठ २५५

५. वही, पृष्ठ २५५

६. वही, पृष्ठ २८४

त्रयोदश समुल्लास में जगत्प्रसिद्ध ईसाई मत की समीक्षा की गई है। इस बाइबिल के मत में स्वामीजी ने यहूदी आदि मतों का भी समावेश कर लिया है। अनुभूमिका (३) में स्वामीजी पुनः घोषणा करते हैं—"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है न किसी को दुःख देने का वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।"[१] स्वामीजी बाइबिल की भाषा से परिचित नहीं थे, अतः उन्हें अपना आधार अनुवादों को बनाना पड़ा, उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—"इस पुस्तक के भाषान्तर बहुत से हुए हैं जो कि इनके मत में बड़े बड़े पादरी हैं उन्होंने किये हैं, उनमें से देवनागरी वा संस्कृत भाषान्तर देखकर मुझको बाइबिल में बहुत सी शंका हुई....।"[२] वैसे बाइबिल के कुछ अंश का अनुवाद संभवतः स्वामीजी महाराज ने भी करवाया था।[३]

"ईसाई लोग बाइबिल को ईश्वरीय ज्ञान मानने का दावा करते हैं।"[४] 'न्यू टेस्टामेन्ट' में यीशु मसीह से जन्म से लेकर मृत्यु तक की चर्चा है। उनका जन्म कुमारी मरियम के गर्भ से हुआ था। कई लेखक तो ऐसा मानते हैं कि ईसा नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं था—"Some critics go so far as to suppose that there never was any historical Jesus at all."[५] बाइबिल में अनेक बातें विज्ञान विरुद्ध लिखी हैं यथा—"पृथ्वी का बेडौल होना, भूमि की धूल से आदम का बनना"[६] "आदम की पसली से नारी का निर्माण, लूत की दोनों बेटियों का अपने पिता से गर्भिणी होना,"[७] "सूर्य चौथे दिन और वनस्पति जगत् का तीसरे दिन उत्पन्न होना।"[८] आदि। स्वामीजी के अनुसार 'इनकी बाइबिल में लाखों बातें खण्डनीय है।'[९] अतः वे इस पुस्तक को न तो परमेश्वर कृत मानते हैं और न मानवीय।

चतुर्दश अथवा अंतिम समुल्लास में यवन मत की समीक्षा की गई है। "जो कुरान अर्बी भाषा में है, उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है, उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य भाषान्तर कराके पश्चात् अर्बी के बड़े विद्वानों से शुद्ध करवा के लिखा गया है।"[९] इस ग्रन्थ के और विशेषतः इस समुल्लास के लिखने के उद्देश्य को स्वामीजी एक बार पुनः स्पष्ट कर देते हैं—"क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वादविवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है न कि इनको बढ़ाने के अर्थ।"[१०] सत्यार्थप्रकाश का यह अंश सर्वाधिक विवादास्पद

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २९८
२. वही, पृष्ठ २९८
३. ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास —यु. मी., पृष्ठ ४०
४. आर्योदय—स. प्र. अंक, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १४२
५. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ २९
६. स. प्र., पृष्ठ ३००
७. वही, पृष्ठ ३०६
८. आर्योदय—स. प्र. अंक उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १५२
९. स. प्र. अनुभूमिका (४) पृष्ठ ३३६
१०. वही, पृष्ठ ३३६

रहा है और अनेक बार इसको जप्त करने के प्रयत्न भी किये गये हैं। इस्लाम के अनुसार कयामत का दिन १४वीं सदी में आता है और संयोगवश सत्यार्थप्रकाश में कुरान की समीक्षा भी १४वें समुल्लास में है, अतः दोनों में बादरायण सम्बन्ध जोड़ लेना असम्भव नहीं है।

हिन्दुओं की भांति इस्लाम में भी अनेकों सम्प्रदाय हैं जिसकी संख्या ३३ कही जाती है।[1] यह निर्णय भी अभी तक नहीं हो पाया है कि कुरआन की आयतों की संख्या कितनी है, उनमें से कितनी मक्की (मक्का में उतरने वाली) और कितनी मदनी (मदीना में उतरने वाली) हैं ? प्रथम आयत कहां उतरी, यह प्रश्न भी अभी विवादास्पद है। बाइबिल की भांति इसमें भी अनेकों विज्ञान-विरुद्ध बातों का समावेश है यथा आसमान की छत, 'हो जा' कहने मात्र से सृष्टि, खुदा का उधार मांगना, आदम का मिट्टी से बनना, जगत् की ६ दिन में रचना, सूर्य का चश्मे में डूबना, कयामत के दिन मुर्दों का उठना, पहाड़ों का चलना, ५० हजार वर्ष का दिन, तारों का झड़ना, दरिया का चीरना, आदि। इस्लाम के अनुसार मनुष्य को पापों का दण्ड नहीं मिलता, किन्तु तोबाः करने से उन्हें क्षमा कर दिया जाता है, "इसी से मुसलमान लोग पाप और उपद्रव करने में कम डरते हैं।"[2] स्वामीजी का निश्चित विश्वास है कि यह पुस्तक न तो ईश्वर की बनाई हुई है और न किसी विद्वान् की। वे लिखते हैं—"मुझ से पूछो तो यह किताब न विद्वान् की बनाई और न विद्या की ही हो सकती है।" समुल्लास के अन्त में कुरआन की शैली पर लिखी एक 'अल्लोपनिषद् की चर्चा है जिसमें 'अल्लोरसूलमहामदरकबरस्य'[3] की भी चर्चा है। कुछ इस्लाम भक्त कहते हैं कि यह उपनिषद् अथर्ववेद के आधार पर है, किन्तु अथर्ववेद में पैगम्बर का नाम तक नहीं है।

ग्रन्थ के अन्त में स्वामीजी ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः' के रूप में अपने ५१ मन्तव्यों की सूची दी है। अंतिम पृष्ठ पर आर्यसमाज के दस नियम दिये गये हैं। 'भक्तिदर्पणकार' ने साधारण भाषा जानने वालों को 'इस ग्रन्थ का अध्ययन निम्नक्रम,से करने का परामर्श दिया है— भूमिका, दूसरा, दशम, ग्यारहवां, चौथा, पांचवां, छठा, तेरहवां, चौदहवां, तीसरा, सातवां, आठवां, बारहवां, नवां और अंत में प्रथम समुल्लास।'[4] पं. गुरुदत्त इस पुस्तक के संबंध में कहा करते थे—"यदि सत्यार्थप्रकाश का मूल्य हजार रुपया होता तो भी मैं उसको अपनी जायदाद बेच कर मोल ले लेता।"[5]

(६) **पंचमहायज्ञविधि**—पुस्तक का पूरा नाम सन्ध्योपासनादिपंचमहायज्ञविधि है। दयानन्द ग्रंथमाला शताब्दी संस्करण के प्रथम भाग के पृष्ठ ८४९ से ८९० तक इसका कलेवर सन्निहित है। इसमें ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या), देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ तथा अतिथियज्ञ आदि पांच महायज्ञों का समावेश है। पुस्तक के प्रारंभ में स्वामीजी ने स्वयं लिखा है—'यह पुस्तक

---

[1] कुरआन परिचय, प्रथम खण्ड—पं. देव प्रकाश, पृष्ठ ६३४ से ६३७

[2] स. प्र., पृष्ठ ३७२

[3] वही, पृष्ठ ३८१

[4] भक्ति दर्पण राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ ७६

[5] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—पं. लेखराम, पृष्ठ १०९५

नित्यकर्मविधि का है इसमें पंचमहायज्ञ का विधान है।'[1] उनके अनुसार एकान्त देश में अपने आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके उस कर्म में चित्त लगा के तत्पर होना चाहिए। पुस्तक में पहले मंत्र दिये गये हैं, फिर उनकी संस्कृत में व्याख्या की गई है। तत्पश्चात् भाषार्थ दिया गया है। संध्या के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं—"(संध्यायन्ति) भलीभांति ध्यान करते हैं व ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें वह संध्या, सो रात और दिन के संयोग समय दोनों संध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।"[2] विधि के रूप में मनुष्यों को कम से कम तीन प्राणायाम करने चाहिए फिर आचमनादि मंत्रों की प्रक्रिया। इस पुस्तक में स्वामीजी ने ईश्वर के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों की चर्चा की है। संध्योपासना के बाद दूसरे महायज्ञ अर्थात् अग्निहोम अथवा देवयज्ञ का वर्णन है। यज्ञकुण्ड सोना, चांदी, तांबा, लोहा अथवा मिट्टी का बनवाया जा सकता है, उसका निश्चित परिमाण भी वर्णित किया गया है। समिधायें कौन से वृक्ष की हों, घृत में क्या-क्या पदार्थ मिलाये जायें, आहुति का न्यूनतम परिमाण क्या हो आदि विषयों की इसमें स्पष्ट चर्चा है, फिर अग्निहोत्र विधि का वर्णन है। अधिक होम करने की इच्छा हो, 'जहां तक इच्छा हो वहां तक स्वाहा अन्त में पढ़ कर गायत्री मंत्र से होम करें।'[3]

तीसरा महायज्ञ पितृयज्ञ है। इसके दो भेद हैं, एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। इन दोनों ही शब्दों का आजकल दुरुपयोग किया जाता है, अतः स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया है—'तर्प्पण उसे कहते हैं जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार उन लोगों को श्रद्धा से सेवन करना है, सो श्राद्ध कहाता है।"[4] यह तर्प्पण और श्राद्ध जीवित व्यक्तियों का ही हो सकता है मृतकों का नहीं। 'जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे ही देव कहलाते हैं, जो अध्यापन और अध्ययन का कार्य करते हैं वे ऋषि कहाते हैं, जो सत्य विज्ञानदान से जनों का पालन करते हैं वे पितर हैं।'[5] इसके अतिरिक्त पिता, पितामहादि, माता, मातामहादि तथा अन्य अवस्थावृद्ध एवं ज्ञान वृद्ध लोगों का भी सम्मान करना चाहिए। चौथा महायज्ञ बलिवैश्वदेव है। इसको खारे और लवणरहित पक्वान्न भोजन से ही किया जाना चाहिये। इस यज्ञ के बाद 'माता-पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिये।"[6] इसके अतिरिक्त कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये छः भाग अलग-अलग बांट के दे देना चाहिये। पंचम महायज्ञ अतिथियज्ञ है। अतिथि का तात्पर्य है "जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल कपट रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं उनको अतिथि कहते हैं।"[7] ऐसे अतिथि को गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स., प्रथम खण्ड, पृष्ठ ८४९
२. वही, पृष्ठ ८५०
३. वही, पृष्ठ ८७५
४. वही, पृष्ठ ८७७
५. वही, पृष्ठ ८८३
६. दयानन्द ग्रन्थमाला श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ ८८८
७. वही, पृष्ठ ८८९

नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठाके पश्चात् जल वा अन्य वस्तुओं से सम्मान करें तथा अपने इष्ट मित्रों सहित उसके उपदेश से अपने को कृतार्थ करें ।

(७) वेदान्तिध्वान्तनिवारण—'अद्वैतमतखण्डन'[१] के लगभग साढ़े चार वर्ष बाद स्वामीजी ने 'वेदान्तिध्वान्तनिवारण' नामक पुस्तक लिखी । पं. घासीरामजी के अनुसार 'इस ग्रन्थ में नवीन वेदान्त के मत का अच्छी प्रकार विवेचन किया गया है ।'[२] आश्चर्य की बात यह है कि इस पुस्तक को स्वामीजी ने पं. कृष्णराम इच्छारामजी (जो कि घोर अद्वैतवादी थे)[3] से लिखवाया । इस पुस्तक का रचनाकाल कार्तिक सं. १९३१ है तथा इस पुस्तक के आदि या अन्त में कहीं पर भी स्वामीजी के नाम का उल्लेख नहीं है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पुस्तक स्वामीजी कृत नहीं है क्योंकि हेनरी एस. ऑल्काट को लिखे पत्र में उन्होंने वर्णित किया है ।

"ये च मया वेदभाष्य-सन्ध्योपासनार्याभिविनय-वेदविरुद्धमतखण्डन वेदान्तिध्वान्तनिवारण-सत्यार्थप्रकाश-संस्कारविध्यार्योद्देश्यरत्नमालाख्या ग्रन्था निर्मिता ।"[४] इस पुस्तक की भाषा बहुत अशुद्ध थी और उसके मुम्बापुरी संस्करण का कुछ संशोधन मुंशी समर्थदान ने किया था । इस पुस्तक का समावेश दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण में नहीं है ।

(८) वेदविरुद्धमतखण्डन—यह पुस्तक कार्तिक-मार्गशीर्ष १९३९ में निर्मित की गई । इसका समावेश दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण द्वितीय भाग पृष्ठ ७७१ से लेकर पृष्ठ ८१४ तक किया गया है । पुस्तक के प्रारम्भ में शीर्षक दे रखा है—'अथ वल्लभादिमतस्थान्प्रतिप्रश्नाः खण्डनं च ।[५] मूल पुस्तक संस्कृत में है और इसमें प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया किया गया है । मूलभाषा पर्याप्त सरल है । आधे पृष्ठ पर संस्कृत का अंश है और शेषार्द्ध पर पं. भीमसेन शर्मा द्वारा किया गया अनुवाद है । पुस्तक का प्रभाव इतना हुआ कि कई "वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी महर्षि के जीवन के ग्राहक बन गये थे, उन्होंने महर्षि के प्राणहरण करने के लिये अनेक प्रयत्न किये थे ।"[६] इस पुस्तक का गुजराती भाषा में अनुवाद स्वामीजी के प्रमुख शिष्य श्यामजीकृष्ण वर्मा ने किया था । ग्रन्थ में कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य का भी प्रयोग किया गया है—"यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आपके शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुंचती है उतने समय में उतनी दूर आपका शरीर हमको पहुंचा देवे तो भावना ठीक नहीं तो मिथ्या ?"[७] इस प्रसंग में स्वामीजी ने 'गोसाई' शब्द का अर्थ भी बड़ा मौलिक कियाहै । 'गो नामक पशुगुणयुक्त साई शब्द मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो....।'[८]

---

१. प्रस्तुत पुस्तक, पृष्ठ ६४

२. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, भाग २—पं. घासीरामजी, पृष्ठ ४२९

३. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास,—युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ६०

४. वही, पृष्ठ ६१

५. दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स., द्वितीयभाग, पृष्ठ ७७१

६. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास,—युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ६३

७. दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ७८३

८. वही, पृष्ठ ८०६-८०७

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण—इस पुस्तक का समावेश दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण के द्वितीय भाग में है। इसका विस्तार पृष्ठ ८१५ से ८२९ तक है। इसको पुस्तक के स्थान में ट्रैक्ट कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्वामीजी के युग में 'स्वामीनारायणमत' का बहुत प्रचार था। इस मत के प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द कृत एक पुस्तक 'शिक्षापत्री' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस पुस्तक का खण्डन किया गया है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार "इस ग्रन्थ का दूसरा नाम स्वामीनारायणमत-खण्डन भी है।[1] किन्तु शताब्दी संस्करण में स्वामीनारायणमत-खंडन के नाम से एक अलग ग्रन्थ दिया हुआ है। वास्तविकता यह है कि स्वामीजी का मूलग्रन्थ संस्कृत में था। इसका अनुवाद 'वेदविरुद्धमतखण्डन'की भांति उसी पृष्ठ पर नहीं दिया गया है। संस्कृत का पूरा अंश एक साथ दे दिया गया है और उसका शीर्षक दिया गया है—'शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्'। अनुवाद शीर्षक अलग से 'स्वामीनारायणमत-खण्डन' के नाम से दिया गया है। हिन्दी अनुवाद संस्कृत से न करके गुजराती-अनुवाद से किया गया है। गुजराती अनुवाद महर्षि ने स्वयं करवाया था। इस ग्रन्थ के प्रचार की विशेष आवश्यकता गुजरात में थी, अतः उस भाषा में अनुवाद किया जाना उपयोगी ही था। गुजराती अनुवाद श्यामजीकृष्ण वर्मा ने किया था, किन्तु हिन्दी के अनुवादक का नामोल्लेख उपलब्ध नहीं होता। भाषानुवाद कहीं-कहीं साहित्यिकता की सीमा को लाँघ गया है—"श्रीकृष्ण ने खुद ही वेद वाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है सो सहजानन्दजी को भ्रम हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम है यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यह सहजानन्द का शरमा के डूब मरना जैसा है।"

(१०) **आर्याभिविनय**—दयानन्द ग्रन्थमाला का शुभारम्भ ही इस ग्रन्थ से होता है। इसका विस्तार ७६ पृष्ठों तक हुआ है। ग्रन्थ की उपक्रमणिकाविचार के अनुसार "संवत् १९३२ मिति चैत्री सुदी १० गुरुवार के दिन इस ग्रन्थ का आरम्भ" किया गया है।[2] सब मनुष्यों से अपेक्षा की गई है कि वे परमेश्वर और उसकी आज्ञा के विरुद्ध कभी न हों। ग्रन्थ का उद्देश्य उनके निम्न शब्दों में द्योतित होता है—"इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों के स्वरूप का ज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे जिससे नास्तिक और पाखण्ड-मतादि अधर्म में मनुष्य न फंसे।" पं. युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार यह ग्रन्थ अपूर्ण है—"इस ग्रन्थ के केवल दो प्रकाश छपे हैं,जिनमें से प्रथम में ऋग्वेद के ५३ मंत्र और द्वितीय में यजुर्वेद के ५४ मंत्र तथा तैत्तिरीय आरण्यक का एक मंत्र है।"[3] स्वामीजी इसमें चार प्रकाश और लिखना चाहते थे क्योंकि उन्होने अपने एक पत्र में लिखा है—

> "आर्याभिविनय के दो अध्याय तो बन गये हैं और चन्द आगे बनने के हैं।"[4]

---

[1] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ६५

[2] आर्याभिविनयोपक्रमणिका विचार—श. स. प्रथम भाग, पृष्ठ २

[3] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ६९-७०

[4] ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—भगवद्दत्तजी, पृष्ठ ३३

ग्रन्थ का प्रारम्भ स्वामीजी ने अपने प्रिय मंत्र 'ओम् शंनोमित्र शंवरुणः '[१] से किया है। हिन्दुओं में परम्परा के अनुसार १०८ की संख्या को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह भी विचित्र संयोग है कि सम्मिलित मंत्रों की संख्या १०८ है, प्रथम मंत्र में भगवान् के जो विशेषण दिये गये हैं--उनकी संख्या भी १०८ है[२] और सत्यार्थप्रकाश के प्रथम सम्मुल्लास में प्रदत्त नामों की व्याख्या करते हुए पं. विद्यासागरजी ने भी १०८ नाम[3] प्रगणित किये हैं। समस्त भारतीय साहित्य के विषय में तो निश्चित नहीं, पर हिन्दी साहित्य में प्रथम बार ही किसी भक्त ने भगवान् के इतने सार्थक विशेषणों का प्रयोग एक साथ किया है।

इन मंत्रों की व्याख्या में स्वामीजी का सुधारक का रूप कम है और उनके भक्तियुक्त हृदय का परिचय अधिक है। वे लिखते हैं-—"प्राणप्रिय! यह आपका सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना, यही आपका स्वभाव हमको अत्यन्त सुखकारक है, आप मुझको ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये जिससे सब दुःख दूर हों, हमको सदा सुख हो रहे।"[४] वे भगवान् से दुष्टों के विनाश की प्रार्थना करते हैं और स्थान-स्थान पर उनकी लेखनी स्वदेश, स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य तथा देशप्रेम के वर्णन में लीन हो जाती है —"स्वदेश सुखसंपादनादि गुणों में,[५] चक्रवर्ती राजाओं की नीति को कृपादृष्टि से प्राप्त करो,[६] भगवन्! हम पर सहायता करो जिससे सुनितियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े,[७] चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य से,[८] स्वराज्य का बढ़ाने वाला है,[९] हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुख से प्राप्त कर अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को प्राप्त हो,"[१०] आदि। प्रस्तुत ग्रन्थ में परमेश्वर के स्वरूद और गुणों की तो चर्चा है ही, प्रसंगवश उसकी १६ कलाओं का भी वर्णन है। लोक में प्रचलित कलाओं से ये सर्वथा भिन्न हैं। इनके नाम हैं—"ईक्षण (विचार), प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य (पराक्रम), तप (धर्मानुष्ठान), मन्त्र (वेदविद्या), कर्मलोक (चेष्टा स्थान) और लोकों में नाम।"[११]

(११) संस्कारविधि—इस ग्रन्थ का समावेश यद्यपि दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण के द्वितीय भाग में है तथापि प्रस्तुत प्रबंध के लिये वैदिक यंत्रालय द्वारा मुद्रित २३वीं आवृत्ति

---

[१] दयासन्द ग्रन्थमाला प्रथम भाग, आर्याभिविनय, पृष्ठ १
[२] वही, पृष्ठ १-२
[३] अष्टोत्तरशत नाममालिका—विद्यासागर शास्त्री, पृष्ठ १०
[४] आर्याभिविनय—श. स. प्रथम भाग, पृष्ठ ५
[५] वही, पृष्ठ ११
[६] वही, पृष्ठ १३
[७] वही, पृष्ठ १३
[८] वही, पृष्ठ २३
[९] वही, पृष्ठ २५
[१०] वही, पृष्ठ २८
[११] वही, पृष्ठ ४९

का प्रयोग किया गया है। इसका विस्तार ७'' × ४$\frac{3}{४}$'' के ३०० पृष्ठों में हैं। सत्यार्थप्रकाश की भांति इसकी गणना भी स्वामीजी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में की गई है। इस ग्रन्थ का श्रीगणेश विक्रमीयसंवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्णपक्ष ३० शनिवार के दिन किया गया था।[1] यह इस ग्रन्थ का सरल तथा संशोधित संस्करण है, वह केवल विद्वानों के लिये ही नहीं अपितु सर्वसाधारण के लिये भी है। मंत्रों का व्याख्यान न करके इसमें 'यहां तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है, जिसे करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं।'[2] इस ग्रन्थ का लेखन कार्य बम्बई में प्रारम्भ हुआ था और १ माह ८ दिन में[3] सम्पन्न हुआ। ये संस्कार मनुष्य को आचारवान् बनाने के लिये किये जाते थे, अतः उस युग में ''तभी वे संसार में धर्मात्मा, तपस्वी और सत्य पर चलने वाले मनुष्य उत्पन्न कर सकते थे। आज स्कूलों, कॉलेजों, बोर्डिंग हाउसों, विद्यार्थी-आश्रमों और अनेक संस्थाओं के होते हुए भी मानव जाति के बच्चे विद्वान् तो बन रहे हैं किन्तु पूर्ण आचारवान् नहीं। एकमात्र समाज के बच्चों को आचारवान् बनाने के लिए यदि कोई सर्वोत्तम साधन था तो वह षोडश संस्कार ही थे।''[4]

संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं कि यह संख्या अधिक से अधिक अड़तालीस और न्यून से न्यून १६ है।[5] किन्तु कुछ स्थानों पर यह संख्या इससे कम भी है। पृष्ठ ८० पर दी गई तालिका से यह स्पष्ट हो जायेगा कि किन-किन गृह्यसूत्रों में यह संख्या कितनी थी? ये संस्कार मनुष्यमात्र के लिये हैं, 'किसी विशेष जाति वालों के लिये वा मतवालों के निमित्त (संस्कारविधि)नहीं बनाई गई।'[6] 'संस्कारविधि' में प्रयुक्त बालक वा पुत्र का अर्थ सामान्यतः शिशु या संतान है। वैदिक संस्कार बालक-बालिका दोनों के लिये समान रूप से विहित हैं।[7] सामान्यतः संस्कार घर पर ही किये जाने चाहियें, यदि सुविधा न हो तो किसी सार्वजनिक प्रार्थना-मंदिर, धर्मशाला में किया जा सकता है।

'संस्कारविधि' में संस्कारों से पूर्व 'सामान्य प्रकरण' दिया गया है जिसमें ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना के मंत्र (अर्थ सहित), स्वस्तिवाचन, शांतिप्रकरण देने के उपरान्त, यज्ञदेश, यज्ञशाला, यज्ञकुण्डपरिमाण, यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य, स्थालीपाक, यज्ञपात्र, ऋत्विग्वरण आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रथम संस्कार गर्भाधान है, इस विधि का प्रमुख आश्रय वैद्यकशास्त्र है, ''इसलिए गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रयविशेष लेना

---

१. संस्कारविधि २३वीं आवृत्ति—दयानन्द सरस्वती, भूमिका पृष्ठ-क

२. वही, पृष्ठ-ख.

३. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ८३

४. संस्कारचन्द्रिका—हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ १४

५. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ७९

६. संस्कार समुच्चय—मदनमोहन विद्यासागर, पृष्ठ ३

७. वही, पृष्ठ ५

महर्षि कृत निश्चित	आश्वलायन गृह्यसूत्र	कौष्यीतकी (शाखायन) गृह्यसूत्र	पारस्कर गृह्यसूत्र	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र	मानव गृह्यसूत्र	गोभिल गृह्यसूत्र	जैमिनी गृह्यसूत्र	खादिर गृह्यसूत्र	कौशिक	गोपथ ब्राह्मण	मनुस्मृति
गर्भाधान	२	२	२	२	५	२	२	२	२	२	१	१
पुंसवन	३	३	३	३	७	४	३	३	३	—	२	—
सीमन्तोन्नयन	४	५	४	४	६	३	४	४	४	—	३	—
जातकर्म	५	६	५	५	८	५	५	५	५	—	४	२
नामकरण	६	—	६	६	—	६	७	६	७	३	५	३
निष्क्रमण	—	—	७	—	—	७	६	—	६	५	६	४
अन्नप्राशन	७	७	८	७	—	८	—	७	—	४	७	५
चूड़ाकर्म	८	८	९	८	९	९	८	८	८	७	९	६
कर्णवेध	—	—	१०	—	—	—	—	—	—	—	—	—
उपनयन	९	१०	११	१०	१	११	९	९	९	८	१०	७
वेदारम्भ	१०	११	१२	११	२	१२	१०	११	१०	९	—	९
समावर्त्तन	१२	१२	१४	१२	३	१३	१२	—	—	—	११	१०
विवाह	१	१	१	१	४	१	१	१	१	१	—	११
वानप्रस्थ	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	१२
संन्यास	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	१३
		गर्भरक्षण										
अन्त्येष्टि	१३	४	—	—	—	—	—	—	—	१०	—	१४
	केशान्स	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
	११	९	१३	९	१०	१०	११	१०	११	६	८	८
१६	१३	१२	१४	१२	१०	१३	१२	११	११	१०	११	१४

वेदशास्त्र तालिका, पृष्ठ ८५-८६

चाहिए।''[1] द्वितीय संस्कार पुंसवन है। इस संस्कार का समय गर्भस्थिर ज्ञान हुए समय से दूसरे या तीसरे महीने में है।[2] सत्यार्थप्रकाश के अनुसार यह समय चौथे महीने में है।[3] तृतीय संस्कार 'सीमन्तोन्नयन' है जिसका उद्देश्य 'गर्भिणी का मन सन्तुष्ट, आरोग्य, गर्भस्थिर उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे।'[4] यह संस्कार गर्भमास के सातवें-आठवें महीने में शुक्लपक्ष में[5], किसी दिन किया जाना चाहिए। चतुर्थ संस्कार 'जातकर्म' है। स्वामीजी ने लिखा है 'जब प्रसव समय आवे तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करें।'[6] यह कार्य कौन करे, इस विषय में ग्रन्थकार मौन है। संस्कार चन्द्रिका के कर्ता ने लिखा है कि यह कार्य पति[7] द्वारा किया जाना चाहिए और 'संस्कार समुच्चय' के अनुसार यह कार्य गर्भिणी की माता वा अन्य किसी विदुषी स्त्री[8] के द्वारा किया जाना चाहिए। जलमार्जन की इस विधि को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान[9] भी स्वीकार करता है ''गर्भिणी के मुख और हाथों पर ठण्डा पानी स्पन्ज द्वारा लगायें, संस्कार के मध्य पिता सोने की शलाका को घृत और मधुयुक्त करके बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखे, उसे दाहिने कान में 'वेदोऽसीति' कहे। घी और मधु के लिये यहां बराबर शब्द लिखा है—बराबर का अर्थ है यहां यथोचित (१ : ३) क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार सम मात्रा में मिलाया हुआ यह पदार्थ विष हो जाता है।''[10] पंचम संस्कार का नाम 'नामकरण' है जिसे १२वें १०२वें दिन अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, उस दिन किया जाना चाहिए। पुत्र का नाम दो अक्षर वाला अथवा चार अक्षर का होना चाहिए, कन्याओं का नाम एक, तीन या पांच अक्षर वाला रखना चाहिए।[11] नाम का उच्चारण सुख से होना चाहिए और उसमें मधुरता भी होनी चाहिए[12] और यह नामकरण पिता द्वारा ही किया जाना चाहिए। षष्ठ संस्कार निष्क्रमण है, 'कोमल शरीर के बच्चों को बाहर हवा खाने के लिए जाना, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।'[13] अच्छा समय देखकर अथवा चौथे महीने में तो बालक को अवश्य बाहर घुमाना चाहिए। सप्तम संस्कार 'अन्न प्राशन' है। यह संस्कार तभी किया जाना चाहिए जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य हो जावे। इस दिन बच्चे को घृतुयुक्त भात, दही तथा शहद मिलाकर खिलाना चाहिए। सामान्यतः बच्चे छठे से लेकर नवें महीने में अन्न पचाने योग्य हो जाते हैं और उसके नीचे के दो दांत निकलने प्रारम्भ हो जाते हैं। अष्टम संस्कार है 'चूडा कर्म' इसे केशच्छेद और मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। इसे तीसरे वर्ष वा प्रथम वर्ष में करना चाहिए। 'पूना प्रवचन' के अनुसार ''मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के कारण जो मैल जमता है वह दूर होवे, इसलिए इस संस्कार

---

[1] संस्कारविधि, पृष्ठ ३०

[2] संस्कारविधि, पृष्ठ ४६

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५७

[4] वही, पृष्ठ ४९

[5] संस्कार-समुच्चय, पृष्ठ १५३

[6] संस्कारविधि, पृष्ठ ५३

[7] संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ २४२

[8] संस्कार-समुच्चय, पृष्ठ १६४

[9] Family Medicine Muir William (संस्कार चन्द्रिका, पृष्ठ २४२)

[10] संस्कारसमुच्चय, पृष्ठ १६७

[11] संस्कारविधि, पृष्ठ ६५

[12] पूना प्रवचन, पृष्ठ ७८

[13] वही, पृष्ठ ७९

की योजना की गई है।"[1] नवम संस्कार 'कर्णवेध' है—इसके प्रारम्भ में ही लिखा है 'कर्ण वेधो वर्षे तृतीय पंचमे वा'[2] इसकी व्याख्या करते हुए हिन्दी में लिखा गया है 'बालक के वर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे या पांचवें वर्ष का उचित है।'[3] मूल प्रमाण में नासिका का प्रयोग नहीं है और व्यवहार में भी इसका सम्बन्ध केवल बालिकाओं से है, बालकों से नहीं। शृंगार के अतिरिक्त इसका कोई अन्य उद्देश्य भी नहीं है। 'संस्कार चन्द्रिका' के रचयिता इसको अनुपयोगी तथा प्रक्षिप्त[4] मानते हैं। कर्णवेध केवल एक अन्ध परम्परा नहीं है, किन्तु यह कई रोगों के लिए प्रतिषेधक तथा निवारक का कार्य करता है। एक प्रसिद्ध यूनानी हकीम का कथन है—"यदि एक वर्ष के अन्दर यह कर्णवेध किया जावे तो अण्डकोष के रोग, नामर्दी, बांझपन तथा बच्चों के पसली रोग तक दूर हो सकते हैं।"[5] बनारस के डाक्टर भगवानदास डी. लिट् को यह शंका है कि आर्यों का कर्णवेध और मुसलमानों का बतना एक ही वस्तु थे। वे सम्भावना करते हैं, "क्या पूर्वकाल में भारत में कर्ण का लिंगच्छेद भी और 'कर्णवेध' का अर्थ उसका छेदन तो नहीं था?"[6] अपनी आशंका को पुष्ट करने के लिए उन्होंने भाषा विज्ञान तथा वात्स्यायन के कामसूत्र का भी आश्रय लिया है, किन्तु उनकी यह धारणा वेद अथवा शास्त्रों पर आधारित नहीं है, अतः उनकी कल्पना केवल कल्पना बनकर ही रह जाती है।

दशम संस्कार है 'उपनयन'। इसका नाम यज्ञोपवीत अथवा व्रतबंध भी है। अन्य अनेक संस्कारों के लुप्त होने पर भी किसी न किसी रूप में यह अब भी अवशिष्ट है। इसका उद्देश्य न जानते हुए भी अनेक लोग इसका उपयोग करते हैं, दुरुपयोग करने वालों की भी कमी नहीं है। कुछ लोग इसका उपयोग चावियां बांधने के लिए करते हैं, कुछ इसका उपयोग मलमूत्र त्याग के समय कान पर चढ़ा कर करते हैं। महाकवि 'शूद्रक' ने 'मृच्छकटिकम्' नाटक में 'शर्विलक' के मुख से इसके अनेक उपयोग बताये हैं—

"एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गमेतेन मोचयति भूषण संप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीट भुजगैः परिवेष्टनं च॥"[7]

यही लेखक इसी ग्रन्थ में नायक चारुदत्त के मुख से यज्ञोपवीत की महिमा दूसरे रूप में वर्णित करता है—"यह मोती अथवा सोने का न होकर भी ब्राह्मणों का आभूषण है। इसी के द्वारा देवताओं तथा पितरों का भाग दिया जाता है।'[8] उक्त धारणा से व्यक्त होता है कि इसका अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था, किन्तु स्वामीजी द्विज मात्र को इसके पहिनने का अधिकारी मानते हैं। "जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के बालक का, जन्म वा गर्भ के ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें

---

[1] पूना प्रवचन, पृष्ठ ७९
[2] संस्कारविधि, पृष्ठ ७६
[3] वही, पृष्ठ ७६
[4] संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ ३२३
[5] वही, पृष्ठ ३२३
[6] पुरुषार्थ—डा. भगवानदास, पृष्ठ ४०१
[7] मृच्छकटिकम्—सं. आर.डी. कर्मारकर, पृष्ठ ८९
[8] मृच्छकटिकम्—सं. आर. डी. कर्मारकर, पृष्ठ २९९

वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें।"[1] भिन्न वर्षों के लिये इसके किये जाने का समय भी भिन्न है। सामान्यतः 'ब्राह्मण का बसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें।'[2] किन्तु आवश्यकता होने पर यह सब ऋतुओं में हो सकता है—समय प्रातःकाल का ही होना चाहिये।

इस यज्ञोपवीत को 'परम पवित्र' माना गया है और इसका दूसरा नाम उपनयन भी है। उपनयन का तात्पर्य है पास पहुंचना अर्थात् शिष्य का आचार्य के पास पहुंचना। "पुराने समय में स्कूल में गया, इसके स्थान में यह कहते थे कि बालक का उपनयन हुआ, अर्थात् वह आचार्य के पास गया।"[3] इस संस्कार के लिये जो विभिन्न विधान हैं, उसमें एक सूर्य दर्शन भी है। बालक को सूर्य के समान ही तेजस्वी, आलस्य रहित और सुखकारक बनना है। वेद के शब्दों में 'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'[4] उसके जीवन का उद्देश्य है। गुरु-शिष्य के इस मिलन अवसर पर गुरु शिष्य से प्रतिज्ञा मंत्र 'ओंममव्रते' बुलवाता है जिसका अभिप्राय है "हे शिष्य बालक! तेरे हृदय को मैं अपने व्रत के अधीन करता हूं, तेरा चित्त मेरे अनुकूल सदा रहे, तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ को सेवन किया कर....।"[5]

यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं जो क्रमशः देव ऋषि तथा पितृऋण के प्रतीक हैं। इन ऋणों का उतारना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। पंडित हरिदत्त शास्त्री के अनुसार क्षत्रिय के यज्ञोपवीत का सूत्र सन् का होना चाहिये (वीरगुण की प्रधानता के कारण) वैश्य का ऊन (कोमलता तथा दयाभाव के कारण) और ब्राह्मण का कपास के तागे की (धैर्यवाह तथा शान्त होने के कारण)।[6] ब्रह्म सूत्र के ये तीन सूत्र वेद के तीन काण्डों अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान के भी प्रतीक हैं। मानसिक, कायिक और वाचिक तीन प्रकार की उन्नति के भी वाचक हैं। इन सूत्रों को सम्बद्ध करने वाली ग्रन्थि को छूकर पहले भी और आज भी प्रतिज्ञा की जाती है। जिस प्रकार आजकल अनुचित आचरण आदि के कारण व्यक्तिविशेष से विश्वविद्यालय की डिग्री वापिस ले ली जाती है, इसी प्रकार आवश्यकता होने पर यज्ञोपवीत को भी छीन लिया जाता था। "यदि ठीक-ठीक विद्या-सम्पादन न हुई तो चाहे ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी।"[7]

यज्ञोपवीत का प्रयोग वैदिक धर्मियों के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बी भी करते हैं। 'पारसी लोग व रोमन कैथोलिक पादरी लोग भी अपना यज्ञोपवीत वस्त्र के ऊपर ही धारण करते हैं।"[8] महाभारत में वृद्ध द्रोणाचार्य का वर्णन करते हुए 'ततः शुक्लांवरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्'[9] कहा गया है। इस विद्याचिह्न का प्रयोग केवल पुरुषों के लिये ही नहीं है, स्त्रियों को

---

१. संस्कारविधि-पृष्ठ ७७-७८ २. वही, पृष्ठ ७८
३. संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ ३३५
४. ऐतरेय ब्राह्मण ३३-३-१५—(वैदिक साहित्य—रामगोविन्द त्रिवेदी) पृष्ठ १४२
५. संस्कार-समुच्चय, पृष्ठ २३१-२३२ ६. संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ ३५३
७. पूना प्रवचन, पृष्ठ ७९ ८. संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ ३४६
९. वही, पृष्ठ ३४६

भी इसको धारण करने का समान अधिकार है। और तो और संस्कृत के प्रसिद्ध कथाकार महाकवि वाणभट्ट ने भी अपनी 'कादम्बरी' में 'महाश्वेता' का वर्णन करते हुए उसे 'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीवृतकायाम्'[1] से विभूषित किया है।....प्रश्न शेष रह जाता है कि इस ब्रह्मसूत्र का उपयोग द्विजों द्वारा ही क्यों किया जाये, शूद्र को इसका अधिकार क्यों न दिया जाये ? उत्तर भी स्पष्ट ही है—"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यपद के अधिकारी को उपनयन संस्कार की आवश्यकता होती है, शूद्र बनाने के लिये उपनयन संस्कार की आवश्यकता नहीं।"[2]

एकादश संस्कार है 'वेदारम्भ'। इसमें 'गायत्री मंत्र से ले के सांगोपांग चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण किये जाते हैं।'[3] जो दिन उपनयन संस्कार का होता है वही वेदारम्भ का भी होता है। यदि यह किसी कारण उस दिन सम्पन्न न किया जा सके तो एक वर्ष के अन्दर ही किसी दिन किया जाना चाहिये। यज्ञ के उपरान्त बालक को आचार्य द्वारा गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता है, हृदयस्पर्शपूर्वक बालक तथा आचार्य व्रत पालन की प्रतिज्ञा करते हैं। तत्पश्चात् बालक को उसके वर्णानुसार प्रथम बनाकर रखी हुई 'ब्राह्मण को मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुष संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला दी जानी चाहिये।'[4] यह मेखला "(१) निन्दायुक्त वचनों को हटाने वाली, (२) भगिनी के तुल्य सौभाग्यवती, (३) सुन्दर, चिकनी कोमल (४) वर्णभाव को पवित्र करने वाली,(५) प्राण, अपान वायु को ठीक रखने से वल देने वाली होती है।"[5] बूढ़ी माताओं का विश्वास है कि इसके बांधने से आंतों के रोग नहीं होते। यूरोप में इसका स्थान पेटी (Belt) ने ले लिया है, मुसलमानों में यह कार्य पाजामे के नाड़े या कमरवन्द से किया जाता है। स्त्रियां भी अपनी साड़ी, लहंगे आदि नाभि के नीचे मेखलास्थान पर ही बांधती हैं। बालक को दो शुद्ध कौपीन भी दी जाती हैं। इसके धारण करने से वीर्य रक्षा में सहायता मिलती है। चलने, फिरने, दौड़ने, श्रम वा व्यायाम करने से अंगविशेष सुरक्षित रहता है।[6]

इसके पश्चात् बालक को पिता द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम का सादा उपदेश दिया जाता है, जो कि विद्यार्थी की सर्वांगीण उन्नति के लिये आवश्यक है। इस संबंध में मुख्य रूप से त्याज्य एवं विधेय निम्न कार्य हैं—"दुष्टकर्मों को छोड़ धर्मयुक्त कर्म किया कर। दिन में शयन कभी मत कर।"[7] आठ प्रकार के मैथुन छोड़ देना।—मांस, रूखा, शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे—तैलादि से अंगमर्दन, उबटना, अति खट्टा अमली आदि, अति तीखा लालमिर्ची आदि, कसैला हरड़े आदि क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर।'[8] आदि आदि। आजकल सभी विश्वविद्यालयों में स्नातकों को दीक्षान्त अभिभाषण Convocation Address दिया जाता है जो प्रायः 'वेदमनूच्याचार्यो[9] के रूप में तैत्तिरीयोपनिषद्

---

१. कादम्बरी—हरिदास सिद्धान्तवागीश-चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४५४
२. संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ ३५४
३. संस्कारविधि, पृष्ठ ८६
४. वही, पृष्ठ ९०
५. संस्कारचन्द्रिका, पृष्ठ ३८१
६. वही, पृष्ठ ३८३
७. संस्कारविधि, पृष्ठ-९२
८. वही, पृष्ठ ९३
९. तैत्तिरीयोपनिषद्—नारायण स्वामी, पृष्ठ ३६

का एकादश अनुवाक है। कितनी विचित्र स्थिति है कि विद्यार्थियों को 'दीक्षा' तो दी नहीं जाती और उसका अन्त अवश्य कर दिया जाता है। 'वेदारम्भ संस्कार' एक प्रकार से विद्यार्थियों का 'दीक्षारम्भ' संस्कार ही है। वेद का अध्ययन मुख्य होने के कारण ही इस संस्कार का नाम 'वेदारम्भ' है। वेद के विषय में स्वामीजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि, "जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, व जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है।"[1]

द्वादश संस्कार का नाम है 'समावर्तन'। समावर्तन' का शाब्दिक अर्थ है लौटना—"जो ब्रह्मचर्यव्रत, सांगोपांग वेदविद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह विधान पूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय छोड़ के घर की ओर जाना।"[2] शिक्षा समाप्त कर आये हुए इस स्नातक का स्वागत दधिप्राशन और क्षौरकर्म आदि से किया जाता है। इसी अवसर पर वह मेखला तथा दण्ड का त्याग करता है। उसे नवीन वस्त्र धारण कराये जाते हैं और अलंकरणों से उसे विभूषित भी किया जाता है। इसी अवसर पर उसे 'उपानह, पादवेष्टन, पगरक्खा' पहिनने का भी अधिकार प्राप्त हो जाता है।

त्रयोदश संस्कार का नाम है 'विवाह संस्कार'। और संस्कारों के लुप्तप्राय हो जाने पर भी इसका महत्त्व उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त हो रहा है। पृष्ठ ८० पर प्रदर्शित तालिका के अनुसार अधिकांश ग्रन्थकारों ने इसे प्रथम संस्कार ही माना है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध कहानीकार श्री कमलाकान्त वर्मा ने न जाने किस आधार पर इसे बारहवां संस्कार[3] समझा है। उन्होंने न केवल अपनी कहानी का शीर्षक 'बारहवां संस्कार' रखा है अपितु अपनी पुस्तक का नामकरण भी यही किया है।[4] स्वामीजी के अनुसार "विवाह उसको कहते हैं जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत, विद्या, बल को प्राप्त होके सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति के अर्थ होता है।"[5] यह संस्कार जिस दिन प्रसन्नता हो उस दिन किया जाना चाहिए। "विवाह के समय वर-वधू दोनों ही सज्ञान और विवाह की इच्छा करने वाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्यौढ़ी और अधिक से अधिक दुनी होवे।"[6] जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, उसके साथ ही वर का विवाह किया जाना चाहिये। जिस कुल में उत्तम क्रिया करने वाले तथा उत्तम पुरुष न हों, जिस कुल के व्यक्ति विद्वान् न हों, जहां शरीर पर बड़े-बड़े रोम हों, जहां बवासीर, राजयक्ष्मा, अग्निमान्द्य, मृगी, श्वेतकुष्ठ अथवा गलितकुष्ठ जैसी व्याधियां हों वहां विवाह नहीं किया जाना चाहिये। स्वामीजी ने ब्राह्म आदि आठ प्रकार के विवाह की यहाँ

---

[1] संस्कारविधि, पृष्ठ १०८

[2] वही, पृष्ठ ११४

[3] संस्कारविधि के अनुसार विवाह संस्कार का क्रम १३वां है किन्तु 'पूना प्रवचन' में कर्णवेध को सम्मिलित न किये जाने के कारण विवाह का क्रम १२वां ही आता है।
(पूनाप्रवचन, पृष्ठ ८०)

[4] बारहवां संस्कार—कमलाकान्त वर्मा, पृष्ठ ९

[5] संस्कारविधि, पृष्ठ १२१-१२२

[6] संस्कारविधि, पृष्ठ १२२

विस्तृत चर्चा की है। स्वामीजी के मतानुसार कन्या का विवाह किसी कुपात्र के साथ कभी नहीं किया जाना चाहिये। "चाहे मरणपर्यन्त कन्या पिता के घर में बिना विवाह के भी बैठी रहे, परन्तु गुणहीन, असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करें।"[१] कन्या का विवाह जितना दूर देश में हो, उतना ही लाभप्रद होता है। स्वामीजी स्वयंवर विवाह के पक्ष में है और बाल-विवाह का वे प्रबलतम शब्दों में विरोध करते हैं। वैवाहिक सम्बन्ध "गुण कर्मों के अनुसार होना चाहिये, जन्ममात्र से नहीं।"[२] प्रातः-सायं अथवा परदेश से लौटने पर पति-पत्नी को एक दूसरे को नमस्कार करना चाहिये। स्त्री को पति के चरणस्पर्श, पादप्रक्षालन तथा आसन आदि भी देना चाहिये।

वाग्दान विधि—सगाई—कुडमाई तथा विवाह संस्कार आचार्य कुल अथवा अपने घर दोनों स्थानों में से कहीं भी किया जा सकता है। विवाह संस्कार से पूर्व किये जाने वाले कुछ आवश्यक एवं मुख्य कार्य निम्न हैं—

(क) वर के वधू के घर पहुंचने पर, वधू द्वारा वर का वाणी तथा आसन (विष्टरः) द्वारा सम्मान किया जाना।

(ख) पैर धोने के लिये जल से सत्कार करना।

(ग) वर के मुखप्रक्षालन के लिये अर्घजल देना।

(घ) आचमन के लिये जल द्वारा सत्कार।

(ङ) मधुपर्क से सत्कार। "मधुपर्क उसको कहते हैं जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है, उसका प्रमाण बारह तोले दही में चार तोले शहद अथवा चार तोले घी मिलाना चाहिये और मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है।"[३]

(च) गोदान—कन्या "वर को विनती करके अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे।"[४]

(छ) वर द्वारा वधू को उपवस्त्र दिया जाना और वधू द्वारा उस उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करना।

(ज) कन्यादान—कार्यकर्त्तागण वर को सभामण्डप स्थान पर ले जाकर शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठायें। वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावें और नियत मंत्र बोलकर अलंकृत कन्या को स्वीकार करने की प्रार्थना वर से करें और "वर का हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर रख के उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना।"[५]

संस्कार प्रारम्भ होने के पूर्व वर और कन्या मण्डप स्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए आवें और दोनों 'ओ३म् समञ्जन्तु' प्रतिज्ञा मंत्र बोलें। मंत्र का अर्थ है कि—"विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक दूसरे को स्वीकार करते हैं कि हमारे दोनों के हृदय जल के समान शान्त और मिले

---

[१] संस्कारविधि, पृष्ठ १२७-२८
[२] वही, पृष्ठ १३२
[३] संस्कारचन्द्रिका, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ५
[४] संस्कारविधि, पृष्ठ १४०
[५] वही, पृष्ठ १४१

हुए रहेंगे।"[1] होम करने के बाद वर अपने वामहस्त से वधू के दाहिने पाणि को ग्रहण करे, इसके बाद चार मंगलप्रदक्षिणायें की जायें, फिर वधू का दक्षिण पग उठवा कर शिलारोहण करवाया जाये, तत्पश्चात् लाजाहोम तथा वेणीमोचन की विधि सम्पन्न की जाये। "तत्पश्चात् सभामण्डप में आके सप्तपदी विधि का आरम्भ करे, इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी, इसे जोड़ा कहते हैं।"[2] इसके बाद वधू विधिपूर्वक वर के मस्तक पर जलाभिषेचन करें, फिर सूर्यावलोकन, वर द्वारा वधू का हृदयस्पर्श किया जाये, वर और वधू ध्रुव तथा अरुन्धती का दर्शन करें। होम से शेष रहे भाग में घृत डाल कर वर-वधू उसका भोजन करें। अन्त में पितृ कुल से कन्या की विदाई करवाई जाये। पति कुल में पहुंचने पर वधू का स्वागत किया जाये तथा उसे आशीर्वाद दिये जायें। अन्त में "दोनों वधू वर, वर के माता-पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें।"[3]

अगला संस्कार 'गृहाश्रम संस्कार' वर्णित किया गया है। संस्कारविधि के दोनों टीकाकारों हरिदत्त शास्त्री तथा मदनमोहन विद्यासागरजी ने अपने ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया है। पृथक् संस्कार के रूप में इसकी गणना करने से संस्कारों की कुल संख्या षोडश न होकर सप्तदश हो जायेगी। अतः इस प्रसंग में इसको 'विवाह संस्कार' में ही अन्तर्मुक्त कर लिया गया है। 'अन्य बातों के अतिरिक्त धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करना'[4] भी इसका प्रधान लक्ष्य है। इस प्रकरण में पति-पत्नी को आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिये अत्यधिक लाभप्रद उपदेश दिये गये हैं जिनमें विषयासक्ति का परित्याग, वस्त्राभूषण धारण करना, गाय आदि पशुपालन, प्रमादी न होना आदि प्रमुख है। गृहस्थी में किये जाने वाले अन्य आवश्यक कार्य (सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र, पितृ-बलिवैश्वदेव तथा अतिथि यज्ञ आदि) का विवरण दिया गया है। इसके बाद शालाकर्म की चर्चा है, चार वर्णों के लक्षण, सभा स्वरूप लक्षण आदि की भी चर्चा की गई है। स्वामीजी के दृष्टिकोण से संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार (विवाह + गृहाश्रम) ही है क्योंकि इनका विस्तार 'संस्कारविधि' के ४२ प्रतिशत अंश में किया गया है।

चतुर्दश संस्कार 'वानप्रस्थ' है। 'श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ में आश्रम अवश्य करना चाहिये।'[5] गृहस्थियों को श्वेत केश हो जाने पर तथा पौत्र उत्पन्न हो जाने पर वन का आश्रय लेना चाहिये। पन्द्रहवां संस्कार 'संन्यास' है। इन दोनों संस्कारों का विशद् वर्णन प्रस्तुत पुस्तक के सप्तम अध्याय में दिया गया है।

अंतिम संस्कार है 'अन्त्येष्टि'। इसके 'आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध'[6] आदि नामों से अभिहित किया जाता है। स्वामीजी के मतानुसार ग्यारहवीं, तेरहवीं, पिण्डदान, गयाश्राद्ध आदि असत्य वस्तुयें हैं। किसी के मृत हो जाने पर पुरुष को पुरुषों द्वारा और स्त्री को स्त्रियों द्वारा स्नान कराना चाहिये। तत्पश्चात्

---

१. संस्कारचन्द्रिका, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १०

२. संस्कारविधि, पृष्ठ १६०

३. वही, पृष्ठ १७६

४. वही, पृष्ठ १७७

५. संस्कारविधि पृष्ठ २४८

६. वही, पृष्ठ २९०

चन्दनादि सुगंधित पदार्थों का लेपन कराके नवीन वस्त्र धारण कराये जाने चाहियें। इस अंतिम कृत्य के लिये अन्य पदार्थों के अतिरिक्त कम से कम आधे मन घी का प्रयोग किया जाना चाहिये। इस अंतिम संस्कार के समय 'मृतक के पग दक्षिण में नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहे, शिर उत्तर ईशान या वायव्य कोण में रहना चाहिये।'[१] तीसरे दिन मृतक के किसी संबंधी को श्मशान में जाकर अस्थियों को उठाकर श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देना चाहिये। 'बस इसके आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है।'[२] मृतक को जलाने के दो प्रमुख लाभ हैं—'एक' जलाने से किसी भी संचारक अथवा भयंकर रोग रहने व फैलने का भय नहीं रहता क्योंकि आग से बढ़कर कोई भी रोगनाशक पदार्थ नहीं है।'[३] दो, थोड़े से स्थान में ही हजारों मुर्दों को जलाया जा सकना। ऋग्वेद के सप्तमण्डल सूक्त ८९ में आये मृण्मयम् का अर्थ करते हुए श्री पीटर पीटर्सन ने लिखा है मृण्मपगृहम्' 'The grave, The dead body was either consigned to the flames or laid away to gentle rest in the mother earth"[४] अर्थात् "मृत शरीर को या तो ज्वाला को समर्पित कर दिया जाता था अथवा मातृभूमि में विश्राम के लिये रख दिया जाता था" का द्वितीय विकल्प सर्वथा भ्रामक है।

(१२) **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—प्रस्तुत ग्रन्थ को दयानन्द ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में पृष्ठ २५९ से ७२१ तक के पृष्ठों में सम्मिलित किया गया है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक इसको स्वामीजी का सर्वप्रमुख ग्रन्थ मानते हैं, "ऋषि दयानन्द का यह सर्वप्रधान ग्रन्थ है, क्योंकि यदि इसमें व्याख्यात वेदविषयक मन्तव्य ठीक हैं, तो दयानन्द का सम्पूर्ण वेदभाष्य ठीक है। यदि ये मन्तव्य अशुद्ध वा भ्रान्त हैं तो इन पर आधृत सारा वेद भाष्य ही नहीं, दयानन्द का सम्पूर्ण कार्य व्यर्थ है।"[५] ग्रन्थ का नाम यद्यपि 'ऋग्' से प्रारम्भ होता है फिर भी आदि शब्द से इसका संबंध चारों वेदों से है। स्वामीजी ने इस ग्रन्थ को २० अगस्त सन् १८७६ ई.[६] में लिखना प्रारंभ किया था और उस समय वे अयोध्यानगर में विराजमान थे। 'यह ग्रन्थ मूलरूप से संस्कृत में ही लिखा गया था और इसका हिन्दी अनुवाद पण्डितों ने किया। भाषानुवाद कहीं-कहीं मूल से अधिक एवं कहीं-कहीं अत्यन्त संक्षिप्त भी है।'[७] कहीं-कहीं पण्डितों ने मूल के प्रतिकूल भी अपनी ओर से बहुत कुछ और जोड़ दिया है। स्वयं स्वामीजी ने इस ग्रन्थ को 'वेदभाष्य' से भी अधिक महत्व दिया है। ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्यों के पांचवें अंक के आवरण पर जो विज्ञापन छपवाया था, उसमें स्पष्ट लिखा है "जो कोई भूमिका के बिना केवल वेद ही लिया चाहे सो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका ५) देने से पृथक् से मिल सकती है।"[८]

---

१. संस्कारविधि, पृष्ठ २९२
२. वही, पृष्ठ ३००
३. संस्कार चन्द्रिका, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १६८
४. हिम्स फ्राम ऋग्वेद—पीटर पीटर्सन, पृष्ठ २४८
५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सं. यु. मी., सम्पादकीय वक्तव्य, पृष्ठ ७
६. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ९६
७. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन—भवानीलाल भारतीय, पृ. ४८
८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सं. यु. मी., सम्पादकीय वक्तव्य, पृष्ठ १

सर्वप्रथम वेद मंत्र से ग्रन्थ का शुभारम्भ कर स्वामीजी ने ग्रन्थ के प्रारंभ करने की तिथि इत्यादि दी है और फिर 'ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं।''[१] उनकी व्याख्या रीति को उन्होंने अपनाया है। इसके बाद उन्होंने परमेश्वर से प्रार्थना है कि इस वेद भाष्य के करने में जो विघ्न आये उनको वह दूर करें। ईश्वर प्रार्थना के बाद 'वेदोत्पत्ति' का विषय है। उनके दृष्टिकोण से 'वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के'[२] कोई अन्य नहीं है। स्वामीजी यह नहीं मानते कि चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह व्यासजी ने किया है। उन्होंने लिखा है कि वेदों की उत्पत्ति को 'एक वृन्द छियानवें करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छहत्तर'[3] वर्ष हुए हैं। उनके मतानुसार यही समय जगत् के प्रारंभ होने का है। उनका मत है कि वेद नित्य हैं और सब शब्द नित्य हैं।''[४] वेद विद्या का मूल परमेश्वर से प्राप्त हुआ है और उसका वृक्ष रूप में विस्तार मनुष्यों द्वारा हुआ है। वेदों में अनेक विषयों का समावेश है, किन्तु उनमें चार मुख्य हैं ''(१) विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) कर्म, (३) उपासना, (४) ज्ञान।''[५] परा और अपरा नाम की दो विद्याओं का भी उल्लेख है। अपरा वह है जिससे समस्त पदार्थों के गुणों का ठीक से ज्ञान होकर कार्य सिद्ध किया जाये और परा वह है जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति हो। इसके बाद यज्ञों का प्रयोजन बताया गया है और देवताओं का वर्णन भी किया गया है। देवता का तात्पर्य है 'दान, दीपन, द्योतन'[६] दान का अर्थ है अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना, दीपन का अभिप्राय प्रकाश करने से है और द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को। माता-पिता, आचार्य और अतिथि सब देव कहलाते हैं, किन्तु मुख्य देव एक परमेश्वर ही है। वेद में व्याख्यात ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन ३३ देवताओं का उल्लेख मिलता है वे निम्न हैं—''८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और एक इन्द्र और एक प्रजापति।''[७] आजकल के आर्य और यूरोपीय विद्वानों ने जिन अनेकों देवताओं की चर्चा और पूजा का विधान बताया है, स्वामीजी उसे मिथ्या समझते हैं।

इसके बाद 'वेद' नाम पर विचार किया गया है। क्या ब्राह्मण ग्रन्थों, इतिहास और पुराणादि को वेद कहा जा सकता है—इस प्रश्न पर विचार किया गया है। स्वामीजी के दृष्टिकोण से वेदों में इतिहास नहीं है। इसके बाद 'ब्रह्मविद्या' की चर्चा है और फिर वेदोक्त धर्म का सप्रमाण सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके बाद सृष्टि विद्या का विषय लिया गया है ''जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी।''[८] अगला प्रसंग 'पृथिव्यादिलोकों' के भ्रमण का है। वेदादि शास्त्रों की रीति के अनुसार पृथिवी सूर्य चन्द्रमादि लोक अपनी-अपनी परिधि में अंतरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं। फिर सब लोकों के साथ सूर्य के आकर्षण का सिद्धान्त वर्णित है। यह भी वर्णित किया गया है कि चन्द्रमादि लोक सूर्य के प्रकाश से ही

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला द्वितीय भाग, श. स., पृष्ठ २६१

२. वही, पृष्ठ २७१

३. वही, पृष्ठ २८५

४. वही, पृष्ठ २९३

५. वही, पृष्ठ ३१०

६. दयानन्द ग्रन्थमाला, द्वितीय भाग, श. स., पृष्ठ ३३५

७. वही, पृष्ठ ३४१

८. वही, पृष्ठ ४०२

प्रकाशित होते हैं। अगले प्रसंग में 'गणित विद्या' की चर्चा है, अंक, बीज और रेखागणित तीनों का इसमें समावेश है। ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, याचना समर्पण का विषय है। इसके बाद आता है, 'उपासनाविषय' परमेश्वर की उपासना द्विविध होती है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। "जगत् का रचने वाला वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने पर निर्गुण कहाता है।"[1] अगला विषय 'मुक्ति' का है, नौका, विमानादि से सम्बद्ध है। फिर तार विद्या का वर्णन है। फिर वैद्यकशास्त्र की चर्चा है, फिर पुनर्जन्म का निष्पादन किया गया है। अत्यन्त संक्षेप में 'विवाह' की चर्चा है, और इसी प्रसंग में 'नियोग' का भी विधान किया गया है, "नियोग उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं।"[2]

अगले प्रसंग में राजा और प्रजा का धर्म निर्दिष्ट किया गया है, फिर वर्णाश्रम की चर्चा है। इसके बाद पांच महायज्ञों का वर्णन है। फिर प्रामाणिक और अप्रामाणिक ग्रन्थों की चर्चा की गई है। "ईश्वर की कही हुई जो चारों मंत्रसंहिता हैं वे ही स्वयं प्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो-जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण के योग्य होते हैं।"[3] इस प्रसंग में स्वामीजी ने पुराणों में वर्णित कथाओं का मिथ्यापन भी दिखाया है तथा वैदिक कथाओं की आलंकारिता का भी वर्णन किया है। पुराणों में इन्द्र और अहल्या के जार कर्म की कथा अति प्रसिद्ध है। इस कथा की आलंकारिता को स्वामीजी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—"सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गौतम है। यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालंकार हैं। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है। अर्थात् जिसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्तमान रूप श्रृंगार को बिगाड़ने वाला है।"[4] इसी प्रसंग में उन्होंने मूर्त्तिपूजा, नामस्मरण तथा ग्रहपूजा का मिथ्यात्व प्रकाशित किया है। अगले प्रसंग में उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वेदाध्ययन का अधिकार सभी को है। फिर पठन-पाठन विषय की चर्चा है, वेदार्थ ज्ञान किस प्रकार हो, इसका भी निर्देश उन्होंने दिया है।

अगले प्रसंग में स्वामीजी ने अपने वेद भाष्य करने का कारण बताया है। प्राचीनों का अनुकरण करना हो तो यह व्यर्थ और नवीन हो तो उसके लिये प्रमाण की आवश्यकता है। स्वामीजी का भाष्य प्राचीन ऋषियों के अनुकूल तो है किन्तु रावण, उवट, सायण और महीधर के भाष्यों का उन्होंने जमकर खण्डन किया है। पौराणिकों के प्रायः सभी शुभ कार्यों का प्रारम्भ यजु. अ. २३। मं. १९ के 'गणानां त्वा' मंत्र से होता है। इस मंत्र का महीधर कृत भाष्य पढ़ कर किसी भी सभ्य व्यक्ति को वेदों से घृणा हो सकती है। कितनी बेसिर पैर की बातें हैं और अश्लीलता अपनी चरम सीमा को पहुंच गई है। वे लिखते हैं "सब ऋत्विजों के सामने यजमान

---

[1] दयानन्द ग्रन्थमाला, द्वितीय भाग, श. स., पृष्ठ ४८५ [2] वही, पृष्ठ ५२५

[3] दयानन्द ग्रन्थमाला, द्वितीय भाग, श. स., पृष्ठ ६०२

[4] वही, पृष्ठ ६१२

की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि—हे अश्व ! जिससे गर्भ धारण होता है ऐसा तेरा जो वीर्य है उसको मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तू उस वीर्य को मुझ में स्थापना करने वाला है ।"[1] इसी मंत्र का स्वामीजी कृत अर्थ निम्न है—

"हे जगदीश्वर हम लोग गणों के बीच गणों के पालनेहारे आपको स्वीकार करते हैं, अतिप्रिय सुन्दरों के बीच अतिप्रिय सुन्दरों के पालनेहारे आपकी प्रशंसा करते हैं, विद्या आदि पदार्थों की पुष्टि करनेहारों के बीच विद्या आदि पदार्थों की रक्षा करनेहारे आपको स्वीकार करते हैं । हे परमात्मन् जिस आप में सब प्राणी बसते हैं सो आप मेरे न्यायाधीश हूजिये, जिस गर्भ के समान संसार को धारण करने हारी प्रकृति को धारण करनेहारे आप जन्मादि दोष रहित भलीभांति प्राप्त होते हैं उस प्रकृति के धर्त्ता आपको मैं सब प्रकार जानूं ।"[2]

इसके बाद विषय से सम्बद्ध कुछ संभावित प्रश्न किये गये हैं और उनका युक्तियुक्त उत्तर भी दिया गया है । प्रमुख प्रश्न है, वेदों के चार विभाग क्यों किये गये ? ऋषि, देवता और छन्द का प्रयोजन आदि । इसके बाद वैदिक प्रयोगों की विशेषतायें निर्दिष्ट की गई हैं, स्वर-व्यवस्था का परिचय दिया गया है और वैदिक व्याकरण के नियमों का भी दिग्दर्शन कराया गया है, फिर वेद में वर्णित कुछ अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन है ।

उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रतिपादित स्वामीजी के विचार पर्याप्त चौंकाने वाले तथा क्रांतिकारी थे, सनातनी विद्वानों द्वारा उन्हें गले उतारना सरल कार्य भी नहीं था, अतः उन्होंने अनेक प्रकार से इनका विरोध किया । "सर्वप्रथम प्रयाग निवासी किसी राम मोहन शर्मा नामक व्यक्ति ने 'महामोहविद्रावण' पुस्तक लिखकर भूमिका के वेद संज्ञाविचार प्रकरण का खण्डन किया ।"[3] पुस्तक की शैली क्लिष्ट एवं शब्दाडम्बरपूर्ण थी । इसमें "स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व तथा सिद्धान्तों की कटु समालोचना की गई थी ।"[4] इसका उत्तर पं. भीमसेन शर्मा ने विस्तारपूर्वक दिया था । इसी प्रकार "संवत् १९७७ में आगरा निवासी पं. घनश्याम ने 'भूमिकाभास' या 'भूमिकाधिक्कार' नामक पुस्तक लिखकर ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी भाषा पर आक्षेप किये थे ।"[5] इसका उत्तर द्विजेन्द्र शास्त्री ने 'भूमिका प्रकाश' द्वारा दिया था । "इस ग्रन्थ का उर्दू अनुवाद महाशय मथुरादास ने स्वामीजी के जीवनकाल में प्रकाशित किया था ।"[6] ऋषि निर्वाण के अनन्तर इसका अनुवाद अंग्रेजी, मराठी आदि अनेक भाषाओं में किया जा चुका है ।

(१३) ऋग्वेद भाष्य—"चारों वेदों की भूमिका को समाप्त और जगदीश्वर को अच्छी प्रकार प्रणाम करके सम्वत् १९३४ मार्ग शुक्ल ६ भौमवार के दिन सम्पूर्ण ज्ञान के देने वाले

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, द्वितीय भाग, श. स., पृष्ठ ६६४
२. यजुर्वेद भाषाभाष्य—दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ ८५४
३. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज को संस्कृत साहित्य की देन, पृष्ठ ५०
४. वही, पृष्ठ ५०
५. वही, पृष्ठ ५०
६. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १००

'ऋग्वेद के भाष्य'[1] का आरम्भ स्वामीजी ने किया।'' उनके कथनानुसार ''ऋग्वेद शब्द का अर्थ यह है कि जिससे सब पदार्थों के गुणों और स्वभाव का वर्णन किया जाय वह ऋक् और वेद अर्थात् जो यह सत्य-सत्य ज्ञान का हेतु है।''[2] इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक के मतानुसार ''ऋग्वेद विज्ञान काण्ड है। विज्ञान में गुण और गुणी वर्णन एवं विश्लेषण होता है। अतः इसका नाम ऋग्वेद है। अतः ऋग्वेद वह ज्ञान है जिसमें पदार्थों के गुणों का और धर्मों का वर्णन है। 'ऋच् स्तुतौ धातु' से ऋक् पद बना है। अर्थात् जो गुण और गुणी के ज्ञान का वर्णन करता है वह ऋक् है।''[3] ऋग्वेद में १० मण्डल, ८ अष्टक, ६४ अध्याय, ८५ अनुवाक, १०२८ सूक्त, २०२४ वर्ग, १०५२१ मन्त्र हैं, शब्द १५३, ७९२ हैं। देवता २०९ ऋषि ३५४।''[4] स्वामीजी कुछ अपरिहार्य कारणों से केवल सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त तक ही यह भाष्य सम्पन्न कर सके। श्री युधिष्ठिर मीमांसक[5] तथा उन्हीं के आधार पर डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त[6] ने भी यह संख्या ६२वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक दी है। डा० भवानीलाल भारतीय[7] ने भी इसी संख्या का उल्लेख किया है, किन्तु सत्य कुछ और ही है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित भाषाभाष्य[8] ६१ सूक्त तक उपलब्ध है। पं० चन्द्रकान्तजी वेद वाचस्पति[9] ने भी इसी का समर्थन किया है। पं० घासीरामजी ने भी स्पष्ट लिखा है ''यह भाष्य केवल मण्डल ७। सूक्त ६१। म. २ तक ही हुआ है।''[10]

स्वामीजी से पूर्व भी अनेक व्यक्तियों ने ऋग्वेद का भाष्य किया है। वेंकट माधव का भाष्य सं० ११०० से १२०० के मध्य किया गया। आनन्द तीर्थ ने सं. १२५५-१३३० वि. ४० सूक्तों का भाष्य किया, किन्तु सर्वाधिक प्रसिद्धि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में सायणाचार्य को मिली। ''सायणाचार्य ने सम्पूर्ण भाष्य स्वयं नहीं किया, प्रत्युत्त स्वयं विजयनगर राज्य के प्रधानमंत्री पद पर स्थित होकर अनेक विद्वानों की सहायता से भाष्यों का सम्पादन किया। उन्होंने केवल याज्ञिक प्रक्रिया (कर्मकाण्ड) परकभाष्य किया।''[11] इन्हीं के अनुयायी अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य भाष्यकार हुए जिनमें सर्वश्री मैक्समूलर, ग्रिफ्थि, विल्सन तथा लुडविग प्रमुख हैं। वैसे ''वेद भाष्य करने का सबसे प्रथम आरम्भ रावण ने किया। उसे वेदों का अर्थ

---

१. ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, प्रथम खण्ड, पूर्व पीठिका, पृष्ठ ३१

२. वही, पृष्ठ ३१ ३. वही, पृष्ठ ९

४. वेद शास्त्र तालिका, पृष्ठ ३५

५. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १०३

६. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, पृष्ठ ९०

७. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ५५

८. ऋग्वेद भाषा भाष्य, तृतीय, खण्ड, पृष्ठ ९४२

९. नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ९८

१०. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र भाग २, परिशिष्ट संख्या ५, पृष्ठ ४२८

११. आर्य मित्र (ऋषि निर्वाणांक), पृष्ठ २९

ग्रौर भाव पलटना था, इसलिये उसे ऐसा करना पड़ा । तभी से भाष्य करने का रिवाज हो गया ।''[१] स्वामीजी ने वेदभाष्य करते समय प्रमुखतः निम्न बातों को स्वीकार किया है—

(१) वेद ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरप्रदत्त ग्रौर नित्य हैं ।

(२) इसमें सत्य विद्याग्रों का बीज विद्यमान है ।

(३) वेद में किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास या किसी प्रकार की कपोलकल्पित गाथायें नहीं हैं ।

(४) वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से तर्क ग्रादि से रहित नहीं, बल्कि तर्क संगत ग्रौर स्वयंसिद्ध सत्य का ग्राकर है ।

(५) वेद स्वतः प्रमाण हैं, इसके प्रमाण के लिये प्रमाणान्तर की ग्रावश्यकता नहीं ।

(६) वेद के सभी शब्द यौगिक हैं ।

(७) सभी वेद मन्त्रों का ग्रर्थ ग्राधियाज्ञिक, ग्राधिदैविक ग्रौर ग्राध्यात्मिक प्रक्रियाग्रों में हो सकता है ।

(८) वेद मंत्रों का ग्रर्थ करते समय व्यत्यय मानना ग्रावश्यक है क्योंकि वेद से व्याकरण का प्रादुर्भाव हुग्रा न कि व्याकरण से वेद का ।

(९) ऋषि मंत्रों के कर्त्ता नहीं ग्रपितु द्रष्टा हैं ।

(१०) वेद मंत्रों का प्रतिपाद्य विषय ही देवता है, वह नियत नहीं, ग्रपितु परिवर्तित भी हो सकता है ।

(११) मंत्र ग्रौर छन्दः समानार्थक हैं । छन्द का प्रयोग गायत्री ग्रादि छन्दों के लिये है । छन्दः नाम इनका इसलिए है कि इन्हीं से विश्व की समस्त वस्तुएं ग्रौर उनका ज्ञान बंधा है । विश्व की प्रत्येक वस्तु की परिधि की इयत्ता छन्द से बंधी है । मंत्र उसका नाम इसलिये है कि वह मननीय है ग्रौर ज्ञान का ग्राकर है ।

(१२) स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ग्रौर उदात्त, ग्रनुदात्त, स्वरित ग्रादि हैं जिससे उच्चारण पर बल पड़ता है ग्रौर ग्रर्थ में भी उपयोग है ।

(१३) वेद नाम से चारों वेदों की चार संहिता में ही व्यवहृत होती हैं । शेष शाखायें ग्रौर ब्राह्मण ग्रन्थ ग्रादि वेदों के व्याख्यान हैं ।[२]

स्वामीजी का भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में उपलब्ध हुग्रा है । 'संस्कृत भाषा में पहिले पदार्थ फिर ग्रन्वय तथा भावार्थ दिये गये हैं । स्थान-स्थान पर निरुक्त, व्याकरण, ब्राह्मण ग्रन्थ, मैत्रायणी ग्रादि उपनिषद् तथा मनुस्मृति ग्रादि ग्राप्त ग्रन्थों के प्रमाणों से भाष्य ग्रलंकृत है । कहीं-कहीं महीधर उवट, सायण ग्रादि ग्राचार्यों के भाष्यों का विरोध भी किया गया है।'[३] प्रस्तुत प्रबन्ध में जिस भाष्य का उपयोग किया गया है, वह सार्वदेशिक ग्रार्य प्रतिनिधि सभा

---

[१] वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ५८३

[२] ऋग्वेद हिन्दी भाष्य १, पूर्व पीठिका, पृष्ठ ४ तथा ५

[३] नारायण ग्र. ग्रन्थ, पृष्ठ १००

द्वारा प्रकाशित भाषाभाष्य है। आकार ५॥ × ९ इंच है, खण्ड तीन हैं और प्रत्येक में क्रमशः ९५७-७७५ तथा ९४२ (योग २६७४) पृष्ठ हैं। ग्रन्थारंभ में परमेश्वर की स्तुति के बाद तालिका के रूप में प्रत्येक मण्डल के अनुवाक, सूक्त, मंत्र आदि की संख्या दी गई है। मण्डल और सूक्त की संख्या देने के बाद पहले मंत्र के छन्द, ऋषि, देवता तथा स्वर आदि का नाम दिया है, फिर मूलमंत्र दिया गया है, फिर पदार्थान्वय भाषा में दिया गया है, तत्पश्चात् भाषा (हिन्दी) में भावार्थ दिया है। भावार्थ में ही प्रायः अलंकार का निर्देश भी कर दिया गया है, और मनुष्य मात्र को उपदेश भी दिया गया है। स्थान-स्थान पर उन्होंने व्याकरण संबंधी विशेषताओं की ओर भी संकेत किया है तथा पूर्ववर्ती भाष्यकारों के दोषों का भी उन्होंने दिग्दर्शन कराया है। मं. १। सूक्त २, मंत्र ९ के भावार्थ के अन्त में वे लिखते हैं—"इस सूक्त का अर्थ सायणाचार्यादि और विलसन आदि यूरोपदेशवासी लोगों ने अन्यथा कथन किया है।"[१] प्रथम मण्डल के २१वें सूक्त तक तो स्वामीजी ने प्रत्येक सूक्त के अन्त में सायण, विलसन आदि का नाम लिया है, फिर २२वें सूक्त के अन्त में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है—"इसके आगे सायण और विलसन आदि के विषय में जो यह सूक्त के अन्त में खण्डन द्योतक पंक्ति लिखते हैं सो न लिखी जायगी क्योंकि जो सर्वथा अशुद्ध है उसको बारम्बार लिखना पुनरुक्त और निरर्थक है जहां कहीं लिखने योग्य होगा वहां तो लिखा ही जायगा परन्तु इतने लेख से यह अवश्य जानना कि ये टीका वेदों की व्याख्या तो नहीं है, किन्तु इनको व्यर्थ दूषित करने हारी है।"[२]

"कुछ विद्वानों का कथन है कि स्वामीजी ने वेद भाष्य केवल संस्कृत में ही किया था और भाषानुवाद पंडितों से कराया हुआ है। इसलिये कई स्थानों पर भाषा संस्कृत के अनुकूल नहीं है।"[३] इसके अतिरिक्त मीमांसकजी ने स्वामीजी के पत्र व्यवहार से और भी कई उद्धरण दिये हैं जिनसे उक्त धारणा की पुष्टि हो गई है। इसी को आधार मानकर डॉ. लक्ष्मीनारायण गुप्त ने भी लिखा है—"स्वामीजी ने वेदों का भाष्य संस्कृत में ही किया था उन्हें इतना अवकाश न था कि हिन्दी भाग भी स्वयं लिखते अतः उन्होंने सहायक पंडितों से भाष्य करवाया। ये पंडित भीमसेन, ज्वालादत्त और दिनेशराम थे।"[४] यदि यह बात सत्य हो तो स्वामीजी और सायणाचार्य में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रहता क्योंकि उन्होंने भी अनेक विद्वानों की सहायता से भाष्यों का सम्पादन किया था। स्वामीजी के संबंध में बनाई गई उपर्युक्त धारणा की कुछ विशिष्ट परीक्षा करनी होगी।

(क) ऋग्वेद ३ खण्ड के अंतिम पृष्ठ पर भाष्य समाप्ति पर लिखा है "श्रीमद्दयानन्द-सरस्वती निर्मिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते"[५] स्वामीजी जैसा सत्यनिष्ठ, न्यायप्रिय और लोकैषणा से उदासीन व्यक्ति दूसरे के द्वारा लिखे भाष्य को अपने नाम से प्रकाशित नहीं करवा सकता। उस स्थिति में 'निर्मिते' के स्थान पर 'निर्मापिते' शब्द होता। 'निर्मिते' का सम्बन्ध

---

[१] ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, १, पृष्ठ १३

[२] ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, १, पृष्ठ १०८

[३] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १०६-१०७

[४] हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, पृष्ठ ९०

[५] ऋग्वेद भाषाभाष्य ३, पृष्ठ ९४२

संस्कृत तथा आर्य दोनों भाषाओं से है। अतएव विद्वान् लोग यह अर्थ करने में भी स्वतंत्र होंगे कि दोनों ही भाष्य स्वामीजी द्वारा किसी अन्य से लिखवाये गये थे।

(ख) स्वामीजी के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ईश्वर की पवित्र वाणी वेद को आर्यभाषा के माध्यम से सर्वसाधारण जनता को सुलभ कराया, यह धारणा मिथ्या हो जायेगी और इसका श्रेय किसी अन्य को देना होगा।

(ग) सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद हिन्दी भाष्य की भूमिका में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि भाषा भाष्य स्वामीजी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का किया हुआ है। यों तो संस्कृत का भाष्य तथा अन्य पुस्तकें भी स्वामीजी पंडितों द्वारा लिखवाते (केवल लेखन निर्माण नहीं) थे। स्वामीजी के हस्ताक्षर के बाद यह कृति उन्हीं की कही जायेगी।

(घ) मीमांसकजी ने यह भी उद्धृत किया है कि वेदभाष्य के मुखपृष्ठ पर यह पंक्ति छपती थी "इसकी भाषा पंडितों ने बनाई और संस्कृत को भी उन्होंने शोधा है।"[१] इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि ऋषि के जीवनकाल की बात तो दूर उनके देहावसान के सात वर्ष बाद भी यह पंक्ति नहीं छपी "महर्षि के बाद सात वर्ष तक जो अंक पुस्तक सं. १६२, १६३ अंक १४६,१६७ छपे उन पर भी यह पंक्ति नहीं छपी।"[२] "मार्गशीर्ष शुक्ला संवत् १९४७ को पुस्तक संख्या १४६, १६५ अंक १४८, १४९ छपा उस पर यह पंक्ति प्रथम बार छपी है।"[३] उपर्युक्त पंक्ति में दो शब्द विशेष द्रष्टव्य हैं १. बनाई और २. शोधा। 'बनाई' का तात्पर्य यहां ग्रन्थ निर्माण नहीं अपितु 'प्रेस कापी' बनाना या तैयार करना है। जहां तक शोध का सम्बन्ध है--शोधन सदा अपने से योग्य व्यक्ति से ही करवाया जाता है और यह आँख का अन्धा भी जानता है कि स्वामीजी तथा तथाकथित पंडितों की विद्वत्ता एवं योग्यता में आकाश-पाताल का अन्तर था। इस 'शोधा' का तात्पर्य यही है कि उन्होंने प्रूफ-कापी को देखा और उसमें शोधन किया। अब उपर्युक्त पंक्ति वेदभाष्य पर नहीं छापी जाती।

(ङ) संस्कृत और हिन्दी भाष्य के अन्तर के संबंध में स्वामीजी ने भ्रांतिनिवारण' में लिखा है—"भाषा में संस्कृत का अभिप्राय मात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है उनको बिना भाषार्थ के वेदज्ञान नहीं हो सकेगा।"[४]

निष्कर्ष यही है कि संस्कृत की भांति भाषा-भाष्य भी स्वामीजी का ही किया हुआ है। कुछ सोचकर ही उन्होंने हिन्दी भाष्य को अधिक विस्तृत नहीं किया है। अपने अधीनस्थ पंडितों की योग्यता तथा नियत से वे संतुष्ट नहीं थे, अतः भाष्य में पाई जाने वाली अशुद्धियाँ कुछ प्रेस की कृपावश है और कुछ तथाकथित पंडितों की शरारत के कारण।

---

[१] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १०८

[२] आर्यमित्र—महर्षि मोक्ष प्राप्ति विशेषांक, सम्पादकीय, पृष्ठ ७

[३] वही, पृष्ठ ८

[४] दयानन्द ग्रन्थमाला, श. स., द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ८७९

इस भाष्य को करने से पूर्व स्वामीजी ने सं. १९३१ में वेदभाष्य के नमूने का एक अंश प्रकाशित किया था जिसमें गुजराती और मराठी अनुवाद भी था। स्वामीजी ने स्पष्ट रूप से घोषित किया था—"मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूंगा। यदि किसी को इस पर कोई आपत्ति हो तो पहले ही सूचित कर दे, ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूं।"[1] इसकी प्रतियां स्वामीजी ने तत्कालीन प्रसिद्ध पंडित बालशास्त्री तथा स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती आदि के पास भी भेज दी थीं, परन्तु किसी ने भी उसकी आलोचना नहीं की। वेद भाष्य के नियमित ग्राहकों में तत्कालीन धुरन्धर विद्वान् भी थे जिनमें 'प्रो. मैक्समूलर, प्रो. मोनियर विलियम्स जैसे प्रसिद्ध पाश्चात्य संस्कृतज्ञ तथा न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे, रायबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख, सर. टी. माधवराव, महाराजा होल्कर, केशवचन्द्र सेन, महेन्द्रलाल सरकार, राजा जयकृष्णदास आदि"[2] भी सम्मिलित हैं। ऋग्वेद का एक भाष्य है 'प्रकृतार्थ-वाहिनी' यह वेदभाष्य महर्षि स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य के खण्डन में लिखा गया है, यह बंगाल के पंडितों का लिखा हुआ है।

(१४) **यजुर्वेद-भाष्य**—वेदों के क्रम में यजुर्वेद को द्वितीय स्थान दिया जाता है, यह मात्र संयोग नहीं है "प्रथम वेद का प्रथम मंत्र अ से प्रारंभ हुआ तो द्वितीय वेद का मन्त्र-इ-से (इषेत्वा से) प्रारंभ होना परम स्वाभाविक, युक्ति-युक्त और वैज्ञानिक आधार पर है।"[3] सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित 'यजुर्वेद भाषाभाष्य में १२१६ पृष्ठ हैं। ग्रन्थ के आरंभ में दी हुई तालिका के अनुसार इसमें '४० अध्याय तथा १६७५ मंत्र हैं।'[4] सौभाग्यवश इन सभी मंत्रों का भाष्य स्वामीजी ने किया है। यह कार्य उन्होंने 'विक्रम के संवत् १९३४ पौष सुदी १३ गुरुवार के दिन[5] प्रारंभ किया था।

पं. रामगोविन्द त्रिवेदी ने लिखा है—"यजु: शब्द का अर्थ पूजा है—यज्ञ भी है। कहीं-कहीं गद्य को यजु कहा जाता है....स्वभावत: यजुर्वेद में यज्ञों और कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। विभिन्न यज्ञों में जो विशेष मंत्र आवश्यक हैं और जिन विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है, उनकी समष्टि का नाम यजुर्वेद संहिता है।"[6] स्वामीजी के मतानुसार 'यजन्ति येन मनुष्या....अर्थात् जिससे मनुष्य ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का संग, शिल्पक्रिया सहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुणों का दान करे वह यजुर्वेद है।"[7] पाश्चात्य विद्वान तथा कुछ देशीय विद्वान यजुर्वेद के दो भाग मानते हैं अर्थात् एक कृष्ण और दो शुक्ल।

कुछ दृष्टियों से यजुर्वेद ऋग्वेद से भी अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ कारण निम्न हैं—

(क) यह ऋग्वेद की अपेक्षा आकार में लघु है।

---

[1] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ९२

[2] ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ५५

[3] सार्वदेशिक साप्ताहिक १३ अक्टूबर १९७४—वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ २

[4] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ ३

[5] वही, पृष्ठ २

[6] वैदिक साहित्य—पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ ८५

[7] यजुर्वेद भाष्यम्—पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, भूमिका, पृष्ठ ३०

(ख) इस पर स्वामीजी का पूरा भाष्य उपलब्ध होता है।

(ग) "परिकल्पित तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद के विषय में नये और पुराने सभी विद्वानों ने कहा है कि यह मलिन बुद्धि से रचा गया है....वेद भाष्यकार महीधर कहते हैं कि बुद्धिमालिन्य से कृष्ण यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई....स्वामी विद्यारण्य कहते हैं कि बुद्धि की मलिनता से यह यजु 'कृष्ण' कहा गया है।"[1]

(घ) स्वामीजी के सहपाठी तथा दण्डी विरजानन्द के ही शिष्य "पं. उदयनारायण तिवारी ने भी एक पूरा यजुर्वेद का भाष्य छापा। उसने स्वामीजी के वेदभाष्य का दोषाकर भाष्य लिखकर खण्डन किया, उसकी वार्ता का अभी तक उत्तर नहीं दिया गया है।"[2] पण्डित उदयनारायणजी का स्वामीजी से वैमनस्य था, क्योंकि स्वामीजी के पहुंचने से पूर्व उपर्युक्त पंडितजी ही दण्डीजी के पट्टशिष्य थे।

(१५) आर्योद्देश्यरत्नमाला—प्रस्तुत पुस्तक का समावेश दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण प्रथम भाग के अन्त में किया गया है। इसमें केवल ११ पृष्ठ हैं अतः इसे ग्रन्थ न कहकर Pamphlet कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। इसका निर्माण संवत् १९३४ वि. में श्रावण शुक्ल सप्तमी के दिन किया गया। इसमें कुल १०० मंतव्यों[3] को लेकर उनका अभिप्राय समझाया गया है। यथा—

७२: मूर्ख—जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोष सहित है उसको मूर्ख कहते हैं।[4]

१०० नमस्ते—मैं तुम्हारा मान्य करता हूं।[5]

(१६) भ्रांतिनिवारण—यह भी दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण द्वितीय भाग में सम्मिलित है। पुस्तक का विस्तार ८७४ से ९१७ पृष्ठ तक है। इससे पूर्व स्वामीजी द्वारा २½ पृष्ठ की एक भूमिका दी गई है। "स्वामीजी के प्रकाशित वेदभाष्य के नमूने पर संस्कृत कॉलेज कलकत्ते के प्रिन्सिपल श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न ने सं. १९३३ में कुछ आक्षेप प्रस्तुत किये थे। स्वामीजी ने उनके उत्तर में यह ग्रन्थ लिखा था।[6] जिस मनःस्थिति में यह ग्रन्थ लिखा गया है उसका कुछ परिचय भूमिका के इन शब्दों से ज्ञात होता है—"परन्तु मैं क्या करूं मैं तो अपना तन-मन-धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुंचाना ही मुझको चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।"[7] स्वामीजी सत्य का प्रकाश तथा सम्पूर्ण वेदभाष्य करने के लिये इतने उत्सुक थे कि उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति निम्न प्रकार की, "परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना

---

[1] वैदिक सम्पत्ति—पृष्ठ ४७९

[2] आर्यमित्र—महर्षि मोक्ष प्राप्ति विशेषांक, पृष्ठ ११३

[3] इन मंतव्यों में से दस (ईश्वर, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, सत्यभाषण, मिथ्याभाषण, विश्वास, अविश्वास तथा परलोक) का डा. हरिदत्त शास्त्री ने शिखरिणी छन्द में अनुवाद किया है।—आर्यमित्र ऋषिबोधांक १९७० ई., पृ. २०

[4] दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ ८९८

[5] वही, पृष्ठ ९०१

[6] आर्यमित्र—ऋषिबोधांक १९७०, पृष्ठ ८

[7] दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स. द्वितीय भाग, पृष्ठ ८७१

रहा और कुशलता से वह दिन देख लिया कि वेद भाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्संदेह इस आर्यावर्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जायेगा कि जिसके मेटने और झाँपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके।"[१]

प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल कार्तिक शु. २ सं. १९३४ वि. है। ग्रन्थ में अग्नि को परमेश्वरवाची सिद्ध करने के लिए अनेक उद्धरण दिये गये हैं। उनके मतानुसार वेद का कवि शब्द परमेश्वर का ही संकेत करता है—"निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्त दर्शन अर्थात् सबको जानने वाला है सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कहीं नहीं घट सकता।"[२] वस्तुत: महेशचन्द्रजी का नाम तो उपलक्षण मात्र है, इसमें अन्य व्यक्तियों द्वारा वेद भाष्य पर किये आक्षेप तथा उनका निवारण समाविष्ट है।

(१७) अष्टाध्यायी भाष्य—स्वामी दयानन्द पाणिनिकृत अष्टाध्यायी को व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ मानते थे। अत: उन्होंने इसका सुगम एवं सुबोध भाष्य हिन्दी जानने वालों के लिये किया। यह भाष्य अभी पूरा संशोधित होकर प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ पंडित स्व. डॉ. रघुवीर द्वारा सम्पादित होकर इसका प्रथम भाग १९२७ ई. में छपा तथा तृतीय अध्याय तक इसका द्वितीय भाग १९४९ ई. में छपा। शेष अभी तक अप्रकाशित ही है।[3]

(१८) स्वरचित जन्मचरित्र—श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने इसको 'आत्मचरित्र' में अभिहित किया है, 'योगी का आत्मचरित्र' में इसका शीर्षक 'स्वामी दयानन्द सरस्वती का आत्मचरित्र तथा स्वकथित यात्रायें' दे रखा है और पं. भगवद्दत्तजी ने इसका सम्पादन 'ऋषि दयानन्द स्वरचित लिखित वा कथित जन्म चरित्र 'ऋषि की अमर कहानी उनकी अपनी जबानी' नाम से किया है। स्वामीजी के आत्मचरित्र का ज्ञान हमें दो उद्गमों से ज्ञात होता है—१. 'पूना प्रवचन अर्थात् उपदेश मंजरी'[४] के १५वें प्रवचन से जिसका रचनाकाल ४ अगस्त सन् १८७५ है। (२) कर्नल आल्काट की 'थियोसोफिकल' पत्रिका में। कर्नल आल्काट के विशेष आग्रह पर स्वामीजी ने आत्मचरित्र का कुछ अंश उन्हें लिख भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'थियोसोफिस्ट' में नवम्बर-दिसम्बर १८८० के अंक में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी का यह अंश 'योगी का आत्मचरित्र' में पृष्ठ ३०८ से ३३१ तक दे रखा है इसका शीर्षक दिया है "The Autobiography & Travels of Swami Dayanand Saraswati."[५] इसमें स्थान-स्थान पर घटनाओं के आधार पर छोटे-छोटे शीर्षक दे रखे हैं।

पं. भगवद्दत्तजी द्वारा सम्पादित 'जन्मचरित्र' ५×७ इंच के ५४ पृष्ठ में समाहित है। अंग्रेजी संस्करण की भांति इसमें कहीं शीर्षक नहीं दिये गये। उन्होंने उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त पं. लेखराम द्वारा संपादित उर्दू जीवनचरित्र, श्री दलपतराय एम. ए. कृत 'खुदनविशत स्वानेह उमरी', श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय संपादित 'दयानन्द स्वरचित जीवन

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स. द्वितीय भाग, पृष्ठ ८७६ २. वही, पृष्ठ ९०२
३. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ६६
४. पूना प्रवचन अर्थात् उपदेश मंजरी, प्रथम भाग, पृष्ठ १४८
५. योगी का आत्मचरित्र, पृष्ठ ३०८

वृत्त' पं. घासीराम द्वारा आर्य भाषा में अनुदित 'दयानन्द चरित्र की अवतरणिका' तथा प्रो. मेक्समूलर की 'चिप्स फ्राम दी जर्मन वर्कशाप' भाग द्वितीय को मिला कर एक नया रूप दे दिया है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, "इसमें एक-एक अक्षर स्वामीजी का है, परन्तु क्रम हमारा है।"[1]

(१९) **संस्कृतवाक्यप्रबोध**—प्रस्तुत पुस्तक ५॥×८॥ इंच के ६० पृष्ठों में मुद्रित हुई है। शेष ४३ पृष्ठों पर पं. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा कई उपयोगी परिशिष्ट दिये गये हैं। पुस्तक का निर्माण फाल्गुन सं. १९३६ वि. में हुआ था। पुस्तक छोटी होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वामीजी अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार चाहते थे। इसका उद्देश्य सामान्यजनों को संस्कृत की प्रारंभिक शिक्षा देना है—"जो कोई व्याकरणादि ग्रन्थ पढ़े बिना भी संस्कृत बोलने में उत्साह करते हैं, वे भी इसको पढ़ के व्यवहार सम्बन्धी संस्कृत भाषा को बोल और दूसरे का सुनके भी कुछ-कुछ समझ सकेंगे।"[2] संस्कृत भाषा का दूसरा लाभ यह भी है, "जहां कहीं संस्कृत के नहीं जानने वाले मनुष्यों के सामने दूसरे को अपना गुप्त अभिप्राय समझाना चाहें तो वहां संस्कृत भाषण काम आता है।"[3]

इस पुस्तक में ५१ प्रकरण हैं जिनमें दैनिक जीवन से सम्बद्ध सभी विषयों पर सरल संस्कृत में छोटे-छोटे वाक्य दिये हुए हैं। इनके सामने ही इनका हिन्दी भाषा में अनुवाद भी दिया है। सर्वत्र यही ध्यान रखा गया है कि प्रत्येक वाक्य पाठकों के मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य को उन्नत करने वाला हो। कुछ वाक्य तो लोकोक्तियों का कार्य करते हैं। यथा—

(१) जो मद्य पीने वाला है, उसकी बुद्धि क्यों न न्यून होवे।[4]
(२) नींबू का रस दाल में डालकर खाने योग्य है।[5]
(३) मक्खी खाकर वमन हो जाता है।[6]
(४) मुक्ति को प्राप्त हुए जीव वहां सर्वदा नहीं रहते।[7]

इस पुस्तक में लेखन, मुद्रण संबंधी भयंकर अशुद्धियां रह गई थीं जिन पर हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार पं. "अम्बिकादत्त व्यास आदि पंडितों ने 'अबोध निवारण' नाम से अनेक आक्षेप किये थे।"[8] स्वामीजी अपनी प्रकृति के अनुरूप सत्य के ग्रहण करने में सदा उद्यत रहे। उन्होंने स्वीकार कर लिया "इस अशुद्धि के तीन कारण हैं, एक—शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना, दूसरा—भीमसेन के आधीन शोधन का होना और मेरा न देखना न प्रूफ शोधना, तीसरा—छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजीटर बुद्धिमान न होना, लैम्पों की न्यूनता होना।"[9] इसी प्रसंग को पं. घासीराम ने निम्न शब्दों में उद्धृत किया है, "जो अशुद्धियां हैं उन्हें सरलता से मान लेना चाहिए और अगले संस्करण में उन्हें शुद्ध कर देना चाहिये।"[10]

---

१. ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्म चरित्र—सं. भगवद्दत्तजी—भूमिका, पृष्ठ ५
२. संस्कृतवाक्यप्रबोध—भूमिका, पृष्ठ ७
३. संस्कृतवाक्यप्रबोध, पृष्ठ ७
४. वही, पृष्ठ ५५
५. वही, पृष्ठ ४६
६. वही, पृष्ठ ४४
७. वही, पृष्ठ ६०
८. वही, प्राक्कथन, पृष्ठ २-३
९. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—पं. भगवत्तद्दत्त, पृष्ठ २२३-२४
१०. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—भाग २, पृष्ठ ९

'अबोध निवारण' के कुछ आक्षेपों का उत्तर "स्वामीजी ने लिखवा कर एक पंडित के नाम से 'आर्य दर्पण' मई १८८० के पृष्ठ १२० पर छपवाया था।"[१] शेष आक्षेपों का युक्तियुक्त उत्तर प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय परिशिष्ट में श्री मीमांसकजी ने दिया है। 'अबोध निवारण' का उद्देश्य आलोचनात्मक न होकर दुर्भावनापूर्ण था और इसके लेखक का नाम भी संदिग्ध है। इसके टाइटिल पेज पर लिखा है—"काशी के पंडित अम्बिकादत्त व्यास और बाबूराम ने श्रीयुत[२] की आज्ञानुसार प्रकाशित किया।"[३] दूसरी ओर इसकी भूमिका में श्री रामकृष्ण ने लिखा है, 'यह पुस्तक हमारे मित्र पं. अम्बिकादत्त व्यास ने बनाई' और आगे चल के पुस्तक के पहिले पेज पर लिखा है 'रामकृष्ण वर्मा विरचितम्' दोनों स्थान पर विपरीत वर्णन किसी षड्यंत्र का सूचक है।

(२०) **व्यवहारभानु**—प्रस्तुत पुस्तक दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण के द्वितीय भाग में समाविष्ट है और इसका कलेवर (७२३ से ७६९) ४७ पृष्ठों का है। भूमिका के अन्त में पुस्तक के निर्माण का समय सं. १९३६ फाल्गुन शुक्ला १५ दे रखा है, पुस्तक के उद्देश्य के विषय में स्वामीजी ने स्वयं लिख दिया है—"मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस व्यवहारभानु ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूं जिसको देख दिखा पढ़ पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने-अपने सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।"[४]

प्रस्तुत पुस्तक प्रश्नोत्तर शैली में है। भाषा सरल, प्रवाहमयी एवं रोचक है। स्थान-स्थान पर बड़े सरस दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं। मूर्ख के लक्षण के प्रसंग में वे लिखते हैं, "एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था वह घी लेकर घड़े में भर किसी मजूर की खोज में था वहां शेखचिल्ली आ निकला उससे पूछा कि इस घड़े को तीस कोस पर ले जाने की क्या मजूरी लेगा...."[५] बीच-बीच में बड़े सुन्दर उपयोगी एवं संक्षिप्त उपदेश भी दिये गये हैं—"जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खड़े भी न रहें।"[६] "जब सभा में जावें तब दृढ़ निश्चय कर लेवें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा।"[७] "उद्योग का नाम पुरुषार्थ और उसके चार भेद हैं। एक—अप्राप्त की इच्छा। दूसरा—प्राप्त की यथावत् रक्षा। तीसरा—रक्षित की वृद्धि और चौथा—बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं"[८] आदि। स्वामीजी की प्रिय 'लाल बुझक्कड़' और 'अंधेर नगरी' की कथा भी इसी पुस्तक में उपलब्ध है।

---

[१] संस्कृतवाक्यप्रबोध, प्रथम परिशिष्ट, पृष्ठ ६१

[२] यहां खाली जगह एक नाम के लिखने के लिये छोड़ दी गई है।

[३] संस्कृतवाक्यप्रबोध तृतीय परिशिष्ट, पृष्ठ १००

[४] दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स. द्वितीय भाग, भूमिका, पृष्ठ ७२३

[५] वही, पृष्ठ ७२७

[६] वही, पृष्ठ ७३७

[७] वही, पृष्ठ ७४०

[८] वही, पृष्ठ ७५०

(२१) **गोतम अहल्या की कथा**—"इस पुस्तक का सबसे पुराना उल्लेख चैत्र सं. १९३७ में प्रकाशित 'गोकरुणानिधि' के अंतिम पृष्ठ पर मिलता है।"[1] पुराणों में इस कथा का काफी वीभत्स रूप में चित्रण किया है। स्वामीजी के मतानुसार यह आलंकारिक वर्णन है। "ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार इन्द्र नाम सूर्य का है और गौतम चन्द्रमा का, तथा अहल्या नाम रात्रि का है। अहल्या रूपी रात्रि और गोतम रूपी चन्द्रमा का आलंकारिक पति-पत्नी भाव का कथन है।"[2] पुस्तक पेम्फलेट टाइप अति संक्षिप्त रही होगी, आजकल यह उपलब्ध नहीं है।

(२२) **भ्रमोच्छेदन**—"काशी के राजा शिवप्रसादजी 'सितारेहिन्द' ने महर्षि की ऋग्वेदादिभाष्य पर 'निवेदन' नाम से कुछ आक्षेप सं. १९३७ वि. वैशाख के अन्त में या ज्येष्ठ के आदि में छपवाये थे। इन पर स्वामी विशुद्धानन्दजी के हस्ताक्षर भी थे। अतएव महर्षि ने आक्षेपों के उत्तर में यह भ्रमोच्छेदन नाम का ग्रन्थ रचा।"[3] इसका रचनाकाल सं. १९३७ ज्येष्ठ कृष्णा २ गुरुवार था। ज्ञातव्य हो कि राजा साहब को संस्कृत का सामान्य ज्ञान भी नहीं था, वे केवल ट्टटी की ओट में शिकार खेल रहे थे। स्वामीजी जैसे सरल व्यक्ति को भी उनके संबंध में व्यंग्यात्मक टिप्पणियां करनी पड़ीं—

"मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुनके चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही, महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मतमतान्तर के इस वर्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं।"[4] "जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं। किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही प्रतीत होता है।"[5] "जैसी राजाजी की समझ है वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती।"[6] 'ऐसे अशास्त्रविद्, अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के....'[7] आदि।

इस ग्रन्थ में पहले राजाजी के प्रश्न हैं फिर स्वामीजी द्वारा उनके उत्तर। स्वामीजी अपने पक्ष पर इतने दृढ़ थे कि उन्हें अनेक पंडितों से शास्त्रार्थ करने में कोई हिचक नहीं थी, अपितु वे तो इसका स्वागत ही करते थे—

प्रश्न—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बाल शास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान सब मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे, तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा।

उत्तर—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूं कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापन पत्र क्यों लगवाता।[8]

---

[1] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १२८

[2] वही, पृष्ठ १२८

[3] वही, पृष्ठ १२९

[4] दयानन्द ग्रन्थमाला—श. स. द्वितीय भाग, पृष्ठ ८४७

[5] वही, पृष्ठ ८४८

[6] वही, पृष्ठ ८५९

[7] वही, पृष्ठ ८६४

[8] वही, पृष्ठ ८६६-६७

प्रकाशन के पूर्व स्वामीजी इस ग्रन्थ को गुप्त रखना चाहते थे। उन्होंने वैदिक यंत्रालय के मैनेजर को निम्न आज्ञा दी थी—"जब तक भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ छप के बाहर न हो तब तक किसी को मत दिखलाना।"[1]

(२३) अनुभ्रमोच्छेदन—'भ्रमोच्छेदन' के उत्तर में राजा शिवप्रसाद ने 'द्वितीय निवेदन' नामक पुस्तक प्रकाशित की। उसके प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने 'अनुभ्रमोच्छेदन' लिखा। इसका रचनाकाल "संवत् १९३७ फाल्गुन कृष्णा ४ बृहस्पतिवार है।"[2] इसका हस्तलेख परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में सुरक्षित है। उस पर अनेक स्थानों पर ऋषि दयानन्द के हाथ का संशोधन भी विद्यमान है। एक पत्र में ऋषि ने लिखा है—"जो दूसरा निवेदन बाबू शिवप्रसाद ने छापा है उसका उत्तर भी तैयार हो गया है, सो पं. ज्वालादत्त के नाम से जारी किया जाएगा।"[3] स्वामीजी के नाम का इस ग्रन्थ पर न होना भी कोई पहेली नहीं है। राजा शिवप्रसाद के संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण स्वामीजी ने उनसे कहा था कि उन्हें जो कुछ भी पूछना हो, उस पर स्वामी विशुद्धानन्द अथवा पं. बाल शास्त्री के हस्ताक्षर करवाकर लायें। द्वितीय निवेदन पर क्योंकि इन महानुभावों के हस्ताक्षर नहीं थे, अतः स्वामीजी ने उत्तर तो दे दिया पर अपना नाम नहीं दिया।

(२४) गोकरुणानिधि—प्रस्तुत पुस्तक दयानन्द ग्रन्थमाला श. स. के द्वितीय भाग में सम्मिलित है, फिर भी प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक यंत्रालय द्वारा मुद्रित १२वीं आवृत्ति वाले संस्करण का उपयोग किया गया है। यह ६। × ९॥ इंच के आकार के १८ पृष्ठ में हैं। आकार में छोटी होते हुए भी विषय एवं उपादेयता की दृष्टि से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसका रचनाकाल संवत् १९३७ फाल्गुन बदी १० गुरुवार है।"[4] रचना का उद्देश्य स्वामीजी ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है, "यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है जिससे गो आदि पशु जहां तक सामर्थ्य हो बचाये जायें, और उसके बचाये जाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सुख बढ़ता रहे।"[5] पुस्तक को दो भाग में विभक्त किया है—१. समीक्षा प्रकरण जिसमें गोकृष्णादि-रक्षिणी सभा बनाने का प्रयोजन तथा पशुओं को मार कर खाने की अपेक्षा उनकी रक्षा करने के प्रसंग को 'हिंसक रक्षक संवाद' के नाम से दिया है। दूसरे भाग में उपर्युक्त सभा के नियम, उपनियम आदि विस्तार से दिये गये हैं। स्वामीजी ने गणित के आधार पर गणना करके बताया है—"छः गाय की पीढ़ी-पर-पीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि केवल ८० मांसाहारी मनुष्य केवल एक-बार तृप्त हो सकते हैं।"[6]

स्वामीजी ने अनेक स्थलों पर गो रक्षा एवं उसके महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किये हैं।

---

[1] ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १९८

[2] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १३२

[3] वही, पृष्ठ १३३

[4] वही, पृष्ठ १३७

[5] गोकरुणानिधि, भूमिका, पृष्ठ २

[6] गोकरुणानिधि, पृष्ठ ४

(१) "हां गोरक्षा सर्वोत्तम और इसमें सबसे अधिक लाभ है।"[१]

(२) "गोरक्षा से अधिकांश मनुष्यों को अत्यन्त अधिक लाभ होता है।"[२]

(३) "देखो एक मोटी ताजी गाय को यदि लोग मारेंगे तो अधिक से अधिक बीस मनुष्यों का पेट भरेगा वह भी तब जबकि उसके साथ दस सेर अनाज भी हो और जो उसकी रक्षा करेंगे तो वह कम से कम बीस वर्ष तक जीयेगी तो देखो कितना लाभ होगा।"[३]

(४) "स्वामीजी ने लाट साहब (म्योर साहब) से कहा था कि भारतवर्ष से जाकर आप इंडिया कौंसिल के सदस्य होंगे। वहां आप गोवध बन्द करने का प्रयत्न करें। कहते हैं कि म्योर साहब ने यत्न करने का वचन भी दिया था।"[४]

(५) "देश में सहस्रों गौएं प्रतिदिन मारी जाती हैं जिससे देश को अत्यन्त हानि हो रही है, इसी कारण यह देश दुर्दशा को प्राप्त हो रहा है"[५] आदि। स्वामीजी की भाषण शैली इतनी उत्तम थी तथा तर्क इतने प्रबल थे कि जनता पर तत्काल प्रभाव होता था। "उनके उपदेशों को सुनकर जोन्स महाशय ने गोमांस भक्षण के परित्याग का वहीं प्रण धारण कर लिया।"[६] आज के कुछ मनीषियों का विचार है कि गाय की अपेक्षा भैंस अधिक लाभकारी है किन्तु स्वामी जी का मत "जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुख का लाभ होता है उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं।"[७] इसके विरुद्ध है। हमें इस मत की कुछ विस्तार से परीक्षा करनी होगी।

(अ) "भैंस का पालन किसी भी देश में नहीं होता और न उसका दूध ही कहीं के लोग व्यवहार करते हैं। दक्षिण चीन, फिलीपाइन द्वीपपुंज तथा अभागा भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहां भैंस भी पाली जाती है।"[८]

(आ) "वेदप्रकाश" में श्री हृदयराम अरोरा द्वारा दिये गये चार्ट से गाय तथा भैंस का अन्तर अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

गाय	भैंस
१. बछिया १॥। साल में जवान होती है	१. पड़िया २॥। साल में जवान होती है।
२. बछिया २॥ साल में व्या जाती है	२. पड़िया ३॥ साल में व्याती है।
३. साल के हर मास में गर्म होकर गाभिन हो जाती है।	३. केवल बरसात और जाड़े में ही गर्म होती है। गर्मी में गाभिन नहीं होती है।

---

[१] श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृष्ठ ३८८

[२] श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृष्ठ ४३७

[३] महर्षि स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र— लेखराम, पृष्ठ ५१९

[४] महर्षि दयानन्द जीवन चरित्र भाग १, पृ. २९०

[५] वही, भाग २, पृष्ठ २००

[६] श्रीमद्दयानन्द प्रकाश-पृष्ठ ४३७

[७] गोकरुणानिधि-पृष्ठ ४

[८] गाय ही क्यों— हरदेव सहाय, पृष्ठ१०२

	गाय		भैंस
	२४ से ३६ घण्टे तक गर्म रहती है जिससे साण्ड का प्रबन्ध आसानी से हो सकता है।		केवल १८ घण्टे तक गर्म रहती है जिससे साण्ड का प्रवन्ध कठिन होता है।
४.	(अ) साल के किसी मास में व्या सकती है। साल में एक बार बच्चा देती है और केवल ९० दिन सूखी रहती है।	४.	(अ) १३-१४ महीने बाद बच्चा देती है और इस तरह लगभग ११६ दिन सूखी रहती है।
	(ब) २८६ दिन में व्याती है		(ब) ३१० दिन में व्याती है।
५.	७५ प्र. श. बछड़े, बछिया जीवित रहते हैं	५.	केवल २५ प्र. श. पड़िया, पड़वे जीवित रहते हैं।
६.	बच्चा मर जाने पर भी आसानी से दूध देती हैं।	६.	अकस्मात् बच्चा मर जाने पर दूध बन्द कर देती है।
७.	पानी केवल पीने और सफाई के लिये चाहिये।	७.	केवल पानी में ही रहना पसन्द करती है।[1]

(इ) 'केन्द्रीय फार्म चक गंजरिया लखनऊ पर १२ वर्षके अनुभव से यह सिद्ध हो गया कि गाय भैंस की अपेक्षा ड्यौढ़ा दूध दे सकती है।'[2]

(ई) 'गाय और भैंस के दूध का प्रयोग घोड़ी के बच्चों पर भी करके देखा जा चुका है। जो बच्चे भैंस के दूध पर पले थे, वे सुस्त थे तथा तथा गर्मी नहीं सहन कर सकते थे और घोड़ों के स्वाभाविक गुणों से रहित थे।'[3]

(उ) 'गाय के घी में Iodine है जो भैंस के घी में नहीं। उसमें विटामिन ए बहुत है.... ये सब बातें भैंस के घी में कहां।'[४]

(ऊ) 'प्राचीन भारत में भैंस नहीं थी। वेदों में भैंस पालन का उल्लेख नहीं।[५] वेदों के समान कुरआन, बाइबिल, बौद्ध पिटक, जैन-ग्रन्थ, सिक्खों के गुरु ग्रन्थ, जिन्दा अवेस्ता आदि में भैंस के लिये कोई स्थान नहीं है।'[६]

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि स्वामीजी का भैंस की अपेक्षा गाय को प्राथमिकता देना न केवल शास्त्रसम्मत है अपितु विज्ञानसम्मत भी है। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर 'गोमेध' का प्रसंग आता है, कुछ लोग इसका अभिप्राय यह लेते हैं कि गाय को मार कर उसे यज्ञ में डाल दिया जाये। यहां गोमेध का अर्थ करना अप्रासंगिक नहीं होगा। स्वामीजी के अनुसार "गोमेध का अर्थ है अन्न का उपार्जन करना, इन्द्रियों को पवित्र बनाना, भूमि को

---

१. वेद प्रकाश दिसम्बर १९६०, पृष्ठ २६८-६६

२. वही, पृष्ठ २६८

३. गाय या भैंस, हरदेव सहाय, पृष्ठ १९

४. वही, पृष्ठ २०

५. वही, पृष्ठ ८   ६. वही, पृष्ठ ८

शुद्ध रखना और मृतक का दाहकर्म करना।''[१] भारतेन्दु विमल व्याकरणाचार्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की है, ''गावो मेध्यन्ते यत्र यस्मिन् वा इति गोमेध यज्ञः' 'मिधृ मेधृ संगमे च'....अर्थ हुआ ''कि जिस यज्ञ गौवों का एकत्रीकरण हो वह, गोमेध नाम यज्ञ कहलायेगा।''[२] इसी का दूसरा अर्थ उन्होंने निरुक्त दुर्ग भाष्य के आधार पर किया है, ''मम गावो दास्यति इति गोमेधः 'अर्थात्' मुझे गायें प्रदान करेगा जो यज्ञ, वह गोमेध यज्ञ हुआ।'[३] स्वामीजी ने इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद भी करवाया था—'गोकरुणानिधि' का जो अंग्रेजी भाषान्तर हुआ है सो हमारा छपवाने का निश्चय है।'[४] वह उस समय प्रकाशित भी हुआ था या नहीं यह अनिश्चित है।

(२५) **वेदांगप्रकाश**—''मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को संस्कृत सीखने के लिये पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रिया के ढंग पर आर्यभाषा में व्याख्या कराई और उसमें शिक्षा तथा निघण्टु का समावेश करके उनका 'वेदांगप्रकाश' साधारण नाम रखा।'[५] वेदांगप्रकाश के १४ भाग हैं जो पृथक्-पृथक् पुस्तक रूप में भी उपलब्ध होते हैं। इस पुस्तक में जिनकी चर्चा की गई है, वे आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा प्रकाशित हैं। पृथक् पुस्तक रूप में प्रकाशित होने पर भी उन्हें यहाँ एक ही पुस्तक का अंग मानकर चर्चा की है। स्वामीजी के समस्त ग्रन्थ उनके द्वारा स्थापित वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित भी उपलब्ध हैं।

१. **वर्णोच्चारण शिक्षा**—स्वामीजी क्योंकि स्वयं महान् वैयाकरण थे, अतः उनकी कामना थी की प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक शब्द का शुद्ध उच्चारण करे। 'सत्यार्थप्रकाश' में भी उन्होंने लिखा है ''जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना।''[६] इस विषय में स्वामीजी का निरीक्षण कितना गहन था, यह भूमिका के इन शब्दों से ज्ञात हो जायेगा 'जैसे 'ज्ञ' को दाक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तैलंग, कर्णाटक और महाराष्ट्र 'द्नान', गुजराती लोग 'ग्यान' और पंचगौड़ 'ग्यान' ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध परम्परा से वेदादिशास्त्रों के पाठ में भी करते हैं।''[७]

पुस्तक में ५×७ इंच आकार के केवल २३ पृष्ठ हैं। पुस्तक के उपसंहार में स्वामीजी पुनः लिखते हैं ''सब मनुष्यों को उचित है कि जिस-जिस प्रकरण में जिस वर्ण के उच्चारण के लिये जो-जो बात लिखी है, उसको ठीक-ठीक जानकर विद्यार्थियों को जना के शब्दाक्षरों के प्रयोग ज्यों के त्यों कर प्रशंसित हों....''[८] रचनाकाल माघ कृ. ४ सं. १९३६ है।

२. **संधिविषय**—पुस्तक में ११९ पृष्ठ हैं—इसके उद्देश्य के विषय में स्वामीजी ने लिखा है—''मैंने यह पुस्तक इसलिये बनाया है कि जिससे व्याकरण में जितना सधि का विषय

---

[१] श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृष्ठ ३२३ [२] वेदप्रकाश जनवरी १९६३, पृष्ठ ८
[३] वही, पृष्ठ ८ [४] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १३८
[५] वही, पृष्ठ १४१ [६] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५
[७] वर्णोच्चारण शिक्षा-भूमिका, पृष्ठ १ [८] वही, पृष्ठ २३

है उसको पढ़ने हारे सुख से समझ लेवें। इस ग्रन्थ में लोक और वेद का विषय सम्पूर्ण रखा है।"[१] रचनाकाल आषाढ़ सं. १९३७ है।

३. नामिक—रचनाकाल चैत्र शु० १४ सं. १९३८ है। 'नाम्ना व्याख्यानो ग्रन्थो नामिकः' के कारण इसका नाम नामिक पड़ा है।[२] इसमें 'सुबन्त' का विषय है। पुस्तक की पृष्ठ संख्या १३८ है। पुस्तक के उपोद्घात के अन्त में स्वामीजी का नाम नहीं दिया गया है।

४. कारकीय—रचनाकाल भाद्र कृष्णा ८ सं० १९३८ है तथा पृष्ठ संख्या ७० है। कारक प्रकरण की व्याख्या होने के कारण इसका नाम 'कारकीय' रखा गया है। भूमिका के अन्त में स्वामीजी का नाम मुद्रित नहीं है।

५. सामासिक—रचनाकाल भाद्र कृष्णा १२ सं० १९३८ है तथा पृष्ठ संख्या ८८ है। भूमिका के बाद स्वामीजी का नाम मुद्रित नहीं है। समासों की चर्चा के कारण इसका नाम 'सामासिक' है।

६. स्त्रैणतद्धित—इसका रचनाकाल मार्गशीर्ष सु० ५, सं० १९३८ है। पृष्ठ संख्या २८३ है तथा भूमिका पर स्वामीजी का नाम नहीं है। 'इसमें अष्टाध्यायी के स्त्रीप्रत्यय तथा तद्धितप्रत्ययों का व्याख्यान है।'[३] भूमिका में लिखा गया है 'संस्कृत में जैसा तद्धित प्रत्ययों से अधिक बोध होता है वैसा अन्य से नहीं हो सकता।'[४]

७. अव्ययार्थ—रचनाकाल आश्विन शु० ६ सं० १९३८ है तथा पृष्ठ संख्या २८ है, भूमिका में स्वामीजी का नामोल्लेख नहीं है। तीनों लिंगों सातों विभक्तियों तथा तीनों वचनों में अपरिवर्तित रहने वाले अव्ययों से सम्बद्ध होने के कारण ही इसका नाम अव्ययार्थ है।

८. आख्यातिक—वेदांगप्रकाश के सभी भागों में यह सबसे अधिक स्थूलकाय (६४० पृष्ठ) है, रचनाकाल पौष कृ० ९ सं० १९३८ से पूर्व का है। इसकी भूमिका में भी स्वामीजी का नामोल्लेख नहीं है। यद्यपि इसमें कृदन्त की भी व्याख्या है किन्तु प्रमुखता आख्यात की होने के कारण नाम 'आख्यातिक' रखा गया है। 'आख्यात' उसको कहते हैं कि जो प्रकृति प्रत्ययों के संयोग से भाव, कर्म, कर्त्ता, भूत, भविष्यत् वर्तमान काल, एक, द्वि और बहुत अर्थों के वाचक हैं।'[५]

९. सौवर—रचनाकाल भाद्र सुदी १३ सं० १९३९ है तथा पृष्ठ संख्या ४३ है। भूमिका के अन्त में स्वामीजी का नाम दिया हुआ है। स्वरों का सम्बन्ध मुख्यतः वेदों से है। इसका उद्देश्य स्वामीजी के शब्दों में 'ग्रन्थ बनाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि जिससे सब मनुष्यों को उदात्तादि स्वरों की व्यवस्था का बोध यथार्थ हो जावे।'[६] इन्द्रशत्रु का अर्थ स्वर विपर्यय के कारण मेघ के स्थान पर शान्त करने वाला या काटने वाला हो जाता है।

---

[१] संधिविषय, भूमिका, पृष्ठ १

[२] नामिक, उपोद्घात, पृष्ठ १

[३] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १६३

[४] स्त्रैणतद्धित, भूमिका, पृष्ठ १

[५] आख्यातिक, भूमिका, पृष्ठ १

[६] सौवर, भूमिका, पृष्ठ १

१०. पारिभाषिक--रचना का समय आश्विन शुक्ल सं० १९३९ है तथा पृष्ठ संख्या ९२ है। भूमिका पर स्वामीजी का नाम दिया हुआ है। 'यहां केवल महाभाष्यास्थ परिभाषाओं का व्याख्यान है। परिभाषाओं का मुख्य तात्पर्य यही है कि दोषों का निवारण करके व्यवस्था कर देना।'[1]

११. धातुपाठ—यह पाणिनि मुनि कृत मूल ग्रन्थ है। ''यह ग्रन्थ यथार्थ व्याख्यान और भूमिका के सहित 'आख्यातिक' में छप चुका है परन्तु उसमें धातु अर्थों के सहित व्याख्यान के बीच-बीच में पड़े हैं।''[2] इसका रचनाकाल पौष वदी १० सं० १९३९ है, पृष्ठ संख्या ९९ है तथा भूमिका में स्वामीजी का नाम भी है।

१२. गणपाठ—''गणपाठ अष्टाध्यायी का परिशिष्ट है। यह महर्षि पाणिनि की रचना है।''[3] ''इस पुस्तक का नाम गणपाठ इसलिये है कि एकत्र मिला के बहुत-बहुत शब्दों का समुदाय पठित है।''[4] पृष्ठ संख्या ८३ है, रचनाकाल माघ शु० सं० १९३८ है तथा भूमिका में स्वामीजी का नाम भी है।

१३. उणादिकोष—रचनाकाल माघ कृ० १ सं० १९३९ है तथा पृष्ठ संख्या २११ है। भूमिका में स्वामीजी का नाम भी दिया गया है। पुस्तक में कुछ पृष्ठों को छोड़कर संस्कृत भाषा का ही आश्रय लिया गया है। इसका कारण निर्दिष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं, ''संस्कृत में वृत्ति बनाने का यही प्रयोजन है कि जो लोग पठनपाठन व्यवस्था के पहिले पुस्तकों को पढ़ेंगे, उनके लिये संस्कृत कुछ कठिन नहीं होगा। और संस्कृत भी सरल ही बनाया है। कई शब्दों के अर्थ इति शब्द लगाकर भाषा में भी खोल दिये हैं।''[5] इसमें व्याकरण शास्त्र के महत्त्वपूर्ण अंग 'उणादि सूत्रों' की सरल सुबोध व्याख्या है।

१४. निघण्टु—यह वेदांगप्रकाश का अन्तिम भाग है, इसकी पृष्ठ संख्या ७६ है तथा रचनाकाल मार्गशीर्ष शु० १४ सं० १९३८ है। यह वैदिक कोश है तथा भूमिका में स्वामीजी का नाम भी मुद्रित है। यह ग्रन्थ ''मूल और इसका भाष्य 'निरुक्त' यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनिजी के बनाये हैं।''[6] इस ग्रन्थ की उपयोगिता के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं ''यह ग्रन्थ सर्वत्र उपलब्ध नहीं था, अब छपने से प्राप्त होने लगा है। इससे बड़ा उपकार यह होगा कि जो पुराणवालों ने अर्थ का अनर्थ किया है, सो इन आर्ष ग्रन्थों से निवृत्त होकर सब के आत्मा में सत्य का प्रकाश होगा।''[7]

वेदांगप्रकाश के अधिकांश भागों के लेखक शोधकों के नाम संदिग्ध हैं। हिन्दी वालों के लिये यह विषय अधिक रुचि का भी नहीं है, अतः इस पर न तो विवाद किया गया है और न इसके भागों के सम्बन्ध में विस्तृत टिप्पणी दी गई है।

---

[1] पारिभाषिक, भूमिका, पृष्ठ २

[2] धातुपाठ, भूमिका, पृष्ठ १

[3] गणपाठ, सम्पादकीय वक्तव्य, पृष्ठ १

[4] गणपाठ, भूमिका, पृष्ठ १

[5] उणादिकोष, भूमिका, पृष्ठ ५-६

[6] निघण्टु, भूमिका, पृष्ठ ५

[7] निघण्टु, भूमिका पृष्ठ ५

(२६) **दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह**—स्वामीजी को अपने जीवन में अनेक शास्त्रार्थ करने पड़े, उनका विवरण अनेक पत्रों में तथा पृथक् रूप से भी उपलब्ध होता है। डा. भवानीलालजी भारतीय ने उपर्युक्त नाम से सभी शास्त्रार्थों का संकलन एक ही स्थान पर कर दिया है। पुस्तक पौष २०२७ वि. में प्रकाशित हुई है, इसका कलेवर ५॥ × ८॥ इंच के २३८ पृष्ठों में समाया हुआ है। सम्पादकीय प्राक्कथन के अतिरिक्त इसमें स्वामीजी के काशी, हुगली, मेला चांदापुर, जालंधर, अजमेर, बरेली, मसूदा तथा उदयपुर के आठों शास्त्रार्थ दिये हुए हैं। काशी शास्त्रार्थ के सन्दर्भ में पं. सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित विवरण भी दे दिया है। समस्त ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर कुछ उपयोगी पाद टिप्पणियां भी हैं।

(२७) **शुद्ध मनुस्मृति**—'सत्य प्रकाशन मथुरा' द्वारा प्रकाशित तथा श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ ५ × ७ इंच आकार के ७५३ पृष्ठ का है। अन्त में 'मनुस्मृति एक सरल अध्ययन' नाम से ५५ पृष्ठ का एक अध्याय और जोड़ दिया गया है। इसमें पुस्तक के शीर्षक के साथ (ऋषि दयानन्दभाष्य युक्त) भी लिखा हुआ है। यह कहना कठिन है कि इनमें से कितने अंश का भाष्य ऋषिकृत है और कितने का प्रेमकृत। उनकी दी हुई टिप्पणी "अनेक स्थलों पर महर्षि दयानन्द के भाष्य तथा कतिपय पाद-टिप्पणियों के लिये हमने श्री चन्द्रमणिजी विद्यालंकार एवं श्री सत्यकामजी सि. शास्त्री के भाष्यों से सहायता ली है।"[1] भी इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालती। संभवत: मनुस्मृति के जिन अंशों का उद्धरण स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश अथवा अन्य ग्रन्थों में किया है, उन्हीं को इस ग्रन्थ में सम्मिलित करके पूरे ग्रन्थ पर ही स्वामीजी की छाप लगा दी हो।

(२८) **उपदेश मंजरी**—इस ग्रन्थ का नाम 'पूना प्रवचन' भी है। स्वामीजी के मंतव्यों को समझने के लिये यह अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि यह अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है तथापि प्रस्तुत पुस्तक के लिये 'रूपलाल कपूर ट्रस्ट दिल्ली' द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण का उपयोग किया गया है। यह ग्रन्थ ५॥ × ८॥ इंच आकार के १५६ पृष्ठों में समाहित है। स्वामीजी "श्रीयुत् गोविन्द महादेव रानाडे आदि कतिपय प्रसिद्ध व्यक्तियों के निमंत्रण पर २० जून १८७५ को पूना पधारे थे.... (वहाँ उन्होंने) ५० व्याख्यान दिये थे और वे सभी लिपिबद्ध किये गये थे तथा उसी समय पत्रों में प्रकाशित भी हो गये थे।"[2] इनका प्रथम प्रकाशन मराठी भाषा में हुआ था, तत्पश्चात् गुजराती अनुवाद "स्वामी दयानन्द सरस्वती नुं भाषण" नाम से हुआ। इस पुस्तक में पन्द्रह प्रवचन हैं जिनमें ६ का संबंध इतिहास विषय से है तथा शेष के शीर्षक क्रमश: 'ईश्वर सिद्धि, धर्माधर्म, वेद विषय, जन्म विषय, यज्ञ और संस्कार, नित्य कर्म और मुक्ति, स्वयं कथित जीवन चरित (तथा दो प्रवचन प्रश्नोत्तर संबंधी) हैं।

(२९) **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (परिशिष्ट सहित)**—ऋषि के पत्रों का संपादन श्री महाशय मामराजजी, पं. चमूपति जी, म. मुंशीरामजी आदि अनेक व्यक्तियों ने किया है, पर उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रस्तुत ग्रन्थ ही है जिसके सम्पादक श्री भगवद्दत्तजी हैं। 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, १० × ७॥ इंच के ५४८ पृष्ठ में हैं। कुछ पत्र

---

[1] शुद्ध मनुस्मृति, सम्पादकीय, पृष्ठ ७

[2] पूना प्रवचन अर्थात् उपदेश मंजरी, ग्रन्थ परिचय, पृष्ठ २

अंग्रेजी में हैं, कुछ संस्कृत में और कुछ आर्य भाषा में। पत्रों की कुल संख्या ४६५ है। जिनमें से कुछ स्वयं स्वामीजी के हाथ के लिखे हुए हैं। कुछ पत्रों की भाषा में आवश्यकता से अधिक उर्दू शब्दों का समावेश है। कारण संभवतः यही है कि पं. लेखराम कृत उर्दू भाषा में लिखे जीवनचरित से उद्धृत किये गये हैं। स्वामीजी के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी देने के लिये यह अद्वितीय ग्रन्थ है।

(३०) **स्वामीजी के लोगों को बतलाये हुए औषधि-योग**—प्रस्तुत अंश का संकलन पं. लेखरामजी द्वारा संकलित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र' के "परिशिष्ट में पृष्ठ १०३७ से १०३९ तक दिया हुआ है।"[१] इससे स्वामीजी के औषधि संबंधी ज्ञान का कुछ परिचय हो जाता है।

(३१) **योगी का आत्मचरित्र-(Autobiography of Yogi Dayanand)**—प्रस्तुत ग्रंथ स्वामीजी के सम्बन्ध में लिखे गये आधुनिकतम ग्रन्थों में से एक है। यह बहुचर्चित होने के साथ विवादास्पद भी है। इसमें स्वामीजी की ३९ वर्ष की अज्ञात जीवनी दी गई है। इसका प्रकाशन 'पातंजल योगसाधना संघ, रोहतक' ने किया है तथा इसका कलेवर ५॥ × ८॥ इंच आकार के ४९५ पृष्ठ में है। इसका कागज, मुद्रण, बाईंडिंग आदि सभी बड़ा आकर्षक एवं मनोहर है। इस ग्रन्थ के संस्कृत में प्रवक्ता योगेश्वर महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्दिष्ट किये गये हैं, संस्कृत से बंगला में अनुदित करने वाले सर्वश्री महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ब्रह्मानन्द तथा केशवचन्द्र सेन आदि विद्वान् कहे जाते हैं, इसके हिन्दी अनुवादक तथा हस्तलेख अन्वेषक दीनबन्धु शास्त्रीजी हैं। ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध में अनुसंधान खण्ड है जिसमें १५१ पृष्ठ हैं तथा उत्तरार्द्ध में 'योगी का आत्म चरित्र' है तथा पृष्ठ संख्या २४३ है। अंतिम अध्याय में कर्नल आलकाट को भेजी गई आत्मकथा का आंग्ल भाषा का मूल अंश है तथा उसका हिन्दी अनुवाद भी है।

अनुसंधान के निम्न निष्कर्ष वस्तुतः आश्चर्यजनक, आह्लादक एवं कठिनता से विश्वसनीय है।

१. 'ऋषि ने स्वातन्त्र्य संग्राम में पूरा भाग लिया।'

२. 'नाना साहब महर्षि के सच्चे शिष्य थे....।'

३. कुम्भ के मेले पर ऋषि के दर्शन करने वाले वीर-पुंगव थे—नाना साहब, महारानी लक्ष्मीबाई, अजीमुल्ला खां, बाला साहब, तात्या टोपे, वीरवर,कुंवरसिंह, मंगल पांडे, गंगाबाई।

४. ह. ईसा का भारत में योगाभ्यास ऐतिहासिक है।[२]

उपर्युक्त निष्कर्षों को देखकर जहां एक ओर ऋषि भक्त नाच उठे वहां दूसरी ओर से विचारकों को इसमें कुछ अनौचित्य भी दिखाई दिया—

---

[१] महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, पृष्ठ १०३७

[२] योगी का आत्मचरित्र, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ३३२

१. श्री पूर्णानन्द सरस्वती ने इसे मनगढ़न्त कहानी बताया। "उसको पढ़कर मेरी निष्पक्ष सम्मति यह है कि यह पुस्तक आदि से अन्त तक झूठी कल्पनाओं से भरी हुई है।"[१]

२. आचार्य विश्वश्रवा: व्यास ने इसे अनुत्तरदायित्वपूर्ण बताया—"सार्वदेशिक सभा के मुख पत्र सार्वदेशिक में अज्ञात जीवन छापना अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य ही था।"

(३) संभवत: इसी को लक्ष्य करके प्रसिद्ध इतिहासकार श्रीराम शर्मा ने लिखा है—"The attempt to drag Swami Dayanand in to this First War of Independence' are based on the false assumption that what we know of Dayanand already is not enough to give him a position as the maker of modern India. He needs some props."[२]

दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं में सत्यांश है और इन दोनों में से मध्यमार्ग निकालना ही अधिक समीचीन होगा।

(३२) ऋषि दयानन्द के बनाये वा बनवाये ग्रंथ—इस शीर्षक से श्री मीमांसकजी ने '२६ ग्रन्थों'[३] की सूची दी है। इनमें से चतुर्वेद विषय सूची, ऋग्, यजु, अथर्व, सामवेद के मंत्रों की वर्णानुक्रमणिका 'वैदिक पुस्तकालय' अजमेर द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है, शेष ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों का संवंध संस्कृत से अधिक तथा आर्य भाषा से कम है, अत: उनका विस्तृत विवरण यहां नहीं दिया गया है।

स्वामी दयानन्दजी का असमय में निधन होने के कारण उनकी कई रचनायें अपूर्ण रह गईं, कुछ के पूर्ण होने पर भी उनका प्रकाशन उनके जीवन में सम्पन्न नहीं हो पाया। अहोरात्र व्यस्त रह कर, प्रचार और शास्त्रार्थ और दैनन्दिन यात्राओं से समय निकाल स्वल्प समय में उन्होंने जो लेखन कार्य कर लिया, वह एक व्यक्ति तो क्या एक संस्था के लिये भी दुष्कर है। इस पर भी उनकी इस लेखन यात्रा में अनेकों अंतराय थे, उनके तीनों अधीनस्थ पंडित अविश्वसनीय थे। पं. दिनेशराम के सम्बन्ध में उन्हें 'विषकुम्भम् पयोमुखम्'[४] लिखना पड़ा, पं. भीमसेन ने तो कई बार रंग बदले, स्वामीजी ने उसकी वृत्ति को 'वक वृत्ति' कहा और ज्वालादत्त के संवंध में उनकी सम्मति थी कि वह पं. भीमसेन के इशारे पर चलता है। इन्हीं पंडितों की अयोग्यता तथा कुटिलता के कारण स्वामीजी के ग्रन्थों में अनेक अशुद्धियों का समावेश हो गया, फिर भी जो शुद्ध है, वह स्पृहणीय तथा अनुकरणीय है।

---

[१] 'परोपकारी' जून १९७२, पृष्ठ २५

[२] Punjab University Research Bulletin (Arts) Vol. III No. 2, Oct. 72, page 219

[३] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १९०

[४] वही, परिशिष्ट ६, पृष्ठ ८६

चतुर्थ अध्याय

शिक्षा एवं निर्धारित पाठ्यविधि

पृष्ठभूमि—स्वामी दयानन्द सरस्वती के कार्यक्षेत्र में पदार्पण करने के समय सन् १८५७ की क्रान्तिज्वाला पूर्णतः शान्त हो चुकी थी। निराश भारतीयों का सब कुछ लुटता जा रहा था और वे एक मूकदर्शक की भांति सब कुछ अपनी आंखों से देख रहे थे। धर्म, संस्कृति, सभ्यता, आचार-व्यवहार सभी पर विदेशीय छाप गहरी होती जा रही थी। अन्य क्षेत्रों की भांति शिक्षा के क्षेत्र में भी 'स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्वमानवाः'[1] का मूलमंत्र भूल कर अपने को हेय दृष्टि से वे देखने लगे थे। एक ओर "उस जमाने में (सन् १८६०-८०) फारसी के नाम से बच्चों को उर्दू पढ़ाई जाती थी।"[2] फारसी के रूप में उर्दू की माला जप रहे थे और दूसरी ओर "जगद्गुरु ऋषियों की सन्तान नीम वहशियों की श्रेणी में नाम लिखा कर ए. बी. सी."[3] शुरुआत कर रही थी। आधुनिक शिक्षा प्रणाली के जनक लार्ड विलियम बैंटिक ने कुछ सुधार प्रारंभ किये थे "भारतीयों को शिक्षा देने के माध्यम के विषय में दो मत थे—(१) मैकाले अंग्रेजी भाषा के माध्यम का समर्थक था और (२) विल्सन भारतीय भाषाओं का हिमायती था।"[4] विजय मैकाले की हुई, राजा राममोहन राय ने भी उनका समर्थन किया। शिक्षा के क्षेत्र में तीन R (Reading, Writing, Arithmatic) का प्राबल्य हो गया और शिक्षा क्लर्कों को उत्पन्न करने की एक फैक्ट्री हो गई।

भारतीयों की प्रकृति को देखते हुए अंग्रेज शासकों ने "मुसलमानों के मदरसा और बनारस के 'संस्कृत कॉलेज' में अंग्रेजी विषय को पढ़ाने का प्रबन्ध कर दिया। कंपनी के डायरेक्टरों ने न्यायालय को छोड़कर सभी विभागों में अंग्रेजी के प्रयोग के आदेश जारी कर दिये।"[5] प्राथमिक शालाओं की स्थिति दयनीय थी, 'अध्यापकों को ३ से ८ रुपया मासिक तक वेतन मिलता था।'[6] पढ़ने वालों की दशा भी विचित्र थी। अकाल के दिनों को छोड़कर भी वे एक जून ही भोजन कर पाते थे, ऐसे बुभुक्षित व्यक्तियों का मानसिक विकास किया जाना एक प्रकार से असम्भव ही था। नवशिक्षित व्यक्तियों ने अपने आपको पूर्णतः इस सांचे में ढाल लिया। भारत का अतीत भी उन्हें भारत के मूल ग्रन्थों से नहीं अपितु मैकडानल आदि के किये हुए अनुवादों से मिलता था, अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति यद्यपि संख्या में थोड़े थे, फिर भी सारे देश के अंग्रेजी विदों से इनका सम्पर्क था। ईसाइयत का जाल फैलता जा रहा था और सामान्यजन

---

[1] मनुस्मृति—पं. तुलसीराम, पृष्ठ ८३

[2] दक्षिण भारत के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ १७

[3] पद्मपराग—पद्मसिंह शर्मा, पृष्ठ १२

[4] हायर सैकण्डरी इतिहास—परमेश्वरसिंह परिहार, भाग २, पृष्ठ १५८

[5] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, अष्टम भाग, पृष्ठ २१

[6] वही, पृष्ठ २४

ही नहीं अपितु गौलकनाथ और नीलकण्ठ शास्त्री जैसे द्विजशिरोमणि भी उसमें समाहित होते जा रहे थे। अपनी प्रारम्भिक सफलता पर फूला न समा कर एल.एम.एस. मिशनरी के कीथ ने बड़े उत्साह से एक पत्र में लिखा था—"We have unfurled the banners of the Cross, laid seige to the enemy's fortress....We have drawn our swords and determined to use them to place Jesus....on his throne in thisl and"[१] अर्थात्—'हमने ईसाइयत का ध्वज फहरा दिया है, शत्रु के दुर्ग पर घेरा डाल दिया है....हमने अपने खड्ग, खींच लिये हैं और निश्चय किया है कि इस भूमि में ईसा को सिंहासनारूढ़ करेंगे।'

आज की स्थिति भी कुछ परिष्कृत नहीं है। सामान्य व्यक्ति से लेकर राष्ट्रपति तक इस शिक्षा से असन्तुष्ट हैं। यह ठीक है कि ईसाइयत आज अपने रूप में कुछ परिवर्तन कर चुकी है, फिर भी पाश्चात्य-संस्कारों का भूत हमारे सिर पर सवार है। स्व. श्री राजगोपालाचारी को कहना पड़ा है कि 'भारतीय शिक्षा एक जुआ है'[२] तथा डा. राधाकृष्णन जैसे मनीषी का भी विचार है, 'भारत में जो शिक्षा प्रणाली चल रही है यह भारतीय नहीं है।'[३] पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावों का सर्वोत्तम चित्रण आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्रराय ने किया है। कॉलेज के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था—"नयी पीढ़ी के जवान आलसी हो रहे हैं, काम कम और आराम ज्यादा करते हैं, कमाते कम और खर्च ज्यादा करते हैं। मां-बाप से सब कुछ लेते हैं पर देते कुछ नहीं। शारीरिक स्वास्थ्य पर नहीं, सजावट पर अधिक ध्यान देते हैं। सादगी छोड़ भोग विलास में फंसते जा रहे हैं।"[४]

इस प्रकार जब सारा देश एक विचित्र ऊहापोह में फंसा हुआ था, जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी, मस्तिष्क की गुलामी और पेट की ज्वाला ने उन्हें भयावह विधर्म की ओर प्रक्षिप्त कर दिया था, पथ-प्रदर्शक स्वयं उलझे हुए प्रतीत हो रहे थे, तब स्वामी दयानन्द ने सिंहनाद किया, मुर्दों को चुनौती देकर सोने वाला देश भी अनायास ही चौंक पड़ा। यह ध्वनि विदेशों तक भी पहुंची और वहां सर एल्फ्रेड लायल ने भविष्यवाणी की—"भारतवर्ष में एक ऐसा मनुष्य जन्म लेगा जो एक आन्दोलन चलायेगा जिसके चिह्न उस समय साफ प्रकट हो रहे थे। यह आन्दोलन क्या होगा और इसका क्या परिणाम होगा, इसका उत्तर समय स्वयं दे देगा।"[५] समय ने उत्तर दिया और दयानन्द जैसा क्रान्तिकारी कार्य-क्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसकी दिव्य दृष्टि ने न केवल वर्तमान को ही देखा अपितु अपनी दिव्य दृष्टि से सृष्टि के आदिकाल वैदिक युग को भी देखा, वहीं से प्रेरणा प्राप्त करके उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया। उनकी पाठ-विधि में शिक्षा प्राथमिक शालाओं से नहीं अपितु इसके पूर्व से ही प्रारम्भ होती है और उपसंहार भी उपाधि वितरण तक नहीं होता। बच्चे के संसार में आंख खोलने के दिन से लेकर पूर्ण शिक्षित होने तक का विस्तृत कार्यक्रम उन्होंने प्रस्तुत किया है।

---

[१] दी क्रिश्चियन मिशनरीज इन बंगाल, पृष्ठ ७७

[२] वेदप्रकाश, विद्यार्थी लेखावली विशेषांक, पृष्ठ ११९

[३] वही, पृष्ठ ११९

[४] वेदप्रकाश, सितम्बर, १९६२, पृष्ठ १४

[५] आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास—साहनी, पृष्ठ १३०

शिक्षा विषयक धारणायें—मनुष्य को पूर्ण शिक्षित होने के लिये तीन उत्तम शिक्षक होने चाहियें अर्थात् "एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य।"[१] इन तीनों शिक्षकों के उत्तम होने के उपरान्त भी विद्यार्थियों के लिये कुछ कर्म विधेय हैं और कुछ त्याज्य, कुछ का संबंध विद्यार्थियों से है, कुछ का अभिभावकों से तथा कुछ का राज्य व्यवस्था अथवा समाज से। एतद्विषयक उनके विचारों को हम निम्न प्रकार लेखनीबद्ध कर सकते हैं। अपने विचारों का प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने वेद शास्त्रों के अतिरिक्त मनुस्मृति तथा शुक्रनीति का भी पर्याप्त आश्रय लिया है।

१. चरित्रवान्--विद्यार्थियों का सबसे बड़ा आभूषण उनका चरित्रवान् होना है। "सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और संबंधियों का मुख्य कर्म है।"[२] कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी इस मत से सहमत हैं। हर्बर्ट स्पैन्सर ने लिखा है कि शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण है "Formation of character is the chief object of life."[3] शिक्षा का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द Education है और इससे भी यही ध्वनि निकलती है। "Education शब्द लेटिन भाषा के Educo धातु से बना है। इस धातु में दो शब्द हैं 'E' means out और 'Duco' to draw out from with in। इस प्रकार Education का अर्थ भीतर से बाहर खींचना है।"[४] चरित्र का यह बन्धन विद्यार्थी और अध्यापक दोनों के लिये समान रूप से उपादेय है। 'जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें।'

२. वैदिक आधार—भारतीय पुनर्जागरण काल में जब पाश्चात्य प्रभाव खड्गहस्त होकर भारतीय परम्पराओं को नष्टप्राय कर रहा था, तब स्वामी दयानन्द वेदों की ढाल लेकर अवतीर्ण हुए और उन्होंने वेद-ज्ञान को ईश्वरीय बताया। 'गड़रियों' के गीत कहे जाने वाले वेदों की उन्होंने अपने ढंग से व्याख्या की और इसी को शिक्षा की भी आधार-शिला बनाया। "जो वेदों को अर्थ सहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों को ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सबसे अधिक उत्तम होता है।"[५] उनके वेद-व्याख्यान की सराहना भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों विद्वानों ने की। श्री अरविन्द घोष ने तो यहाँ तक कहा --"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the Vedas contain other truth of a science the modern world does not at all posses and in that case Dayanand has rather understated than over. Stated the depth and range of the Vedic wisdom."[६] अर्थात् दयानन्द के इस विचार में कि वेदों में विज्ञान और धर्म का

---

[१] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १४

[२] वही, पृष्ठ २०

[३] वेदप्रकाश, जुलाई १९६३, पृष्ठ १६

[४] वही, पृष्ठ १७

[५] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ६५६

[६] दी कल्चरल हैरीटेज ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम ४, दी रैलीजियन्स—हरिदास भट्टाचार्य, 'दी आर्यसमाज' —पं. चमूपति एम.ए., पृष्ठ ६३४

सत्य है, कोई असंगति नहीं है। मेरा निजी विश्वास तो इससे भी बढ़कर है कि वेद में ऐसे विज्ञान का भी प्रतिपादन है जिससे आधुनिक संसार भी अनभिज्ञ है। ऐसी दशा में दयानन्द के वैदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन अतिशयोक्तिपूर्ण न होकर न्यूनोक्तिपूर्ण है।

३. विद्यालय जाने की आयु—पांच वर्ष और अधिक से अधिक आठ वर्ष तक विद्यार्थियों को घर पर ही शिक्षित किया जाना चाहिये, उसके बाद उनका घर पर रहना सामाजिक अपराध ही समझा जाना चाहिये। स्वामीजी लिखते हैं—"राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजें वह दण्डनीय हो।"[1] विद्यालय जाने से पूर्व उनका यज्ञोपवीत घर पर किया जावे और दुबारा यह संस्कार आचार्य कुल में हो। माता-पिता को चाहिये कि अपने बच्चों को अर्थ सहित गायत्री मंत्र का उपदेश करें। उन्हें सन्ध्या और अग्निहोत्र करना भी सिखायें।

४. विद्यालयों का स्थान—सभी विद्यालय नगर के कलरव से पर्याप्त दूर होने चाहियें। बालक-बालिकाओं के विद्यालय भी एक दूसरे से काफी दूर होने चाहियें। एक के विद्यालय में दूसरे का जाना सर्वथा वर्जनीय होना चाहिये। स्वामीजी ने तो स्पष्ट लिख दिया है "स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे।"[2] विद्यार्थियों को 'नून तेल लकड़ी' के झगड़े से सर्वथा दूर रखा जाना चाहिये। नगरों से दूर रहने पर ही विद्यार्थी स्वस्थ, आचारयुक्त और अध्ययनरत हो सकेंगे। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने भी 'आदर्श विद्यालय' की कल्पना कुछ इसी रूप में की थी, "away from the turmoil of human habitation in solitude under the open sky, amidst wild fields, trees and plants."[3] अर्थात् मनुष्य की बस्तियों के कोलाहल से दूर, विस्तृत नीलनभ के नीचे एकान्त में, वन्य क्षेत्र और पेड़-पौधों के मध्य में। प्रकृति के निर्भृत-प्रदेश में ही मानव के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है, इस प्रकृति के साहचर्य से ही वे उसके रहस्यों को जान सकते हैं तथा प्रत्येक पदार्थ में सार्वजनीन-चेतना का अनुभव कर सकते हैं।

बालकों को २४ वर्ष तक तथा बालिकाओं को १६ वर्ष की अवस्था तक इन विद्यालयों में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए निवास करना चाहिये। 'Day-scholar' नाम की कोई वस्तु उन दिनों संभावित नहीं थी; प्रत्येक विद्यार्थी को अनिवार्य रूप से निशदिन गुरु अथवा ऋषि के साथ रहना अनिवार्य था, अतः इन विद्यालयों का नाम 'गुरुकुल', 'आचार्य कुल' अथवा 'ऋषिकुल' था। शिष्य ही सदा गुरुकुल में जाते थे, गुरु कभी शिष्यकुल में प्रविष्ट नहीं होते थे। माता-पिता बच्चों को गुरु के पास सौंपकर निश्चित हो जाते थे और "आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।"[4] और जब तक यह गर्भ पूरा नहीं हो जाता था अर्थात् विद्यार्थी का अध्ययन पूरा नहीं हो जाता था तब तक विद्यार्थी का गुरुकुल छोड़कर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। गुरुकुलों में सभी विद्यार्थियों में एकसा ही व्यवहार किया जाता था, इनका

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २१ [2] वही, पृष्ठ २०

[3] सेवन इंडियन एज्यूकेशनिस्ट्स, पृष्ठ ७

[4] संस्कारविधि, पृष्ठ ९६

समान आहार-व्यवहार रहता था और राजा-रंक की वेषभूषा भी एक सी रहती थी—कृष्ण और सुदामा में वहां कोई अन्तर नहीं था। अस्पृश्यता, हीनभाव तथा जाति-पाति के विचार वहाँ किसी को छू भी नहीं पाते थे।

५. निष्पक्ष एवं आदर्श अध्यापक—गुरु को स्वामीजी कितना सम्मान देते थे, यह उनके जीवन के एक अंश से स्पष्ट हो जायेगा। अपने गुरु स्वामी विरजानन्द के दिवंगत होने का समाचार सुनकर वज्रपात से मूर्च्छित लता के कोमल पुष्पों की भांति स्वामीजी का मुख मण्डल तत्काल कुम्हला गया। कुछ देर तक सन्न से चुप रह कर कहने लगे—'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।' "जिस महापुरुष ने स्वाभाविक स्नेह से सने हुए अपने सगे-सम्बन्धियों को, इष्ट मित्रों को और सम्पत्तिशाली घर-बार को त्यागते हुए कुछ भी चिन्ता नहीं की थी, ज्ञानगुरु का मरण समाचार सुनकर, उस दिन, उसके भी चित्त-चन्द्रमा पर शोक राहु की छाया पड़ गई।"[१] जिन गुरुओं को इतना सम्मान दिया जा रहा है, उन गुरुओं को भी तपस्वी, पक्षपात शून्य तथा विद्यार्थियों के हित में लगा हुआ होना चाहिए। स्वामीजी के अनुसार आचार्य का अर्थ ही है "जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा पूर्वक विद्या होने के लिये तन-मन और धन से प्रयत्न करे उसको आचार्य कहते हैं।"[२] आवश्यकता होने पर गुरु को विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड Corporeal punishment भी देना चाहिये। "....विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथा अपराध दण्ड देवें।"[३] यह ताड़ना न तो किसी द्वेषभाव से की जानी चाहिये और न अंगभंग करने वाली वा न मर्मभेदी होनी चाहिये। गुरु यदि अनुचित शिक्षा दें तो शिष्य उस पर आचरण न करें। गुरु के अनुचित व्यवहार पर भी शिष्य प्रतिशोध न लें, आवश्यकता होने पर यह कार्य राजा का है, "जो गुरु भी मदोद्धत हो जावे और कार्याकार्य को भूल जावे तथा धर्म मार्ग को छोड़कर चल पड़े तो उसको भी राजा अवश्य दण्ड दें।"[४] स्वामीजी के मतानुसार पढ़ाने वालों को पंडित होना चाहिये, पंडित का अभिप्राय है "जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़ सदा उद्योगी, सुख-दुःखादि का सहन, धर्म का नित्य सेवन करने वाला हो, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा और अधर्म की ओर न खींच सके।"[५] उसको आस्तिक, श्रद्धावान, प्रशस्त कार्यों को करने वाला तथा निन्दित को त्यागने वाला, आशुज्ञानी, अप्राप्य वस्तुओं का अनिच्छुक, नष्ट पदार्थ पर उद्विग्न न होने वाला होना चाहिये उसे "बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ, प्रबल तार्किक, प्रत्येक विषय पर भाषण करने में सक्षम, अच्छा नैयायिक, स्मरणशक्तिसम्पन्न और शास्त्रों की समुचित व्याख्या करने वाला होना चाहिये।"[६]

---

[१] श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ १७२-१७३

[२] व्यवहारभानु, श. स. द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ७३२

[३] वही, पृष्ठ ७३५

[४] शुक्रनीति —गंगाप्रसाद शास्त्री, पृष्ठ ३०२

[५] व्यवहारभानु श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ७२५

[६] सेवन इंडियन एज्युकेशनिस्ट्स, पृष्ठ ९

सार्वभौम सत्योपदेश—स्वामीजी का कथन है कि विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जिसमें एकदेशीयता, साम्प्रदायिकता न होकर सार्वभौम सत्य का समावेश हो। वह सत्य बुद्धि के अनुकूल होना चाहिये और उसका स्वरूप ऐसा हो कि प्रत्येक व्यक्ति उस पर सरलता से विश्वास कर सके। उनका न केवल सत्यार्थप्रकाश अपितु सम्पूर्ण वाङ्मय ही उपर्युक्त कथन को प्रतिपादित करता है । सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका में उन्होंने लिखा है "जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य को आनन्द न होगा।"[१] इस दृष्टि से वेद ही उनके लिये प्रकाशस्तम्भ हैं, उन्होंने केवल आर्षग्रन्थों के अध्ययन करने की ही सम्मति लोगों को दी है, सामान्यजनों द्वारा निर्मित ग्रन्थ उनकी सम्मति में 'खोदा पहाड़ निकला चूहा' जैसी स्थति वाले होते हैं। इन ग्रन्थों में श्रम अधिक करना पड़ता है और लाभ कम होता है। सर्वपल्ली सर राधाकृष्णन् ने भी यही भाव व्यक्त किया है "Great books foster the psychological health of the reader. They induce in us largeness of mind and normative vision. They give us moral contentment."[२] अर्थात् महान् ग्रन्थ अध्येताओं के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य को परिपुष्ट करते हैं, वे हम में मस्तिष्क की विशालता तथा नियमबद्धदृष्टि को उत्पन्न करते हैं। वे हमें नैतिक सन्तोष प्रदान करते हैं।

स्त्री शिक्षा—स्वामीजी के मतानुसार स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही शिक्षित किया जाना चाहिये, उन्होंने स्त्रियों के लिये भी सभी संस्कारों का विधान किया है, वेदाध्ययन भी उनके लिये निषिद्ध ही नहीं अपितु प्रतिपाद्य बताया है। आजकल के स्वार्थी ब्राह्मणों ने श्रुति के नाम पर जो यह नारा लगाया कि 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' तो स्वामीजी का अमर्ष चरम सीमा पर पहुंच गया। इस भाव की अभिव्यक्ति उनके इन शब्दों में हुई है "सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल कल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं।"[३] स्त्री शिक्षा का प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने प्रमाणों की झड़ी लगा दी। यजुर्वेद के 'यथेमां वाचं कल्याणी' तथा श्रौत सूत्रों के 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' आदि इसके निदर्शन हैं। इसके अतिरिक्त अशिक्षित अध्यापिकायें कन्या-विद्यालयों में अध्यापन कार्य क्योंकर कर सकेंगी? एक समस्या और भी है, यदि पति विद्वान् और पत्नी अविदुषी हुई, 'तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहेगा।'[४] अशिक्षित स्त्रियां न गृह कार्य में दक्ष हो सकेंगी, न पति को प्रसन्न कर सकेगी और न भावी संतति का समुचित निर्माण कर सकेंगी। अतएव उनके अनुयायियों ने गुरुकुलों के साथ-साथ कन्या गुरुकुल भी खोले। स्वामीजी स्त्रियों को केवल पुस्तकीय शिक्षा देने के ही पक्ष में नहीं थे, वे गृह के अन्य कार्यों में भी उन्हें निपुण देखना चाहते थे। अपने वेद भाष्य में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है "यह उलूखल विद्या जो कि भोजन आदि के पदार्थ सिद्ध करने वाली है, गृह संबंधी कार्य करने वाली होने से यह विद्या स्त्रियों को नित्य ग्रहण करनी और अन्य स्त्रियों को सिखानी भी चाहिये...."[५]

---

[१] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७१

[२] Seven Indian Educationists, पृष्ठ ११

[३] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४४

[४] वही, पृष्ठ ४५

[५] ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १४४

सहशिक्षा—स्त्री शिक्षा और नारी जागरण के प्रबल पक्षपाती होते हुए भी वे सहशिक्षा के सर्वथा विरुद्ध थे, सहशिक्षा के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं, इनसे वे पूर्णतः परिचित थे, इसीलिये कन्याओं की पाठशालाओं में पांच वर्ष के लड़के तथा बालकों की पाठशाला में पांच वर्ष की बालिका का भी प्रवेश वे अनुचित समझते थे। वे चाहते थे कि कन्या पाठशालाओं में अध्यापक, अनुचर तथा अन्य कर्मचारी भी महिला वर्ग के ही हों। सहशिक्षा के सम्बन्ध में जस्टिस लिंडसे ने पच्चीस वर्ष तक इसके परिणामों का परीक्षण करने के बाद 'Revolt of the modern Youth' में लिखा है, 'जितने युवा कुमार वा कुमारियां जो सहभोजों में सम्मिलित होते हैं, नृत्य में भाग लते हैं और एक ही मोटर में सवारी करते हैं, उनमें ९० प्रतिशत से भी अधिक ऐसे हैं जो परस्पर आलिंगन एवं चुम्बन करते हैं....इनमें से कम से कम ५० प्रतिशत.... इससे भी आगे बढ़ जाते हैं।"[१] "अमेरिका के विषय में तो एक लेखक ने लिखा है कि वहां की कम से कम ४५ प्रतिशत लड़कियां विवाह के समय कुमारी नहीं होतीं।"[२]

निःशुल्क शिक्षा—शिक्षा का लाभ सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदान करने के लिये शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। गुरुजन लोभ से रुपया लेकर पढ़ाना भारी पाप समझते थे, ऐसे वेदविक्रयीजनों को आचार्य की पदवी से च्युत कर दिया जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा है जिसमें "राजा ने आचार्य को एक सहस्र गौ, हाथी, घोड़े और अपने कुल की कन्या के विवाह का लोभ देकर उससे पढ़ना चाहा, परन्तु आचार्य ने स्पष्टतया कहा कि जा तू शूद्र है, तुझे नहीं पढ़ाऊंगा।"[३] जो व्यक्ति शासन से दी हुई शिक्षा को अपने धन से खरीद कर पढ़ते हैं, उन पर देश का कौनसा ऋण है। वैसे भी गुरुकुलों में अध्यापक प्रायः वानप्रस्थी होते थे, जिन्हें वेतन प्राप्ति की अभिलाषा ही नहीं होती थी। यहां 'परा' तथा 'अपरा' दोनों विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी।

भाषा—शिक्षा का माध्यम किसी विदेशी भाषा का होना स्वामीजी को नितान्त अरुचिकर था। वे शिक्षा का शुभारंभ आर्य भाषा से कराना चाहते थे, "जब पांच वर्ष के लड़का लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"[४] स्वामीजी की दृष्टि में संस्कृत का महत्त्व सर्वाधिक था, तथापि देश की अवस्था को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने अपने विचारों में परिवर्तन किया। प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन्होंने 'आर्यभाषा' का ज्ञान आवश्यक माना। अपने सभी ग्रन्थों में उन्होंने इसका प्रयोग किया। अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' में दैनन्दिन वार्तालाप में प्रयुक्त किये जाने वाले वाक्यों का संग्रह ५० प्रकरणों में किया। स्वामीजी को विदेशी भाषाओं से द्वेष नहीं था, पर वे उन्हें शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृत नहीं करते थे। उन्होंने अंग्रेजी पढ़ने का उद्योग भी किया था, "पण्ड्या मोहनलाल ने एक दिन महाराज को Heley's Grammar पढ़ते देखा था। पण्ड्याजी का कथन है कि महाराज ने अंग्रेजी अक्षर लिखने भी सीख लिये थे और वह लिफाफों

---

[१] वेदप्रकाश (विद्यार्थी लेखावली विशेषांक) सितम्बर, ६७, पृष्ठ २०३

[२] Sex habits of American Women—Dr. Frity Wittels, पृष्ठ ४७

[३] दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह (उत्तरार्द्ध क), पृष्ठ ५८

[४] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५

पर स्थान का नाम अंग्रेजी में अपने हाथ से लिखने लगे थे।''[1] भारतीय शासन के शिक्षा आयोग (१९६४-६६) ने त्रिभाषा सूत्र निम्न रूप में स्वीकार किया है—

(अ) मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा

(ब) राष्ट्र भाषा

(स) आधुनिक भारतीय भाषा अथवा विदेशी भाषा....आयोग ने संस्कृत की महत्ता को तथा राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में इसके विशेषाधिकार को माना तथापि संस्कृत अथवा अन्य प्राचीन भाषाओं को इस सूत्र में सम्मिलित करने में सहमत नहीं हुए।[2]

विविध—संस्कृत जैसी प्राचीन भाषा का पक्ष लेने के बाद भी स्वामीजी विज्ञान की ओर से उदासीन नहीं थे। उन्होंने विमान विद्या तथा शिल्प विद्या पर अध्यधिक बल दिया है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के व्याख्यान में इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है "हे मनुष्य लोगों तुमको सब सुखों की सिद्धि से दुःखों के विनाश के लिये शिल्प विद्या में अग्नि और जल का यथावत् उपयोग करना चाहिये।"[3] अथवा "मनुष्य लोग किसी क्रिया कुशल कारीगर के निकट बैठकर उसकी चतुराई को दृष्टिगोचर करके फिर सुख के साथ कारीगरी के काम करने को समर्थ हो सकते हैं।"[4] उनके दृष्टिकोण में चरित्र निर्माण, ब्रह्मचर्य के साथ-साथ अतीत और वर्तमान का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनकी शिक्षा में राष्ट्रीयता के तत्त्व कूट-कूट कर भरे हुए हैं, वे प्रत्येक विद्यार्थी से समान व्यवहार किया जाना अपेक्षित करते थे।

विद्यार्थियों के लिये कुछ प्रमुख विधेय तथा निषिद्ध कृत्य—

(क) मधु, मांस और गन्ध माल्य का वर्जन तथा सात्विक आहार का सेवन

(ख) जुआ, कलह, परनिन्दा, मिथ्याभाषण तथा स्त्री दर्शन का परित्याग

(ग) पानी, घड़ा, पुष्प, गोबर, मिट्टी, कुश तथा प्रतिदिन भिक्षा का लाना

(घ) प्रतिदिन प्रातः-सायं सन्ध्या तथा यज्ञ करना

(ङ) गुरुद्रोह से विमुख होकर उसकी सेवा में रत होना

(च) सदा गुरु से हीन, अन्न, वस्त्र और वेष का सेवन

(छ) सूर्योदय, सूर्यास्त तथा दिन में न सोना

(ज) क्षौर न करवाना, गांव में निवास तथा जूता, छतरी आदि न धारण करना।

(झ) "आलस्य, मदकारी पदार्थों का सेवन, घर आदि में रखना, एकाग्रचित्त न होना, व्यर्थ की बातचीत में समय बिताना, उद्धतपना और लालची होना—ये विद्यार्थियों के सात दोष माने गये हैं।"[5]

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवनचरित, भाग २, पृष्ठ ३०५

[2] सेवन इंडियन एज्यूकेशनिस्ट्स, पृष्ठ ७

[3] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १५

[4] वही, पृष्ठ ९७

[5] विदुर नीति—युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ३७९

माता-पिता तथा आचार्य का स्थान —

माता—स्वामीजी ने जिस युग में जन्म लिया, नारी शक्ति का अपमान और मातृ-अवहेलना अपनी चरम सीमा पर थी। ऐसे सम्प्रदाय भी थे जो स्त्री मात्र के साथ विहार कर सकते थे 'मातृ योनि परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु'[१] और कुछ मातंगी तो पतन की पराकाष्ठा पर थे, वे इस कार्य के लिये माँ का भी परिहार नहीं करना चाहते थे, "मातरमपि न त्यजेत्'[२] रजस्वला के साथ समागम करने को लोग पुष्कर स्नान कहते थे, चाण्डाली के समागम को काशी यात्रा, चमारी के समागम को प्रयाग स्नान, धोबिन के साथ समागम को मथुरा यात्रा तथा कंजरी के साथ लीला को अयोध्या तीर्थ समझते थे। सामान्यतः नारी भोग्य वस्तु मानी जाती थी। ईसाई मत के अनुसार माना जाता था कि "उनका (स्त्रियों का) कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है, अतः पुरुष स्त्री से जैसा चाहे व्यवहार कर सकता है"[३] तथा इस्लाम तो उनमें आत्मा ही नहीं मानता था, "इस्लाम के मत में स्त्रियों में कोई रूह नहीं होती, उनमें सोचने और समझनेकी शक्ति नहीं होती, घर में जैसे गायें-भैंसे होती हैं वैसे ही स्त्रियां हैं।"[४] स्वयं शंकराचार्य नारी को नरक का द्वार बता चुके थे और गोस्वामी तुलसीदास ने भी उन्हें ढोल, गंवार और शूद्रों की श्रेणी में रखा था, ऐसे समय में स्वामीजी ने मातृ शक्ति को पहचाना और उसका महत्त्व प्रतिपादित किया।

बच्चे की सबसे प्रथम शिक्षिका तो मां ही होती है। उनके दृष्टिकोण से मातृमान् का अर्थ ही "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्यसः मातृमान्"[५] है। वैसे भी माँ वही होती है जो बच्चे का निर्माण करती है 'माता निर्माता भवति'। माता शब्द को वैदिक साहित्य में इतना महत्त्व दिया गया है कि गायत्री, वेद, श्रद्धा और गौ को इसी नाम से अभिहित किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र के भाष्य में भी कहा गया है, "इसीलिये विद्वान् पुरुष माता को प्रथम स्थान देते हैं। इस मन्त्र में माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ इसीलिये कहा गया है...."[६] बच्चे के जन्म से पूर्व भी माँ को ही उसकी रक्षा करनी होती है। प्रथम शुद्ध उच्चारण भी मां ही करवाती है, "जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे।"[७]

पिता—पिता का स्थान भी माता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। माँ और गुरु की शिक्षा के बीच की जो कड़ी है उसे पिता पूर्ण करता है। पिता का ही कर्त्तव्य है कि बच्चों को भूत-प्रेत के चक्कर में न पड़ने दे। प्रारम्भ से ही बच्चों को फलित ज्योतिष के संस्कारों से दूर रखें। पिता को बच्चे से स्नेह अवश्य करना चाहिये, किन्तु आवश्यकता होने पर बच्चे की ताड़ना करना भी उसका परम कर्त्तव्य है। 'वेदारंभ प्रकरण' में ब्रह्मचर्याश्रम के साधारण धर्मों का उपदेश[८] पिता ही बालक को देता है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश-पृष्ठ १७७

२. वही, पृष्ठ १७९

३. वेदप्रकाश-दिसम्बर १९६४, पृष्ठ १९

४. वही, पृष्ठ १९

५. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १४

६. वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ६२०

७. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५

८. संस्कारविधि, पृष्ठ ९१

सत्य तो यह है कि माता और पिता को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। कई स्थान पर तो एक शेष द्वन्द्व के कारण 'पिता' का अर्थ ही माता-पिता दोनों ही होता है। शुक्र नीति में पिता के सम्बन्ध में कहा गया है, "पुत्र के विद्या पढ़ाने में प्रवृत्त, वृत्ति के लिये प्रयत्नशील, जो पुत्र को सर्वदा उत्तम-उत्तम शिक्षा देता रहता है वह ऋणहीन पिता ही प्रशंसनीय माना गया है।[1] ऋग्वेद के मंत्र १।३१।१० में तो परमात्मा को भी पिता ही माना गया है "हे तेजस्वी परमात्मन् तू उत्तम ज्ञान वाला है और हमारा पिता है।"[2] शुक्र नीति के एक अन्य प्रसंग में उन माता-पिता को शत्रु माना गया है जो "ऋणकारी पिता शत्रुर्माता स्त्री व्यभिचारिणी"[3] आजकल समाज में पितरों के नाम 'श्राद्ध' और तर्पण नाम के दो शब्द चल पड़े हैं। प्रायः सामाजिक लोग पितरों के दिवंगत होने पर ही यह कार्य करते हैं। स्वामीजी ने इन दोनों शब्दों का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है, "जो कर्म श्रद्धा से किया उसे श्राद्ध कहते हैं, और जिस कर्म से माता-पिता आदि गुरुजन तृप्त अर्थात् प्रसन्न और संतुष्ट किये जावें उसे तर्पण कहते हैं। परन्तु ये क्रियायें जीवितों के लिये हैं, मृतकों के लिये नहीं।"[4] मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में माता-पिता के महत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है "दश उपाध्यायों के तुल्य गौरव एक आचार्य में और शत आचार्यों के समान पिता में और पिता से सहस्रगुणित माता में होता है।"[5] बच्चे में माता-पिता दोनों के संस्कार आते हैं अतः स्वामीजी के मतानुसार दोनों के ऋण से उर्ऋण होना प्रत्येक व्यक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। मनुस्मृति के मत से तो सैकड़ों वर्ष में भी माता-पिता का ऋण चुकाया नहीं जा सकता।

आचार्य—आचार्य शब्द से मिलते जुलते कई शब्द वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं यथा गुरु, उपाध्याय, शिक्षक, ऋषि आदि और हिन्दी में सभी को प्रायः एक दूसरे का पर्याय ही समझा जाता है। मध्यकालीन साहित्य में तो गुरु को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, बिना गुरु के मनुष्य की मुक्ति नहीं मानी जाती। कहीं गुरु को विष्णु और महेश्वर की श्रेणी तक पहुंचाया गया है और कहीं उसे गोविन्द से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय। बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।"[6] गुरु के नाम पर पर्याप्त गुरुडम फैला, नाना प्रकार के ढोंग और आडम्बर इसके साथ जुड़ गये। 'गुरु के पग धोके पीना'[7] तो साधारण बात थी। राधास्वामी मत वालों ने गुरु की पीक भी पीनी आरंभ कर दी, "जब गुरु महाराज पीक फैंकना चाहें तो पीकदान पेश करें और पीकदान साफ करते

---

१. शुक्र नीति, पृष्ठ २७३

२. वेदप्रकाश (वैदिकधर्म विशेषांक) अगस्त १९६२, पृष्ठ ४५

३. शुक्र नीति, पृष्ठ २९४

४. महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ १४५

५. मनुस्मृति—पं. तुलसीराम, पृष्ठ ११४

६. कविता कौमुदी (प्रथम भाग-हिन्दी)—रामनरेश त्रिपाठी—कबीर साहब, पृष्ठ १४७, काशी ना. प्र. सभा तथा अशोक प्रकाशन दिल्ली की 'कबीर ग्रंथावली' में पद उपलब्ध नहीं होता।

७. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०८

समय फैंकने के बजाय स्वयं उसे पी जाये।"[1] इसे उन्होंने रोग की महौषधि समझा। ऐसे ढोंगियों का सम्मान तो दूर रहा, उनके प्राणहरण की अनुमति देने में भी स्वामीजी हिचकते नहीं, "परन्तु जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा करनी, सहज शिक्षा से न माने अर्घ्य पाद्य अर्थात् ताड़ना दण्ड प्राणहरण तक भी करने में कोई दोष नहीं है।"[2]

सच्चे गुरु के प्रति स्वामीजी की असीम श्रद्धा रही है। गुरु की परिभाषा उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस प्रकार दी है—'गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः"[3] अर्थात् वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने वाले को गुरु कहते हैं। मनुस्मृति के अनुसार गुरु उसको कहते हैं "जो सत्य कहे, सत्य पर चले, हित का उपदेश और सुविधा को पढ़ाये तथा 'जो गर्भाधानादि शास्त्रोक्त कर्म कराता है और जो अन्न से पोषण करता है उस ब्राह्मण को गुरु कहते हैं।"[4] आचार्य शब्द का अर्थ किसी विद्यालय का प्रधान अथवा केवल अध्यापन करने वाला ही नहीं, उसका महत्व तो किसी और बात में है और वह बात आचार अथवा चरित्र की शिक्षा देना। इस शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्त में 'आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थात्....अर्थात् "जो आचार को ग्रहण कराता है। पदार्थों और शास्त्रों के अर्थों का संग्रह करता है अथवा बुद्धि का संग्रह करता है।"[5] इसी प्रकार उपाध्याय उसको कहते हैं "जो वेद के एक देश वा वेद के अंग (ज्योतिष व्याकरणादि) वृति के लिये पढ़ावे।"[6] इसी प्रकार 'ऋषि' शब्द को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"जो मनुष्य सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाते हैं तथा अपने उपदेश से सबका उपकार करने वाले हैं....और वे सब पूर्ण विद्वान् शुभगुण सहित होने पर ऋषि कहाते थे।"[7]

इन पूजनीय गुरुओं अथवा आचार्यों से स्वामीजी ने बहुत कुछ अपेक्षा की है। उन्हें अपने विद्यार्थियों को अध्यापन के साथ-साथ सदाचार की भी शिक्षा देनी है, उन्हें स्वस्थ, सभ्य एवं परिपूर्ण बनाना भी उन्हीं का कार्य है। आचार्य को चाहिये कि वह विद्यार्थियों से यम तथा नियम दोनों का पालन करवाये तथा उन्हें धर्माचरण की शिक्षा दे। जो पढ़ाया जाये, उसकी अच्छी प्रकार परीक्षा करना योग्य है। यह परीक्षा पांच प्रकार की हो सकती है—

१. ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदानुकूल होना
२. सृष्टिक्रम के अनुकूल होना
३. आप्त होना
४. अपनी आत्मा की पवित्रता तथा विद्या के अनुकूल होना

---

[1] वेद प्रकाश, जनवरी १९६१, पृष्ठ २७७
[2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०८
[3] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ २९९
[4] मनुस्मृति, पृष्ठ १०८
[5] निरुक्त शास्त्रम्—पं. भगवद्दत ,पृष्ठ १८
[6] मनुस्मृति, पृष्ठ ११३
[7] ऋग्वेद (हिन्दी भाष्य)-प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४

५. आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव के आधार पर उस सत्य की परीक्षा होना।

उपर्युक्त प्रमाणों का विस्तृत विवेचन स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में किया है। तात्पर्य यही है कि मार्ग कोई भी हो, केवल सत्य तथा बुद्धियुक्त बात का ही ग्रहण किया जाये। क्या पढ़ाया जावे और क्या छोड़ा जाये, यह विस्तृत चर्चा का विषय है और उसे पठनपाठन विधि शीर्षक के अन्तर्गत लिया जायेगा।

पाठ्यविधि—स्वामीजी की पठनपाठन विधि प्राचीन होते हुए भी आज के विद्वानों को कुछ विचित्र तथा नवीन प्रतीत होती है। अनेक व्यक्ति इसे शंका की दृष्टि से देखते हैं, उन्होंने इस बात पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा रखा है कि क्या यह पाठविधि आज के युग में क्रियारूप में परिणेय है या नहीं? इन सभी प्रश्नों पर विचार अध्याय के अन्त में किया जायेगा। प्रथमतः संक्षेप में उनकी पठन-पाठन विधि प्रस्तुत की जा रही है।

१. अक्षरज्ञान—कराने का कार्य तो स्वामीजी ने माता पर छोड़ रखा है। वह चाहते थे कि बच्चों तथा विद्यार्थियों को अक्षर ज्ञान एवं उनका उच्चारण सर्वथा शुद्ध हो। इस विषय में किंचित् भी प्रमाद उन्हें सह्य नहीं था। 'ज्ञ' वर्ण के दक्षिणात्य, महाराष्ट्र और पंचगौड़ वासी व्यक्तियों के विभिन्न उच्चारण देखकर उन्होंने लिखा था "यह अन्ध परम्परा नष्ट होकर शुद्धोच्चारण की परम्परा होनी योग्य है।"[1] इसी पुस्तक के उपसंहार में वे लिखते हैं, "सब मनुष्यों को उचित है कि जिस प्रकरण में जिस वर्ण के उच्चारण के लिए जो बात लिखी है, उसको ठीक-ठीक जान कर विद्यार्थियों को जना के शब्दाक्षरों के प्रयोग ज्यों के त्यों कर प्रशंसित हो सदा आनन्द से युक्त रह और सब विद्यार्थियों को भी वर्णोच्चारण शुद्ध कराकर आनन्द में रखो"[2] "पठनपाठन के आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगे। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये, एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक-ठीक मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है।"[3] संस्कृतवाक्यप्रबोध की भूमिका में भी उन्होंने इस विषय का स्पष्ट निर्देश दिया है, "परन्तु वाक्य बोलने में स्पष्ट अक्षर, शुद्धोच्चारण, सार्थकता, देश और काल वस्त्र के अनुकूल जो पद जहां बोलना उचित हो वहीं बोलना....।"[4] सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने माता, पिता, आचार्य को ऐसा निर्देश दिया है। वैसे भी संस्कृत वाले तो जानते ही हैं कि 'सकल और शकल' तथा 'सकृत् और शकृत्' में क्या अन्तर होता है। वर्णोच्चारण शिक्षा का कार्य घर पर ही किया जाना चाहिये, किन्तु किसी कारणवश "यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा एक महीने के भीतर पढा देवें।"[5]

---

[1] वेदांगप्रकाश, प्रथम भाग, वर्णोच्चारण शिक्षा, भूमिका, पृष्ठ १

[2] वही, पृष्ठ २३

[3] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ ३५८

[4] संस्कृतवाक्यप्रबोध, भूमिका, पृष्ठ ७

[5] संस्कारविधि, पृष्ठ १११

२. अष्टाध्यायी—गुरुकुल में आचार्य विद्यार्थियों को ८ माह में अष्टाध्यायी पढ़ाये। अष्टाध्यायी पाणिनिमुनि[1] की विश्वविख्यात रचना है। इस ग्रन्थ में वैज्ञानिक विवेचना की परिपूर्णता तथा शैली की अनुपमता के कारण संसार का कोई अन्य ग्रन्थ इसकी टक्कर में टिक नहीं पाता। इनके विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि यह आधुनिक अटक जिले के शालातुर नामक ग्राम के अधिवासी थे। अष्टाध्यायी के प्रारंभ में अइउण् इत्यादि १४ प्रत्याहारसूत्र अथवा माहेश्वर सूत्र हैं। सारा व्याकरण इन्हीं सूत्रों पर आधारित है। 'अष्टाध्यायी' नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय के चार-चार पाद अथवा अंश हैं। इनके सूत्रों की गणना निम्न है—

अध्याय	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद	योग
१	७५	७३	९३	११०	३५१
२	७२	३८	७३	८५	२६८
३	१५०	१८८	१७६	११७	६३१
४	१७८	१४५	१६८	१४४	६३५
५	१३६	१४०	११९	१६०	५५५
६	२२३	१९९	१३९	१७५	७३६
७	१०३	११८	१२०	९७	४३८
८	७४	१०८	११९	६८	३६९

सर्वयोग—३९८३[2]

यदि अष्टाध्यायी के अध्यापन के लिये आठ माह का समय अपर्याप्त हो तो इसे बढ़ाकर एक वर्ष तक भी किया जा सकता है। इन सूत्रों को पढ़ लेना अथवा रट लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनके अर्थ उदाहरण प्रत्युदाहरण जानना भी आवश्यक है। पहले अध्याय के पहले पाद का पहला सूत्र 'वृद्धिरादैच्' है पहले इसका पदच्छेद किया जाये अर्थात् "वृद्धिः, आत्, ऐच्"। वृद्धि व्याकरण शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। आत् का तात्पर्य 'आ' से है और 'ऐच्'[3] का अर्थ है ऐ औ। 'भागः' शब्द के विषय में स्वामीजी लिखते हैं "भज् धातु से 'घञ्' प्रत्यय के परे 'घ' की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया, पश्चात् 'भज् अ' यहां जकार के पूर्व भकारोत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार हो गया है। तो भाज् पुनः 'ज्' को ग् हो अकार के साथ मिल के 'भागः' ऐसा प्रयोग हुआ।"[4] केवल हिन्दी जानने वाले अथवा आधुनिक तथाकथित सरलीकृत प्रणाली से संस्कृत सीखने वालों को उपर्युक्त वाक्य का अर्थ समझना टेढ़ी खीर है, उन्हें न धातु समझ में आयेगी न घञ्, न इत्संज्ञा उनके पल्ले पड़ेगी, न भकारोत्तर वार्ता और फिर ज् का ग् क्यों और कैसे हो गया? यह उनके लिये भूलभुलैया ही है। इस भूलभुलैया में प्रविष्ट हुये बिना व्याकरण

---

[1] डा. गोल्डस्टकर तथा भण्डारकर ने पाणिनि का समय ७०० ई. पू. और ६०० ई. पू. निश्चित किया है—संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका—बाबूराम सक्सेना, पूर्वपीठिका, पृष्ठ ३

[2] अष्टाध्यायी सूत्रपाठ—जीवारामोपाध्याय

[3] ऐऔच्, वेदांगप्रकाश संधि विषय, पृष्ठ ९

[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३९

का ज्ञान कठिन है और बिना व्याकरण के वेद अथवा अन्य शास्त्रों को समझना असंभव है। इस सूत्र के अनेक उदाहरण समझने होंगे, फिर उनके अपवादों को ध्यान में रखना होगा तथा सूत्र के प्रत्येक अक्षर को तथा उसके महत्त्व को भलीभांति समझना होगा। इस प्रक्रिया के कच्चे अंश को समझने के लिये रफ पेपर अथवा स्लेट का भी प्रयोग किया जा सकता है। स्वामीजी ने अपने वेदांगप्रकाश के १४ भागों को केवल हिन्दी जानने वालों के लिये भी इस गुत्थी को काफी सीमा तक सुलझाने का प्रयत्न किया है।

३. लिंगानुशासन—स्वामीजी के मतानुसार इसके अध्यापन में ६ माह का समय लगाया जाना चाहिये। इसको नाम अथवा संज्ञा प्रकरण भी कहा जा सकता है। अजन्त (स्वरान्त) शब्दों तथा हलन्त (व्यंजनांत) शब्दों के रूप में सातों विभक्तियों और तीनों वचनों[1] में किस प्रकार चलाया जाय और सिद्धि किस प्रकार की जाये—यह वर्णन इस प्रकरण में है। स्वामीजी ने इस प्रकरण की व्याख्या अपनी 'नामिकः' नामक पुस्तक में की है। स्वामीजी लिखते हैं "पाणिनिमुनिकृत लिंगानुशासन और उणादि गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप ६ महीने के भीतर सधवा देवें।"[2] हिन्दी वालों के लिये यह विषय दुरूह, रुक्ष तथा अरुचिकर है, अतः इसकी विस्तृत व्याख्या उनके लिये समय का अतिवाहन मात्र होगी।

४. पुनः अष्टाध्यायी—पुनः दूसरी बार अष्टाध्यायी, पदार्थोक्ति, समास, शंका समाधान, उत्सर्ग, अपवाद अन्वयपूर्वक पढ़ायें और संस्कृत भाषण का अभ्यास भी कराते जायें। दूसरी वार के अध्यापन में "शंका, समाधान, वार्त्तिक, कारिका"[3] आदि भी सम्मिलित की जानी चाहिये। इस कार्य के लिये स्वामीजी ने जो समय नियत किया है वह ८ मास का है। अवशिष्ट बातों के लिये यदि २ मास का समय और जोड़ दिया जाये तो यह समय दो वर्ष का हो जाता है।

५. महाभाष्य—इतनी पृष्ठभूमि तैयार हो जाने के बाद पतंजलि मुनिकृत महाभाष्य पढ़ाया जाये। "पाणिनि के लगभग १५०० सूत्रों में, तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि से कमी पाकर वररुचि (कात्यायन) ने ४००० वार्त्तिकों की रचना की।"[4] पाणिनि के अनेक स्थलों को समझने में कात्यायन ने भूल की है। इन्हीं भूलों को सुधारने के लिये तथा पाणिनि के पक्ष को पुष्ट करने के लिये पतंजलि मुनि ने "महाभाष्य" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। पतंजलि संभवतः शुंगराजा पुष्यमित्र के दरबार में विराजमान थे। इन्होंने "वार्त्तिकों का खण्डन तथा पाणिनि के सूत्रों का मंडन अत्यन्त सजीव और सुबोध शैली में किया है। इसमें उन्हें अपूर्व

---

[1] हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में केवल दो ही वचन एकवचन (Singular) तथा बहुवचन निरन्तर ···(Plural Number) होते हैं, किन्तु संस्कृत में एक और वचन द्विवचन (Dual Number) भी होता है।

[2] संस्कारविधि, पृष्ठ १११

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४०

[4] संस्कृत-व्याकरण प्रवेशिका—डा० वाबूराम सक्सेना, पृष्ठ ११

सफलता भी मिली है।"[1] इस महाभाष्य की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कठिन और नीरस विषय को भी इस प्रकार उपस्थित किया गया है कि वह हृदयंगम हो जाये। महाभाष्य में "वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, लिंगानुशासन.........की व्याख्या यथावत् लिखी है।"[2] इसका अध्ययन १८ माह में पूर्ण हो जाना चाहिये। इन चार वर्षों के व्याकरण-अध्ययन के बाद मनुष्य संस्कृत विद्या के मर्म स्थलों को समझने के योग्य हो जाता है। इतने श्रम के बाद विद्यार्थी "पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़ पढ़ा सकते हैं।"[3]

व्याकरण के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ आजकल बहुत प्रचलित है जिसका नाम है 'सिद्धान्त-कौमुदी' और लेखक हैं श्री भट्टोजीदीक्षित। इसके प्रचलन ने पाणिनीय व्याकरण को लुप्तप्राय कर दिया है। प्रस्तुत रचना नवीन शैली में लिखी गई है तथा विद्यार्थियों के लिये परीक्षोपयोगी है। इस ग्रन्थ के क्रम तथा व्याख्या से स्वामीजी इतने असंतुष्ट थे कि उन्होंने इसके पढ़ने का पूर्णतः निषेध किया है। इसी के लघु तथा लघुत्तर संस्करण मध्यसिद्धान्तकौमुदी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी के नाम से उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में विद्वता का प्रदर्शन अधिक है और सारवस्तु कम, फिर इसके ज्ञान में समय भी बहुत लगता है। स्वामीजी ने तो इतना तक लिखा है "जितना बोध इनके (अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्षों में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता।"[4] वे तो इन ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा ही समझते हैं जैसे पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना। 'महाभाष्य' पर एक टीका "भर्तृहरि द्वारा विरचित भी है जिसकी संसार में एक ही हस्तलिखित प्रति सन् १९३० तक जर्मनी में ही थी।"[5] स्वामीजी ने स्वयं भी अष्टाध्यायी का महाभाष्य प्रारंभ किया था, एक पत्र में उन्होंने इच्छा व्यक्त की है "इसलिये जो सनातन प्रतिष्ठित अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उसमें अष्टाध्यायी को सुगम संस्कृत और आर्य भाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है।"[6] स्वामीजी कृत अष्टाध्यायी भाष्य 'केवल तृतीयाध्याय पर्यन्त' ही छपा है।[7] पर्याप्त अंश जयादित्य वामन द्वारा रचित 'काशिका' की प्रतिलिपि ही है।

६. निघण्टु और निरुक्त—पूर्ण वैयाकरण होने के बाद यास्क मुनि कृत निघण्टु तथा निरुक्ति का अध्ययन सार्थक ६ वा ८ महीने तक किया जाये। स्वामीजी द्वारा निर्मित 'वेदांग-प्रकाश' का १४ वां भाग निघण्टु ही है। यह वैदिक कोश अत्यन्त संक्षिप्त है और इसमें केवल पांच अध्याय हैं। संस्कृत में कुछ शब्द ऐसे हैं जो वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृतों में उपलब्ध होते हैं, किन्तु दोनों स्थान पर उनके अर्थ भिन्न हैं यथा--लौकिक संस्कृत में असुर का अर्थ दैत्य

---

[1] संस्कृत-व्याकरण प्रवेशिका—डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ १२

[2] संस्कारविधि, पृष्ठ १११-१२

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४०

[4] वही, पृष्ठ ४०

[5] यजुर्वेद भाष्य—पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, विवरण, पृष्ठ ११

[6] ऋषि का पत्र व्यवहार, पृष्ठ ९८

[7] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ११४

है किन्तु निघण्टु में यह मेघ का पर्याय है । इसी प्रकार अहि शब्द लौकिक संस्कृत में सर्प का वाचक है किन्तु वैदिक में इसका अर्थ भी मेघ है, गौरी[1] का अर्थ लौकिक संस्कृत में महादेव की पत्नी है, किन्तु निघण्टु में इसका तात्पर्य वाणी है । लौकिक संस्कृत में नमः का अर्थ केवल नमस्कार करना है, किन्तु वैदिक संस्कृत में अन्न भी है । निघण्टु में शब्दों का केवल अर्थ है किन्तु निरुक्त में उनका निर्वचन भी है । निर्वचन का तात्पर्य यही है कि किसी शब्द विशेष का वही अर्थ क्यों होता है । संसार की सभी भाषाओं में शब्द भी हैं और अर्थ भी किन्तु किसी शब्द का वही अर्थ क्यों होता है, इस विषय में प्रायः सभी भाषायें मौन हैं । कन्या के पर्यायवाची शब्द विभिन्न भाषाओं में हैं, दुःखतर, daughter आदि किन्तु निर्वचन का प्रायः सर्वत्र अभाव है । निघण्टु में इसका निर्वचन है "कन्या=सुन्दर, चाहने योग्य होती है । क्व इयम् नेतव्या=कहां यह ले जाई जानी चाहिये, अथवा (कमनेन आनीयते) चाहने वाले से लाई जाती है, अथवा कनति से अथवा होवे, इच्छा अर्थ वाले से ।[2] इसी भांति औषधि का निर्वचन है, "ओषत्=अग्नि (समान दाह करने वाले व रोग) को धमन्ति=पी जाती है, अथवा ओषति=अग्नि समान (रोग से) संतप्त होने पर एनाः=इनको धमन्ति=पीते हैं, अथवा दोष को पीती है, अथवा उनकी यह ऋक् होती है ।"[3] पाश्चात्य एवं देशीय विद्वानों द्वारा किये निरुक्त के अनेक संस्करण तथा भाष्य उपलब्ध होते हैं ।

तत्पश्चात् कात्यायनादि मुनिकृत कोश १।। वर्ष में पढ़ा जाये । कात्यायन का नाम विशेष रूप से लिया गया है किन्तु आदि से यही गृहीत होता है कि इसके समकक्ष अन्य ग्रन्थ भी उपादेय हैं । इसके बाद "अव्ययार्थ, आप्तमुनि कृत वाच्य वाचक सम्बन्ध स्वरूप यौगिक योग रूढ़ि और रूढ़ि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जाने ।"[4] इस प्रसंग में स्वामीजी ने लोक विख्यात 'अमर कोष' आदि शब्द कोषों का अध्ययन का निषेध किया है । इसके बाद पिंगलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ को चार महीने में पढ़ा जा सकता है । उपर्युक्त ग्रन्थ में वैदिक तथा दोनों प्रकार के छन्दों का समावेश है । केवल छन्दों का ज्ञान, उनकी परिभाषा तथा उदाहरण रट लेना ही पर्याप्त नहीं है । इतना अध्ययन करने के बाद विद्यार्थियों में स्वतः श्लोक-निर्माण की प्रतिभा जागृत हो जानी चाहिये । इस प्रसंग में उन्होंने पुनः 'वृत्त रत्नाकर' आदि लोक प्रसिद्ध छन्द-ग्रन्थों के अध्ययन को निषिद्ध बताया है । यद्यपि पं. सीताराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'कालिदास ग्रन्थावली' में इसका समावेश नहीं है फिर भी कुछ विद्वान् इसे कविकुल गुरु कालिदास की रचना मानते हैं । श्री एम. कृष्णमाचार्यर ने इसे केदार भट्ट की रचना माना है । यह काश्यप गोत्र के थे "उनकी 'वृत्तरत्नाकर छः अध्यायों में है तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध है ।"[5] इस पुस्तक में छन्दों की परिभाषा तथा उदाहरण एक ही श्लोक में दिये गए हैं । पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालंकार सूत्र, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य सहित, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ

---

[1] निघण्टु, पृष्ठ ११

[2] निरुक्त शास्त्रम्—पं. भगवद्दत्त, पृष्ठ २२०

[3] वही, पृष्ठ ४९७

[4] संस्कारविधि, पृष्ठ ११२

[5] History of Classical Sanskrit Literature—M. Krishnamachariyar-p.908

अन्वय सहित पढ़े। इसके बाद एक वर्ष में ही मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण और विदुर नीति आदि पढ़े।

७. **मनुस्मृति आदि**—वैदिक साहित्य के अतिरिक्त स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में सर्वाधिक उद्धरण मनुस्मृति के दिये हैं। मनुस्मृति में १२ अध्याय हैं जिसमें क्रमशः ११०, २४९, २८६, २६०, १६९, ९७, २२६, ४२०, ३३६, १३१, २६५ तथा १२५ श्लोक हैं (कुल २६७४)।[1] इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं ख्याति के कारण इसमें अनेकों प्रक्षेप भी दिये गये हैं। मनुस्मृति में जन्म से लेकर मृत्यु तक, ब्राह्मण से शूद्र तक, ब्रह्मचारी से लेकर संन्यासी तक तथा रंक से लेकर राजा तक के क्रियमाण कर्मों की चर्चा की गई है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रत्येक परिस्थिति में विहित तथा निषिद्ध कार्यों का इसमें उपदेश है। यह अनतिदीर्घ ग्रन्थ साहित्य भी है धर्म भी है, नीतिमय भी और राजनीतिमय भी तथा इहलोक तथा परलोक का संवारने वाला भी है। यह तो सर्वविदित ही है कि वाल्मीकिकृत रामायण में ७ काण्ड हैं, जिनमें ६४५ सर्ग तथा लगभग २४,००० श्लोक हैं। तत्कालीन अन्य ग्रन्थों की भांति इस रामकथा में भी अनेक प्रक्षेप हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् तो यहां तक मानते हैं, "रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मूल ग्रन्थ में नहीं थे, वे बाद में जोड़ दिये गये हैं।"[2] स्वामीजी ने संस्कारविधि में लिखा है कि 'किसी प्रकरण के १० सर्ग वाल्मीकी रामायण के पढ़े'[3] किन्तु सत्यार्थप्रकाश में वाल्मीकीयरामायण के साथ कोई बंधन नहीं लगाया गया है। दोनों कथनों में पर्याप्त अन्तर है, कहां ६४५ सर्ग और कहां केवल १० सर्ग। इस विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि सत्यार्थप्रकाश में यह भी लिखा है कि वह अंश पढ़ाया जाये जिसमें अच्छे-अच्छे प्रकरण हों, जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता, सभ्यता प्राप्त हो। इस कसौटी को आधार मान कर मध्यमार्ग निकाला जा सकता है। इसके बाद ही 'विदुरनीति' भी पढ़ाई जाये। 'विदुरनीति 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' वाले महाभारत के उद्योग पर्व का कुछ अंश है। इसमें आठ अध्याय तथा ५९४ श्लोक हैं। स्वामीजी को यह ग्रन्थ बहुत प्रिय था। अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त उन्होंने इस ग्रन्थ को उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह को भी पढ़ाया था" महाराणा ने....विदुर प्रजागरादि नीति और राजनीति के मर्म महाराज से पढ़े।[4] इनके पढ़ने का ढंग उन्होंने काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य विशेषण और भावार्थ का जानना बताया। दोनों ग्रन्थों का सम्पूर्ण ज्ञान उन्होंने विद्यार्थियों के लिये आवश्यक नहीं माना, उनका उद्देश्य यही था कि विद्यार्थी इनके माध्यम से साहित्य शिक्षा, नीति और राजनीति सीख सकें।

८. **सूर्यसिद्धान्तादि**—तत्पश्चात् एक वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई एक सिद्धान्त पढ़ा जाये। एक सिद्धान्त से तात्पर्य यहां गणित विद्या (जिसमें बीज, रेखा और अंक गणित हैं) से है।

---

[1] उपर्युक्त संख्या पंडित तुलसीराम द्वारा संपादित मनुस्मृति के आधार पर है।

[2] संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ १०

[3] संस्कारविधि, पृष्ठ ११२

[4] महर्षि दयानन्द का चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ २९९

९. उपांग—वेदों के छः उपांग हैं, इन्हें छः शास्त्र अथवा षड्दर्शन भी कहते हैं। इनके नाम हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त-दर्शन। इनके रचयिता क्रमशः गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि, जैमिनि और व्यास हैं। जहां तक संभव हो इन ग्रन्थों की आर्ष व्याख्या ही पढ़ी जाय। संस्कारविधि में तो यह प्रसंग और अधिक स्पष्ट कर दिया है अर्थात् किस दर्शन का कौनसा भाष्य पढ़ा जाये। कुछ विद्वानों का कथन है कि दर्शन परस्पर विरोधी हैं, अतएव सबका महत्त्व एकसा नहीं है। स्वामीजी कहते हैं कि विरोध शास्त्रों में नहीं अपितु समझने वालों की बुद्धि में है, "छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में 'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाय।' वैशेषिक में 'समय न लगे बिना बने ही नहीं' न्याय में 'उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता' योग में 'विद्या-ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता,' सांख्य में तत्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता और वेदान्त में 'बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके।' इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं।"[1]

१०. उपनिषद्—स्वामीजी ने यह भी निर्देश किया है कि अंतिम दर्शन अर्थात् वेदान्त के अध्ययन से पूर्व दश उपनिषदों को पढ़ें। उपनिषदों की संख्या के संबंध में पर्याप्त मतभेद है, कुछ विचक्षण लोग इनकी संख्या १०८ तक बताते हैं किन्तु प्रायः एकादशोपनिषद् को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इन ग्यारह में से स्वामीजी ने श्वेताश्वतर उपनिषद् का नाम छोड़ दिया है और शेष १० के नाम निम्न प्रकार दिये हैं—'ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।[2] वेदों के इन उपांग और १० उपनिषदों के अध्ययन-अध्यापन में दो वर्ष का समय लगना चाहिये।

११. ऋग्वेद—पाठ विधि के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ बताया गया है, वह तो केवल एक तैयारी है, मार्ग है, ध्येय नहीं। ध्येय और उद्देश्य तो है वेदाध्ययन। इस वेदाध्ययन में सुष्ठुरूप से पारंगत होने के लिये इतना अभ्यास नितान्त आवश्यक है। तत्पश्चात् ऋग्वेद, इसका ब्राह्मण ऐतरेय, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्य सूत्र और कल्पसूत्र पदक्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः, स्वरपदार्थ, अन्वय, भावार्थ सहित पढ़ें। इसमें तीन वर्ष का समय लगना चाहिये। इसके बाद इसी विधि से यजुर्वेद और उसका शतपथ ब्राह्मण पढ़ा जाये। यजुर्वेद अपेक्षाकृत लघु है, अतः इसका अध्ययन दो वर्ष में सम्पन्न हो जाना चाहिये। फिर अध्ययनक्रम में समाविष्ट हो जाता है, सामवेद और उसका ब्राह्मण साम। पदादि के अतिरिक्त इसका गान सहित अभ्यास किया जाना चाहिये और इसमें समय दो वर्ष का लगना चाहिये। महत्त्व की दृष्टि से नहीं किन्तु क्रम के अनुसार अंतिम स्थान मिलता है अथर्ववेद और इसके ब्राह्मण गोपथ को। इसके लिये भी दो वर्ष का समय पर्याप्त है। वेदों के अध्ययन से तात्पर्य केवल उसके पाठमात्र से नहीं है, अपितु अर्थ जानना भी परमावश्यक है। वेद का अर्थ जानने

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १३७

[2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४०

वाला ही उसका पूर्ण ग्रानन्द ले सकता है ग्रन्यथा उसकी स्थिति भारवाही पशु के समान ही होगी।

१२. उपवेद—वेदों के पढ़ने के बाद उनके उपवेदों का ग्रध्ययन किया जाना चाहिए। ऋग्वेद का उपवेद ग्रायुर्वेद है, इसको वैद्यकशास्त्र भी कहते हैं। इसके प्रमुख ग्रन्थों में धन्वन्तरि कृत सुश्रुत ग्रौर निघण्टु तथा पतंजलि ऋषिकृत चरक ग्रादि ग्रार्ष ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों का ग्रर्थ, क्रिया, शस्त्रछेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, ग्रौषध, पथ्य, शरीर, देश, काल ग्रौर वस्तु के गुणज्ञान ग्रादि चार वर्षों में सीख लेने चाहियें। स्वामीजी स्वयं भी किसी ग्रन्थ में लिखी हुई बातों को केवल अंध परम्परा के रूप में स्वीकार करने में उद्यत नहीं थे। 'हठ-प्रदीपिका' ग्रादि ग्रन्थों में दिये हुए नाड़ीचक्र का परीक्षण उन्होंने एक शवच्छेदन से किया था। उन्होंने स्वयं लिखा है, ''एक दिन दैवयोग से मैंने देखा कि एक शव गंगा के प्रवाह में बहा जा रहा है....शव खींच कर तट पर ले ग्राया। मैंने एक बड़ी छुरी ली ग्रौर जिन ग्रन्थों में नाड़ी चक्र का वर्णन है उन्हें खोल कर सामने रखा ग्रौर खूब सावधानता के साथ शव की चीर-फाड़ की।''[१] इसके बाद दूसरे वेद यजुर्वेद के धनुर्वेद का ग्रभ्यास किया जाये, इसका दूसरा नाम शस्त्रास्त्र विद्या भी है। इसका प्रमुख ग्रन्थ अंगिराऋषि कृत है। धनुर्वेद का संबंध दो प्रकार के व्यक्तियों से है, एक, राजपुरुष संबंधी ग्रौर दूसरा प्रजा संबंधी। राजपुरुषों को शस्त्रास्त्र विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का ग्रभ्यास तथा युद्ध के समय उपयोग में ग्राने वाले कार्यों को सीखना चाहिये। इन शस्त्रों का उद्देश्य 'परेषां परिपीडनाय' न होकर न्यायपूर्वक प्रजा को प्रसन्न रखना, श्रेष्ठों का परिपालन तथा दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देना होना चाहिये। इन दोनों उपवेदों को सीखने में तीन वर्ष का समय व्यतीत किया जाना चाहिये।

इसके बाद सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद का ग्रध्ययन करना चाहिये। इसके लिये तीन वर्ष का समय पर्याप्त है। गान विद्या में स्वर, राग (रागिनी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र (Instruments), नृत्य गीत (Vocal) ग्रादि सम्मिलित हैं। यह ग्रध्ययन नारद संहिता ग्रादि ग्रार्ष ग्रन्थों का किया जाना चाहिये। मुख्य गायन सामवेद का गायन होना चाहिये ग्रौर इसके साथ वादित्रवादन (orchestra) का भी ग्रभ्यास किया जाना चाहिये। कुछ महानुभावों का विचार है कि स्वामीजी संगीत के विरोधी थे, उन्होंने मनु का उद्धरण देकर संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में इसका निषेध भी किया है। इसकी गिनती कामज दश दुर्गुणों में की है— ''तौर्यत्रिकं वृथाट्या च''[२] ग्रर्थात् गाना, नाचना, बजाना व इनका देखना स्वामीजी ने वर्जित बताया है। प्रथम दृष्टि में स्वामीजी के कथनों में कुछ विरोध प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। पहली बात तो यह है कि किसी कार्य को सीखना तथा उसका ग्रभ्यास करना ग्रौर बात है ग्रौर उसी में सर्वथा लीन हो जाना ग्रौर बात है, दूसरी बात यह भी है कि एक ही कार्य एक व्यक्ति के लिये विधेय होता है तथा दूसरे के लिये त्याज्य ग्रौर कभी कभी तो एक ही व्यक्ति के लिये विभिन्न परिस्थितियों में वही कार्य ग्रपना रूप परिवर्तन कर लेता है। सभा-सोसायटी में मुहर्रमी चेहरा बनाकर बैठना दुर्गुण है, पर श्मशान में पहुंच कर

---

[१] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्, प्रथम भाग, पृष्ठ ८४

[२] संस्कारविधि, पृष्ठ २०२

वही कार्य अनिवार्य हो जाता है। स्वामीजी स्वयं भी संगीत के ज्ञाता थे, कई स्थान पर उन्होंने लोगों के अनुरोध पर सामगायन किया भी था और संगीत के अच्छे जानकार की वे सराहना भी खूब करते थे। एक जानकार को तो उन्होंने ब्रह्मा तक कहा है। ''वहां एक ब्राह्मण ऐसा था जिसे चारों वेद सस्वर कण्ठ थे। महाराज के दानापुर वालों से कहा कि तुम लोग सुनते रहे हो कि ब्रह्मा के चार मुख हैं सो यही चतुर्मुखी ब्रह्मा है। उसी को यज्ञ में ब्रह्मा का आसन दिया गया था।''[१] स्वामीजी ने जिस संगीत का विरोध किया है, वह दूसरे प्रकार का है। उनके एक व्यंग्यबाण ने ही संगीताचार्य अमीचन्द की संगीतदिशा परिवर्तित कर दी थी। स्वामीजी को अश्लील गीत, मिथ्या प्रदर्शन तथा निष्प्रयोजन गलेबाजी रुचिकर नहीं थी, अतः उन्होंने स्पष्ट लिखा है ''परन्तु भड़वे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।''[२] हिन्दी साहित्य के मध्ययुग तक वर्तमान काल की भांति श्रम का विभाजन नहीं हुआ था, जो गीतकार था वही संगीतकार भी और जो संगीतकार था वही गीतकार भी था। तानसेन जैसा उच्चकोटि का गायक स्वयं कवि था और सूर जैसा कवि स्वयं अनेक रागों का जानकार ही नहीं अपितु उनका स्रष्टा भी था।

शिक्षा का उपसंहार स्वामीजी ने अथर्ववेद के उपवेद 'अर्थवेद' से किया है। अर्थवेद का दूसरा नाम शिल्पशास्त्र भी है। विशेष ग्रन्थ के रूप में स्वामीजी ने विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता का निर्देश किया है। इस शास्त्र के लिये उन्होंने ६ वर्ष का समय नियत किया है। सम्पूर्ण पाठविधि में किसी भी कार्य के लिये इतना अधिक समय नियत नहीं किया गया है। स्पष्टतः इसके दो कारण हो सकते हैं १. अर्थवेद का विस्तृत अथवा कठिन होना २. इसको महत्त्वपूर्ण समझा जाना। प्रथम कारण का महत्त्व कम न करते हुए भी द्वितीय कारण अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों की व्याख्या में स्वामीजी ने लोगों से शिल्प विद्या सीखने का अनुरोध किया है। ''शिल्पी विद्वानों को योग्य है कि जो शीघ्र जाने आने के लिये रथ बनाया चाहें तो उसके आगे एक-एक कलायंत्र युक्त चक्र तथा सब कलाओं के घूमने के लिये दूसरा चक्र नीचे भाग में रच के उसमें यंत्र के साथ जल और अग्नि आदि पदार्थों का प्रयोग करें।''[3] स्वामीजी की जीवनी से भी ज्ञात होता है कि वे अपने कुछ शिष्यों को शिल्प विद्या सीखने के लिये जर्मनी भेजना चाहते थे। संस्कारविधि में उन्होंने स्पष्ट निर्देश दिया है कि विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं का साक्षात् करें। अर्थवेद के अर्थ को आज के अर्थशास्त्र का पर्याय नहीं समझना चाहिये। आधुनिक अर्थशास्त्र के लिये पहले वार्ता शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसके तीन अंग कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन होते थे। शुक्राचार्य ने इसमें 'कुसीद' अर्थात् बैंकिंग को भी सम्मिलित कर लिया किन्तु कौटिल्य तक पहुंचते-पहुंचते इसका अर्थ ''दण्ड नीति, राजनीति अथवा शासन विज्ञान के रूप में''[४] स्वामीजी का अर्थवेद कुछ भिन्न अर्थवाला है ''जिसको शिल्प विद्या कहते हैं उसको पदार्थ गुण विज्ञान क्रिया-कौशल

---

[१] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, द्वितीय भाग, पृष्ठ २९०

[२] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४२

[३] ऋग्वेद भाषाभाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १५८

[४] कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रस्तावना, पृष्ठ ७

नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है।"[1] स्वामीजी ने सभी प्रकार की हस्तक्रिया यन्त्रकला आदि को सीखने का विधान किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वामीजी के मतानुसार पूर्ण शिक्षित होने के लिये किसी व्यक्ति को ३१ वर्ष तक अध्ययनरत होना चाहिये। "यदि ८ वर्ष का एक विद्यार्थी गुरुकुल में प्रविष्ट हो तो आगामी ३१ वर्ष में उपरोक्त शास्त्रों का विद्वान होने तक उसकी आयु ३९ या ४० वर्ष की हो चुकेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ है कि जो व्यक्ति २५ वर्ष की आयु तक ही निरन्तर विद्याभ्यास करे तो वह सामवेद तक विद्या पूर्ण कर लेगा। यदि वह २७ वर्ष तक पढ़े तो वह अथर्ववेद तक पढ़ लेगा। यदि ३० वर्ष की आयु तक निरन्तर पढ़े तो वह आयुर्वेद (Medicine) और धनुर्वेद (Military Training) पढ़ लेगा, ३३ वर्ष की आयु तक पढ़े तो गान्धर्व वेद (Science of Poetry and Music) पढ़ लेगा। यदि ६ वर्ष और पढ़े तो वह अर्थत्रेद (Economics of a Country & World) पढ़ लेगा।"[2]

निषिद्ध ग्रन्थ एवं निषिद्ध कार्य—स्वामीजी द्वारा वैदिक परम्परा अथवा अपनी बुद्धि के अनुरूप निर्मित पाठविधि का दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। उस सूची से विधेय अंश का पता चलता है, निषिद्ध अंशों का भी कुछ परिचय ऊपर दिया गया है, किन्तु कुछ प्रसंगों को विशद् रूप में जान लेना आवश्यक है। वैसे भी विधेय का न करना उतना बड़ा पाप नहीं है जितना कि निषिद्ध का करना। उत्तम स्वास्थ्य के लिये सेर भर गोदुग्ध पीना विधेय और मद्यपान निषिद्ध है, किन्तु किसी कारणवश यदि दुग्ध न मिल सके तो उससे उतनी हानि नहीं है जितनी कि मद्य के सेवन से है। इस सन्दर्भ में स्वामीजी के कुछ ऐसे निषिद्ध ग्रन्थ हैं जिनके आधार पर उनकी बड़ी आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो उन्होंने फलितज्योतिष के ग्रन्थों के अध्ययन का निषेध किया है, 'जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्म पत्र, राशि मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं उनको झूठ समझ के कभी न पढ़ें और न पढ़ावें।'[3] यह फलितज्योतिष न व्यक्ति के लिये उपयोगी है और न राष्ट्र के लिये। इसी के आधार पर लोग 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' के सिद्धान्त को अपनाकर निष्क्रिय हो जाते हैं। फलित ज्योतिषियों से तंग आकर भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व. जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था, "यदि मेरा बस चले तो इन पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दूं।"[4] इस प्रसंग में स्वामीजी जन्मपत्र को भी निष्फल मानते हैं, उनके अनुसार तो "वह जन्मपत्र नहीं किन्तु उसका नाम शोकपत्र रखना चाहिये।"[5] थोड़ी सी लाल-पीली रेखाओं से किसी का भाग्य परिवर्तन नहीं किया जा सकता, ग्रहशान्ति से गृहशान्ति नहीं हो सकती। ज्योतिषियों के अनुसार दान दक्षिणा करने से इन तथाकथित ग्रहों के फल में भी अंतर हो जाता है। यदि किंचित् काल के लिये यह मान लिया जाये कि फलित ज्योतिष सत्य है, तथापि अनेक बातों का पहले से न जानना ही अच्छा है। उदाहरणार्थ यदि किसी रोगी तथा उसके परिचर्या करने वालों को पहले से ही

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४१

[2] वेदशास्त्र तालिका, पृष्ठ २

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४१

[4] सार्वदेशिक, नवम्बर १९५१, पृष्ठ ३९५

[5] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६

ज्ञात हो कि अमुक दिन रोगी की मृत्यु हो जायेगी, तो उसके रोग निवारण के लिये कौन प्रवृत्त होगा, इसी प्रकार जिस परीक्षार्थी को पहले से ही परीक्षा-परिणाम ज्ञात हो तो वह अध्ययन में क्यों दत्तचित्त होगा ? इसी प्रकार स्वामीजी ने कर्म के तथाकथित बाह्यचिह्नों को भी धारण करने का निषेध किया है। "ऊर्ध्वप्रण्ड, तिलक, कण्ठी, माला-धारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेश आदि के नाम स्मरण से पाप दूर होने का विश्वास पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना....मिथ्या पुराण नामक भागवतादि की कथा से मुक्ति का मानना"[1] आदि सभी वस्तुयें स्वामीजी के दृष्टिकोण से त्याज्य हैं।

व्याकरण ग्रन्थों के प्रसंग में विधेय ग्रन्थों का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। जाल ग्रन्थों की सूची में उन्होंने कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध कौमुदी, शेखर तथा मनोरमादि का नाम परिगणित किया है। स्पष्ट है कि सभी ग्रन्थ आर्ष न होकर सामान्य-जनकृत हैं, परिणामतः शैली सरल न होकर दुरूह हो गई है, सूत्रों का क्रम भी अष्टाध्यायी के विरुद्ध है, अतएव आर्ष ग्रन्थों की अपेक्षा कम लाभकारी हैं। कोशों में अमरकोशादि को त्याज्य माना है। आदि में भेदिनी, विश्वप्रकाश, हलायुध, शब्दार्णव का समावेश हो गया है। स्वामीजी की अध्ययन-अध्यापन शैली का मुख्य उद्देश्य वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार था। उपर्युक्त कोश लौकिक संस्कृत के ही शब्दों के अर्थों का निर्देश करते हैं। ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृत में होता है, किन्तु दोनों स्थान पर उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। स्वामीजी को जो अर्थ अभिप्रेत था, उनका ज्ञान इन कोशों से संभव नहीं है। इन कोशों में 'मुखमेव मुख्यं' के अनुसार अमरकोश ही सर्वाधिक प्रसिद्ध था, अतः परिगणन उसके नाम का ही किया गया है। छन्दोग्रन्थ में वृत्तरत्नाकरादि त्याज्य हैं। इनमें भी लौकिक छन्दों का समावेश, ग्रन्थ रचना में पांडित्य का प्रदर्शन है तथा ये अनार्ष भी हैं। काव्य के संबंध में उन्होंने जालग्रन्थों की सूची दी है, वह आज के सामाजिकों की धारणा के नितान्त प्रतिकूल तथा उनको चौंकाने वाली है। वे लिखते हैं कि "काव्य में नायिका भेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि"[2] त्याज्य हैं। नायिकाओं के सामान्यतः स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीन प्रमुख भेद माने जाते हैं। लौकिक संस्कृत के साहित्य में वय अवस्था आदि के अनुरूप बढ़ते-बढ़ते इनके भेद, प्रभेद और अवान्तर भेदों की संख्या पर्याप्त अधिक हो गई, हिन्दी में इनकी संख्या का और भी अधिक विस्तार हुआ है। श्री पोद्दारजी के अनुसार ही 'नायिकाओं के ३८४ भेद हैं।'[3] कुछ लोगों के मतानुसार तो हिन्दी में यह संख्या १६०० तक पहुंच गई है। यह तो स्पष्ट ही है कि विद्यार्थियों से त्याग, सादगी और पूर्ण ब्रह्मचर्य की अपेक्षा करने वाले स्वामीजी उनको ऊढ़ा, अनूढ़ा, अभिसारिका, खण्डिता, प्रोषितपतिका आदि के जाल में नहीं उलझा सकते थे। इस पंक में लिप्त होने पर विद्यार्थियों का इससे निस्तार असंभव ही था। विशेषतः उस परिस्थिति में जबकि देश पर विदेशियों का शासन हो, सभी प्रकार के अभाव मुंह फाड़ कर खड़े हों, उस समय यह विलास या मानसिक-व्यभिचार किसी भी राष्ट्र को पतन के पथ पर अग्रसर करने वाला ही होता है।

---

[1] सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४३

[2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ४२

[3] काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, रसमंजरी—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ १८४

'कुवलयानन्द' अलंकारशास्त्र पर लिखा हुआ एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना १६वीं शताब्दी में 'अप्पयदीक्षित' ने की थी जिनका संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थ का मूलाधार जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' है। अलंकारों के उदाहरण इनके अपने नहीं हैं, किन्तु इस विषय का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वालों के लिये उपयोगी है। इस ग्रन्थ का निर्माण उन्होंने राजा वेंकटाद्रि की प्रेरणा पर किया था। स्वामीजी ने अलंकार शास्त्र के केवल इस ग्रन्थ का ही निषेध नहीं किया था, इस प्रकार के सभी ग्रन्थ इस नाम में समाविष्ट हो जाते हैं। निषेध का कारण ढूंढना अतिदुरूह कार्य नहीं है। वैदिक साहित्य में अलंकारों के भेद अधिक नहीं हैं, लौकिक साहित्य में आचार्यों तथा कवियों ने इस माध्यम से काव्य का उपकार कम किया है और अपने पांडित्यप्रदर्शन का प्रयत्न अधिक किया है। पर्याप्त श्रम करने के बाद भी इसमें तात्विक उपलब्धि कम होती है। अलंकारों के विवेचन में शृंगार का विशद् विवेचन है जो स्थान-स्थान पर अश्लीलता की सीमा को लांघ गया है। ऐसी कोई वस्तु जो विद्यार्थियों के चरित्र को पतित करे, स्वामीजी के मतानुसार पाठ्य-पुस्तक का अंश नहीं हो सकती।

कविकुलगुरु महाकवि कालिदास के रघुवंश का नाम भी निषिद्ध ग्रन्थों की सूची में है। जिस कालिदास की कीर्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है, जिसके नाम पर प्रतिवर्ष सम्पूर्ण विश्व में 'कालिदास समारोह' मनाये जा रहे हैं, जिसके काव्य का अध्ययन कर जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे का मनमयूर नृत्य कर उठा था, उसी महाकवि के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य को अध्ययन के लिये निषिद्ध बताना बड़े साहस का कार्य है। अपने इस बहुचर्चित एवं बहुप्रशंसित ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठापना की है, गोभक्ति का महत्त्व दर्शाया है, व्यूढोरस्क वृषस्कन्ध न्यायप्रिय तथा प्रजाहितैषी राजाओं की चर्चा की है, जहां "प्रजा भी मनु द्वारा प्रणीत नियमों से रंचमात्र भी विचलित नहीं होती थी।"[१] जहां "शैशव में विद्याभ्यास, यौवन में विषयैषणा, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति और अंत में योग के द्वारा 'शरीर त्याग' की शिक्षा दी गई है।"[२] जहां सूर्यवंश के २९ राजाओं का वर्णन है, जिस ग्रन्थ की ४० टीकायें निकल चुकी हैं, जिसे होमर, दांते और मिल्टन से भी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है, उस ग्रन्थ के संबंध में स्वामीजी की सम्मति अधिकांश व्यक्तियों के गले नहीं उतरती। इतना ही नहीं इस ग्रन्थ के नवें से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक मर्यादा पुरुषोत्तम राम की गाथा वर्णित की गई है, इसमें अनेक रसों के वर्णन के साथ-साथ काव्यत्व भी उच्चकोटि का है, फिर इसको निषिद्ध बताये जाने पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। संसार के विद्वानों से प्रमाण-पत्रों के प्रभाव से तथा कालिदास की ख्याति से अभिभूत हो जाना सामान्यजन का कार्य है। तटस्थ व्यक्ति तो कसौटी पर कस कर ही इसके गुणावगुण की परीक्षा करेगा। स्वामीजी के सिद्धान्त निकष पर कसे जाने पर यह ग्रन्थ भी पूर्णतः खरा नहीं उतरता। कुछ कारण निम्न हैं—

(अ) यह आर्ष रचना नहीं है तथा इसमें वैदिक मान्यताओं का पूर्ण परिपालन नहीं हुआ है।

---

[१] महाकवि कालिदास—डा. रमाशंकर तिवारी, पृष्ठ ७५

[२] कालिदास ग्रन्थावली—रघुवंश, पृष्ठ २

(आ) कालिदास के अन्य ग्रन्थ कुमार संभव, मेघदूत और अभिज्ञानशकुन्तलम् की तुलना में कम होते हुए भी इसमें शृंगार एवं अश्लीलता समाविष्ट है। १३वें सर्ग में राम के पुत्र कुश का जलविहार निम्न शब्दों में अंकित किया गया है, "कुश भी पानी में उतर पड़े और जैसे कमलिनियां उखाड़कर कन्धे पर लटका कर हाथी अपनी हथिनियों के साथ जलक्रीड़ा करता है वैसे ही वे भी उन स्त्रियों के साथ जलविहार करने लगे।"[1] अंतिम सर्ग तक पहुंचते-पहुंचते तो यह अश्लीलता सभी सीमाओं को लांघ गई हैं। राजा अग्निमित्र पतन की चरम सीमा पर पहुंच गया है। उस विलासी को दूतियों के साथ संभोग करने में भी लज्जा नहीं है, "कभी-कभी दूतियां राजा को मार्ग दिखाती हुई उस स्थान पर ले जातीं जहां लताओं के बीच में संभोग के लिये फूलों की सेज बिछी रहती थी। उस समय उसे यह डर होता कि कहीं ये दासियाँ जाकर रानियों से न कह दें। इसलिये दासियों को फुसलाने के लिये वह उन दासियों से संभोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था।"[2] कभी-कभी वह स्त्रियों के पैरों में स्वयं महावर लगाने बैठ जाता। पर उसी समय उसकी दृष्टि स्त्रियों के उन नितम्बों पर पड़ जाती थी जिन पर से कपड़ा सरका हुआ रहता था। उसने गाने वाली स्त्रियों के ओठों पर अपने दांत के और उनकी जंघाओं पर नोंच-नोंच कर घाव कर दिये थे। उसे सदा नये-नये भोग की सामग्री की अभिलाषा रहती थी। प्रजापालन में उसे कोई सुध नहीं रह गई थी, "यदि कभी मंत्रियों के कहने सुनने से वह प्रजा को दर्शन भी देता तो बस इतना ही कि झरोखे से एक पैर बाहर लटका देता था।"[3]

(इ) कई स्थलों पर इसमें पशुओं के बलिदान, बहुविवाह तथा मदिरापान आदि का विधान किया गया है।

(ई) इस ग्रन्थ में दी हुई राजाओं की सूची वाल्मीकि रामायण से मेल नहीं खाती और सामान्यत: वे वायुपुराण और विष्णुपुराण से मिलती जुलती हैं।[4]

(उ) विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से इसके कथानक में एकसूत्रता का अभाव है। A. W. Ryder ने लिखा है "प्रस्तुत काव्य में एकसूत्रता का अभाव और उसका कथानक रूपविहीन एवं असम्बद्ध (Formless Plot) है।"[5]

(ऊ) कतिपय विद्वानों के अनुसार कवि ने 'कुमारसंभवम्' की भांति इस महाकाव्य को भी अपूर्ण ही छोड़ दिया है। भारतीय मर्यादा के विपरीत इसका पर्यवसान भी शोकान्त रूप में ही हुआ है।

---

[1] कालिदास ग्रन्थावली—रघुवंश, पृष्ठ १९७

[2] वही, पृष्ठ २२२

[3] वही, पृष्ठ २१९

[4] History of Classical Sanskrit Litrature—M. Krishnamacharian. पृष्ठ ११४

[5] महाकवि कालिदास-- डा. रमाशंकर तिवारी, पृष्ठ ७०

स्वामीजी की कसौटी से आलोचकों को मतभेद हो सकता है, पर उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ को वर्जनीय समझना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है स्वामीजी को कालिदास से कोई द्वेष नहीं था, किन्तु राष्ट्रहित को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने तत्कालीन सभी काव्यों को इसी श्रेणी में रखा है।

निषिद्ध ग्रन्थों की सूची में अगला नाम माघ का है। माघ को भी महाकवि की उपाधि से विभूषित किया गया है और उनके प्रसिद्ध महाकाव्य का नाम है 'शिशुपालवध'। इस महाकाव्य की गणना 'बृहत्त्रयी' में की जाती है। इसकी कथा २० सर्गों में विभक्त है, वर्णन बड़े सजीव एवं सालंकार हैं तथा कविता ओजोगुणमयी है। प्रकृतिपर्यवेक्षण की उनकी शक्ति अति विलक्षण है। प्रातःकालीन सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्होंने रैवतक पर्वत को एक हाथी के समान माना है। एक ओर अस्त होता हुआ चन्द्र और दूसरी ओर उदित होता हुआ सूर्य, हाथी के दोनों ओर लटकते हुए घंटों के समान हैं। इसी कल्पना के कारण ही उनका नाम 'घण्टामाघ'[1] भी पड़ गया। इस काव्य में भी यादव लोगों का अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा और वन विहार में मग्न होने का वर्णन है। काव्य में सर्वत्र भौतिकता का अभाव और भारवि की छाया है, 'शैली श्रम सिद्ध है।'[2] उनके काव्य को देखकर अनेकों को कम्पन प्रारंभ हो जाता है, 'माघेनैव च माघेन कम्पः कस्य न जायते।' स्वामीजी की कसौटी पर खरा उतरने के लिये जो योग्यता चाहिये, इसमें भी उसका अभाव है।

भारवि के महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' की स्थिति भी इसी के समान ही है। भारवि तथा माघ दोनों की काव्य-कथा महाभारत से ली गई है। दोनों का प्रारंभ 'श्री' से होता है, दोनों के प्रथम सर्ग में संदेश कथन है, दोनों में अप्सराओं के विहार का चित्रण है, फिर भी साहित्यिक दृष्टि से दोनों में अन्तर है। दोनों की उत्कृष्टतानुकृष्टता का निर्धारण करना यहां हमारा उद्देश्य नहीं है। स्वामीजी के दृष्टिकोण से दोनों ही ग्रन्थ त्याज्य हैं। वस्तुतः ये कुछ नाम तो स्वामीजी ने निदर्शन के लिये दिये हैं अन्यथा उनके दृष्टिकोण से न अश्वघोष पाठ्य ग्रन्थों की सूची में आते हैं और न भट्टि, न 'जानकीहरण' उपादेय हैं और न नैषध। केवल सुन्दरम् में आप्लावित रहना उन्हें अवांछनीय है, उन्हें तो अधिक से अधिक 'शिवम्' की आवश्यकता है और इस शिव के बारे में उनकी निश्चित धारणा है और नियत मानदण्ड। स्पष्ट ही है कि ये तथा इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी उनकी तुला पर खरे नहीं उतरते।

मीमांसा दर्शन के लिये अनार्ष ग्रन्थ धर्म सिन्धु तथा व्रतार्कादि को उन्होंने त्याज्य बताया है। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि, न्याय में जागदीशी आदि, योग में हठप्रदीपिकादि, सांख्य में सांख्यतत्व कौमुदी आदि और वेदान्त में योगवासिष्ट पंचदश्यादि को उन्होंने इसी श्रेणी में रखा है। इन शास्त्रों का अध्ययन करने वाले प्रायः उपर्युक्त ग्रन्थों का ही आश्रय लेते हैं, परिमाणमतः उनको ज्ञान भी याथातथ्य नहीं हो पाता था। वैद्यक ग्रन्थों में उन्होंने शार्ङ्गधरादि को अप्रामाणिक माना है। स्मृतियों में उन्होंने याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि स्मृतियों को अप्रमाणिक माना है। केवल शुद्ध मनुस्मृति (प्रक्षेप रहित) ही उनके दृष्टिकोण से प्रामाणिक है। तंत्र

---

[1] संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ ६४

[2] वही, पृष्ठ ६७

साहित्य पौराणिक धर्म के उत्तर काल की रचना है। इनमें शक्ति का भगवान् की पत्नी के रूप में मानवीकरण किया गया है। संख्या में ये तंत्र ग्रन्थ अनेक हैं और इनमें प्रायः 'इन्द्रजाल, जादू तथा वशीकरण आदि के मंत्रों का प्रयोग पापनिवारण के लिये किया गया है।'[1] इन तंत्रों में सर्वाधिक प्रसिद्ध रुद्र, यामल, कालिका, महानिर्वाण तथा कुलार्णव आदि हैं। सभी पुराण तथा उपपुराण भी स्वामीजी के मतानुसार निषिद्ध ग्रन्थों की सूची में हैं। निम्न श्रेणी के व्यक्तियों तथा महिलाओं को वेदों के सामान्य सिद्धान्तों का परिचय कराने के कारण कुछ लोग उनको पंचमवेद के नाम से भी अभिहित करते हैं। पुराणों की संख्या १८ और इनका विभाजन राजस्, सात्विक तथा तामस् श्रेणियों में किया गया है। राजस श्रेणी में जो पुराण आते हैं वे हैं—(१) ब्रह्म, (२) ब्रह्माण्ड, (३) ब्रह्मवैवर्त, (४) मार्कण्डेय, (५) भविष्य, (६) वामन। सात्विक श्रेणी के पुराण (१) विष्णु, (२) भागवत, (३) नारदीय, (४) गरुड़, (५) पद्म तथा (६) वराह हैं। इसी प्रकार तामस श्रेणी में पुराण निम्न हैं—"लिंग, स्कन्ध, अग्नि, मत्स्य तथा कूर्म।"[2] उपपुराणों की संख्या भी कुछ विद्वानों के अनुसार १८ है। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. सनत्-कुमार, २. नृसिंह, ३. नारदीय, ४. शिव, ५. दुर्वासस, ६. कपिल, ७. मानव, ८. औशनस, ९. वरुण, १०. कालिका, ११. साम्ब, १२. नन्दी, १३. सौर, १४. पराशर, १५. आदित्य, १६. महेश्वर, १७. भागवद्, १८. वाशिष्ठ। इसके अतिरिक्त 'वेदशास्त्रतालिका'[3] में १२ अन्य पुराणों के भी नाम दिये गये हैं जो कि निम्न हैं—ब्रह्माण्ड, कौर्म, भार्गव, द्यादि, मंगल, कल्कि, देवी, महाभागवत, वृहद्धर्म, परानन्द, पशुपति, वायु। केवल पुराणों में ही दिये हुए श्लोकों की कुल संख्या ४३,२९,००० है। पुराणों में जिन विषयों की चर्चा की गई है वे क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वंशावली, मन्वंतर और वंशावली चारित्र हैं। इतने महत्त्वपूर्ण विषयों से युक्त होने पर, इतना विपुल साहित्य रखने पर भी तथा स्थान-स्थान पर भाषासौष्ठव होने पर भी स्वामीजी ने इन पुराणों का नितान्त निषेध किया है। स्वामीजी के मतानुसार भगवान् वेदव्यास इनके रचयिता नहीं हैं। इन पुराणों में असंख्यात मिथ्या चर्चायें हैं, अश्लीलता कामशास्त्र से भी अधिक बढ़ गई है। पुराणकार आपस में एक दूसरे को अपशब्द भी कहते हैं और एक ही वस्तु के सम्बन्ध में उनका मतवैभिन्य है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

(क) ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार राधा कृष्ण की पुत्री थी।[4] दूसरे स्थल पर उन्हें कृष्ण की मामी बताया गया है।[5] फिर इन्हीं राधा को कृष्ण की प्रेयसी के रूप में भी चित्रित किया गया है। एक साथ ये तीनों रिश्ते निभने कठिन ही नहीं असंभव भी है।

(ख) कुशल राजनीतिज्ञ, महान् विद्वान, पूर्ण सदाचारी योगिराज श्रीकृष्ण को भी इन पुराणकारों ने 'चौरजारशिखामणि' के रूप में चित्रित किया है। विष्णु पुराण के कृष्ण भी 'अपनी किशोर अवस्था का मान करते हुए रात्रि के समय उनके साथ रमण किया करते थे।'[6]

---

[1] A History of Classical Sanskrit Lit.—M. Krishnamacharian. पृष्ठ ७८

[2] वही, पृष्ठ ७५

[3] वेदशास्त्रतालिका, पृष्ठ ७३-७४

[4] श्रीकृष्ण चरित—भवानीलाल भारतीय, पृष्ठ ९१

[5] अवतार रहस्य—डा. श्रीराम आर्य, पृष्ठ ५८

[6] पुराणों के कृष्ण—डा. श्रीराम आर्य, पृष्ठ ६

भागवतकार भी इस विषय में पीछे नहीं हैं, उसमें भी "बाहें फैलाना, आलिंगन करना, गोपियों के हाथ दबाना, उनकी चोटी पकड़ना, जांघों पर हाथ फेरना, लहंगे का नारा खींचना, स्तन पकड़ना, मजाक करना, नाखूनों से उनके अंगों को नोंच-नोंच कर जख्मी करना, विनोदपूर्ण चितवन से देखना और मुस्कराना तथा इन क्रियाओं के द्वारा नवयौवना गोपियों में कामदेव को खूब जागृत करके उनके साथ कृष्ण ने रात में रमण किया।"[1] आदि चित्रण किया है। शिवपुराण वाले इस विषय में और भी आगे बढ़ गये। उनके अनुसार "कृष्ण ने बचपन में ही गोपिकाओं से संभोग करके १० लाख लड़के पैदा कर डाले।" इनसे भी अधिक घृणित अनेक चित्र पुराणों में उपलब्ध होते हैं जिन्हें लिखते हुए लेखनी भी लज्जित हो जाती है।

(ग) पुराणों में गप्पों का इतना बाहुल्य है कि शिवपुराण के अनुसार, पुराण वेदों से भी पहिले बने "प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्राह्मस्मृतम्। अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।"[2] भविष्य पुराण में अंग्रेजी का प्रयोग किया गया है 'रविवारे च सन्डे च फाल्गुने चैव फरवरी। षष्टिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरणमीदृशम्'। देवी भागवत में स्वयं स्वीकार किया है कि पुराण धूर्तों के बनाये हैं।[3]

पुराणों के सम्बन्ध में की गई प्रशंसा को हम स्वीकार कर भी लें तो भी उनका रूप एक बड़े कड़ाह में रखी हुई मधुर खीर के समान होगा, किन्तु उसमें अश्लीलता, अस्वाभाविकता और कपोलकल्पना की कुछ छिपकलियां ऐसी गिर गई हैं कि सारा भक्ष्य ही विषाक्त हो गया है। कोई बुद्धिमान व्यक्ति तो इसको जिह्वा पर रखना भी नहीं चाहेगा और मूर्खों के विषय में चर्चा करना कोई बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि इन ग्रन्थों को त्यागने का विचार किसी भी देशहितैषी को स्वामीजी से पूर्व क्यों नहीं सूझा।

ऊपर जिन निषिद्ध पुस्तकों की चर्चा की गई है, वे सब संस्कृत भाषा में हैं। सामान्य जनता इनमें श्रद्धा रखती है, इन्हें पूजा की वस्तु समझती है किन्तु इनके अध्ययन से सदा विरत ही रहती है। अगली पुस्तक जिसको स्वामीजी ने कपोलकल्पित और मिथ्या बताया है, वह है गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरित मानस', लोक व्यवहार में यह भी रामायण के नाम से विख्यात है। कोई इस ग्रन्थ को सरस्वती का कण्ठहार कहता है, कोई पूर्ण कविता का चरम आदर्श मानता है, किसी के लिये यह धार्मिक कृति है और किसी के लिये साहित्यिक, अनेक व्यक्तियों ने तो इस ग्रन्थ का अध्ययन करने के लिये हिन्दी सीखी। स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसा व्यक्ति जिसने अपने ग्रन्थों का प्रणयन हिन्दी (आर्य भाषा) में किया, जिसने इसे सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा के रूप में उद्घोषित किया, जिसने अपने अनुयायियों के लिये हिन्दी पढ़ना अनिवार्य बताया, वही व्यक्ति जब 'मानस' के अध्ययन का निषेध करता है तो एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है। भारतीय भाषाओं में संभवतः यह पहला ग्रन्थ है जिसकी ४००वीं जयन्ती मनाई जा रही है। देश-विदेश के विद्वान इसकी प्रशंसा में दिन-रात एक कर

---

[1] श्रीमद्भागवत महापुराणम्, पृष्ठ ५३६
[2] अवतार रहस्य, पृष्ठ ५६
[3] देवी भागवत, स्कन्ध ५ अ १९ —पुराणों के कृष्ण (पृष्ठ २४)

रहे हैं, उस ग्रन्थ को निषिद्ध बताना कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। समस्या तब और भी गंभीर हो जाती है जब हम न तो मानस में साहित्यिकता का अभाव पाते हैं और न स्वामीजी की नीयत पर सन्देह करने का कोई कारण। तुलसी ने भी अपने ढंग से हिन्दू जाति का उद्धार चाहा था और स्वामीजी को भी यही अभीष्ट था।

तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता उनका 'समन्वयवाद' कहा जाता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय ......"[१] इन समन्वयों में सबसे बड़ा आपत्तिजनक समन्वय हुआ है धर्म और साहित्यिकता का समन्वय और उसमें भी सम्मिलित हो गया है तुलसी की मान्यताओं का समन्वय। 'तुलसी' की मान्यता है 'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये कोटि वैरीसम जद्यपि परमसनेही'[२] और स्वामीजी की आस्था है जो वेदानुकूल है वही ग्राह्य और जो उसके प्रतिकूल है वही अग्राह्य। तुलसी ने स्थान-स्थान पर वेद तथा वैदिक धर्म की दुहाई तो दी है, पर उनका अनुसरण करने में उन्हें प्रायः असफलता मिली है। 'मानस' का प्रारंभ ही 'निगमागम सम्मतं'[3] से करते हैं, 'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती'[४] 'परहिं जे दूषहिं श्रुतिकरि तरका।'[५] 'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।'[६] 'सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी।'[७] आदि में भी उनकी वेद के प्रति आस्था स्पष्ट है किन्तु वक्तुम् सुकरम् कर्तुम् दुष्करम्। 'वेद की प्रशंसा और अवैदिक मान्यतायें दोनों ही चीजें तुलसी को पुराणकारों से विरासत में मिली थीं।'[८]

साहित्यिक दृष्टि से अद्वितीय रचना होने पर भी अध्येताओं को 'मानस' में कुछ अभाव खटके हैं। इनके अभावों की ओर संकेत श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपने 'तुलसीदास और उनका काव्य' में पृष्ठ २७६ से २८२ तक किया है। वहीं 'गुरु गृह गये पढन रघुराई, अल्पकाल सब विद्या पाई।' तथा 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी, सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।'[९] में विरोध प्रतीत होने लगता है। राम को ब्रह्म बनाने के चक्र में कथा की स्वाभाविक धारा अवरुद्ध हो गई है। अरण्य काण्ड में उन्होंने असली तथा नकली दो सीताओं की सृष्टि कर डाली है। कहीं लक्ष्मण अबोध बन जाते हैं और कहीं उपदेशक। "इस अवसर पर राम ने जो कुछ लक्ष्मण को समझाया है, उससे अधिक अयोध्या काण्ड में लक्ष्मण स्वयं निषाद को बता चुके हैं।"[१०] कहीं शूर्पणखा जैसी राक्षसी 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा' का

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १०४
२. विनयपत्रिका—वियोगी हरि, पृष्ठ २६०
३. रामचरितं मानस, पृष्ठ ३०
४. वही, पृष्ठ ८९२
५. वही, पृष्ठ ९६०
६. वही, पृष्ठ ९६७
७. वही, पृष्ठ ९९०
८. तपोभूमि (रामचरित मानस समीक्षा खण्ड), जनवरी १९७१, पृष्ठ ७
९. तुलसीदास और उनका काव्य—रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ २७६
१०. वही, पृष्ठ २७९

पाठ करने लगती है, कहीं मन्दोदरी जैसी राक्षसी भी रावण को उपनिषदों का मर्म समझाने लगती है, कहीं लंका काण्ड में युद्ध संबंधी चर्चाओं को छोड़कर चन्द्रमा पर तरह-तरह की अस्वाभाविक एवं असामयिक कल्पनायें प्रारंभ कर दी जाती हैं, कहीं कागभुशुण्डी जैसा कौवा राम के मुख में प्रविष्ट हो जाता है और उन्हें ज्ञात भी नहीं होता और कहीं व्याकरण के नियमों की उपेक्षा, यतिभंग आदि दृष्टिगोचर होते हैं। एक आलोचक ने तो इतना तक लिख दिया है "परन्तु रामचरित मानस में रसों की अपेक्षा रसाभास ही अधिक मिलते हैं।"[१] यहां हमारा उद्देश्य साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन करना नहीं है। स्वामीजी ने 'मानस' की साहित्यिकता की न तो चर्चा की है और न उस पर कोई आलोचना की है। उनका ध्यान तो उसके धार्मिक प्रतिपाद्य पर था और इसी दृष्टि से उन्होंने इसे अपठनीय घोषित किया है। तुलसी के मानस में जो कुछ वेद विरुद्ध है उसका कुछ विवेचन निम्न है—

१. तुलसी ने वेद और पुराण को एक ही श्रेणी में रखा है। 'नानापुराण निगमागम', 'श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ'[२], 'निर्नय सकल पुरान वेद'[३] आदि में यह भावना सरलता से देखी जा सकती है। पिछले पृष्ठों में प्रदर्शित किया जा चुका है कि वेद और पुराणों की मान्यताओं में कितना अन्तर है।

२ वेदों में ईश्वर, जीव और प्रकृति के रूप में त्रैतवाद की प्रतिष्ठापना की गई है जबकि मानस में जीव को ईश्वर का अंश बताया गया है, "ईश्वर अंश जीव अविनासी।"[४]

३. वेद में मुक्तात्माओं का अवतरण तो है किन्तु भगवान् के अवतार ग्रहण करने की चर्चा नहीं है। तुलसी के सम्बन्ध में सुखवीरसिंह लिखते हैं "तथापि वह सर्व शक्तिमान् अपनी अपार कृपा के द्वारा संसार को पाप से मुक्त कराने के लिये राम के रूप में अवतार लेता है।"[५] तुलसी का सारा आग्रह ही राम को ब्रह्म सिद्ध करने पर है।

४. वेदों में सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के ब्रह्म की चर्चा है, पर साकार उपासना की चर्चा कहीं नहीं है। किन्तु तुलसीदास घोषणा करते हैं 'निर्गुण मत नहीं मोहि सोहाई, सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई।'[६]

५. स्त्रियों के सम्बन्ध में तुलसी की धारणा वेद के नितान्त प्रतिकूल है। "उन्होंने नारी की पूजा के बदले उसके अपावनत्व और जड़त्व आदि का ही उल्लेख अधिक किया है।"[७] 'ढोल गवार सुद्र पसु नारी' के अतिरिक्त बालकाण्ड में उन्हें 'नारि सहज जड़ अज्ञ'[८] बताया गया है, अयोध्याकाण्ड में 'जानि न जाइ नारि गति भाई।'[९] के रूप में स्मरण किया

---

१. तपोभूमि : रामचरित मानस समीक्षा खण्ड, पृष्ठ २१

२. रामचरित मानस, पृष्ठ ९०३ ३. वही, पृष्ठ ९०९

४. वही, पृष्ठ ९८२

५. रामचरित मानस पाश्चात्य समीक्षा—सुखवीरसिंह, पृष्ठ ४२

६. रामचरित मानस, पृष्ठ ९७३

७. तुलसीदास और उनका युग—डा० राजपति दीक्षित, पृष्ठ ७४

८. रामचरित मानस, पृष्ठ ८६ ९. वही, पृष्ठ ३७२

गया है, और अरण्यकाण्ड में 'जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं।'[1] तथा 'अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दु:ख खानि।'[2] के रूप में उनकी आरती उतारी गई है। कहा जा सकता है कि ये तुलसी के निजी विचार नहीं, उन्हें ये सब परिस्थिति के अनुरोध से अथवा युग के प्रतिबिम्ब के रूप में चित्रित करना पड़ा है। कारण कुछ भी हो, पर ये विचार हैं तो वेदविरुद्ध ही।

इस प्रकार की अन्य अनेक बातें हैं जो वेद विरुद्ध हैं और जिनका समावेश मानस में किया गया है। इसी आधार पर स्वामीजी ने 'रामचरित मानस' को निषिद्ध ग्रन्थ ठहराया है। इस सूची में एक अन्य भाषाग्रन्थ का नाम भी स्वामीजी ने सम्मिलित किया है और वह है रुक्मिणी मंगल। इसमें तथा इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों में प्राय: "कुण्डनपुर के राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से निश्चित होना, नारद का हस्तक्षेप रुक्मिणी का कृष्ण को पत्र लिखना, विवाह का आयोजन, कृष्ण का विवाहोत्सव के अवसर पर रुक्मिणी का हरण और शिशुपाल का वध करना आदि की चर्चा है।"[3] वस्तुत: रुक्मिणी मंगल नाम की कई पुस्तकें हैं जिनके लेखक भिन्न हैं। एक के लेखक नन्ददास हैं, दूसरी के हैं विष्णुदास, तीसरी के लेखक हैं अकबरी दरबार के नरहरि वन्दीजन, चौथे हैं नवलसिंह, पांचवें हैं हरिनारायण, छठे हैं ठाकुरदास और सातवें हैं मानदास। इस श्रेणी में दो अन्य नाम भी हैं १. रामलला और २. हरचन्द द्विजदास। स्वामीजी ने इनमें से किसी एक नाम की ओर संकेत नहीं किया है उनके लिये ये सभी ग्रन्थ अनुपयोगी एवं निषिद्ध हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कुछ महानुभाव यह निष्कर्ष निकालने को विवश हो जाते हैं कि स्वामीजी तथा उनके अनुयायी 'राम' तथा 'कृष्ण' को न तो भगवान् मानते हैं और न उनके पक्ष में हैं। धारणा का प्रथमांश तो सत्य है, किन्तु उत्तरांश सत्य से पर्याप्त दूर है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा योगिराज कृष्ण में जैसी आस्था स्वामीजी की है, वैसी बिरलों में ही होगी। राम का उन्हें वही स्वरूप मान्य है जो वाल्मीकि रामायण में दिया गया है, कृष्ण के सम्बन्ध में वे कहते हैं, 'देखो श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उसका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश हैं। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा'[4] कृष्ण को इतना बड़ा प्रमाण पत्र स्वामीजी के अतिरिक्त कौन दे सकेगा। एक अन्य प्रसंग में वे लिखते हैं "जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते।"[5] निषिद्ध ग्रन्थों का जो निषेध स्वामीजी ने किया है, वह साहित्यिकता के आधार पर नहीं, द्वेष के आधार पर नहीं, पक्षपात के आधार पर नहीं अपितु 'श्रुति परमं प्रमाणम्' के आधार पर ही। देश, राष्ट्र और आर्य जाति के पुनरुद्धार के लिये उनके समक्ष इससे बढ़कर कोई कसौटी नहीं थी, अत: उनके सम्बन्ध में यह कहना कि वे राम और कृष्ण के विरोधी थे, उनकें साथ सरासर अन्याय करना होगा। जब भक्तिकाल के कवियों की यह स्थिति है तो रीतिकाल के कवि तो उनकी कसौटी पर

---

[1] रामचरित मानस, पृष्ठ ६४२ [2] वही, पृष्ठ ६४९

[3] हिन्दी साहित्य कोश, भाग २—धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ५०६-५०७

[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २१५ [5] वही, पृष्ठ २०४

खरे उतर ही नहीं सकते। उन्होंने स्थालीपुलाकन्याय के अनुसार कुछ ग्रन्थों के ही नाम लिये हैं, इस प्रकार के शेष अन्य ग्रन्थ भी उनकी दृष्टि में निषिद्ध श्रेणी में ही परिगणित किये जायेंगे।

निष्कर्ष—आज भी देश के मनीषी, विद्वान तथा भाग्यविधायक देश की वर्तमान शिक्षा प्रणाली से असंतुष्ट हैं। मंत्री से लेकर संतरी तक प्रत्येक व्यक्ति इसकी आलोचना करता है तथा इसमें कुछ परिवर्तन चाहता है, किन्तु परिवर्तन क्या हो और किस दिशा में हो, इस सम्बन्ध में उनके मस्तिष्क में कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। तथापि उनकी कामना तथा प्रयत्न यही रहता है कि पूर्व के उदित होते हुए सूर्य की अपेक्षा पश्चिम के अस्त होते हुए सूर्य से प्रकाश ग्रहण करें। सभी भारत को पेरिस, रूस और अमेरिका बना देना चाहते हैं पर उसके 'भारत' रहने पर सभी को आपत्ति है। स्वामीजी ने अपनी शिक्षा प्रणाली के द्वारा भारत को सच्चा भारत बनाने की चेष्टा की है। संभव है कि कुछ आलोचक स्वामीजी की पाठविधि तथा शिक्षा सिद्धान्तों से सहमत न हो, पर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वे जो कुछ भी करना चाहते हैं उसके संबंध में उनकी धारणायें स्पष्ट तथा पूर्ण थीं। एक ही व्यक्ति के लिये शैशव से लेकर दीक्षान्त के समय तक की सभी विषयों की चर्चा करना असंभव नहीं सो कठिन अवश्य है, स्वामीजी ने इसी असंभव को संभव बनाने का प्रयत्न किया है।

स्वामीजी ने शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश महनीय मां द्वारा करवाया है, उनसे ब्रह्मचर्य में दीक्षित होने की अपेक्षा की है और शिक्षा के लिये नगर के कलरव से दूर आचार्यकुल का वातावरण चुना है और सहशिक्षा को उन्होंने पूर्णतः जलांजलि दे दी है। उन्होंने सभी विद्यार्थियों के लिये समान भोजन तथा वस्त्रादि की व्यवस्था चाही है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये वे शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं, उनके दृष्टिकोण से राज्य व्यवस्था भी ऐसी ही होनी चाहिये।

शिक्षा का उद्देश्य उनके दृष्टिकोण से द्रव्योपार्जन ही नहीं है, वे अडिग अविचलशील की शिक्षा देना चाहते हैं। उनका उद्देश्य ही विद्यार्थियों को ब्रह्मचारी बनाना है—'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी' ब्रह्म अर्थात् विद्या तथा परमात्मा में विचरण करने वाला, जो नास्तिक हो वह उनके मतानुसार अशिक्षित ही कहा जायेगा। विद्यार्थी के लिये सादगी आवश्यक है, शृंगार उनके मार्ग में प्रबल अन्तराय है। शिक्षक को भी 'आचार्य' नाम से सम्बोधित किया गया है क्योंकि वह आचार के ग्रहण करने की शिक्षा देता है। "वैदिक शिक्षा पद्धति में शिक्षा का केन्द्र आचार शक्ति है, विचार शक्ति नहीं, इसलिये वैदिक भाषा में गुरु को आचार्य कहते हैं, विचार्य नहीं, विचार साधन हैं आचार साध्य है।"[१] वैदिक शिक्षा सोद्देश्य है क्योंकि उसके माध्यम से मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य बनना पड़ता है अर्थात् स्वेच्छा से अविद्या के नाश, अंन्याय का नाश तथा दरिद्रता के नाश का व्रत लेना पड़ता है।

ऋषि ने सभी विषयों का समावेश करते हुए भी अधिकतम तथा न्यूनतम दोनों ही पाठ विधियां दे दी हैं। सबके लिये एक सी पाठ विधि उन्हें रुचिकर नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्होंने साम्यवाद के स्थान पर यथायोग्यवाद को प्रश्रय दिया है, उनकी शिक्षा के उद्देश्य

---

[१] आर्योदय—सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, १५ नवम्बर १९६३, पृष्ठ ४५

को स्वामी समर्पणानन्दजी ने पांच सकारों के रूप में उल्लिखित किया है "समानता सरलता सामीप्यम् गुरुशिष्ययोः। स्वाधीन्यं संयमंचैव सकाराः पंच सिद्धिदा।"[1] उन्होंने शिक्षा को 'धर्म निरपेक्ष' न मानकर 'धर्म सापेक्ष' माना है। वे गायत्री पाठ सन्ध्या, यज्ञ, आस्तिकता तथा व्रतपालन को शिक्षा का आवश्यक अंग मानते हैं।

जहां तक पाठ्य पुस्तकों का संबंध है वे 'श्रुतिसम्मत' को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनके दृष्टिकोण से वेद प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, 'सृष्टि के प्रारंभ में वे ईश्वर द्वारा प्रदत्त किये गये हैं अतएव अपौरुषेय हैं', सभी सत्य विद्या और पदार्थ विद्याओं का मूल इनमें विद्यमान है। इनके विरुद्ध जो कुछ भी है चाहे वह भाषा में हो चाहे संस्कृत में, चाहे देशीय हो चाहे विदेशीय, चाहे धार्मिक हो चाहे साहित्यिक, चाहे उसका कर्ता कोई विद्वान हो अथवा कोई आचार्य, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इस विषय में कोई समझौता, कोई समन्वय करने के लिये वे कभी उद्यत नहीं हुए।

आश्चर्य की बात यह है कि स्वामीजी अंग्रेजी के जानकार न होकर भी इतना बड़ा कार्य कर सके। उन्होंने विकासवाद की जमकर आलोचना की है। उन दिनों यूरोप के लेखकों ने विकासवाद पर आधारित विचारों को वैज्ञानिक (Scientific) तर्कयुक्त (rationalistic) और सूक्ष्म विवेचनात्मक (critical)[2] सिद्ध करना प्रारंभ कर दिया था। इस सिद्धान्त के आधार पर "पाश्चात्यों का यहां तक मत है कि रामायण की रचना महाभारत के काफी दिनों पश्चात् हुई है।"[3] श्री आर. सी. दत्त ने 'ऋग्वेदकालीन भारत' में इसी मत का समर्थन किया है। स्वामीजी ने इन सिद्धान्तों में कोई आस्था प्रकट नहीं की तथा पाश्चात्यों के तथाकथित भाषा विज्ञान को भी तिरस्करणीय ही समझा।

पश्चिम के चाकचक्य में फंसे, भोगवाद में लिप्त तथा अपने देश की संस्कृति से अपरिचित व्यक्ति यदि स्वामीजी की शिक्षा पद्धति को अव्यवहार्य कहें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिस देश के कुलपतियों के बच्चों को हिन्दी बोलने से गले में खराशें पड़नी शुरू हो जायें, संस्कृत भाषा का महत्त्व उनके गले के नीचे नहीं उतर सकता। लंदन ही जिनका सर्वस्व है वे भारतीयता की आरती किस मुख से उतारेंगे। जज्जीबार के विशप ने लन्दन के संबंध में लिखा है, "London is a glorious city but it is terribly in the hands of Satan"[4] किन्तु भौतिकता के रस में आपादमस्तक डूबे हुए इन लोगों को शैतान ही रास आता है। रंगीन चश्मा चढ़ाये हुए ये व्यक्ति न तो स्वामीजी की आलोचना करने के अधिकारी हैं और न इनका उनके विचारों से सहमत होना संभव है। भोगवाद से व्यथित विदेशी व्यक्ति शान्ति की खोज में घूम रहे हैं और उनके अनुयायी भारतीय आज भी उनकी जूठन चाटने में गर्व अनुभव कर रहे हैं। "अनेक विदेशी ईसाई लेखकों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि

---

१. आर्योदय—सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, १५ नवम्बर, १९६३, पृष्ठ ४८

२. भारतवर्ष का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—भगवद्दत, पृष्ठ ५८

३. वेदप्रकाश, अप्रेल १९६२, पृष्ठ २३

४. वैदिक सम्पत्ति—रघुनंदन शर्मा, पृष्ठ २९

आर्य लोग बाहर से यहां आये।"[१] स्वामीजी ने इस मत का खण्डन कर आर्यों को भारत अथवा आर्यावर्त का ही मूल निवासी बताया। उन्होंने तो इतना तक कहा—"जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिश्र वालों ने, उनसे यूनानी, उनसे रूस और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।"[२] स्वामीजी की शिक्षा प्रणाली के आधार पर कई गुरुकुल चलाये जा रहे हैं और वहां से निकले हुए स्नातक जीवन की किसी दिशा में अन्य विश्वविद्यालयों से निकले हुए स्नातकों से पिछड़े हुए नहीं हैं।

स्वामीजी की शिक्षा पद्धति को प्राचीन कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। उस आधार पर परीक्षण करके ही उसे सफल या असफल घोषित किया जा सकता है। उनकी शिक्षण पद्धति निःशुल्क होने के साथ-साथ राष्ट्रवादी भी है। उनके मतानुसार उच्च शिक्षा का अधिकार देश के कुछ इन गिने-चुने व्यक्तियों के पुत्रों को ही नहीं है अपितु इस सरिता के घाट पर सामान्यजन भी जाकर अपनी पिपासा शान्त कर सकते हैं। शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में कुछ त्याग तो गृहस्थियों को करना होगा, कुछ सहायता की अपेक्षा शासन से की ही जायेगी। यदि उनकी शिक्षा पद्धति को अपना लिया जाये तो शिक्षा के क्षेत्र से भ्रष्टाचार, अध्यापक, विद्यार्थी का संघर्ष, विद्यार्थी, विद्यार्थी में ऊंच-नीच का भाव, फैशनपरस्ती आदि को काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है। इन विद्यालयों से ही देश की आवश्यकता के अनुरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य उत्पन्न किये जा सकते हैं। शिक्षा के माध्यम के रूप में जो प्रांतीयता और तथाकथित राजनीति आज के शिक्षा-संस्थानों में प्रविष्ट हो गई है, उससे भी मुक्ति दिलाने में स्वामीजी की शिक्षा प्रणाली पर्याप्त समर्थ है। प्राचीन ऋषियों की शिक्षा प्रणाली को 'प्रवचन' कहा जाता है "विशेष करके बिना पुस्तकों के पढ़ाने की वहां शैली थी।"[३] उस शैली के आधार पर रचे गये ग्रन्थ प्रायः सूत्र रूप में (संक्षिप्त) होते हैं जिन्हें याद करने में विद्यार्थियों को अधिक श्रम नहीं करना पड़ता था। विद्यार्थी एकाग्र मन से उसको सुनते थे, पढ़े वा सुने हुए भी भलीभांति समझने की चेष्टा करते थे। आज की भांति अनेक विस्तृत पुस्तकों का भार उनके सिर पर नहीं था।

संभव है कि स्वामीजी की शिक्षा संबंधी विचारावली से सर्वांश में देश के विद्वान तथा राजनीतिज्ञ सहमत न हों, पर जिन अंशों में सहमत हैं, उनको तो क्रियारूप में परिणत करने का प्रयत्न करें। अभी जब तक अंग्रेजी तथा तथाकथित विज्ञान का भूत हमारे ऊपर सवार है, तब तक के लिये मध्यमार्ग निकाला जा सकता है। देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप उसमें कुछ परिवर्तन किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत तथा भाषा के जिन ग्रन्थों को पूर्णतः श्रुतिसम्मत न होने के कारण स्वामीजी ने निषिद्ध बताया है, उनके उन अंशों को निकाल कर एक राष्ट्रोपयोगी संकलन तैयार किया जा सकता है, अंग्रेजी का ज्ञान प्रारंभिक स्थिति से ही आवश्यक न मान कर उसे बाद में किसी अंश तक सम्मिलित किया जा सकता है, सादगी की प्राचीन परिभाषा न लेकर उसमें भी थोड़ा सा परिवर्तन किया जा सकता है और किंचित् काल

---

[१] भारतीय संस्कृति का इतिहास—भगवद्दत, पृष्ठ ५

[२] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७४

[३] संस्कारचन्द्रिका—हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ ३६८

के लिये शिक्षा में शिवम् के साथ थोड़ा-सा सुन्दरम् का अंश भी जोड़ा जा सकता है। परन्तु ये परिवर्तन यथासंभव बाह्य ही होंगे, शिक्षा प्रणाली की ग्रात्मा को इनके द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकेगा। ग्राचार्यों को उचित सम्मान दिलाने से पहले विद्यार्थियों के माता-पिता को भी ग्रपने व्यवहार में कुछ परिवर्तन करना होगा। यदि देश की वर्तमान ग्रवस्था को ग्रथवा विद्यार्थियों के मानसिक स्तर को देखते हुए यह प्रणाली कुछ दुरूह प्रतीत हो तो उसे किंचित् सरलीकृत भी किया जा सकता है, पर केवल विचार से ही कार्य सिद्ध नहीं होगा, 'चरैवेति' के बिना किसी भी समस्या का समाधान ग्रसंभव है। एक बार पूरी लगन से प्रयत्न करने पर वेद का उपदेश "कृतं मे दक्षिणी हस्ते जयो मे सव्य ग्राहितः" निष्फल नहीं होगा।

❖ ❖

पंचम अध्याय

राजा एवं राजनीति विषयक विचार

वर्तमान युग में राजाओं की चर्चा करना कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है, कई ग्रन्थों का अधिकांश उनके काले कारनामों से भरा है, उनका अस्तित्व इतिहास ग्रन्थों, ताश के पत्तों तथा परियों की कथाओं में ही अवशिष्ट रह गया है—फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कभी उनका अत्यधिक महत्त्व था। वेद में तो भगवान् को भी 'राजा' नाम से अभिहित किया गया है, स्वयं स्वामीजी लिखते हैं "सब जगत् का राजा परमेश्वर है, और सब संसार उनकी प्रजा है।"[१] सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में राजाओं का अस्तित्व है। वेद और उपनिषद् में उनकी चर्चा है, रामायण और महाभारत उनकी कीर्ति गाथाओं से परिपूर्ण हैं, पुराणों में उनका विशद् वर्णन है और कालिदास तथा तुलसीदास ने भी उनका कम गुणगान नहीं किया है। हिन्दी का वीरगाथा काल तो उनकी विरुदावली का संग्रह मात्र है, भक्तिकाल में भी वे त्याज्य नहीं समझे गये हैं और रीतिकाल के तो वे आश्रयदाता ही रहे हैं। किन्तु आज उनकी चर्चा भी पिछड़ेपन की निशानी समझी जाती है। राजाओं के अस्तित्वहीन अथवा महत्त्वहीन हो जाने पर भी उनकी नीति—राजनीति (राजाओं की नीति) उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है, जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां इस राजनीति के पैर न पड़े हों। प्रत्येक साधक, समाज-सुधारक तथा नीतितत्ववेत्ता ने इस विषय पर विचार किया है, स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसके अपवाद न थे। 'राजा तथा राजनीति विषय' पर हम उनके विचार निम्न प्रकार रख सकते हैं।

स्वामीजी ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से की है—प्रथम—'इसका अभिप्राय यह है' यह कहकर, द्वितीय—'अर्थात् द्वारा' और तृतीय 'प्रश्नोत्तर विधि से।'[२] यजुर्वेद में परमात्मा के लिये 'महित्वैक इद्राजाजगतो बभूव'[३] का प्रयोग किया गया है। सभी उत्तम गुणों की सम्भावना राजा में की जाती है। यह शब्द "राजृ दीप्तौ धातु से बनता है। जो सम्यक् दीप्तिमान् अर्थात् अपने श्रेष्ठ गुणों से जनता के मध्य प्रतिष्ठित एवं माननीय हो।"[४]

राजा के गुण एवं कर्त्तव्य --

(१) "ईश्वरोक्त व्यवस्था करने वाले वेदशास्त्र और राजनीति के बिना प्रजा पालनेहारा सभापति राजा प्रजा नहीं पाल सकता।"[५]

---

[१] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ २५०

[२] आर्योदय सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, पृष्ठ ८०

[३] यजुर्वेद भाषाभाष्य—महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ ८४५

[४] वैदिक सम्पदा—वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ २४८-२४९

[५] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य-१, पृष्ठ १६५

(२) "प्रजा का रक्षक शत्रुओं को बांध शस्त्रों से काट और नीच प्रजा को धर्मयुक्त मार्ग में चलाने का निमित्त होवे।"[१]

(३) "सेनाध्याक्षादि लोग दुष्ट मनुष्य शत्रुओं को बांधकर धार्मिक मनुष्यों की रक्षा करके, सुखों का भोग करें और करावें।"[२]

(४) "सब मनुष्यों को योग्य है कि इस जगत् में धर्मयुक्त कर्मों का प्रकाश करने के लिये शुभ गुण कर्म और स्वभाव वाले जन को राज्यपालन करने के लिये अधिकार देवें।"[३]

(५) "वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्ता, वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा, यम पक्षपात रहित न्यायाधीश के समान वर्तने वाला, सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, अंधकार, अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने हारा, वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश, दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों को पूर्ण करने वाला सभापति होवे।"[४]

(६) राजा की दण्ड-व्यवस्था अत्यधिक कठोर होनी चाहिये, क्योंकि दण्ड ही वास्तविक राजा, न्यायकर्त्ता तथा चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू होता है। जहां दण्ड की उचित व्यवस्था होती है, वहां धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि भी होती है। राजा यदि विषयलम्पट, ईर्ष्यालु तथा नीच बुद्धि वाला होता है तो वह दण्ड से ही मारा जाता है।

(७) राजा को "सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होना चाहिए।"[५]

(८) राजा की दिनचर्या भी अति नियमित होनी चाहिये, उसे पिछली पहर रात्रि रहने पर ही शैया त्याग देनी चाहिए, सावधान होना, परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्र, धार्मिक विद्वानों का सत्कार और भोजन करके सभा में प्रविष्ट होना चाहिए। उपस्थित प्रजाजनों से मिलकर एकान्त स्थल में मंत्रियों से परामर्श करे। किसी भी कार्य में स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए।[६]

(९) कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को क्रियाशील होना चाहिए "यदि राजा क्रियाशील होगा तो उसके अधिकारी भी क्रियाशील होंगे। यदि वह प्रमादी होगा तो उसके अधिकारी भी प्रमादी होंगे।"[७] दिन के प्रथम भाग में राजा को पुलिस विभाग तथा राज्य की आय-व्यय का श्रवण करना चाहिए, द्वितीय भाग में नगर और ग्रामवासियों के कार्यों को देखना चाहिए, तृतीय भाग में उसे स्नान, भोजन तथा स्वाध्याय करना चाहिए, चतुर्थ भाग में कर विभाग का निरीक्षण तथा शासकों की नियुक्ति-परिवर्तन आदि पर विचार करना चाहिये। दिन के पांचवें भाग में उसे आवश्यक विषयों पर मंत्रि-परिषद् से परामर्श करना

---

[१] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य-१, पृष्ठ १७६

[२] वही, पृष्ठ १८६

[३] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ ७३४

[४] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ८७

[५] वही, पृष्ठ ८८

[६] स्वामीजी के इन विचारों का प्रमुख आधार मनुस्मृति का ७वां अध्याय है जिसमें 'राजधर्म' की चर्चा की गई है।

[७] कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्रो. इन्द्र, पृष्ठ ४१

चाहिये, इसी समय उसे गुप्तचरों से जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिये, षष्ठ भाग में जैसी इच्छा हो वैसा करें अथवा अधिकारियों से मंत्रणा करें, सातवें भाग में हाथी-अश्व आदि की पड़ताल करें और आठवें भाग में सेनापति को बुलाकर उसके साथ युद्ध आदि सैनिक विषयों पर बातचीत करें। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम भाग में उसे गूढ पुरुषों से बातचीत करनी चाहिये, दूसरे भाग में स्नान-भोजन और स्वाध्याय करना चाहिये, तीसरे भाग में तूर्यध्वनि के साथ अन्तःपुर में प्रवेश करे, चौथे तथा पाँचवें भाग में अर्थात् एक प्रहर तक उसे शयन करना चाहिए, छठे भाग में तूर्यध्वनि के साथ निद्रा का परित्याग कर नीति शास्त्र एवं दिन के आवश्यक कार्यों पर विचार करना चाहिये, सातवें भाग में गुप्तचरों से मंत्रणा और आठवें भाग में ऋत्विक्, आचार्य और पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन एवं शान्तिपाठ करना चाहिये—इसी समय वैद्य, रसोइया तथा ज्योतिषी आदि से भी वार्तालाप किया जाना चाहिये।

(१०) बालक, वृद्ध, रोगी, अनाथ एवं स्त्रियों के हित का उसे स्वयं निरीक्षण करना चाहिये, यह कार्य केवल अधिकारियों पर ही नहीं छोड़े जाने चाहियें। अपनी उन्नति, यज्ञ, प्रजा के योग्य कार्यों का अनुशासन, दान देना, प्रजा पर समान दृष्टि रखना आदि उसके व्रत होने चाहियें। सर्वप्रथम उसे अपने राजपुत्रों से ही रक्षा करने का प्रबन्ध करना चाहिये। अथर्ववेद के एक मंत्र में भी मित्रों तथा 'ज्ञात' से अभय[1] होने की प्रार्थना की गई है। आचार्य वातव्याधि तो इस सम्बन्ध में इतना तक परामर्श देते हैं—"राजकुमारों को स्त्रियों के भोग विलास में फंसा देना चाहिये।"[2] किन्तु आचार्य कौटिल्य इस मत से सहमत नहीं हैं। राजा को अपने भोजन के विषय में सदा सावधान रहना चाहिये। पहले अग्नि, पक्षी आदि को बलि देकर स्वयं भोजन करना चाहिये। किसी सामाजिक स्थान पर जाने पर उसके साथ कम से कम दस अंगरक्षक अवश्य होने चाहियें।

(११) 'शुक्रनीति' के प्रथमाध्याय में इस विषय का पर्याप्त विस्तार है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न है—राजा का परम धर्म, प्रजा का परिपालन तथा दुष्टों का निग्रह करना है, इसके लिये नीति शास्त्र का ज्ञान परमावश्यक है। नीति विरुद्ध चलना राजा के लिए सबसे बड़ा दोष है, इससे शत्रु की वृद्धि तथा अपने बल की हानि होती है। राजा को अपने तप से तेज का धारण करने वाला, शास्त्र का ज्ञाता, प्रजा का पालक और उसका रंजन करने वाला[3] होना चाहिये। जो राजा अपने दण्ड धर्म का परित्याग कर देता है उसका तेज क्षीण हो जाता है। अपने तीक्ष्ण स्वभाव और उद्यत दण्ड से राजा प्रजा को अपने धर्म में प्रवृत करता है। उसके राज्य के सात अंग होते हैं अर्थात् "स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना।"[4] इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर आदि आठ देवों के अंश से राजा की उत्पत्ति होती है। राजा ही पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुबेर और यम के सदृश माना गया है। राजा के दैवीय गुण उसमें तभी विद्यमान रहते हैं जब वह नीच जनसमुदाय से

---

[1] अथर्ववेद भाषाभाष्य—क्षेमकरणदास त्रिवेदी (८ से २० कांड तक) पृष्ठ ९७७

[2] कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्रो. इन्द्र—पृष्ठ ४४

[3] शुक्र नीति—अनुवादः गंगाप्रसाद शास्त्री, पृष्ठ ७

[4] वही, पृष्ठ १८

रहित, दीर्घदर्शी, वृद्धों का सेवक, नीतिमान् तथा गुणवानों से सुसेवित हो। राजा को केवल परोपदेशकुशल नहीं होना चाहिए अपितु उपदेश पर स्वयं आचरण भी करना चाहिए। जिस राजा का मन विषयों में फंस जाता है, वह हाथी के बंधन को प्राप्त होता है। राजा को परस्त्री से मिलने पर काम, अन्य के धनापहरण में लोभ तथा प्रजा के दण्ड देने में क्रोध का कभी उपयोग नहीं करना चाहिए। राजा के प्रधान कर्त्तव्य आठ हैं अर्थात् "दुष्ट को दण्ड, दान, प्रजा का परिपालन, राजसूय आदि यज्ञों का यजन, न्यायानुसार कोश का अर्जन, अन्य राजाओं का वशीकरण, शत्रु का परिमर्दन तथा भूमि का संग्रहण।"[1] जो राजा वृत्ति (वेतन) देने में असमर्थ होता है, प्रजा का अपमान करता है, छली और कटुवाक्यपरायण होता है और प्रबल दण्ड देता है उसको प्रजा छोड़ देती है। राजा को सदा न्यायादिदर्शन विद्या, वेद विद्या व्यापार नीति और राजनीति आदि चारों विद्याओं का अभ्यास करना चाहिये। राजा को यथेष्ट आय तथा व्यय का ध्यान रखना चाहिये क्योंकि संचित धन तो कुबेर का भी नष्ट हो सकता है। राजा को अपनी भूमि का दो अंगुल भाग भी बिना कर ग्रहण के नहीं छोड़ना चाहिए। राजा को अपनी राजधानी ऐसे स्थान पर बनानी चाहिये जहाँ अनेक वृक्ष लताओं से भरे हुए, पशु-पक्षियों से व्याप्त, बहुत से जल और अन्न से सम्पन्न, तृण काष्ठ से समन्वित, नौकाओं के संचारण के योग्य नदियों से संयुक्त, पर्वतों से सुशोभित, सुन्दर सम भूमितल से मनोहर प्रदेश हो। राजधानी के मध्य में राजसभा का भवन होना चाहिए।

राज भवन के उत्तर में दो सौ हाथ की दूरी पर उत्तर या पूर्व में सेना की छावनी डालनी चाहिये। नगर या गांव में घरों के द्वार सड़क पर होने चाहियें, मल मूत्र-उत्सर्ग का स्थान घरों के पीछे होना चाहिये, दो गांवों के बीच में एक पांथशाला (सराय) होनी चाहिये। राजा को चाहिये कि उत्तम कार्य करने वाले कर्मचारियों को पुरस्कृत करें, अपना समय व्यर्थ न गंवायें और न स्त्री सेवन तथा सुरापान में बितावे। विष दोष की शंका से राजा अपने अन्न की वानर कुक्कुट आदि से परीक्षा करवावे। अपने राज्य को पृथक्-पृथक् भागों में न बंटने दें, सेना के अधिकार पर अपने बांधव या पत्नी के कुल के साले आदि नियुक्त किये जावें। यदि प्रजा के सौ मनुष्य किसी अधिकारी के विरुद्ध मिल कर आवें तो राजा उस अधिकारी को अपने पद से हटा दें।

(१२) महाभारत के उद्योग पर्व में विदुर नीति के अन्तर्गत राजधर्म का उपदेश किया गया है जिसका सार निम्न है—जो राजा काम और क्रोध का परित्याग कर देता है, योग्य व्यक्ति को धनादि पदार्थ देता है, कार्य के ऊंच-नीच को जानता है, विद्वान् है और कार्य को शीघ्र पूरा करने वाला है उसे सब लोग नमस्कार करते हैं। जो राजा अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड देता है उसको सम्पूर्ण लक्ष्मी प्राप्त होती है। विपत्ति में जो राजा दुःखी नहीं होता, प्रमाद रहित होकर उद्योग करता है, कष्ट सहन करने में जो समर्थ है वही शत्रुओं को जीत पाता है, जो विभिन्न देशों के व्यवहारों, भाषाओं को और जातियों के धर्मों को जानता है, जो बहुज्ञानी होता है वह सबको वश में कर लेता है। "जो महातेजस्वी, उत्तम मनवाला, स्थिर बुद्धिवाला, दूसरों के द्वारा अपने दोषों को न जानने पर भी अपने दोषों से स्वयं लज्जित

---

१. शुक्रनीति—अनुवादः गंगाप्रसाद शास्त्री, पृष्ठ ३६

होता है, वह सब लोगों का गुरु होता है और सूर्य के समान प्रकाशित होता है।"[1] राजा को चाहिये कि वह अविश्वासी पर कभी विश्वास न करे और विश्वासी पर भी अतिविश्वास न करे क्योंकि विश्वास करने से उत्पन्न हुआ भय जड़ों को भी काट डालता है। राजा को अपने विचार गुप्त रखने चाहियें क्योंकि "जिसके विचार को दूर रहने वाले (शत्रु) और समीप रहने वाले (मित्रादि) नहीं जानते, वही राजा चिरकाल तक राज्य आदि ऐश्वर्य को भोगता है।"[2] राजा को मंत्रणा अत्यन्त दुर्गम मरुस्थल में जाकर करनी चाहिये। उसे बिना परीक्षा किये किसी को अपना मंत्री नहीं बनाना चाहिये। जो राजा यथास्थित अवस्था, राज्यवृद्धि और शत्रुनाश के प्रति जागरुक रहता है, जो राजनीति के छः गुण (सन्धि, विग्रहयान, आसन-द्वैधीभाव-आश्रय) को यथावत् जानता है, जिसका मनोबल भाव दूसरों के द्वारा नहीं जाना जा सकता हो, वह राज्य की रक्षा में समर्थ होता है। राजा को चाहिये कि वह "वश में आये हुए मारने योग्य शत्रु को कभी न छोड़े।"[3] जिस राजा की प्रसन्नता और क्रोध निष्फल होता है, उसको प्रजाजन उसी प्रकार नहीं चाहते जिस प्रकार स्त्रियां क्लीब पति को नहीं चाहतीं।

भारतीय मनीषियों के अतिरिक्त अरस्तू और प्लेटो आदि विद्वानों ने भी इस विषय पर बहुमूल्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती न तो उनकी भाषा समझते थे और न उनसे प्रभावित थे, अतः जिन ग्रन्थों को उन्होंने प्रामाणिक समझा है, यहां उनकी ही चर्चा की गई है।

तीन सभायें—उपर्युक्त ग्रन्थों में किसी भी राजा से जितनी अपेक्षायें की गई हैं, वे एक व्यक्ति के द्वारा सम्पादित होनी न केवल कठिन है अपितु असंभव भी है। स्वामीजी के मतानुसार राजा को पूर्ण स्वतंत्र नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा 'स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है।"[4] विदेशी विद्वान् का भी मत है—"Power corrupts and absolute power corrupts absolutely" राज्य का सुचारु रूप से संचालन करने के लिये राजा को तीन सभाओं का निर्माण करना चाहिये। ऋग्वेद के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने लिखा है, "हे मनुष्यो! आप लोग उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले यथार्थ वक्ता विद्वान् पुरुषों की राजसभा, विद्या सभा और धर्म सभा नियत कर और सम्पूर्ण राज्य संबंधी कर्मों को यथायोग्य सिद्ध कर सकल प्रजा को निरन्तर सुख दीजिये।"[5] 'सत्यार्थप्रकाश' में इन तीन सभाओं को विद्यार्यसभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा से अभिहित किया गया है। 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में ये तीनों नाम थोड़े परिवर्तन के साथ उपलब्ध होते हैं अर्थात् "आर्य राजसभा, आर्य विद्यासभा तथा आर्य धर्मसभा।"[6] स्वामीजी के मतानुसार राजा का पद पैतृक न होकर पूर्णतः गुणों पर अवलम्बित है। राजा और प्रजाजन दोनों मिल कर उपर्युक्त तीनों सभाओं का निर्माण करते हैं। फिर तीनों सभायें, समिति, (संग्रामादि की व्यवस्था करने वाली) तथा सेना मिलकर राजधर्म का पालन करती हैं। अध्यक्ष के रूप में राजा सभी सभासदों को आज्ञा देता

---

[1] विदुरनीति—यु. मी., पृष्ठ ८३-८४
[2] वही, पृष्ठ ३११
[3] वही, पृष्ठ ३२०
[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ८६
[5] ऋग्वेद भाषाभाष्य, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३९१
[6] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ५३१

है कि वे धर्मयुक्त व्यवस्था का पालन कर सभा की व्यवस्था का पालन करें। 'वाल्मीकि रामायण' में भी हम देखते हैं कि महाराज दशरथ ने स्वतः ही राम के राज्याभिषेक की घोषणा नहीं की है, उन्होंने अपना विचार परिषद् के समक्ष रखा है "ततः परिषदं सर्वामामन्त्रय वसुधाधिपः"[1] परिषद् ने भी राम का समर्थन इसलिये नहीं किया है कि वे दशरथ के पुत्र थे अपितु इसका कारण राम वाग्मी, स्थिर प्रज्ञ, निस्तन्द्री, अप्रमत्त, अदृप्त, अमत्सरी, धर्मज्ञ, किया कि सत्यसंघ तथा शीलवान आदि सर्वगुण सम्पन्न थे।

सभा का सम्बन्ध सर्व प्रजाजनों से है, उनकी सम्मति और अधिकार से है तथा उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले तथा शासन का कार्य चलाने वाले विशिष्ट व्यक्तियों से है, अतः सभा के सभासद् जितने सभ्य (सभा में बैठने की योग्यता रखने वाले), सुशिक्षित एवं विचारशील होंगे, उतना ही सभा का कार्य सुचारु रूप से चल सकेगा। ये जन प्रतिनिधि आमोद-प्रमोद में लीन होने वाले नहीं होने चाहियें, उनका कार्य है जनता का कल्याण तथा जनता की सेवा करना। श्री वीरसेन वेदश्रमी ने इन सभाओं को तीन सदनों के रूप में मान्य करने की कल्पना भी की है। उनके मतानुसार पहले सदन का कार्य होता है 'मांगों के औचित्य एवं परिस्थिति को देखकर किन मांगों की आवश्यकताओं को प्राथमिकता अभी देनी चाहिये और किन आवश्यकताओं को बाद में लेना यह निश्चय करना।[2] द्वितीय सदन का कार्य होता है प्रथम सदन की मांगों को योजनाबद्ध करना, अनुमानित व्यय को स्वीकार करना तथा तीसरे सदन को प्रस्तुत करना। तृतीय सभा या सदन आयोजित व्यय के अनुसार कार्य का संचालन करती है, निरीक्षण करती है और यथा अवसर परिणामों से प्रथम सदन को अवगत कराती है।

वेदश्रमीजी की उपर्युक्त कल्पना आधुनिक विचारधारा के अनुरूप हो सकती है, श्रेयस्कर भी हो सकती है, किन्तु संभवतः वह स्वामीजी के निर्देशों के अनुकूल नहीं है। स्वामीजी द्वारा सत्यार्थप्रकाश में वर्णित तीन सभाओं के कार्यों का विभाजन निम्न प्रकार होना चाहिये।

१. **विद्यार्य सभा**—शिक्षा, अनुसंधान, सांस्कृतिक कार्य तथा संग्रहालय से सम्बद्ध कार्य।

२. **राजार्य सभा**—गृह विभाग, उद्योग, कृषि, सिंचाई, यातायात, व्यवस्था, चिकित्सा आदि।

३. **धर्मार्य सभा**—न्याय, राजस्व, नीति विदेश विभाग, सूचना-प्रसारण, प्राचीन स्थानों का संरक्षण आदि।[3]

सभाओं का निर्माण तथा उनके सदस्यों का चयन करने तक तो राजा स्वतंत्र होता है, किन्तु इनका निर्णय करने के बाद राजा अथवा सभाध्यक्ष को उसके आधीन हो जाना पड़ता है। स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है "राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा,

---

[1] श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम्, पृष्ठ ८६

[2] वैदिक सम्पदा—वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ २५०

[3] वही, पृष्ठ २५०

राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।''[१] इस स्थिति में सभी का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। प्रत्येक को एक दूसरे का सहयोगी बनकर अन्योन्याश्रय से कार्य करना पड़ता है।

सभा के सदस्यों की योग्यता—सभा में कम से कम दस सदस्य होने चाहियें, यदि किसी कारणवश यह संख्या न्यून भी करनी हो तो भी न्यूनतम संख्या तीन तो होनी ही चाहिये। सभासद चारों वेद, न्याय शास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् होने चाहियें। जिस सभा में ऋग्, यजुः और सामवेद के जानने वाले तीन सभासद् हों, उनकी दी हुई व्यवस्था का कोई उल्लंघन न करें। स्वामीजी की प्रजातंत्रवाद में आस्था तो है, किन्तु उनके विधान में अविद्वानों के लिये कोई सम्माननीय स्थान नहीं है। अविद्वानों और अज्ञानियों के बहुमत को भी वे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्पष्ट लिखा है "यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों लाखों क्रोड़ों मिल के जो कुछ व्यवस्था करें उसको कभी न मानना चाहिये।'[२] स्वामीजी के दृष्टिकोण से सभा का अर्थ 'समूह' नहीं है, यदि यह अर्थ भी अभिप्रेत हो तो भी वह मूर्खों का न होकर विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का होना चाहिये।

सभासदों के लिये चारों वेदों की कर्मोपासना ज्ञान विद्याओं का जानने वाला सनातन दण्ड नीति, न्यायविद्या और आत्मविद्या आदि का ज्ञान आवश्यक है। सभी सभासद् इन्द्रियजयी, धर्मव्रती तथा अधर्मपरांगमुख होने चाहियें, कामज दस और क्रोधज आठ दुर्व्यसनों से उन्हें रहित होना चाहिये।

मंत्री मण्डल—सम्पूर्ण राज्य का कार्य अकेले राजा के द्वारा चलाया जाना असंभव है, अतः राजा की सहायता के लिये कई मंत्री नियुक्त किये जाने चाहियें। इनकी संख्या के सम्बन्ध में स्वामीजी ने लिखा है—"अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम, धार्मिक, चतुर "सचिवान्" अर्थात् मंत्री नियुक्त करे।"[३] शासन स्थिर करने के सबसे पहले मनु ने मंत्रि मण्डल की स्थापना की। 'आठ मंत्री चुन लिये गये।'[४] ये सब स्वराज्य अथवा स्वदेश में उत्पन्न हुए होने चाहिये। ये कार्य स्वामीजी किसी विदेशी व्यक्ति को सौंपना नहीं चाहते। गुणों की दृष्टि से इन्हें वेदादि शास्त्रों का ज्ञाता, शूरवीर होना चाहिये, इनका लक्ष्य अर्थात् विचार कभी भी निष्फल नहीं होना चाहिए। ये राजकोष से वृत्ति ग्रहण करने वाले होने चाहियें। विद्याओं में पारंगत होने के अतिरिक्त उन्हें मंत्र को गुप्त रखने वाला, सहनशील, अर्थ-शौच का ज्ञाता, कोष संग्रह में चतुर, दोषयुक्त पुत्र में भी दण्डपाती, वर्णों का रक्षक, आचार का विवेकी परस्पर अविरुद्ध, निरभिमान, प्रियभाषी, दैत्य-राज्यों में अपनी बुद्धि के लिये विख्यात, देशभक्त तथा निर्लोभी होना चाहिये। जितने मनुष्यों से राज्यकार्य सिद्ध हो उनको अधिकारी अर्थात् नौकरी पर रखें, किन्तु ये प्रधान पुरुष आलस्य रहित, बलवान् और अति चतुर होने

---

[१] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ८५

[२] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ८८

[३] वही, पृष्ठ ९०

[४] भारतीय संस्कृति का इतिहास—भगवद्दत, पृष्ठ २८

चाहियें। जो नौकर स्वभाव से भीरू अथवा डरपोक हों, उन्हें अन्दर के कार्यों के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये। कुछ व्यक्तियों को दौत्यकर्म में भी नियुक्त किया जाना चाहिये, ये व्यक्ति प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से दूसरे के हृदय की तथा भविष्यत् की बात के ज्ञाता तथा सर्व शास्त्र विशारद् होने चाहियें। राजदूत का कार्य अत्यधिक उत्तरदायित्वपूर्ण तथा योग्यता का है, अतः इन व्यक्तियों के अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्तमान का कर्त्ता, सुन्दररूपयुक्त, निर्भय और प्रभावशाली वक्ता होना चाहिये। दूत के लिये सुन्दर होना इसलिये भी आवश्यक है कि वह दूसरे (शत्रुओं) को प्रभावित कर सके, आकृष्ट कर सके और उनके रहस्यों को जान सके।

सभा, राजा और राजपुरुषों को मिल कर देशाचार और शास्त्र व्यवहार के अनुसार निम्न अठारह विवादास्पद विषयों का निर्णय प्रतिदिन करना चाहिये। १. अणादान—किसी से ऋण लेने का विवाद, २. निक्षेप—धरोहर का न देना, ३. अस्वामिविक्रय—दूसरे के माल को बेच देना, ४. संभूय च समुत्थानम्—मिल कर किसी पर अत्याचार करना, ५. दत्तस्थानपकर्म—दिये हुए पदार्थ का वापिस न करना, ६. किसी नौकर को वेतन न देना अथवा कम देना, ७. प्रतिज्ञा के विरुद्ध वर्त्तना, ८. लेन-देन में झगड़ा होना, ९. पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा, १०. सीमा का विवाद, ११. किसी को कठोर (आवश्यकता से अधिक) दण्ड देना, १२. कठोर वाणी का बोलना, १३. चोरी अथवा डाका डालना, १४. किसी काम को जबर्दस्ती करवाना, १५. किसी स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार, १६. स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना, १७ विभाग अर्थात् दायभाग में विवाद उठना, १८. चेतन व्यक्ति को दांव पर रख कर जुआ खेलना। इन तथा अन्य विषयों के निर्णय में राजा अथवा राजपुरुषों को कभी भी पक्षपात नहीं करना चाहिये। "जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है वहाँ अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं, उनमें एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।"[1]

सेना एवं युद्ध—अभी तक जिन विषयों की चर्चा की गई है उनका सम्बन्ध प्रायः देश की आन्तरिक परिस्थितियों से अथवा अपने ही राष्ट्र के व्यक्तियों से है। कुछ लोग यह भ्रम फैलाने में भी प्रयत्नशील हैं कि भारतवासी सदा से अहिंसक रहे हैं। शस्त्र उठाना वे धर्म विरुद्ध समझते थे और उनके ब्रह्मतेज का ही प्राचुर्य रहा है। इस सम्बन्ध में भारतीयों, वेदों, अन्य शास्त्रों तथा स्वामीजी का जो दृष्टिकोण रहा है, उसकी चर्चा करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा। यह जानकर आश्चर्य होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही उपलब्ध वेदों में न केवल सैन्य एवं युद्ध के संकेत मिलते हैं अपितु पर्याप्त बारीकी से इसका विस्तार भी मिलता है। यजुर्वेद के आधार पर लिखित अपने ग्रन्थ 'वैदिक सम्पदा' में श्री वेदश्रमी जी ने राज्य के छोटे बड़े १०२[2] विभागों की चर्चा की है। इन विभागों में लगभग २० प्रतिशत का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सैन्य अथवा युद्ध से है। इनमें से कुछ विभाग निम्न हैं—१. क्षत्राय

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १०२

२. वैदिक सम्पदा—वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ २५५ से २६७ तक

राजन्यम्—राष्ट्र संरक्षण के लिये सेना, आरक्षी दल आदि की व्यवस्था २. मरुद्भ्यो वैश्यम्—आयात-निर्यात के लिये वायु के समान गमनशील कुशल वैश्य ३. तमसे तस्करम्—अंधकारयुक्त क्षेत्रों में कार्य करने वाले विशिष्ट जन । अप्रकट अथवा अज्ञात रूप से रहना भी एक कला है । पाण्डवों को अज्ञातवास में रहना पड़ा था, यह तमस विद्या है और तमस विद्या में निपुणों को वेद में तस्कर कहा गया है, ४. नारकाय वीरहणम्—कारागारादि बंधनों की व्यवस्था के लिये वीरों को भी दबाने में समर्थ व्यक्तियों की नियुक्ति, ५. दुष्टजनदलनविभाग—इसमें भीमसदृश भयंकर व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिये, ६. रथ, वाहन, यानादि निर्माण विभाग ७. अस्त्र-शस्त्र निर्माण विभाग, ८. इषुवेधन विभाग—निशाना लगाने की शिक्षा देने वाला विभाग, ९. सन्धये जारम्—दूत विभाग, १०. उत्सादेभ्यः कुब्जम्—राज्य में उपद्रव कराने के लिये कुबड़े, वक्र गति वालो की नियुक्ति, ११. हस्ति विभाग, १२. अश्वविभाग, १३. सारथ्य विभाग—राष्ट्र के रथ, वाहन, यान, विमान आदि से संचालन निरीक्षण कराने में कुशल, १४. गुप्तहिंसा विभाग, १५. गुप्तक्रोध विभाग, १६. आक्रमण विभाग, १७. दुर्गभगन्ता विभाग—ऊंचे-नीचे, पर्वत, गुफा तथा जल स्थल एवं नभ में गमन करने वाले प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति, १८. बहुरूपिया विभाग आदि । ये तथा इस प्रकार के अन्य विभाग केवल कल्पनाप्रसूत नहीं हैं, इन सभी का विशद् वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है ।

सामान्य रूप में मनुष्यों से अपेक्षा की गई है कि अपने द्वेषी को भगवान् के न्याय पर छोड दें । 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः तं वो जम्मेदध्मः'[1] किन्तु राजा तथा सेनापति के लिये तो वेद में स्पष्ट आदेश है कि वे शत्रु का समूलोच्छेद कर दें । स्वामीजी के वेदभाष्य में इस तथ्य का अनेकबार उल्लेख है "बुद्धिमान् ,मनुष्यों को ईश्वर आज्ञा देता है कि—साम, दाम, दण्ड और भेद की युक्ति से दुष्ट और शत्रुजनों की निवृत्ति करके[2] सभा सेनाध्यक्ष को चाहिये कि बुद्धि, शरीर बल वा सेना के वेग से शत्रुओं को छिन्न-भिन्न और शस्त्रों के अच्छे प्रकार प्रहार से पृथ्वी पर गिराकर"[3] "जैसे में दुष्ट काम करने वाले जीवों के गले काटता हूं वैसे तू भी काट[4] आदि ।" स्पष्ट है कि शत्रु विनाश के इस महत्त्कार्य के लिये कुछ विशेष प्रकार के घातक अस्त्रों की आवश्यकता होगी । विदेशियों के द्वारा 'गड़रियों के गीत' कहे जाने वाले इन वेदों में सैन्य संबंधी अनेक शस्त्रों की चर्चा है, स्वयं स्वामीजी के भाष्य में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि वर्तमान काल के अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों का उस समय भी अस्तित्व था । निदर्शन के लिये कुछ की चर्चा निम्न है—

(क) Telegrams (तार विद्या)—"जैसे मनुष्यों से बिजुली से सिद्ध की हुई तार विद्या से चाहे हुए काम सिद्ध किये जाते हैं ।"[5]

---

[1] अथर्ववेद भाषाभाष्य (प्रथम से दशम काण्ड)—क्षेमकरणदास त्रिवेदी, पृष्ठ ३०९ से ३११

[2] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य प्रथमखण्ड, पृष्ठ ५८ [3] वही, पृष्ठ १८४

[4] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १७०

[5] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य प्रथमखण्ड, पृष्ठ ६२८

(ख) Trained Dogs (प्रशिक्षित कुत्ते)—"जैसे कि कुत्ते अपने स्वामी की रक्षा करते हैं वैसी अन्य जन्तु रक्षा नहीं कर सकते, इससे इन कुत्तों को सिखाकर और इनकी रक्षा करनी चाहिये।"[१]

(ग) Doctors (चिकित्सक)—"जैसे सूर्य के उदय में अन्धेर और चोरादि निवृत्त हो जाते हैं वैसे उत्तम वैद्य की प्राप्ति से कुपथ्य और रोगों का निवारण हो जाता है।"[२]

(घ) भवन निर्माण--"मनुष्यों को चाहिये कि सब ऋतुओं में सुख देने वाले घरों को रच उनमें योग्य पदार्थों का स्थापन... ।"[३]

(ङ) Aeroplane (विमान) —"हे मनुष्यो ! तुमको चाहिये कि अनेक प्रकार के कला-चक्र युक्त विमान आदि यानों को रचकर उनमें जल्दी चलने वाले अग्नि जल के सम्प्रयोग वा पवनों के योग से सुखपूर्वक जाने आने"[४] "विमानादि सिद्ध करने चाहिये। क्योंकि इस विद्या के बिना दारिद्र्य का नाश वा लक्ष्मी की वृद्धि कभी नहीं हो सकती, इससे इस विद्या में मनुष्यों को अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।"[५] "जो विमानादि यानों में बैठ के आकाश में विचरते हैं जिनके वायु के तुल्य बाण है—"[६] इनमें से कुछ विमान Rocket युक्त होते थे और उनकी गति भी असाधारण होती थी, "मनुष्यों को योग्य है कि तीन चक्रयुक्त अग्नि के घर और स्तम्भयुक्त यान को रचकर उसमें बैठकर एक दिन रात में भूगोल समुद्र अन्तरिक्ष मार्ग से तीन-तीन बार जाने का समर्थ हो सकें।"[७]

(च) Steam (वाष्पप्रयोग)—"उन यानों में से कलाओं से चलाये हुए पवन तथा अग्नि के प्रकाश और जल की वाष्प के वेग से यानों के गमन का संभव है।"[८] तथा "जब-जब चलने की इच्छा हो तब-तब यथागोग्य जलकाष्ठों का स्थापन, अग्नि को युक्त और कला को वायु से प्रदीप्त करके भाप के वेग से चलाये हुए यान से शीघ्र दूर स्थान को भी निकट के समान जाने को समर्थ होवें।"[९]

(छ) Car & Motor Boat--"शिल्पी विद्वानों को योग्य है कि जो शीघ्र जाने आने के लिये रथ बनाया चाहें तो उसके आगे एक-एक कलायंत्र युक्त चक्र तथा सब कलाओं के घूमने के लिये दूसरा चक्र नीचे के भाग में रच के उसमें यंत्र के साथ जल और अग्नि आदि पदार्थों का प्रयोग करे। इस प्रकार रचे हुए यान भारसहित शिल्पी विद्वान् लोगों को भूमि समुद्र और अन्तरिक्ष मार्ग से सुखपूर्वक देशान्तर को प्राप्त करता है।"[१०]

---

१. ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २९६

२. वही, पृष्ठ २७६

३. वही, पृष्ठ २७०

४. वही, पृष्ठ २२४

५. वही, पृष्ठ १८७

६. यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ ५७७

७. ऋग्वेद हिन्दीभाष्य-प्रथम खंड, पृष्ठ १८८

८. वही, पृष्ठ २११

९. वही, पृष्ठ १९२

१०. ऋग्वेद हिन्दीभाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १५८

(ज) इसके अतिरिक्त इस वेदभाष्य में आग्नेयास्त्र, Lift,[1] विद्युत् (Electricity),[2] Chromopathy (सूर्यरश्मिचिकित्सा),[3] आदि का वर्णन है, किन्तु विस्तार भय से उनके उद्धरण यहां नहीं दिये जा रहे हैं। 'नौकाओं से समुद्र में, रथों से पृथिवी पर और विमानों से आकाश में युद्ध करने वालों की चर्चा भी इसमें हैं।'[4]

वेदकालीन अस्त्र-शस्त्र तथा उनके भेद—शत्रु के विनाशार्थ शस्त्रास्त्रों की विपुलता पर वेद में अत्यधिक बल दिया गया है अर्थात् प्रकार तथा संख्या में वे न्यून नहीं होने चाहियें। यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि "सेनापति का धनुष प्रत्यंचा से रहित न होने पावे तथा यह बाण के अग्रभाग से रहित और आयुधों से खाली न हो। उसका बाणादि शस्त्रास्त्र कोष खाली न हो।" युद्ध का प्रमुख शस्त्र धनुष है, इसी आधार पर एक उपवेद का नाम 'धनुर्वेद' रखा गया है। "वर्तमान समय में हम धनुष शब्द से जिस सीमित अस्त्र-शस्त्र का अर्थ ग्रहण करते हैं वह तो एक प्रतीक मात्र है। उसकी क्रिया पर ध्यान देना चाहिये। अर्थात् उसके आश्रय एवं बल से अस्त्रों को फैंकते हैं। एक बाण, गोली या गोला फैंकने वाला भी धनुष हो सकता है और सैंकड़ों बाणों, गोली या गोलों को फैंकने वाला 'शतधन्वा' भी धनुष हो सकता है।"[5] अपने इस गुण के कारण हम उसे प्रक्षेपणास्त्र यंत्र भी कह सकते हैं। पूर्ण लाभ के लिये इसकी प्रत्यंचा 'कर्णम् आगनीगन्ति' कान तब खींची जाती है, इसकी टंकार का शब्द अव्यक्त होता है। धनुष के साथ तूणीर की भी आवश्यकता होती है क्योंकि उसमें बाण रखे जाते हैं।

२. निषंग—का अर्थ है 'शस्त्रों का व्यवस्थित समूह'। अच्छे बाण, तलवार, भुषुण्डी, शतघ्नी अर्थात् तोप, बन्दूक आदि इसी श्रेणी में आ जाते हैं।

३. इषु—शाब्दिक अर्थ है 'इष्यते हिंस्यतेऽनेन' अर्थात् जिससे मारा जाये। इष का अर्थ जाना और सरकाना भी होता है। "देश, काल, परिस्थिति एवं स्वसामर्थ्यानुसार इषु के रूप बदलते रहते हैं....अतः समस्त प्रक्षेपणास्त्र इषु हैं।"[6]

सेना के विभाग एवं पदाधिकारी—यजुर्वेद के १६वें अध्याय के २६वें मंत्र[7] में निम्न पांच विभाग एवं उनके पदाधिकारियों की चर्चा है।

सेना	पदाधिकारी
(१) सेना सामान्य (जो सबको सैनिक रूप में दिखते हैं)	सेनापति, सेनानायक
(२) रथ-सेना	महारथी
(३) रथ-संचालक वर्ग	सारथि
(४) संग्रहीता सेना	संगृहीता
(५) अर्भक सेना	गुप्तरूप से विचरण करने वाली सेना का विभाग।

---

[1] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ५९

[2] वही, पृष्ठ ६०, ७८ तथा द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ७९

[3] ऋग्वेद भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ८०

[4] वही, पृष्ठ ८१

[5] वैदिक सम्पदा, पृष्ठ २८७

[6] वही, पृष्ठ २८९

[7] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ ५५६

रथ, वाहन, यानादि की युद्ध में अनिवार्य आवश्यकता है। अच्छे सारथि युद्ध में यानों को आवश्यकतानुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं जल में ले जाते हैं। इन सैनिकों के पास भोजन की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये तथा इनके शरीर 'अश्मा भवतु नस्तनूः' अर्थात् पत्थर के समान दृढ़ होने चाहियें। ये पर्वतों से भी टकराने वाले, शत्रु को तिनके के समान भस्म करने वाले तथा किसी के समक्ष न झुकने वाले होने चाहियें। इनके पास विभिन्न भेदों का पता लगाने वाले कुत्ते तथा सूक्ष्म निरीक्षक एवं दूर वीक्षक यंत्र (Microscope and Telescope) भी होने चाहियें। इनके पास शतधन्वस्त्र (Machine gun) भी होनी चाहिये, शतधन्वस्त्र का तात्पर्य है ऐसा अस्त्र जो एक ही क्षण में सैकड़ों बाण, गोली, गोले आदि का प्रयोग कर सके।

सेना के अन्य अंग पर्वतीय सेना (अगम्य पर्वतों तक पहुंचने वाली) शिपिविष्ट श्रेणी (सेना के पशुओं की रक्षा करने वाली), मीढुष्टम श्रेणी (साधन, सामग्री एवं वस्तु पहुंचाने वाली), शीघ्रगामी सेना, प्रहारक सेना तथा श्रुत सेना, शत्रु पक्ष के समाचारों एवं संदेशों को सुनने वाली आदि हैं। सेना के साथ वाद्य 'नमो दुन्दुभ्याय' ढोल, मृदंग, नगाड़े आदि भी होने चाहियें, दुन्दुभी ऐसी होनी चाहिये जो शत्रुओं को दहलाने के साथ पृथिवी एवं द्युलोक को भी गुंजा दे। अन्य अंगों में भू सेना, भूगर्भ सेना, अन्नरक्षक सेना, वर्षणशील द्युसेना, वातविज्ञानयुक्त सेना, अन्नायुध सेना का परिगणन किया जा सकता है। महामति कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अंतिम अधिकरण में शत्रुनाश के लिये विषैली औषधियों के प्रयोग, माया का प्रयोग तथा मंत्र प्रयोग का भी निर्देश किया है। वेद में भी कुछ शक्तियों के प्रयोग का निर्देश है जिसमें एक 'अप्वा'[1]—शत्रुओं को मूर्च्छित करने वाली है, धूम्र अथवा विभिन्न गैसों के प्रयोग की भी इसमें अनुज्ञा है।

सेनाओं के साथ उनके पृथक्-पृथक् ध्वज चिह्न होने चाहियें, जिससे वे अपने-अपने संगठन में अपने-अपने सेनापतियों की अध्यक्षता में कार्य कर सकें। सेना में उत्तम ऐश्वर्य वाले शिक्षक को पीछे चलना चाहिये, "धूम्रादि निर्माण एवं प्रक्षेपण करने वाले साधन आगे-आगे रहें...., सब अधिकारियों का अधिपति सेना के दक्षिण में....और आरोग्य विभाग अधिकारी बाईं ओर चले।"[2] नभसेना के यानों की टुकड़ियां 'मरुतः यन्त्वग्रम्' सबके आगे-आगे चलें। शेष अस्त्रों में वज्र, प्रहेति, पाश, मृत्युकिरण, क्षुर, सृक, पवि, असि, पिनाक, शल्य आदि प्रमुख हैं।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि स्वामीजी की राजनीति में सेना एवं युद्ध का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं था, शिल्पविज्ञान को वे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे। राष्ट्र की क्षात्र एवं ब्रह्मशक्ति को वे समुन्नत देखना चाहते थे 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियमश्नुताम्।"[3] शत्रुविनाश उनका परमलक्ष्य था। शत्रु से तात्पर्य किसी विशेष धर्म या देश के व्यक्तियों से नहीं है अपितु मानवता को लजाने वाले अत्याचार एवं अन्याय करने वाले व्यक्तियों से है। वे तो समस्त विश्व को एक परिवार के रूप में देखने की आकांक्षा करते थे, अतः देश, जाति अथवा धर्मविशेष से द्वेष करना उनके लिये संभव भी नहीं था।

---

[1] वैदिक सम्पदा—वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ २९७

[2] वही, पृष्ठ २९९-३००

[3] यजुर्वेद भाषाभाष्य ३२/१६ पृष्ठ १०६४

स्वराज्य की कल्पना—पाश्चात्य शिक्षा एवं विचारों से प्रभावित अधिकांश व्यक्तियों की मान्यता है कि इस शब्द का सर्वप्रथम उच्चारण "कांग्रेस के भीष्म पितामह दादाभाई नौरोजी ने १९०६ में किया था।"[१] कुछ इतिहासकारों का मत है "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूंगा।"[२] की हुंकार सर्वप्रथम लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने लगाई थी, किन्तु सत्य इससे कहीं दूर है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री एल. पी. शर्मा ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—"दयानन्द का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता था। निस्संदेह वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना सिखाया। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया।"[३] डा. मुंशीरामजी ने भी स्वीकार किया है 'स्वराज्य का सर्वप्रथम स्वप्न देखने वाले महर्षि दयानन्द ही थे।'[४] 'सत्यार्थप्रकाश' के अतिरिक्त स्वामीजी ने 'आर्याभिविनय' में भी भगवान् से स्वराज्य और सुराज्य की प्रार्थना की है....'भगवन् हम पर सहातता करो जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।'[५] स्वामीजी के मतानुसार स्वराज्य अथवा स्वदेशीय राज्य सर्वोत्तम होता है, कोई विदेशी 'सुराज्य' भी स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता। स्वामीजी के इन विचारों से प्रभावित होकर अखिल भारतीय कांग्रेस के जन्मदाता मि. ह्यूम उनकी तुलना में अपने को हीन अनुभव करते थे, उन्होंने तो इतना तक लिखा है—"स्वामी दयानन्द इतना बड़ा आदमी है कि मैं उसके पैर के बूटों के तस्मे खोलने की भी योग्यता नहीं रखता।"[६]

वैदिक विचारधारा के अनुसार राष्ट्र के लिए स्वराज्य प्रथमावस्था है, अन्तिम नहीं। स्वराज्य में अपना ही राज्य होता है, अगली स्थिति 'सत्र राज्य' की होती है। स्वराज्य की प्रथमावस्था 'रोटी कपड़ा और मकान' में संलग्न रहना है, सत्र राज्य में सृष्टि नियमों के अनुकूल विद्या एवं विज्ञानादि के द्वारा उन्नति के विविध आयोजनों का प्रदर्शन, प्रचार, शिक्षण की व्यवस्था कर राष्ट्र के अभावों की पूर्ति की जाती है। इसकी तृतीयावस्था जनराज्य होती है जिनमें "देश का प्रत्येक व्यक्ति सुपठित, विद्वान्, सदाचारी, उत्तम कार्य करने वाला, संयमी, सुखी, उद्यमी, अपनी राष्ट्रीय महत्ता और उसका सदुपयोग करने का ज्ञाता और अभ्यासी बन जाता है।"[७] चौथी अवस्था होती है 'सर्वराज्य' की जिसमें कोई राष्ट्र अपने आपको विश्व कुटुम्ब की एक इकाई अनुभव करता है तथा 'स्व' को 'सर्व' में विलीन कर देता है, उसका दृष्टिकोण 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।'[८] हो जाता है। पंचम, अंतिम तथा सर्वोत्तम अवस्था 'सर्वराड्' शासन की है। यह सर्वोदयी भावना, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना है। "राष्ट्र

---

[१] आर्यप्रेमी नवम्बर १९६०, पृष्ठ १२

[२] विश्व इतिहास परिचय—जगन्नाथ प्रसाद चौबे, पृष्ठ ११

[३] आधुनिक भारतीय संस्कृति—एल. पी. शर्मा, पृष्ठ ४२

[४] आर्यमित्र ऋष्यंक २८ अक्टूबर १९५६, पृष्ठ १७

[५] आर्याभिविनय—श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ १३

[६] वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा, पृष्ठ ५३९

[७] वैदिक सम्पदा, पृष्ठ २५१

[८] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ ११६२

में या समाज में उच्च भावना वाले, परा और अपरा दोनों प्रकार की विद्या और विज्ञान को जानने वाले शान्त, तेजस्वी, योगरत, ब्रह्म सम्पदा से परिपूर्ण व्यक्ति ब्राह्मण गुणों के धारण करने वाले व्यक्ति हैं—उनमें समाज के प्रति, समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रति पूर्ण हो।"[१]

चक्रवर्ती राज्य—महान राष्ट्र प्रेमी, स्वदेश प्रेमी होकर भी स्वामीजी ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री स्वदेशोत्थान तक ही नहीं समझी, वे तो सम्पूर्ण विश्व का कल्याण करना चाहते थे, अतएव उन्होंने आर्यसमाज के षष्ठ नियम में लिखा था 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।'[२] आर्याभिविनय, सत्यार्थप्रकाश, उपदेशमंजरी, वेदभाष्य आदि प्रमुख ग्रन्थों में तो अनेक बार उन्होंने चक्रवर्ती राज्य की चर्चा, प्रशंसा तथा कामना की है, वेदांगप्रकाश के स्त्रैणताद्धित जैसे ग्रन्थ की भूमिका में भी उन्होंने इसकी उपमा दी है, "जैसे चक्रवर्ती राजा के राज्य में माण्डलिक राजा और माण्डलिक के राज्य में थोड़े ग्राम वाले उनके विषय में कुछ थोड़ी भूमि वाले अपवादवत् और बड़े राज्य वाले उत्सर्गवत् होते हैं जैसे ही सूत्रों में भी समझना चाहिए।"[३] चक्र का अर्थ है समस्त भूमण्डल, अतः चक्रवर्ती का अभिप्राय हुआ समस्त भूमण्डल में विद्यमान। चक्रवर्ती सम्राट् का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता था।

चक्रवर्ती राजा के सम्बन्ध में अनेक उत्तम गुणों की कल्पना की गई है, "चक्रवर्ती राजा के चेहरे में ऐसा तेज होता था कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अथवा साधु-संन्यासी कोई भी मिलने जाय तो दर्शन मात्र से कृतकृत्य हो जाता था। यदि चक्रवर्ती राजा भाषण करता था, तो वह कितनी ही देर तक बोले, सुनने वाली सभा को तृप्ति नहीं होती थी, चाहती थी कि और बोले।"[४] पालि ग्रन्थों में जो चक्रवर्ती राजा के लक्षण बताये गये हैं, वे इस प्रकार हैं— "वह धर्म से ही शासन करता था, न्याय और समता ही उसके साधन थे, पक्षपात उसको छू नहीं सकता था। उसका राज्य, एक समुद्र के किनारे से दूसरे किनारे तक समझा जाता था। वह विनयशील था, अपने भीतरी मन-मोह-क्रोध आदि विकारों का और बाहरी राजाओं का भी कोई भी सेना उसके मुकाबले में ठहर न सकती थी।.... उसकी रानियाँ स्वामीभक्त और अद्वितीय रूपवती होती थीं। परस्त्री पर वह स्वप्न में भी दृष्टि नहीं डालता था, उसके एक हजार से भी अधिक लड़के होते थे।"[५] उद्धृत अंश में सत्य तो है ही पर उसका उत्तरार्द्ध अतिरंजित प्रतीत होता है। सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास के अन्त में स्वामीजी ने राजाओं को स्पष्ट शब्दों में निर्देश अथवा चेतावनी दी है—"ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्णबल सदा रहे।"[६]

"चक्रवर्ती राज्य" स्वामीजी की कवि कल्पना नहीं है, अपितु यह ऐतिहासिक सत्य है। श्री भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतीय संस्कृति' के इतिहास में एक काल का नाम भी 'चक्रवर्ती-

---

[१] वैदिक सम्पदा, पृष्ठ २५३

[२] सत्यार्थप्रकाश, तृतीय मुखपृष्ठ

[३] वेदांगप्रकाश, अष्टम भाग, स्त्रैणताद्धित, भूमिका, पृष्ठ १-२

[४] विक्रम स्मृति ग्रन्थ २००१, पृष्ठ ८२२

[५] वही, पृष्ठ ८२२

[६] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १०७

काल'[1] रखा है। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में प्रदत्त स्वामीजी के मतानुसार "सृष्टि से ले के पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था, अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहां के राज्य और राज्य शासन में सब भूगोल के सब राजा रहते थे।"[2] स्वायंभव राजा से लेकर पांडवों तक चक्रवर्ती राज्य रहा है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय सभी राजा उसके आधीन थे तथा नियमित रूप से उसे कर देते थे। कर देने का कारण कोई डर, प्रलोभन अथवा आश्वासन नहीं था अपितु युधिष्ठिर का धर्म प्रवृत्त होना था। महाभारत में लिखा है "वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः। प्रयच्छामः करान्सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात्। अस्य धर्म प्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।"[3] द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल ने सन् १९४५ में कहा था—"There must be one World Government"[4] अर्थात् सारे संसार का एक शासन हो। महदाश्चर्य है कि जो बात चर्चिल की कल्पना में इतने समय बाद आई, स्वामीजी लगभग उससे ७० वर्ष पूर्व ही उसका पूर्ण प्रतिपादन कर चुके थे। चक्रवर्ती राज्य का समर्थन करते हुए डा० पट्टाभिसीतारमैया ने एक लेख में लिखा था "जब तक संसार एक ईश्वर, एक धर्म और एक राष्ट्र के सिद्धान्त को नहीं अपनाता, तब तक कोई विश्व शासन सफल नहीं हो सकता।"[5]

चक्रवर्ती राज्य प्रायः नष्ट नहीं होता, किन्तु जब राजा अभिमानी, अन्यायकारी तथा अविद्वान् हो जाता है तब उसका राज्य अधिक दिनों तक नहीं चलता, जब किसी देश का अभाग्योदय होता है, कर्मचारी विषयासक्त, व्यभिचारी तथा दुर्व्यवसनी हो जाते हैं तो देश विदेशियों से पादाक्रान्त हो जाता है, चक्रवर्ती राज्य को नष्ट करने वाली सबसे प्रमुख वस्तु होती है पारस्परिक वैमनस्य। स्वामीजी ने लिखा है "चक्रवर्ती राज्य का नाश उस समय तक नहीं होता जब तक कि आपस में फूट न हो।"[6] कुरुवंश में भी फूट ही उत्पन्न हुई थी, जिसका परिणाम देश के भविष्य को अंधकारमय बनाना था।

भारत में राज्यव्यवस्था का प्रारम्भ—दिति और अदिति की एक बहन दनू थी। उसका पुत्र था विप्रचित्ति दानव, वह भयंकर योद्धा था, उसने पंजाब का एक भाग उजाड़ा। दैत्यों का लोभ भारत में अपना रंग जमाने लगा, प्रजा में लोभ समाविष्ट होने लगा तथा बलवान् लोग धनियों को कष्ट देने लगे। तब ऋषियों की सम्मति से दण्ड विधान के प्रचलन का निर्णय किया गया तथा एक शासक की तलाश प्रारम्भ हुई। सर्वसम्मति से विवस्वान् का पुत्र मनु इस कार्य के लिये योग्यतम समझा गया। मनु ने पहले तो इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया क्योंकि वे अनुभव करते थे कि उन्हें अपराधियों को कई :प्रकार के दण्ड देने होंगे जिनमें प्राणदण्ड भी सम्मिलित होगा, अतः उन प्राणियों के वध का भार वे अपने सिर नहीं लेना चाहते थे। लोगों

---

१. भारतीय संस्कृति का इतिहास—पं. भगवद्दत्तजी, पृष्ठ ३७

२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७२

३. महाभारत हिन्दी अनुवाद सहित, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ७७८

४. आर्यमित्र ८ अप्रेल, पृष्ठ ३

५. वही, पृष्ठ ३

६. पूना प्रवचन, पृष्ठ १३१

ने उनको आश्वासन दिया कि हत्या का पाप यदि आपके सिर होगा तो अनेकों की जान-माल की रक्षा का पुण्य भी आपको प्राप्त होगा जो निश्चित रूप से पाप से कहीं अधिक होगा। अंततोगत्वा मनु ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। ये मनु ही भारत के प्रथम शासक एवं राज्य व्यवस्थापक थे तथा इन्होंने प्रजा को मत्स्य-न्याय से मुक्ति दी। 'मनु भारत का प्रथम मूर्धाभिषिक्त राजा हुआ। उसी का सन्तान मानव हुआ और उत्तरोत्तर वृद्धि पाने लगा।'[१] अनेक व्यक्तियों का विश्वास है कि मनु ही भारत के या विश्व के सर्वप्रथम विधान निर्माता हैं, किन्तु बात सत्य नहीं है 'मनु राज्य का संचालक था, वह विधान निर्माता नहीं था।'[२] स्वामीजी ने 'पूना प्रवचन' में लिखा है। 'इक्ष्वाकु' यह आर्यावर्त का प्रथम राजा हुआ। इक्ष्वाकु ब्रह्मा की छठी पीढी है....'पहला अधिकार स्वायंभव (मनु) था।'[३] इक्ष्वाकु के समय में ही स्याही आदि से अक्षर लिखने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। विधान वस्तुतः स्वायंभव मनु ने भी नहीं बनाया था, उसका 'निर्माता तो साक्षात् ब्रह्मा था।'[४] ब्रह्मा के उपदेश के आधार पर ही दण्ड विधान आदि बने, उनका व्याख्यान स्वायंभव मनु ने किया और वैवस्वत मनु ने उसी आधार पर अपनी मनुस्मृति की रचना की।

वेदों में राजाओं का इतिहास नहीं—वेद में लोकविश्रुत अनेक नगर, नदी, देश व राजाओं के नाम उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनका अर्वाचीन इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक स्थान पर 'इमे मे गंगे यमुने सरस्वति'[५] की चर्चा है, दूसरे स्थान पर 'यो वायुना जयति गोमतिषु'[६] में गोमति की, कहीं 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'[७] के रूप में अयोध्या का नाम लिया गया है और कहीं 'श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो'[८] के रूप में मागध का वर्णन है। इसी प्रकार राजा पुरूरवा, नहुष, शान्तुनु, कृष्ण और इक्ष्वाकु आदि का भी उल्लेख वेदों में मिलता है। इन्हीं नाम सादृश्य के आधार पर कुछ विदेशीय तथा कुछ देशीय विद्वानों ने वेदों में राजाओं के इतिहास की कल्पना की है तथा उसके मूलाधार तीन हैं—

(१) वेद में क्रियापदों का उन रूपों का प्रयोग जो लोक भाषा में भूतकाल बतलाने के लिये प्रयोग में आते हैं।

(२) वेद में वे अनेक नाम हैं जिनको लौकिक इतिहास में बहुधा सुना जाता है।

(३) वेद के सूक्तों के साथ अनेक ऋषियों का नाम जुड़ा है।[९]

जहां तक पहली कल्पना का सम्बन्ध है, वेद में 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः' तीनों लकारों का प्रयोग "केवल धातु का अर्थमात्र बतलाने के लिये किया गया है। भूतकाल बतलाना

---

१. भारतीय संस्कृति का इतिहास—भगवद्दत, पृष्ठ १७

२. वही, पृष्ठ १८ ३. पूना प्रवचन, पृष्ठ ९७

४. भारतीय संस्कृति का इतिहास—भगवद्दत, पृष्ठ १८

५. वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा, पृष्ठ ७७

६. ऋग्वेद भाषाभाष्य द्वितीयखण्ड, पृष्ठ ६१९

७. अथर्ववेद भाषाभाष्य, ९-१० खण्ड, पृष्ठ २३९

८. वही, पृष्ठ ७१५

९. क्या वेद में इतिहास है—जयदेव शर्मा, पृष्ठ १०

उसका सर्वथा भी प्रयोजन नहीं है।"[1] तीसरी कल्पना के विषय में केवल यही कहना है कि ये शब्द वेद में यौगिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, कालान्तर में ये व्यक्तियों के नाम भी पड़ गये। वेद में इन शब्दों का अर्थ भी कुछ भिन्न होता है, शतपथ के आधार पर प्रमुख ऋषियों के नाम के अर्थ की सूची 'वेदरहस्य' में निम्न है—

ऋषि का नाम		**अर्थ**[2]
जमदग्नि	——	आँख
वशिष्ठ	——	प्राण
भारद्वाज	——	मन
विश्वामित्र	——	कान
विश्वकर्मन्	—	वाक्

जहाँ तक दूसरी कल्पना का प्रश्न है, उसका प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ विशद् विवेचन आवश्यक है। यह सत्य है कि वेद में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध होते हैं,[4] पर यह सत्य नहीं कि राजा पहले हुए और वेदों की रचना उनके बाद हुई। महाभारत के आदि पर्व में राजा पुरुरवा के जन्म की कथा है और यजुर्वेद के पांचवें अध्याय के द्वितीय मंत्र में भी इसकी चर्चा है—इस समता के आधार पर कोई मूर्ख भी यह मानने को उद्यत नहीं होगा कि यजुर्वेद महाभारत के बाद की रचना है अथवा यजुर्वेद में 'पुरुरवाऽसि'[3] शब्द महाभारत से उद्घृत किया गया है। इसी मंत्र में 'उर्वश्यस्याद्युरसि'' के रूप में उर्वशी का वर्णन है—बस इसी आधार पर कल्पना की वल्कायें कुछ ढीली हो गईं—राजा पुरुरवा, उसकी पत्नी उर्वशी और उनके पुत्र आयु की कल्पना करके इतिहास से वेदों का सम्बन्ध जोड़ दिया गया। वास्तव में यह अलंकारिक नाटक का एक नमूना है "यह पुरुरवा सूर्य है, उर्वशी उसकी एक किरण है और दोनों अग्नि हैं। यह प्रसिद्ध है कि इन्द्र के अनेकों अप्सरायें थीं। इन्द्र नाम सूर्य का है और अप्सरा उसकी किरणें हैं। उसकी अनेक किरणों में से उर्वशी भी एक किरण है....वेद में पुरुरवा और उर्वशी तथा आयु को अग्नियों के नाम से कहा है।"[4] यहाँ पुरुरवा और उर्वशी दोनों को ही अग्नि कहा गया है। अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति होती है, इसलिये हम दोनों से उत्पन्न आयु भी अग्नि ही है। अग्नि ही सूर्य है और अग्नि ही उसकी किरणें हैं।

पुराणों के अनुसार नहुष 'आयु' का पुत्र था। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में नहुष शब्द का उल्लेख है, एक समय इसे इन्द्र की पदवी मिली थी और फिर अगस्त्य ऋषि के तेज से वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। वेद के इस प्रसंग में 'नहुष' का अर्थ है बादल, अतः नहुष को इन्द्र की पदवी मिलने का अर्थ हुआ कि बादलों ने इन्द्र अर्थात् सूर्य को घेर लिया। अगस्त्य ऋषि से तात्पर्य यहां अगस्ति तारे के उदय से है क्योंकि उसके उदय होते ही वर्षा ऋतु चली जाती है।

---

१. क्या वेद में इतिहास है—जयदेवशर्मा, पृष्ठ १२

२. वेदरहस्य—महात्मा नारायण स्वामी, पृष्ठ ३८

३. महाभारत—हिन्दी अनुवाद सहित,—प्रथमखण्ड, पृष्ठ २३२

४. यजुर्वेद भाषाभाष्य पृष्ठ १३८ वैदिक सम्पत्ति—रघुनंदन शर्मा, पृष्ठ ५९

तुलसीदासजी ने भी लिखा है 'उदित अगस्ति पंथ जल सोखा।'[१] इसी प्रकार ययाति, शन्तनु और कृष्ण और राधा आदि भी आकाशीय पदार्थ हैं। वेदों में इस आकाशस्थ संसार का वर्णन पर्याप्त है। इसमें राजा, ब्राह्मण, आर्य, राक्षस, ग्राम, युद्ध, पशु आदि सभी कुछ हैं पर ये सब रूपक हैं, आलंकारिक वर्णन हैं। इनमें कहीं इतिहास की छाया नहीं है, कम से कम स्वामीजी की मान्यता ऐसी ही है। अतः हम कह सकते हैं कि अनेक राजाओं आदि का नाम साम्य होते हुए भी तथाकथित इतिहास की उसमें कहीं छाया तक भी नहीं है।

स्वामीजी का सक्रिय राजनीति में योगदान--वैदिक राजनीति के कुछ प्रमुख तत्वों की चर्चा करने के बाद अब हम एक अतिविवादास्पद विषय को ले रहे हैं। स्वामीजी ने भारत की सक्रिय राजनीति अथवा सन् १८५७ के क्रांति आन्दोलन में भाग लिया या नहीं, इस विषय में विद्वानों की बड़ी विभिन्न सम्मतियाँ हैं। कुछ लोग उन्हें अंग्रेजों का एजेण्ट कहते हैं और कुछ "स्वामी दयानन्द न केवल सच्चे राष्ट्र निर्माता हैं, अपितु राष्ट्र निर्माताओं के जनक"[२] के रूप में स्मरण करते हैं। सैद्धान्तिक रूप से स्वामीजी विदेशी शासन से असंतुष्ट थे ही, अपने एक पत्र में भी उन्होंने इस भावना को व्यक्त किया है, "देखो, बड़े शोक की बात है कि जयपुर में अनेक गिरजाघर बन गये और पादरी लोग राम, कृष्ण आदि भद्र पुरुषों की निरन्तर निन्दा करते हैं और सैकड़ों को बहकाकर भ्रष्ट कर रहे हैं, उनको हटाने को पंडित और राजा आदि राजपुरुषों ने कुछ भी प्रयत्न न किया।"[३] इनके कई पत्रों एवं कई ग्रन्थों के अनेक उद्धरणों से इस बात की गन्ध आती है कि वे विदेशी शासन का बहिष्कार चाहते थे तथा अपनी प्रार्थनाओं में प्रायः इस देश को स्वतन्त्र देखने की कामना करते थे। उनके दृष्टिकोण से देश को परतंत्र करने के जो कारण थे, उन्होंने उनके निवारण का प्रयत्न किया। एक बार मुरादाबाद के ज्वॉइन्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर स्पीडिंग के अनुरोध पर स्वामीजी ने राजनीति विषय पर कई घण्टे तक व्याख्यान दिया था, जिससे प्रभावित होकर उन्होंने कहा था—"यदि राजा और प्रजा के प्रति ऐसा ही व्यवहार हुआ होता जैसा कि विद्वान् व्याख्याता ने वर्णन किया है तो सिपाही विद्रोह का हत्याकाण्ड ही न होता और राजा और प्रजा को वह विपत्तियां न सहनी पड़तीं जो उन्हें सहनी पड़ीं।"[४]

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य क्रान्ति के समय स्वामीजी की अवस्था ३३ वर्ष की थी, अतः कुछ विद्वानों ने यह कल्पना की है कि उन जैसा क्रान्तदर्शी, स्पष्टवक्ता एवं देशप्रेमी इस आन्दोलन से पृथक् नहीं रह सकता। इस कल्पना को तब बल और मिल जाता है जब हम देखते हैं कि उनकी आत्मकथा में सन् १८५७ से १८५९ के संबन्ध में विशेष विवरण नहीं मिलता, केवल इतना उल्लेख मिलता है, "मेरे मन में तो यही सोच थी कि किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अतः समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे।"[५]

---

[१] रामचरित मानस—तुलसीदास, पृष्ठ ६६९

[२] Dayanand Commemoration Volume, पृष्ठ ३८७

[३] अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द—वासुदेव वर्मा, पृष्ठ ४९

[४] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित-भाग-दो—घासीरामजी, पृष्ठ १७६

[५] ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्मचरित, पृष्ठ ४२

स्वामीजी के इस वर्णन में कुछ रहस्य दृष्टिगोचर होता है। इस विचार को पुष्ट होने का दूसरा आधार है सत्यार्थप्रकाश का निम्न उद्धरण—"जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर मूर्त्तियां अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहां गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते।"[१] स्वामीजी के प्रशंसक इससे यह सिद्ध करते हैं कि स्वामीजी न केवल अंग्रेजों के अत्याचारों से क्षुब्ध थे अपितु उन दिनों की समस्त हलचलों का ज्ञान भी उन्हें था, उनका वर्णन भी ऐसा प्रतीत होता है जो सुना सुनाया न होकर प्रत्यक्षदर्शी का है। तीसरा आधार यह भी है कि स्वामीजी उन दिनों क्रांति के सूत्रधार नाना साहब के घर भी गये थे, "सन् १८५६ मई मास में वह नाना साहब के घर कानपुर गये और पांच मास तक कानपुर, इलाहाबाद के बीच चक्कर काटते रहे।"[२] स्वामीजी के एक सहयोगी ने तो यहां तक कहा है कि उन्होंने स्वामीजी को अश्वारोही के रूप में भी देखा था। "पण्डित बस्तीराम ने महर्षि दयानन्द को कई बार देखा था। उनका कथन है कि दो अश्वारोहियों में से गोल मुख वाले महर्षि दयानन्द थे।"[३]

कल्पना को उन्मुक्त मार्ग मिल गया, इस आधार पर शोधकर्त्ताओं ने नई नई खोजें प्रारम्भ कर दीं। स्वामीजी की आत्मकथा में लिखा है "१९१३[४] अगले पांच मास में कानपुर व प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे।"[५] परिणाम निकालना कठिन नहीं रह गया—जब स्वामीजी उन दिनों वहीं थे तो उन्होंने इस क्रांति यज्ञ में भाग लिया ही होगा, नई खोजों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि—

(१) "महारानी लक्ष्मीबाई……अजीमुल्ला खां, तात्याटोपे, वीर कुंवरसिंह महाराज श्री के १९१२ से अर्थात् सन् १८५५ कुम्भ मेले पर चण्डी के पहाड़ पर दर्शन कर चुके थे और संग्राम का आशीर्वाद लेकर आये थे। मंगल पाण्डे ने भी, जो स्वातंत्र्य संग्राम का श्रीगणेश करने वाला था, महाराज श्री के दर्शन और आशीर्वाद लाभ किया था।"[६]

(२) महर्षि की जन्म भूमि मौरवी में बनी 'नाना साहब' की समाधि यह घोषित कर रही है कि वे स्वामी दयानन्द के शिष्य थे। "नाना साहब ने ऋषि दयानन्द योगिराज से संन्यास लिया था और मरते समय कहा था—"मैं नाना साहब पेशवा हूं। यह मेरी लकड़ी है, आधी सोने, मोहरों से भरी है। ठाकुर बाबा को दे देना और अग्नि संस्कार करने को कहना।"[७] इस घटना पर टिप्पणी करते हुए अंग्रेजी के प्रमुख पत्र ने सन् १९६९ में लिखा था—

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०४

२. अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द, पृष्ठ १४ ३. वही, पृष्ठ १६

४. संवत् १९१३ समाप्त हुआ मार्च १८५७ को, अतः अगले पांच मास से अभिप्राय यहां अप्रेल से अगस्त १८५७ तक है। इससे सिद्ध होता है कि स्वामीजी उन दिनों कानपुर के आसपास ही थे।

५. ऋषि दयानन्द सरस्वती—स्वरचित जन्म चरित्र, पृष्ठ ३८

६. योगी का आत्मचरित्र, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ११३ ७. वही, पृष्ठ ११५

"According to this version Nana Sahib was forced to quit the heaven of Nepal. He crossed the Terai Hills, spread a remour that he had been killed by a tiger, and by a devious route reached the city of Morvi with his two associates Yadim Shah and Baldev Ram Bhave. He lived in Morvi ......Died recently on 1951.......Peshawa lived under an assumed Name Dayanand Yogindra."[1]

—The Times of India, Sunday, May 25, 1969

अर्थात् इस कथन के अनुसार नाना साहब को नेपाल का स्वर्ग त्यागने के लिये विवश होना पड़ा। उन्होंने तराई की पर्वतमाला को पार किया और यह अफवाह फैला दी कि वे एक व्याघ्र द्वारा मारे गये, तथा एक कुटिल मार्ग से अपने दो साथी यादिमशाह और बलदेव राम भावे के साथ मौरवी पहुंचे। वे मौरवी में रहे.......सन् १९५१ में दिवंगत हुए। ....पेशवा वहां दयानन्द योगीन्द्र के काल्पनिक नाम से रहे।

(३) स्वातन्त्र्य संग्राम में प्रयुक्त चपाती तथा रक्त कमल का प्रयोग भी स्वामीजी के निर्देशानुसार ही किया गया था—"यही रक्त कमल और चपातियां हैं जिनके प्रसार का आदेश योगिराज दयानन्द ने नाना साहब, झांसी वाली रानी अलीमुल्ला खां आदि को दिया है"[2]

(४) साधुसमाज की अनुश्रुति के अनुसार भी स्वामीजी क्रान्ति से सम्बद्ध थे—"पृथ्वीसिंह महता के 'हमारा राजस्थान' की पांडुलिपि पर चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।"

—राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ३६

उपर्युक्त विचारों तथा इसी प्रकार के अन्य विचारों को जानकर स्वामीजी के भक्तों को अत्यधिक आनन्द होता है, स्वामीजी का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिये एक बिन्दु और मिल जाता है, पर इतिहास के विद्वान् अब भी इन विचारों से सहमत नहीं हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में स्वामीजी के सक्रिय योगदान का अभी तक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिला संभवतः ये कल्पनायें उनके नाम के साथ इसलिये जोड़ी गई हैं—"are based on the false assumption that what we know of Dayanand already is not enough to give him an exalted position as the maker of Modern India. He needs some props."[3] अर्थात् (ये कल्पनायें) इस मिथ्याविश्वास पर आधारित हैं कि आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में स्वामी दयानन्द को अभी तक उन्नत स्थान नहीं दिया गया है। उन्हें कुछ अवलम्ब की आवश्यकता है। श्री बी. के. सिंह ने इस बात को कुछ अधिक निर्णायक स्वर में तथा कठोर शब्दों में कहा है—"यह कहना

---

१. योगी का आत्मचरित्र, पृष्ठ ११७ २. वही, पृष्ठ १२५

३. Punjab University Research Bulletin (Arts) Vol. III, No. 2, Oct. 1972 Shri Ram Sharma, The Earliest Autobiography of Swami Dayanand, P.-219

अविवेकपूर्ण है कि स्वामी दयानन्द का १८५७ के विद्रोह में किसी प्रकार का भी हाथ रहा था।''[1] विश्व के प्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार का यह मत है कि "१८५७ के विद्रोह में स्वामी दयानन्द का किसी प्रकार का योगदान रहा।''[2] जब तक इस विषय पर और अधिक गवेषणा नहीं होती तब तक हम यह निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि स्वामीजी इस क्रान्ति आन्दोलन से असम्बद्ध नहीं थे—यह सम्बन्ध चाहे अश्वारोही के रूप में हो, चाहे प्रेरक के रूप में यह अन्य बात है। देश में जो क्रान्ति स्वामी दयानन्द लाना चाहते थे, उसका रूप सशस्त्र क्रान्ति से कुछ भिन्न तथा महान् था। सशस्त्र क्रान्ति को यदि चरम लक्ष्य भी माना जाये तो भी उसके पूर्व वैचारिक क्रान्ति आवश्यक थी।

देश में एकता लाने तथा देश को स्वाधीन बनाने के लिये तो समस्या के मूल तक जाना उन्होंने उचित समझा, एतदर्थ उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया, अनेक प्रकार के व्यक्तियों से वे मिले तथा देश को दुर्बल करने वाले कारणों का परिज्ञान किया। उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले वे थे—बाल-विवाह, स्त्री शिक्षा का अभाव तथा उन्हें शूद्र समझना, गोवध, मूर्त्तिपूजा, फलित ज्योतिष, विधवाओं का आर्तनाद, वैदिक वर्णव्यवस्था का लुप्त होना, दहेज प्रथा, मृतक श्राद्ध, अंधविश्वास, भूतप्रेतादि का भय, मद्य निषेध, छुआछूत, कुपात्र को दान, वैदिक शिक्षा का अभाव पाश्चात्य शिक्षा का अंधानुकरण आदि। स्वामीजी का समस्त जीवन ही इन दुर्गुणों से संघर्ष की विराट् चेष्टा है। अपने सभी ग्रन्थों में उन्होंने इन राष्ट्रघातक प्रथाओं का विरोध किया है। स्वामीजी ने राष्ट्र को एकसूत्र में पिरोने के लिये पहले यहां के ब्राह्मणों, पंडितों और विद्वानों को वैचारिक दृष्टि से एक करना चाहा, किन्तु निहित स्वार्थों के कारण वे स्वामीजी के विचारों को सत्य बता कर भी उनका साथ न दे सके। स्वामीजी स्वभावतः सुधारक थे, समन्वयवादी नहीं, अनेकों बड़े प्रलोभन मिलने पर भी वे असत्य से सत्य का समन्वय न कर सके। देश के एकीकरण के लिये उन्होंने दूसरा प्रयत्न दिल्ली दरबार के अवसर पर देश के महान् राजनीतिज्ञों को एकमत का करने का भी किया था। स्वामीजी चाहते थे 'राजा-महाराजाओं की सभा करके सब आर्यों को एक धर्म और एकता के तागे में पिरो दिया जाये....उनके निमंत्रण पर पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक कन्हैयालालजी अलखधारी, श्रीयुत् नवीनचन्द्र राय, श्रीयुत् हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, सर सैयद अहमद, श्री केशवचन्द्र सेन और श्री इन्द्रमनजी, ये छः सज्जन वहां पधारे।'[3] किन्तु अनेक कारणों से ये बेल भी मुड्ढे नहीं चढ़ पाई।

इस दिशा में स्वामीजी का अंतिम प्रयत्न देशी राजाओं को एकत्र करना तथा उनका जीवन सुधारना था। वे चाहते थे कि ये रियासतें नष्ट न होने पायें और उनका अस्तित्व बना रहे। इन रियासतों में वे मनु द्वारा प्रदर्शित राजनियम ही चलाना चाहते थे। इसीलिये कई रियासतों के राजाओं को उन्होंने मनुस्मृति तथा विदुर प्रजागर स्वयं पढ़ाई थी। इस कार्य के लिये जीवन के सांध्यकाल में उनका क्षेत्र राजस्थान रहा। राजा उम्मेदसिंहजी ने स्वामीजी के सम्बन्ध में लिखा है, "वि. संवत् १९३९ में महर्षि ने अपने चरणों से शाहपुरा राज्य को पवित्र

---

१. स्वामी दयानन्द—बी. के. सिंह, पृष्ठ १३७

२. वही, पृष्ठ १३८

३. श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ ३०६

कर पिताश्री को वैदिक धर्म में दीक्षित किया। उनको योगसूत्र पढ़ाया, सांख्य की कारिकाएं सुनाई और संसार के विविध मार्गों और वैदिक धर्म का अन्तर समझाया....मीठे शब्दों में मुझे कहते—"खूब पढ़ना, धर्मात्मा बनना और न्याय करना।"[१] उदयपुर के नरेश सज्जनसिंहजी भी विलासिता, वारुणी तथा वेश्वागमन के दुर्गुणों में लीन थे। स्वामीजी के उपदेश से बहुत शीघ्र ही सुधार होने लगा "महाराणा ने हर रोज स्वामीजी से पढ़ना आरंभ किया....स्वामीजी ने उन्हें विशेष आग्रह से मनुस्मृति वा राजप्रकरण पढ़ाया....(वे) प्रातःकाल उठने लगे, सन्ध्योपासन नियम पूर्वक होने लगा।"[२] स्वामीजी का निश्चित विश्वास था कि भारत का भला तभी होगा जब रजवाड़ों का उद्धार होगा। राजाओं के सुधर जाने पर प्रजा के सुधरने में विलम्ब की संभावना नहीं है। इस प्रकार अनेक राजाओं को उन्होंने राजनीति की दीक्षा दी। वे चाहते थे कि आर्य राजा संस्कृत पढ़ कर प्राचीन आदर्श को पुनरुज्जीवित करें,[३] वे विदेशियों तथा यवनों को राज्यकार्य के उच्च पद दिलवाना नहीं चाहते थे, राज्य कार्य का माध्यम वे हिन्दी (आर्य भाषा) चाहते थे, "उन्होंने संस्कृत शैली में सब राजकीय कार्यालयों के नाम रखे, जैसे महद्राजसभा, शैलकान्तार संबंधिनी सभा, निज सैन्य सभा, शिल्प सभा आदि।"[४]

स्वामीजी के उपर्युक्त विचारों से प्रभावित होकर श्री विट्ठलभाई पटेल उन्हें अपना 'राजनीतिक गुरु' मानते थे, उन्होंने लिखा है, "वर्तमान कांग्रेस का प्रत्येक अंश भगवान् दयानन्द ने ही बनाया है....मैं ऋषि दयानन्द को अपना राजनीतिक गुरु मानता हूं। मेरी दृष्टि में तो वे महान् विप्लववादी नेता और राष्ट्रविधायक थे।"[५] सरदार वल्लभ भाई पटेल का भी यही मत था कि देश में चलने वाले सभी कार्यों का मार्ग स्वामीजी वर्षों पूर्व बता गये थे, लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने स्वामीजी के सम्बन्ध में अपनी सम्मति इन शब्दों में प्रकट की है—"गांधीजी राष्ट्र के पिता थे, तो महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्र के 'पितामह' थे। महर्षिजी हमारी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के और स्वाधीनता आन्दोलन के आद्य प्रवर्तक थे।"[६] यदि कोई अन्य कारण न भी हो तो भी उपर्युक्त प्रमाणपत्रों अथवा प्रशस्ति पत्रों के आधार पर हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि स्वामीजी का भारत की राजनीति में सक्रिय सहयोग रहा है। स्वामीजी का यह विश्वास सत्य ही प्रतीत होता है कि यदि भारतवासी शारीरिक दृष्टि से शक्तिसम्पन्न, धार्मिक दृष्टि से शुद्ध तथा सामाजिक दृष्टि से सरल रहेंगे तो राजनैतिक स्वातंत्र्य उनका अनुसरण करेगा।

---

[१] Dayanand Commemoration Volume, Page 403

[२] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १२९

[३] स्वामीजी को इन राजाओं पर इतना विश्वास था कि अपने वसीयतनामा 'स्वीकारपत्र में जिन २३ व्यक्तियों को अपने यंत्रालय और सम्पत्ति आदि का उत्तराधिकारी बनाया है उनमें विद्वानों तथा कर्मठ व्यक्तियों के अतिरिक्त आठ राजा या महाराजा थे।'

[४] Dayanand Commemoration Volume, Page 368

[५] आर्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ २२९-३३०

[६] १८५७ और स्वामी दयानन्द, पृष्ठ ८८ से ९०

प्रजातन्त्रवाद अथवा साम्राज्यवाद—प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वामीजी ने विश्व राजनीति या राज्य प्रणाली का वर्णन किया है, उसे हम किस नाम से पुकारें। डा. स्टाकमैन के कथन "The majority is never right"[१] अर्थात् बहुमत कभी ठीक नहीं होता, के बाद भी देश में प्रजातन्त्रवाद का बोलबाला है, जो व्यक्ति इसके विरुद्ध कुछ कहना चाहता है उसे या तो पिछड़ा हुआ अथवा कुछ विकृत-मस्तिष्क का समझा जाता है। आज प्रजातन्त्रवाद का जो रूप और परिभाषा हमारे सामने है, वह पाश्चात्य देशों की देन है, स्वामीजी की न पाश्चात्य सिद्धान्तों में आस्था थी और न वे उनकी भाषा जानते थे, अतः स्पष्ट है इस रूप में वे प्रजातंत्रवादी नहीं थे, सच तो यह है कि उनके विचारों को आज के वादों के विवाद में फंसाना उनसे अन्याय करना होगा। उनके अपने मौलिक विचार थे, अतः उसका नामकरण भी प्रचलित वादों से कुछ निराला होगा। वे राजा तथा प्रजा दोनों का समान रूप से कल्याण चाहते थे। अतः किसी अन्य समुचित नाम के अभाव में हम उस प्रणाली को 'उभयतंत्रवादी' प्रणाली कह सकते हैं। स्वामीजी की राजनीति में प्रजातन्त्रात्मक तत्त्व अवश्य थे, पर उनका स्वरूप भिन्न था। उनके द्वारा संस्थापित 'आर्यसमाज' की कार्यप्रणाली में प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली का इतनी पूर्णता से प्रयोग किया गया है जितना कि उनसे पूर्व किसी धार्मिक संगठन में नहीं किया गया। "उस समय भारतवर्ष के लिये राजनीति में प्रजासत्तात्मक वाद नया था और तो और स्वयं इंगलैण्ड में पूरा प्रजासत्तात्मक शासन नहीं था। वहां का राजा प्रजा का चुना हुआ नहीं होता, आकस्मिक घटना का चुना हुआ होता है। राजा के घर में जो लड़का पहले पैदा हो गया, वही राजगद्दी पर अधिकारी बन जाता है।"[२] इसके अतिरिक्त प्रोटेस्टैण्ट चर्च के मुख्य पुरुषों के चुनाव में ईसाइयों का कोई हाथ नहीं होता था तथा हजरतअली और उम्मैयदवंश की टक्कर में इस्लाम का प्रजासत्तात्मक रूप कुचला जा चुका था। स्वामीजी का प्रजातंत्र मूर्खों का समूह नहीं है, वह किन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित है, "जहाँ मार्क्सवाद है वर्गतंत्र है, गांधीवाद परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की खिचड़ी है वहां दयानन्दवाद एक सिद्धान्त के आधीन प्रजातंत्र है, सिद्धान्त है सत्य, सहृदयता और न्याय।"[३] उनका विश्वास 'रामाय स्वस्ति रावणाय च स्वस्ति' में नहीं था, वे तो 'सज्जनाय स्वस्ति दुष्टाय दण्डः' में आस्था रखते थे। उन्होंने सब परिस्थितियों में बहुमत के निर्णय को स्वीकार नहीं किया है, विवादग्रस्त विषय पर निर्णय के लिये उनका निर्देश है "वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपात रहित सर्व हितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे उत्तम समझना चाहिये।"[४]

आधुनिक युग में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के प्रथम प्रयोक्ता होने पर भी अपने स्वीकारपत्र में उन्होंने 'परोपकारिणी सभा' के सभासद् सम्पूर्ण जीवन के लिये बनाये हैं, उनके लिये प्रतिवर्ष अथवा दूसरे वर्ष चुनाव का विधान उन्होंने नहीं किया है। विवादग्रस्त विषय में 'बहु सम्मति के अनुसार काम करें और सभापति की सम्मति को सदा द्विगुण समझें।'[५]

---

१. Democracy and The Individual. Carleton Kemp Allen, p. 39

२. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १४३

३. चुने हुए फूल—बिहारीलाल शास्त्री, पृष्ठ ७४-७५

४. वही, पृष्ठ ७५

५. आर्यसमाज का इतिहास, परिशिष्ट संख्या ७, पृष्ठ ३३१

किसी सभासद् के पृथक् हो जाने अथवा उसका निधन हो जाने पर शेष सदस्यों को नया सदस्य चुनने का अधिकार दिया है। दूसरी ओर उन्होंने आर्यों के अखण्ड चक्रवर्ती साम्राज्य की चर्चा बड़े गर्व से स्थान-स्थान पर की है। पुनः 'चक्रवर्ती साम्राज्य' संस्थापन के लिये भगवान् से से दैनिक प्रार्गना की है, अतः उनके राजनैतिक विचारों को किसी प्रचलित 'वाद' के नाम के ढांचे में रखने में हम असमर्थ हैं। कुछ मनीषियों ने उसका दयानन्दवाद के रूप में नामकरण करना चाहा है पर यह कोई वाद नहीं है। दयानन्द ने तो वही कुछ किया 'जो ब्रह्म से लेकर जैमिनी पर्यन्त ऋषियों' ने प्रतिपादित किया है। हमारी तुच्छ सम्मति में तो सभी दृष्टियों से इसे 'उभयतंत्रवाद' कहना ही अधिक समीचीन होगा।

निष्कर्ष—अभी तक स्वामीजी के 'राजा एवं राजनीति विषयक विचार' पर जो चर्चा की गई है, उसका निष्कर्ष हम निम्न प्रकार निकाल सकते हैं—

१. स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित राजनीति प्रमुखतः राजाओं की ही नीति है। 'राजा' शब्द उनके लिये हेय अथवा त्याज्य नहीं है। संसार के लगभग सभी गुणों का समावेश उसमें माना गया है। मध्यकालीन राजाओं की भांति उन्हें विलासी, स्वार्थी तथा प्रमादी नहीं होना चाहिये। प्रजा का रंजन तथा रक्षण उनका प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिये, व्यक्तिगत सुविधाओं की तो बात ही क्या है, उसके सोने का समय भी सबसे कम निर्धारित किया गया।

२. राजा स्वच्छन्द, पूर्ण स्वतंत्र तथा उच्छृंखल नहीं हो सकता, सभा तथा समितियां बनाने के बाद उसे उनके आधीन ही कार्य करना पड़ता है। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य शत्रुओं का नाश तथा प्रजा से न्याय करना है, उसके तथा उसकी सेना के हथियार अत्यन्त दृढ़ एवं प्रहारक होने चाहियें "तुम्हारे सभी प्रकार के आयुध अत्यन्त दृढ़ एवं प्रहारशक्ति से युक्त हों जो कि निश्चय ही पराजित कर सकें तथा तुम्हारी बलवती सेना शत्रुओं के वेग को स्तब्ध कर देवे जिससे शत्रु का युद्ध संकल्प ही भंग हो जावे।"[१]

३. स्वामीजी की राजनीति 'धर्म निरपेक्षता' पर आश्रित न होकर धर्मपरक राजनीति है। वे राजा तथा प्रजा दोनों से ही ईश्वर विश्वास एवं उसकी उपासना की अपेक्षा करते हैं। श्री गुरु गोलवलकर जी ने भी एक स्थान पर कहा है हमारे यहां सत्ता के ऊपर धर्मवेत्ताओं के दृढ़ अंकुश की आवश्यकता समझी गई। धर्म-सत्ता के आधीन ही राज्यसत्ता कुछ कर सकेगी, उससे निर्बन्ध होकर नहीं।[२]

४. संस्कृत में पूरी राजनीति—अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए स्वामीजी को किसी पाश्चात्य विद्वान् अथवा पाश्चात्य भाषा का आश्रय नहीं लेना पड़ा। उनके दृष्टिकोण से जो कुछ उन्हें अपेक्षित था, सभी ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त ऋषियों के साहित्य में था। सत्यार्थप्रकाश में एक प्रश्न 'संस्कृत विद्या में पूरी-पूरी राजनीति है या अधूरी ?' के उत्तर में उन्होंने कहा है—"पूरी है, क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी वह सब संस्कृत विद्या से ली है।"[३]

---

[१] आर्यमित्र—६ अगस्त १९७२, पृष्ठ २

[२] विचारदर्शन—श्री गुरुजी, पृष्ठ ३७

[३] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १०७

५. स्वदेशी वस्तुयें—राष्ट्र निर्माण के लिये स्वामीजी ने स्वदेश निर्मित वस्तुओं को ही प्रश्रय दिया। राजकार्य में भी व्यवहृत होने वाली भाषा तो वे स्वदेशी चाहते ही थे, वे औषधियां भी स्वदेशी ही चाहते थे।

६. चक्रवर्ती साम्राज्य—स्वामीजी ने स्वराज्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, पर वे इतने से ही संतुष्ट न थे, वे समस्त भूमण्डल को एकसूत्र में पिरोया हुआ देखना चाहते थे। उनका साम्राज्यवाद आजकल के तथाकथित साम्राज्यवाद के दोषों से रहित था, जिसके कुछ प्रमुख आधार निम्न थे—

(क) गणाद् गुणो गरीयान्—समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—१. अधिकारी २. अधिकृत। पहले का तात्पर्य उस व्यक्ति से है "जिसे दूसरों की स्वतन्त्रता पर, समाज-हितकारी बन्धन लगाने का अधिकार हो।"[1] जो इस अधिकार का सदुपयोग करते हैं वे गुणों के कारण बड़े कहलाते हैं, अतः समूह की अपेक्षा गुण श्रेष्ठ है।

(ख) वर्ण सहयोग—इस व्यवस्था में मनुष्य जाति के तीन शत्रु अभाव, अन्याय और अविद्या से संघर्ष करने के लिए वर्ग (शासक-शासित, शोषक-शोषित) में परस्पर संघर्ष ही नहीं अपितु सहयोग की आवश्यकता है, ईर्ष्या की अपेक्षा न्याय की तथा धूम्र के स्थान पर प्रकाश की आवश्यकता है—'Class co-operation and not class-war'[2]

(ग) अकारण निग्रह—अनुग्रहः—साम्राज्यवाद की यह कल्पना न पूंजीवादी है और न समाजवादी। 'पूंजीवाद में इनाम है, दण्ड नहीं, अनुग्रह है निग्रह नहीं। दूसरी ओर समाजवादी लंगड़े हैं। वह ममता का बिल्कुल लाभ नहीं उठाना चाहते।'[3] वास्तव में पूंजी बुरी नहीं है, उसका दुरुपयोग बुरा है, अतः पूंजी के समान वितरण के स्थान पर उसका यथायोग्य वितरण होना चाहिए—अर्थात् अकारण ही किसी पर अनुग्रह किया जाय न निग्रह 'No punishment and reward without discrimination" स्वामीजी ने तो आर्य समाज के ७वें नियम में स्पष्ट निर्देश किया है "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।"[4]

(घ) आतंकपूर्ण—वैदिक मर्यादा का यह साम्राज्यवाद कभी आतंक पूर्ण नहीं रहा। श्री बिहारीलालजी का यह कथन "आर्य साम्राज्य या आर्यों का सार्वभौम राज्य कभी भी आतंकपूर्ण या संकीर्ण नहीं रहा। आर्य सत्ता का बल केवल सदाचार और न्याय रहा है,"[5] सत्य ही है। इस विषय में श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने भी अपनी सम्मत्ति निम्न शब्दों में दी है—"वैदिक स्वराज्य में अधिकार और राज्य-प्रसार की भावना नहीं थी—चोरबाजारी, भ्रष्टाचार का तो नाम तक नहीं था।"[6]

---

[1] १. कायाकल्प—बुद्धदेव विद्यालंकार, परिशिष्ट, पृष्ठ ४

[2] २. वही, परिशिष्ट, पृष्ठ ६

[3] ३. वही, परिशिष्ट, पृष्ठ ७

[4] ४. सत्यार्थप्रकाश—आवरण, पृष्ठ ३

[5] ५. चुने हुए फूल—बिहारीलालजी, पृष्ठ ९९

[6] ६. वैदिक साहित्य—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ ३३१

७. दण्डनीति—स्वामीजी की राजनीति में दण्डनीति पर्याप्त कठोर थी, वहां निरपराध को कष्ट नहीं दिया जाता था, किन्तु उसमें अपराधी के लिये कठोरतम दण्ड का विधान है। दण्ड-व्यवस्था के दुर्बल हो जाने पर सम्पूर्ण राष्ट्र ही दुर्बल हो जाता है। इसमें अहिंसा को अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया गया है अपितु न्याययुक्त हिंसा को भी हिंसा नहीं माना गया है 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' स्वामीजी के मतानुसार आततायी का वध पाप नहीं अपितु पुण्य कार्य है। इसलिए सेना एवं आरक्षी दल की पर्याप्त संख्या तथा वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों की व्यवस्था अपेक्षित की गई है।

प्रजातंत्रवाद एवं साम्राज्यवाद का सम्मिश्रण—स्वामीजी ने अपने आपको दोनों वादों में न फंसाकर दोनों के उत्तम गुणों को ही ग्रहण किया है, उनके तो जीवन का उद्देश्य ही सत्य को ग्रहण करना तथा उसका प्रकाश करना रहा है, अतः उनके द्वारा प्रतिपादित वाद को हम उभयतंत्रवाद कह सकते हैं। स्वामीजी के मतानुसार वही राज्य चिरस्थायी होता है जो सत्य और न्याय पर आश्रित होता है—क्योंकि "इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता।"[1]

◆◆

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७२

षष्ठ अध्याय

ईश्वर, जीव, प्रकृति और मुक्ति विषयक सिद्धान्त

तीन अनन्त सत्तायें—संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं १. आस्तिक जो - भगवान् के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं और २. नास्तिक—जिन्हें उसके अस्तित्व में कोई आस्था नहीं है। आस्तिकों की मान्यता भी एक नहीं है, उनमें अनेक विभिन्नतायें हैं। तुलसी की 'विनयपत्रिका' के पद 'कौउ कह सत्य, झूठ कह कौऊ' की व्याख्या करते हुए श्री वियोगी हरि कहते हैं "अद्वैतवादी वेदान्ती इस जगत को मिथ्या अथवा भ्रम मात्र कहते हैं। वे ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं और रज्जु-सर्पवत् जगत् का आभास मानते हैं। और पूर्व मीमांसा वाले अथवा द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी कर्म प्रधान जगत् को सत्य मानते हैं। एक और पक्ष है, वह जगत् को असत् और सत् दोनों ही मानता है।"[1] स्वामी दयानन्द अथवा आर्यसमाज न द्वैत न अद्वैत, न विशिष्टाद्वैत और न शुद्धाद्वैत को मानता है अपितु उनका सिद्धान्त 'त्रैतवाद' का सिद्धान्त है—त्रैत अर्थात् तीन वस्तुओं को अनादि तथा अनन्त मानना। वे तीन सत्तायें हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। कुछ लोग ईश्वर को 'सच्चिदानन्द' नाम से स्मरण करते हैं अर्थात् सत्, चित् और आनन्द। प्रकृति केवल सत् है अर्थात् अस्तित्व वाली है, वह अपनी इच्छानुकूल कोई कार्य नहीं कर सकती, जीव में एक गुण और भी है वह है चेतना का—जीव का अस्तित्व भी है और वह चेतना सम्पन्न होने के कारण कार्य करने में स्वतंत्र भी है, किन्तु उसमें भी एक गुण का अभाव है और वह है आनन्द—यह केवल ईश्वर का गुण है अर्थात् उसका अस्तित्व भी है, उसमें चेतना भी है और वह आनन्दमय भी है।

ईश्वर

ईश्वर की महत्ता तथा कार्य—सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय ही ईश्वर के गुणों तथा स्तुतियों से परिपूर्ण है। स्वामीजी ने भी अनेक स्थलों पर इस विषय में अपने विचार स्पष्ट किये हैं। सत्यार्थप्रकाश में वे लिखते हैं—"जो कुछ इस संसार में जगत् है उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है वह ईश्वर कहाता है।"[2] ईश्वर की महत्ता को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी एक मंत्र के भाष्य में लिखते हैं, "जो सबका स्वामी अन्तर्यामी व्यापक और सब ऐश्वर्य का देने वाला, जिससे कोई दूसरा ईश्वर और जिसको किसी दूसरे की सहाय की इच्छा नहीं है, वही सब मनुष्यों को इष्टबुद्धि से सेवा करने योग्य है।"[3] इसके अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रथम नियम में ही उसकी महत्ता का स्पष्ट उल्लेख है, "सब सत्यविद्या और जो पदार्थ-विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।"[4] उस महिमामय ईश्वर के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(१) 'सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता तथा हर्त्ता[5]' होना।

---

[1] विनय पत्रिका—वियोगी हरि, पृष्ठ १६०

[2] स. प्र. पृष्ठ १०९

[3] ऋग्वेद हिन्दी भाष्य प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३७

[4] स. प्र. आवरण, पृष्ठ ३

[5] वैदिक सिद्धान्त—सं. नारायण स्वामी—ले. देवेन्द्रनाथ शास्त्री, पृष्ठ २२५

(२) जीवों को उनके कर्मानुसार फल देना ।

(३) सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों को ज्ञान देना ।

ईश्वर का स्वरूप—ईश्वर का जो स्वरूप स्वामीजी को अभिप्रेत है, अन्य मतावलम्बी उससे सहमत नहीं हैं, कोई ईश्वर को साकार मानता है, कोई उसकी अनेकता में विश्वास करता है, किसी के मत में वह साकार है और किसी के दृष्टिकोण से केवल दयालु आदि है। इन विभिन्न विचारधाराओं के बीच में स्वामीजी ने अपना मत अथवा वैदिक मत अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित रूप में आर्यसमाज के द्वितीय नियम में उल्लिखित किया है, वह निम्न है —

"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।"[1] उक्त नियम में अधिकांश विशेषण सरल तथा स्पष्ट हैं, तदपि अन्य मतावलम्बियों से विभिन्नता होने के कारण उनकी विशद-व्याख्या अपेक्षित है।

(१) सत्—यह दृश्यमान जगत् प्रायः परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है, कहीं उन्नति और कहीं अवनति के, कहीं जन्म और कहीं मृत्यु के दृश्य आंखों के सामने आते हैं, पर ईश्वर के अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं होता, सृष्टि के अथ से इति तक कोई क्षण ऐसा नहीं आता जब उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाये। यजुर्वेद के एक मंत्र का भावार्थ करते हुए स्वामीजी ने लिखा है—"हे मनुष्यो ! विद्वान् ही जिसको बुद्धि बल से जानता जो सब आकाशादि पदार्थों का आधार प्रलय समय में सब जगत् जिसमें लीन होता और उत्पत्ति समय में जिससे निकलता है और जिस व्याप्त ईश्वर के बिना कुछ भी वस्तु खाली नहीं है, उसको छोड़ किसी अन्य को उपास्य ईश्वर मत जानो।"[2]

(२) चित्—ईश्वर को चेतनासम्पन्न भी कहा गया है। जड़ और चेतन में अन्तर यह है "प्रथम तो जड़ वस्तु काम ही नहीं कर सकती, दूसरे यदि चेतन के सहारे कुछ करेगी भी तो एक प्रकार का ही करती रहेगी।[3] एक घड़ी के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी, घड़ी जड़ है, अतः वह स्वयं तो चल ही नहीं सकती, चेतन मनुष्य के द्वारा चाबी दिये जाने पर भी उसकी सुईयां एक निश्चित दिशा में ही घूमेंगी, वे पीछे की ओर नहीं घूम सकतीं। अतः सारी सृष्टि में होने वाले विभिन्न परिवर्तन किसी जड़ के कारण न होकर चेतन के द्वारा ही किये जाने संभव हैं। अपनी इच्छा के अनुरूप नाना प्रकार के कार्य करने वाली शक्ति को ही आस्तिक लोग ईश्वर कहते हैं।

(३) आनन्दमय—ईश्वर की अगली विशेषता है उसका आनन्दमय होना। यजुर्वेद के कई मंत्रों में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' पद आया है—इसके 'कस्मै'[4] का अर्थ स्वामीजी ने सुख स्वरूप, सुख साधक ही किया है। मनुष्य अपनें समस्त प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिये ही

---

[1] स. प्र. आवरण, पृष्ठ ३

[2] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १०६०

[3] आस्तिकवाद—गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ १००

[4] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १०५८

करता है। साप्ताहिक सत्संग के भजनों में भी भगवान् को इसी रूप में स्मरण किया गया है 'आनन्दरूप भगवन् किस भांति तुमको पाऊं' अथवा 'हे प्रभो आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिये।'[१] श्री विद्यासागरजी ने भी लिखा है "वेद से लेकर उपनिषत् तक के साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक एक उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं और वह उद्देश्य सार्वजनीन है सर्वजनाभिलषणीय है और उसका नाम है 'सुख'।"[२] "सांसारिक सुख रोटी, कपड़ा, मकान, रोग-निवृत्ति आदि से भी एपलब्ध हो जाते हैं, पर ये सुख क्षणिक होते हैं, ये न तो ऐकान्तिक होते हैं और न आत्यन्तिक।"[३] स्थायी और सार्वकालिक सुख तो ईश्वर की शरण में ही मिलता है, अतः ईश्वर को आनन्दमय निरूपित किया गया है।

(४) **निराकार**—स्वामीजी के दृष्टिकोण से ईश्वर आकार वाला नहीं हो सकता, उन्होंने जितना खण्डन मूर्त्तिपूजा का किया है उतना संभवतः किसी अन्य दोष का नहीं, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि आर्यसमाज की आधारशिला ही निराकार ईश्वर की उपासना करना है। यजुर्वेद में स्पष्ट लिखा है 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।'[४] अर्थात् उस परमेश्वर की प्रतिमा-परिमाण उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकृति, मूर्त्ति व आकृति नहीं है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी स्वामीजी ने एक मंत्र का उद्धरण देते हुए लिखा है "परमेश्वर सब का जानने वाला....(अकायम्) सब प्रकार के शरीर से रहित, कटना और सब रोगों से रहित, नाड़ी आदि बन्धन से पृथक् है।"[५] स्वामीजी का प्रसिद्ध काशीशास्त्रार्थ इसी विषय को लेकर हुआ था, स्वामीजी के विरोध में ४० पौराणिक विद्वान्[६] थे जिनमें स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती, पं. बाल शास्त्री, माधवाचार्य आदि प्रसिद्ध थे। शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में स्वामीजी ने कहा था कि "वेदे पाषाणादिमूर्तिपूजनस्य यत्र प्रमाणं भवेत् तत् दर्शनीयम्, नास्ति चेद् वद नास्तीति।"[७] अर्थात् कहीं वेदों में पाषाण आदि मूर्त्तियों के पूजन का प्रमाण है वा नहीं? यदि हो तो दिखाइये, और जो नहीं तो कहिए कि नहीं है। इतनी स्पष्ट चुनौती के बाद भी पण्डितम्मन्य महापुरुष वेदों में मूर्त्ति पूजा का विधान नहीं दिखा सके। सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा के १६[८] दोष दिखाये हैं—

(१) साकार में मन स्थिर नहीं हो सकता। स्त्री-पुत्र, धन, मित्रादि साकार में मन फंसा तो रहता है, पर स्थिर नहीं होता।

---

१. आर्य संगीत सागर—प्र० आर्य समाज नया बांस, दिल्ली, पृष्ठ ५८

२. आचार्य ग्रन्थमाला-१ भारतीय दर्शन एवं परिचय—विद्यासागर शास्त्री, पृ० १४

३. सांख्यकारिका—सं. सीताराम शास्त्री, पृष्ठ १

४. यजुर्वेद भाषाभाष्य. पृष्ठ १०५६

५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यू. मी., पृष्ठ ३४५

६. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह—सं. भवानीलाल भारतीय, पृ. १७

७. वही, पृष्ठ २६

८. वही, पृष्ठ १९८-१९९

(२) मन्दिरों में असंख्य धन व्यय होना।

(३) स्त्री पुरुषों का मन्दिर में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई-बखेड़ा होना।

(४) मूर्त्ति को मुक्ति का साधन मान कर मनुष्य जन्म व्यर्थ गंवाना।

(५) अनेकविध मूर्त्तियां होने से, पुजारियों की एकता नष्ट होकर आपस में फूट बढ़ाकर देश का नाश करना।

(६) उसी के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मानना। सोमनाथ आदि के मन्दिर लूटे जाना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(७) किसी के बैठने के स्थान पर 'पत्थर धरने' का अभिप्राय उसे रुष्ट करना होता है। इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना के स्थान पर पत्थर रखना (मूर्त्तियां रखना) परमेश्वर को क्रुद्ध करना है।

(८) भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर देशदेशान्तर में घूमना, दुःख पाना, चोर और ठगों से पीड़ित होना।

(९) दुष्ट पुजारियों को धन देना, जिसे वे वेश्यागमन, मद्यमांसाहार आदि में व्यय करते हैं।

(१०) माता-पिता आदि का अपमान कर पाषाण-मूर्त्तियों में आस्था रख कर कृतघ्न होना।

(११) मूर्तियों के तोड़े जाने अथवा अपहृत हो जाने पर विलाप करना।

(१२) पुजारी परस्त्रियों के संग और पुजारिन परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित होकर स्त्री-पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं।

(१३) स्वामी-सेवक की आज्ञा का पालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्ध भाव होकर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

(१४) जड़ के ध्यान से आत्मा का भी जड़ बुद्धि हो जाना।

(१५) परमेश्वर द्वारा प्रदत्त स्वास्थ्यवर्द्धक सुगन्धि युक्त पुष्पादि को मूर्त्ति पर चढ़ाना, जहां कीच आदि के साथ मिल कर, सड़कर वे दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं।

(१६) पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चन्दन अक्षत आदि सब मिट्टी तथा जल से मिलकर मोरी वा कुण्ड में अत्यधिक दुर्गन्ध फैलाते हैं।

बड़ी सीधी सी बात है जो साकार होगा, वह एकदेशीय हो जायेगा, वह सर्वव्यापक नहीं हो सकता, जो सर्वव्यापक नहीं वह न तो सर्वज्ञ होगा और न अन्तर्यामी। परिमित वस्तु के गुण सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, रोग-शोक आदि भी उसमें आ जायेंगे, ऐसा ईश्वर ईश्वर नहीं हो सकेगा। इतने दोषों के रहने पर भी न केवल भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में अपितु अन्यत्र भी साकार भगवान् अथवा मूर्त्तिपूजा का प्रचार-प्रसार है। "जैनों की मूर्त्तियां नंगी, ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं।"[१] वैष्णवादि की मूर्त्तियां यथेष्ट शृंगारित स्त्री

---

[१] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १९४

के सहित रंग, राग, भोग विषयासक्ति से युक्त है, ईसाई भी यीशु की मूर्त्ति अपने गले में डाले रहते हैं और बुतशिकन मुसलमानों में भी ताजिये तथा कब्र पर चादर आदि चढ़ावे के रूप में इसका अस्तित्व है। स्वामीजी को यदि मूर्त्तिपूजा के खण्डन का आग्रह न होता तो वे सफल संसारी कहे जाते। एकबार एकान्त में महाराणा ने उनके सामने प्रस्ताव रखा था कि वे मूर्त्ति पूजा का खण्डन छोड़ दें, "आप एकलिंग के मंदिर के महन्त बन जावें। कई लाख रुपये पर आपका अधिकार हो जावेगा और एक अर्थ में यह राज्य भी आपके अधीन रहेगा।"[१] किन्तु स्वामीजी किसी भी मूल्य पर असत्य को ग्रहण नहीं कर सके।

अनेक व्यक्तियों का विश्वास है कि ईश्वर ने मनुष्य का निर्माण किया है, पर मूर्त्तिपूजा में आस्था रखने वाले तो स्वयं ईश्वर का निर्माण करते हैं। उर्दू के एक शायर ने लिखा है "बुतपरस्तों का दस्तूर निराला देखो। खुद तराशा है पर नाम खुदा रखा है।"[२] वास्तव में पूजा मूर्त्ति की या चित्र की नहीं होती, पूजा तो चरित्र की की जाती है। इन मूर्त्ति-पूजकों के तथाकथित ईश्वर के सम्बन्ध में क्या विचार हैं, ये एक घटना से स्पष्ट हो जायेंगे। एक बार दिल्ली में कुछ मूर्त्तिभंजक एक मंदिर में घुस गये और वहाँ की सम्पत्ति को उन्होंने लूटा, मूर्त्तियों को तोड़ा—बेचारे पुजारीजी किसी तरह अपने आपको एक चटाई में छिपाये रहे। बाद में एक सज्जन ने उनसे पूछा—उस समय उन्हें किस बात की सबसे अधिक चिन्ता थी? उन्होंने उत्तर दिया कि अपने लड़के की। यह पूछने पर कि तुम्हें देवताओं की मूर्त्तियों के टूट-फूट जाने का कोई गम नहीं है? वे कहने लगे, "अजी वह तो जयपुर से यहां फिर आ जायेंगे, कोई दो रुपये का, कोई चार रुपये का, कोई आठ का, लेकिन मेरा बेटा कहां से आ जाता?"[३]

स्वामीजी की विचारधारा के अनुसार मूर्त्तिपूजा का प्रारम्भ जैनियों द्वारा किया गया है और इसका कारण भी उनकी अपनी मूर्खता था,[४] कहने की आवश्यकता नहीं, जब मूर्त्ति-पूजा ही न्यायसंगत नहीं तो उसकी स्थापना, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा आदि करना भी व्यर्थ ही है। पौराणिकों के परम समादरणीय ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' में तो पाषाणादि में पूज्य बुद्धि रखने वालों को 'गधे' की संज्ञा से विभूषित किया गया है—

> "यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
> यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिच्चिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥"[५]

अर्थात् जो मनुष्य भूमि में से उत्पन्न काष्ठ पाषाणादि में पूज्य बुद्धि रखते हैं तथा विद्वानों को छोड़कर पानी में तीर्थ बुद्धि रखते हैं वे गधे के समान हैं। इतने कठोर शब्दों का प्रयोग तो स्वामीजी ने भी नहीं किया है। स्वामीजी ने प्रबलतम शब्दों में मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया है, किन्तु अवसर मिलने पर भी उन्होंने कभी मूर्त्ति का खण्डन नहीं किया, वे दिखावा नहीं अपितु मानसिक शुद्धि चाहते थे।

---

१. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग २—घासीरामजी, पृष्ठ ३०१
२. पं० रामचन्द्र देहलवी लेखावली, पृष्ठ ३२
३. वही, पृष्ठ १०० ४. स. प्र., पृष्ठ १९४
५. श्रीमद्भागवत महापुराणम् १०।८४।१३, पृष्ठ ६४७

(५) **सर्वशक्तिमान्**—ईश्वर की एक अन्य विशेषता उसका सर्वशक्तिमान् होना है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है 'अर्चा शक्राय शाकिने'[1] अर्थात् शक्ति प्राप्ति के लिये तू उसी सर्वशक्तिमान् को पूज। ईश्वर सृष्टि की समस्त वस्तुओं को नियमों द्वारा अपने शासन में रखता है, शासन करने के लिये उसका प्रबल होना आवश्यक है। गंगाप्रसादजी उपाध्याय के अनुसार 'सर्वशक्तिमान्' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—१. "सर्वा शक्तयो अस्य सन्तीति सर्वशक्तिमान्' अर्थात् जिसमें सब शक्तियां रहती हैं। २. जो सब शक्तिमान् पदार्थों से अधिक हो।"[2] सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ प्रायः लोग यह समझते हैं 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' अर्थात् करना न करना अथवा परिवर्तित कर देना। इसमें ऐसी गंध आती है कि ईश्वर जो चाहे वह कर सकता है। यह सत्य है कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है, पर नियमों के विरुद्ध नहीं, वह लाख प्रयत्न करने पर भी बबूल के पेड़ में आम नहीं लगा सकता, इतना भारी पत्थर नहीं बना सकता जो स्वयं उसी से न उठे, व्याभिचार अथवा अनाचार नहीं कर सकता। इस शब्द का सीधा अभिप्राय यही है—"ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता।"[3]

विभिन्न मतावलम्बियों ने सर्वशक्तिमान् का अर्थ अन्यथा ही लिया है, वे अपने आराध्य को सर्वश्रेष्ठ बताने के लिये उससे ऐसे कार्य करवाते हैं जो सर्वथा विज्ञानविरुद्ध तथा बुद्धिविरुद्ध है, उनके दृष्टिकोण से ईश्वर का नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसी बात को लोगों ने चमत्कार, Miracles और मोज़जे का नाम दिया है। किसी ने कहा—गया में श्राद्ध करने से पितरों के पाप छूट जाते हैं, किसी ने कहा रामेश्वर में गंगोत्तरी का जल चढ़ाते समय लिंग बढ़ जाता है, किसी ने बताया कि स्थान विशेष पर मूर्त्ति हुक्का पीती है तथा अन्यक्षेत्र के पाप काशी में विनष्ट हो जाते हैं, कोई प्रचार करता है कि यीशुमसीह के छूने से कोढ़ दूर हो गया और किसी के मतानुसार 'चांद हजरत की आस्तीन से निकला। यह शक्कुल कमर-चांद के दो टुकड़े करने का मौजज़ा है।'[4] थियोसोफिस्ट सोसायटी की संस्थापिका मैडम ब्लावट्स्की को भी इन चमत्कारों में बहुत विश्वास था। अमेरिका में इन मैडम के किंग जार्ज की आत्मा प्रवेश करती थी, भारत में हिमालय निवासी महात्माओं से उन्हें सीधे संदेश मिलने लगे। आर्यसमाज और थ्योसोफी के पृथक् होने के कारणों में एक कारण यह भी था 'वे हिमालयवर्ती किन्हीं कल्पित महात्माओं के, और उनके गुप्त संदेशों में विश्वास रखते थे। वे सिद्धियों के नाम पर चमत्कारों को मानते और उनका दावा भी करते थे।'[5] स्वामीजी को इन बाजीगरों के खेलों में बिल्कुल विश्वास नहीं था। सर्वशक्तिमान् नियमों का उल्लंघन कर ही नहीं सकता क्योंकि 'नियम बनाना ज्ञान का काम है और उनका अक्षरशः पालन करना शक्ति का।'[6]

---

१. वेदप्रकाश (वैदिक धर्म विशेषांक) अगस्त १९६२, पृष्ठ २१

२. आस्तिकवाद—गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ १४६ ३. स. प्र., पृष्ठ १११

४. चमन इस्लाम की सैर—पं. शिवशर्मा, पृष्ठ ४७

५. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथमभाग—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १२२

६. आस्तिकवाद—गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ १४९

(६) **न्यायकारी तथा दयालु**—ईश्वर के नाम के साथ ये दोनों विशेषण एक साथ लगाना लोगों को बड़ा विचित्र सा लगता है, लोगों को ये शब्द परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। एक मनुष्य कोई चोरी अथवा कोई पाप करता है और उसे ईश्वर के समक्ष (Confess) स्वीकार कर लेता है और क्षमायाचना करता है। यदि ईश्वर उसे क्षमा कर देता है तो वह न्यायकारी नहीं रहता और यदि नहीं करता तो उसकी दयालुता में अन्तर आ जाता है। स्वामीजी के दृष्टिकोण से इन दोनों शब्दों में कोई अन्तर नहीं है, एक आंतरिकवृत्ति है और दूसरा उसका बाह्य प्रकाश। स्वामीजी ने लिखा है, 'जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो। वही दया कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना।'[१] कुरान में भी स्थान-स्थान पर यही लिखा है कि 'अल्लाह क्षमा करने वाला दयालु।'[२] 'पालन करने हारा है सब संसार का, क्षमा करने वाला दयालु है।'[३] तथा 'वह कि जिसको चाहेगा क्षमा करेगा जिसको चाहे दण्ड देगा।'[४] इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि अल्लाह दयालु है तथा क्षमाकारी भी पर वह नियमों में बंधा हुआ नहीं है, इस विषय में वह पूर्ण स्वच्छंदता का व्यवहार करता है। ईसाई मत में ईश्वर के न्यायी होने के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध बातें कही गई हैं 'क्योंकि खुदा के यहां किसी की तरफदारी नहीं है।'[५] तथा 'क्योंकि मैं खुदाबन्द तेरा खुदा ग़य्यूर (स्वभिमानी) खुदा हूं और बापदादों की बदकारियों की औलाद पर जो मुझ से अदावत रखती है तीसरी और चौथी पुश्त तक पहुंचाता हूं।'[६] वैदिक ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न होने पर भी नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता, प्रत्येक जीव को 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृताकर्म शुभाशुभम्' के अनुसार फल भोगना ही पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'करमप्रधान विस्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा'[७] के रूप में इसका समर्थन किया है। आजकल जो लोग भोले व्यक्तियों को यह आश्वासन देते हैं कि केवल एक बार गीता, गंगा और गायत्री का नाम ले लेने से अथवा यीशुमसीह की शरण में आने से सब पाप नष्ट हो जायेंगे, वह केवल प्रवंचना है। ईश्वर की सृष्टि में कुछ कर्मों का फल इसी जीवन में और कुछ का अगले जन्म में भी भोगना पड़ता है।

(७) **अजन्मा, अनादि तथा अनन्त**--जिसने जन्म लिया है, उसका मरण निश्चित है और जिसका अन्त है उसका जन्म लेना भी आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्पष्ट कहा गया है, ''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।''[८] ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में ईश्वर को अज अथवा अजन्मा कहा गया है—'अजो न क्षां दाधार'[९], तथा 'शन्नो अज एकपाद्देवो।''[१०]

---

१. स. प्र., पृष्ठ ११०
२. वही, पृष्ठ ३३७
३. वही, पृष्ठ ३३७
४. वही, पृष्ठ ३४९
५. पं. रामचन्द्र देहलवी लेखावली, पृष्ठ १६३
६. वही, पृष्ठ १६३
७. रामचरितमानस—अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५०७
८. श्रीमद्भगवद्गीता—अनु. शंकरलाल जिंदल, पृष्ठ २४
९. ऋग्वेद हिन्दीभाष्य प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३५७
१०. ऋग्वेद भाषाभाष्य, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ८५९

अनादि पदार्थ का निरवयव होना आवश्यक है क्योंकि वस्तु का बनना और बिगड़ना उनके संयोग या वियोग पर ही निर्भर होता है, अतः अजन्मा होने के कारण ईश्वर भी निरवयव है। 'अज' होने के साथ साथ ईश्वर के लिये वेद में 'अनन्त' शब्द का प्रयोग भी किया गया है 'अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।'[1]

(८) **निर्विकार**—विकार अथवा परिवर्तन उसमें ही संभव है जो सावयव हो, निरवयव में संयोग अथवा वियोग न होने के कारण कोई परिवर्तन या विकार संभव नहीं है। पौराणिक लोग 'विष्णु' को अन्य अनेक नामों के अतिरिक्त 'अच्युत' नाम से भी स्मरण करते हैं, अच्युत का अर्थ आप्टे के शब्दकोश में दिया है 'Not fallen, firm, fixed'[2] अर्थात् जो गिरे नहीं (परिवर्तित न हो) तथा दृढ़ एवं स्थायी हो। यदि ईश्वर में भी विकार आना प्रारम्भ हो जाये तो उसके भी दो रूप हो जायेंगे अर्थात् विकृत और अविकृत, दोनों की तुलना में एक कम और एक अधिक हो जायेगा, अतः ऐसी संभावना भी भक्तों के लिए अकल्याणकारी होगी।

(९) **अनुपम**—ऋग्वेद के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने लिखा है—"सब मनुष्यों को उचित है कि सब सुख और शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए परमेश्वर ही की प्रार्थना करें, क्योंकि वह अद्वितीय सर्वमित्र परमैश्वर्य वाला अनन्त शक्तिमान् ही का उक्त पदार्थों को देने में सामर्थ्य है।"[3] जिस भगवान् ने द्युलोक, पृथ्वी लोक और स्वर्ग को धारण कर रखा है, सृष्टि के कोने-कोने में जिसकी कारीगरी के दर्शन किये जा सकते हैं उसकी तुलना किससे की जाय, उसकी उपमा किससे दी जाय। जिस ईश्वर में सभी उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं, उसके किसी एकाध गुण की छाया तो किसी में पड़ सकती है पर उसकी पूर्ण तुलना किसी से नहीं की जा सकती। काव्य की भाषा में यदि कहा जाय तो वह 'अनन्वय' का विषय है, उपमा का नहीं। उसके जैसी व्यवस्था तो किसी अन्य के द्वारा संभव नहीं है, अतः सर आइन्स्टाइन महोदय ने कहा है—"I believe in God....who revoeals himself in the orderly harmony of The Universe"[4] अर्थात् मैं ऐसे ईश्वर में विश्वास करता हूं जो अपने आपको सासारिक सुव्यवस्था के रूप में प्रकट करता है।

(१०) **सर्वाधार**—'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां'[5] अर्थात् वह ईश्वर इस भूमि और सूर्यादि को धारण करने वाला है, जो इन विशाल लोकों का आधार है उसका आधार क्या होगा? पौराणिकों का विश्वास है कि पृथ्वी कच्छप अथवा शेषनाग पर आधृत है, किन्तु यह परिकल्पना सत्य नहीं है। यदि ईश्वर को इस प्रकार सृष्टि का आधार माना जाय तो उसे भी साकार मानना होगा, जो कि वैदिक मत के विरुद्ध है।

---

[1] वेदप्रकाश : वैदिक धर्म विशेषांक—अगस्त ६२, पृष्ठ २६
कुरान में भी उसे इसी रूप में चित्रित किया गया है 'हुवल अव्वलो वल् आखिरों' अर्थात् ईश्वर आदि में है और अन्त में है।—इस्लाम के दीपक, पृष्ठ ३४४

[2] The Students' Sanskrit English Dictionary—V. S. Apte, p. 7

[3] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ५१

[4] वेदप्रकाश जून १९६४, पृष्ठ १६

[5] संस्कारविधि, पृष्ठ ३

(११) **सर्वेश्वर**—इसका सीधा अर्थ तो यही है कि सबका ईश्वर अर्थात् जो सबका अधिपति है। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में भगवान् के जिन नामों की चर्चा की है, उसमें ईश्वर भी एक है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए वे लिखते हैं, ''यः ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्तते स ईश्वरः जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम ईश्वर है।''[1] उपनिषद्कारों का कथन है कि ''अंतर्यामी होने से ब्रह्मा से लेकर क्षुद्रकीटपर्यन्त जीवों की बुद्ध्यादि का नियमन करने से भगवान् ईश्वर कहाते हैं।''[2] इस शब्द का एक निर्वचन इस प्रकार भी किया गया है ''ईशनात् रमणाच्च ईश्वरः'' अर्थात् ''ईशण करने तथा जगन्निर्माण की क्रीड़ा करने से भगवान् ईश्वर कहाते हैं।''[3] श्रीमद्भगवद्गीता के १८वें अध्याय में भी भगवान् को इस नाम से अभिहित किया गया है ''ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।''[4] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो सम्पूर्ण जगत् का अधिपति, नियामक तथा उसमें रमण करने वाला है वह ईश्वर है तथा सब चराचर पर शासन करने के कारण वह सर्वेश्वर है।

(१२) **सर्वव्यापक-सर्वान्तर्यामी**—ईश्वर के इस गुण की चर्चा अनेकों हिन्दी कवियों ने अपने गीतों तथा भजनों में की है। सृष्टि के जिस कण की ओर उन्होंने दृष्टिपात किया है, वहाँ व्याप्त विभु ही दृष्टिगोचर हुआ है ''रवि चन्द्र और तारे, तूने बनाये सारे। इन सबमें ज्योति तेरी इक जगमगा रही है।''[5] रामनरेश त्रिपाठी के 'तू आव है रतन में, सौन्दर्य है सुमन में। तू शान है किरण में, विस्तार है गगन में।'[6] तथा प्रकाशजी के 'फूलों में ज्यों सुवास ईख में मिठास है। भगवान का त्यों विश्व के कण कण में वास है''[7] में यही भावना दृष्टिगोचर हो रही है। मूर्त्तिपूजक लोग भी प्रायः यह युक्ति दिया करते हैं कि घटघटव्यापी भगवान् मूर्त्ति में भी विद्यमान है, अतः उसकी पूजा की जानी चाहिये। प्रश्न यह है कि जब भगवान् मूर्त्ति के अन्दर भी है और बाहर भी तो अन्दर वाले को ही क्यों प्राथमिकता दी जाये। एक व्यक्ति मुझ से मिलने के लिए आता है, मैं घर के बाहर ही उसे मिल जाता हूं, उस स्थिति में उसे यह कहने की आवश्यकता तो नहीं रहती कि वह घर के अन्दर ही मिलेगा। दूसरी बात यह भी है कि न भक्त मूर्त्ति के अन्दर प्रविष्ट हो पाता है और न मूर्ति का ईश्वर निकल कर बाहर आ पाता है। व्याप्य सदा स्थूल रहता है और व्यापक सूक्ष्म। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि कर्ता अपने कर्म में व्यापक होता है, पर यह बात सर्वथा सत्य नहीं है, घड़ी बनाने वाला घड़ी में व्यापक नहीं होता तथा कुम्हार घड़े में व्यापक नहीं होता। वस्तुतः जब हम यह कहते हैं कि अमुक कार्य व्यक्तिविशेष ने किया तो उसमें उस व्यक्तिविशेष का ही हाथ नहीं होता अपितु एक अदृश्य शक्ति भी वहां कार्य करती है। लोग कहते हैं कि शाहजहां ताजमहल का निर्माता था, किन्तु निर्माता शब्द के शाब्दिक अर्थ में वह निर्माता नहीं हो सकता, उसने

---

[1] स. प्र., पृष्ठ ४

[2] अष्टोत्तरशतनाममालिका, पृष्ठ ५३ [3] वही, पृष्ठ ५४

[4] श्रीमद्भगवद्गीता—अनु. शंकरलाल जिंदल, पृष्ठ २७४

[5] आर्य संगीत सागर, पृष्ठ २९ [6] वही, पृष्ठ ४०

[7] प्रकाश गीत, प्रथम भाग—प्रकाशचन्द कविरत्न, पृष्ठ २

इच्छा प्रकट की, रुपया दिया पर बनाया उसे कारीगरों ने ही। इसके अतिरिक्त कुछ क्रियायें ऐसी भी थीं जिन पर मनुष्य का बस नहीं था, यथा "समय पर सूर्य का निकलना, वर्षा का होना, पृथ्वी का समस्त वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करना आदि।"[१] ये अदृश्य शक्तियां भी निर्माण कार्य में व्यापक थीं, शाहजहां तथा कारीगर आदि निर्माण कार्य में आंशिक रूप से व्यापक थे और अन्य अदृश्य शक्तियां कुछ अधिक रूप में, ये अदृश्य शक्तियां नियमानुकूल होने के कारण ईश्वरीय हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि ईश्वर प्रत्येक कार्य में प्रत्येक स्थिति में व्यापक रहता है। 'सर्वव्यापक ईश्वर ने अपने कौशल शक्ति से प्रत्येक पदार्थ को उसके भीतर रहते हुए उत्पन्न किया है।"[२] जो व्यापक है वही अंतर्यामी है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक न हो 'तो सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका सृष्टा, सबका धर्ता और प्रलयकर्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्ता की क्रिया का होना[3] असंभव है।'[४] कुछ मतावलम्बी ऐसे भी हैं जो ईश्वर को व्यापक कहते हैं और साथ ही साथ चौथे आसमान अथवा सातवें आसमान पर उसका निवास भी घोषित करते हैं।

(१३) **अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र**—वार्धक्य और मृत्यु को प्राप्त होना शरीरधारी के ही गुण हो सकते हैं। जिसने शरीर धारण किया ही नहीं है उसे न बुढ़ापा सता सकता है और न मृत्यु ही उसे अपने क्रोड़ में ले सकती है। ईश्वर अनन्त तथा अनादि होने से इन बन्धनों से मुक्त है। वेद में कई स्थानों पर उसे 'वृहन्तमृष्वमजरं" तथा 'देवं मर्त्त अमर्त्यम्'[५] नामों से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार भयभीत भी वही हो सकता है जो शरीरी हो, सड़क पर पड़े हुए पत्थर को न जाड़े का भय होता है न गर्मी का, न उसे न्यूमोनिया की चिन्ता होती है और न लू लगने की। दूसरी बात यह भी है कि भय उसी को लगता है जो किसी की अपेक्षा शक्तिहीन अथवा कम सामर्थ्यवाला हो। सर्वशक्तिमान् के सम्बन्ध में तो इस प्रकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो अनादि है और अनन्त है वह नित्य तो होगा ही, वह भी नित्य होगा और उसके गुण भी अपरिवर्तनशील अथवा नित्य होंगे। ईश्वर का प्रत्येक कार्य पवित्र है क्योंकि वह प्राणी मात्र के कल्याण की कामना से किया जाता है, उसका आचरण भी न्यायपूर्ण 'पक्षपातराहित्यं न्यायः' होता है मलिनता उसके कार्यों में संभव ही नहीं है, अतः प्रभु का यह विशेषण भी उपयुक्त ही है।

(१४) **सृष्टिकर्त्ता**—उपर्युक्त नियम में भगवान् का अंतिम गुण सृष्टिकर्त्ता होना है। सृष्टिकर्त्ता को जानने से पहले 'सृष्टि' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। सृज् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ हुआ 'बनी हुई चीज।'[६] इसी का दूसरा पर्याय

---

[१] आस्तिकवाद, गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ १३९

[२] पं० रामचन्द्र देहलवी लेखावली, १५१

[३] होना शब्द छूट गया है। मीमांसकजी के संस्करण में इसे कोष्ठक में रखकर जोड़ दिया गया है।

[४] स. प्र. पृष्ठ ११०

[५] वेदप्रकाश : वैदिक धर्म विशेषांक—अगस्त ६२, पृष्ठ ३३-३४

[६] आस्तिकवाद, पृष्ठ ५६

है संसार जिसका अर्थ होता है 'बहना वा निकलना।' इसी अर्थ में प्रयुक्त होने वाला तीसरा शब्द है 'जगत्'—जो गम् धातु से बनता है और जिसका अर्थ होता है चलना। "इसलिये यह तो सिद्ध ही है कि अति प्राचीनकाल से विद्वान् लोग सृष्टि को रची हुई, निकली हुई या चलती हुई वस्तु मानते रहे हैं।"[1] अतः यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि सृष्टि अनित्य है। इसकी रचना-प्रक्रिया पर 'प्रकृति' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जायेगा, यहां तो केवल इतना ही अभिप्रेत है कि उसका कर्ता ईश्वर है। 'एक अरब छियानवें करोड़ कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् को उत्पत्ति में हुए हैं।'[2]

सृष्टिरचना का प्रयोजन—प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भगवान् पूर्ण है, उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं तो उसने सृष्टि का निर्माण क्यों किया ? कोई कहता है कि इसका कारण 'एकोऽहं बहुस्याम' वाली भगवान् की इच्छा है, दूसरा कहता है "तूने जहां बनाकर अहसान क्या किया है। बस खेलने का अपने सामान कर लिया है।" यदि सृष्टिरचना के ये ही कारण माने जायें तो यह विचार करना होगा कि भगवान् ने अपनी इच्छा इससे पहले क्यों पूर्ण नहीं कर ली और यदि उसने इसे अपनी इच्छा पूर्ण करने अथवा मनोविनोद के लिए बनाया है तो जीव उस का कृतज्ञ क्यों हो, उसकी उपासना क्यों करे ? ईश्वर पूर्ण है, उसका ज्ञान पूर्ण है और उसकी व्यापकता भी पूर्ण है, किन्तु उसके पूर्ण होने का किसी को क्या लाभ ? इस पूर्णता का साफल्य तभी होगा जब इसका लाभ किसी अन्य को मिले। इस सृष्टिरचना का प्रयोजन यही है कि जीव उससे लाभान्वित हो। भगवान् के कर्त्तव्यों में एक कर्त्तव्य यह भी है कि वह जीवों को उनके कर्मानुसार फल दे और यह फल इस सृष्टि के माध्यम से दिया जा सकता है। सृष्टि की रचना करने से ही ईश्वर का अस्तित्व सफल होता है, "वह आलिम है, वह आलिमेकुल है। इल्म हमेशा जाहिलों में सफल होता है। ताकत हमेशा कमजोरों की रक्षा में सफल होती है और रोशनी हमेशा अंधेरे में सफल होती है।"[3] ईश्वर को ज्ञात है कि जीव अल्पज्ञ है तथा दुर्बल, अतः इन अभावों को दूर करने के लिए उसने सृष्टि की रचना की है, इसलिए उसके संबंध में कहा जाता है 'य आत्मदा बलदा।'[4] अर्थात् जो आत्मिक व शारीरिक शक्ति देने वाला है। जीवात्मा केवल 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा के रूप में 'Compound of Elements'[5] ही नहीं है क्योंकि इन तत्त्वों के मिलने से वह ज्ञानवान् नहीं हो सकता। इन तत्त्वों में चेतनता नहीं है और कई अचेतन जुड़ कर भी एक चेतन नहीं बना सकते, क्या कोई स्वीकार करेगा कि चार बी. ए. मिल कर एक पीएच. डी. के समान हो जायेंगे। आत्मा का अर्थ है Self अथवा अपनापन तथा जो दूसरे में व्यापक हो सके, अपने आपे को गैर में बढ़ा सके। ईश्वर इसी सृष्टि के माध्यम से ही अपनेपन अथवा अपने गुणों का विस्तार जीवात्मा में करता है। भगवान् ने "इसलिए अपनी कारीगरी को जाहिर किया प्रकृति के जरिये से और इल्म को जाहिर किया जीवात्मा के जरिये से।"[6] जीवात्मा में जो

---

[1] आस्तिकवाद, पृष्ठ ५६

[2] स. प्र. पृष्ठ १८१

[3] पं० रामचन्द्र देहलवी लेखावली, पृष्ठ ६४

[4] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ ९१०

[5] भूतों का संघात

[6] पं० रामचन्द्र देहलवी लेखावली, पृष्ठ ६७

तीन कमियां (ज्ञान, पहुंच और शक्ति) हैं, वे ईश्वर के द्वारा सृष्टि के माध्यम से ही पूर्ण होती हैं। मनुष्य जो काम करता है, वह किसी गरज अथवा स्वार्थ से करता है, ईश्वर के विषय में भी उसका ऐसा ही विचार है कि उसने भी किसी गरज से सृष्टि का निर्माण किया होगा। ईश्वर को शक्तिशाली एवं पवित्र कहा गया है, वह इसीलिए कि वह शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता और जीवात्मा को उचित मार्गदर्शन कर पुण्य कार्य करता है।

सगुण-निर्गुण—कुछ लोगों का विश्वास है कि साकार और सगुण होना एक ही बात है किन्तु स्वामीजी ईश्वर को सगुण तो मानते हैं साकार नहीं और ईश्वर निर्गुण भी होता है। सगुण-निर्गुण की परिभाषा स्वामीजी ने बड़ी सीधी-सी दी है जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है।[1] अनन्त, निर्विकार, सर्वशक्तिमान् आदि गुणों से विभूषित होने के कारण परमेश्वर सगुण कहाता है और जड़त्व, अल्पज्ञता, द्वेषादि गुणों के न होने से वह निर्गुण कहलाता है। स्वामीजी के दृष्टिकोण से न केवल ईश्वर अपितु प्रत्येक पदार्थ सगुण तथा निर्गुण होता है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में कुछ गुण विद्यमान होते हैं और कुछ का उनमें अभाव होता है।

ईश्वर अवतार नहीं लेता—अवतार शब्द का जो अर्थ 'नालन्दा विशाल शब्द सागर' में दिया हुआ है वह है—१. प्रादुर्भाव २. उतरना, नीचे आना, ३. जन्म ग्रहण, शरीर धारण करना।[2] ये सभी अर्थ किसी साकार में ही संभव हो सकते हैं, निराकार में नहीं—प्रादुर्भाव उसका हो सकता है जो नश्वर है, नित्य का प्रादुर्भाव असंभव है, उतरेगा वही जो एकदेशीय हो जो एक स्थान पर न हो, वही वहां उतर कर आ सकेगा किन्तु जो सर्वव्यापक है, उसका कहीं भी उतरना या चढ़ना संभव नहीं हो सकता। जन्म ग्रहण के संबंध में भी यही कहा जा सकता है कि जिसकी मृत्यु होती है वही जन्म ग्रहण कर सकता है। अजर, अमर, अविनश्वर ईश्वर न जन्म ग्रहण कर सकता है और न मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार शब्द का जो अर्थ है, वह ईश्वर के प्रसंग में संभव ही नहीं। इतना स्पष्ट अर्थ होने पर भी अनेक मतावलम्बियों ने अनेक अवतारों की कल्पना की है, सनातनी, बौद्ध, जैन इस्लामी और ईसाई मतावलम्बी आदि कोई भी इसका अपवाद नहीं है।

अवतारवाद को न्यायसंगत बनाने के लिये कुछ लोग श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के सातवें श्लोक का प्रमाण उपस्थित करते हैं। श्लोक इस प्रकार है "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः। अभ्युत्थानमऽधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।"[3] अर्थात् जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूं। स्वामीजी ने इसके अप्रामाणिक होने का पहला कारण यह दिया है 'यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं।'[4] फिर उन्होंने यह संभावना व्यक्त की है कि श्रीकृष्णजी क्योंकि धर्मात्मा थें, इसलिए दुष्टदलन के लिये उन्होंने जन्म ग्रहण किया। इस प्रसंग को समर्पणभाष्य में और अच्छी प्रकार

---

[1] स. प्र., पृष्ठ १२४

[2] नालन्दा विशाल शब्द सागर—नवलजी, पृष्ठ ९६

[3] श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ ११२

[4] स. प्र., पृष्ठ ११७

व्यक्त किया गया है। यह कथन भगवान् का न होकर श्रीकृष्णजी का है "क्योंकि यदि श्रीकृष्ण अपने को भगवान् समझते तो गीता के अन्त में "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति....। इस प्रकार न कहते। यहां कहा गया है कि हे अर्जुन! ईश्वर सबके हृदय में विराजमान है, तू उसकी शरण में जा।"[1] यदि मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगिराज श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार समझा जाये तो उनकी महत्ता ही नष्ट हो जाती है, जो कुछ इन महानुभावों ने किया वह मनुष्य के लिये तो एक अद्भुत कार्य है किन्तु भगवान् के लिये वह बहुत ही साधारण कार्य है। महापुरुष के जीवन का तो सामान्यजन अनुकरण कर लेते हैं किन्तु भगवान् को तो वे पूजा अथवा श्रद्धा की ही वस्तु समझ लेते हैं।

ईश्वर में अविश्वास—ईश्वर के सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी आज की पीढ़ी उस सत्ता में प्रायः विश्वास नहीं करती। इस अविश्वास के कई कारण हैं—

१. परिवार में ईश्वर भक्ति या पूजा का न किया जाना—आज के विषाक्त वातावरण में लोग पूजा को केवल आडम्बर ही समझते हैं और ईश्वर की अपेक्षा उनके लिए नेता, अभिनेता या अभिनेत्री अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

२. विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा ईश्वर का गलत रूप में प्रस्तुत किया जाना—कोई कहता है कि ईश्वर बछड़े का मांस खाता है, कोई कहता है कि ईसाइयों के लिये युद्ध करता है, कोई उसको रोग बढ़ाने वाला बताता है और कोई मुर्दों को जिलाने वाला; किसी का ईश्वर अपने धर्मग्रन्थ की कसम खाता है और कोई अपने मतावलम्बियों का ही पक्षधर होता है। इन तर्कविरुद्ध और विज्ञानविरुद्ध चर्चाओं से व्यक्तियों का विश्वास भगवान् से उठ जाता है।

३. तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि प्रार्थना करने पर भी मनुष्य की इच्छा का पूर्ण न होना—अनेक व्यक्ति लाटरी के टिकिट खरीदते हैं और कई माह तक भगवान् से प्रार्थना करते हैं, किन्तु लाटरी का धन किसी एक को ही मिलता है, शेष जन कहते हैं कि जो हमारी इच्छा को पूर्ण न कर सके वह ईश्वर नहीं। यदि प्रत्येक विद्यार्थी इच्छा करने मात्र से ही परीक्षा में सर्वोत्तम अंक प्राप्त कर ले, तो अध्ययन की ओर कौन प्रवृत्त होगा। इच्छा पूर्ण करवाने के लिये सत्प्रयास परमावश्यक है और उसके बाद भी हमें वही प्राप्त होगा जो हमारे लिए श्रेयस्कर है। सामान्य चिकित्सक भी रोगी की इच्छानुरूप औषधि तथा पथ्य उसे नहीं बताते, जो उसके लिये हितकर होता है, उसी का वे निर्देश करते हैं।

४. पापियों का सुखी तथा पुण्यात्माओं का दुःखी होना—जीव को अपने कर्मों, का ही फल मिलता है, किन्तु कभी-कभी हम कार्य और कारण में गलत संबंध स्थापित कर लेते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी "एक व्यक्ति ने चोरी की और फिर सन्ध्या करने लगा। पुलिस आई और उसे पकड़ कर ले गई। इस व्यक्ति को सन्ध्या करने के कारण नहीं पकड़ा गया। पापियों को सुख और पुण्यात्माओं को दुःख पूर्व जन्म के कर्मों के कारण है।"[2]

५. इसी प्रकार कुछ अन्य कारण भी यथा घातक का न पकड़ा जाना और निर्दोष का फंस जाना, विद्वानों का निर्धन तथा मूर्खों का धनी होना, भगवान् के कार्यों में मनुष्य के कार्यों

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता समर्पणभाष्य—समर्पणानन्द सरस्वती, पृष्ठ ९९

[2] पं. रामचन्द्र देहलवी लेखावली, पृष्ठ ४३

के समान व्यवस्था न दिखाई देना आदि ये सभी संयोग अथवा मिथ्या धारणायें हैं। प्रश्नों की गंभीरता में जाकर उनके उत्तर हमें स्वयं मिल जाते हैं। सच्चे ईश्वर विश्वासी तो भगवान् के द्वारा प्रेषित विपत्ति का भी उसी प्रकार स्वागत करते हैं जिस प्रकार सम्पत्ति का।

ईश्वर प्राप्ति—'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि ईश्वर इन्द्रियग्राह्य नहीं है 'न चक्षुषा गृह्यते....' अर्थात् वह आंख से नहीं देखा जा सकता, दूसरे की वाणी के उपदेश से वह नहीं मिलता, अन्य इन्द्रियों से भी उसका ग्रहण नहीं होता।[1] उसको ग्रहण करने के साधन कुछ और हैं। यों देखा जाये तो वह हृदय में व्याप्त है....प्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसी ? यह सच है वह तो हम से दूर नहीं है, पर हम उससे अवश्य दूर हो रहे हैं।'[2] लोक में भी कई बार ऐसा होता है हाथ में रखे हुए रूमाल अथवा जेब में लगे हुए पैंन को हम काफी समय तक ढूंढते रहते हैं। ईश्वर की प्राप्ति के कुछ साधन निम्न हैं—

(क) सृष्टि रचना का ज्ञान प्राप्त करना।
(ख) वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन।
(ग) सद्गुरुओं का उपदेश तथा सत्संग।
(घ) ज्ञान प्राप्ति एवं वैराग्य का समुदय।
(ङ) इन साधनों के उपरान्त ईश्वर की उपासना करना।

उपासना अर्थात् (उप+आसन) भगवान् के समीप बैठना, इसका ईश्वर प्राप्ति से निकटस्थ सम्बन्ध है। "व्यवहारिक दृष्टि से उपासना के दो अंग हैं—१. प्रार्थना और दूसरा ध्यान।"[3] ध्यान की चर्चा योग के अष्टांगों में है और प्रार्थना से तात्पर्य है कि ईश्वर के गुणों का गान करना तथा उसे साक्षात् मानकर उससे सहायता की याचना करना। ऐसे समय आत्मा को अनुभव होने लगता है कि वह किसी बड़ी शक्ति के साथ है। स्तुति, प्रार्थना, उपासना न तो ईश्वर की खुशामद के लिए है और न उस पर अहसान लादने के लिए। इनसे स्वयं अपनी आत्मा पवित्र होती है। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है, "स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानिता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसको साक्षात्कार होना।"[4]

जीव

परिभाषा—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में जीव की परिभाषा स्वामीजी ने निम्न प्रकार से दी है—"जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को 'जीव' मानता हूं।"[5] इस परिभाषा का आधार 'इच्छा द्वेषप्रयत्न....'न्यायसूत्र तथा 'प्राणापान निमेषोन्मेष आदि' वैशेषिक दर्शन का सूत्र है। दोनों सूत्र सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास[6]

---

१. एकादशोपनिषद् प्रथम भाग—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृष्ठ १८१
२. परमात्मा के दर्शन—स्वामी सर्वदानन्दजी, पृष्ठ ४
३. आस्तिकवाद, पृष्ठ ३३३ ४. स. प्र., पृष्ठ १११
५. वही, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः, पृष्ठ ३८३ ६. स. प्र., पृष्ठ ११८

में दिये गये हैं। इनका विवेचन स्वामीजी ने निम्न प्रकार किया है—इच्छा से तात्पर्य पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा से है, "प्रत्येक प्राणी को साधारण और मनुष्य को विशेषतौर पर सुख की अभिलाषा होती है।"[१] द्वेष—जिस प्रकार प्राणी को सुख की इच्छा होती है उसी प्रकार उसे दुःख से अनिच्छा अथवा वैर होता है। प्रयत्न—इस सुखप्राप्ति तथा दुःख के निवारण के लिये जीव प्रयत्न करता है, सुख-दुःख—तत्पश्चात् जीव आनन्द अथवा शोक का अनुभव करता है, साधारणतः सुख की चरम सीमा मोक्ष है और दुःख की चरम सीमा मृत्यु है। इसी प्रकार प्राण वायु को बाहर निकालना, भीतर को लेना, आंख को भींचना और खोलना, निश्चय, स्मरण और अहंकार करना, चलना और इन्द्रियों को चलाना, क्षुधा, तृषा आदि से युक्त होना जीवात्मा के गुण हैं। इच्छा, द्वेष और प्रयत्न का सम्मिलित नाम कर्म है और सुख-दुःख कर्म पर आश्रित हैं और यही दोनों मिलकर भोग सिद्ध होते हैं, अतः जीव के दो मुख्य गुण हैं १. ज्ञान और २. कर्म।

जीवात्मा का स्वरूप—जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय तथा विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों ने विचार किया है और दोनों के निष्कर्षों में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय विचारकों का भी इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है, अतः जीव के इस स्वरूप का विवेचन यहाँ दो प्रकार से किया जायेगा—१. वैदिक स्वरूप तथा २. अवैदिक स्वरूप।

१. वैदिक मतानुसार जीव की स्वतंत्र एवं अनादि सत्ता है। ईश्वर की भांति न तो जीव कभी जन्म लेता है और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता है। जीवन-मृत्यु शरीरधारियों का धर्म है और जीवात्मा अशरीरी है। अवैदिक मत में स्वामी शंकराचार्यजी जीव का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, "जीव की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, किन्तु अविद्याग्रस्त ब्रह्म ही जीव हो जाता है। इस पक्ष को चेतनाद्वैत अथवा मायावाद कहते हैं।"[२] कुछ लोग जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं 'ईश्वर अंस जीव अविनाशी' चार्वाक दर्शन के अनुयायी भी जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। पाश्चात्य वैज्ञानिक टिंडल, हक्सले और हैकल के अनुसार 'जीव शरीर के मेल का ही परिणाम है।"[३] ईश्वर के कार्यों में एक कार्य यह भी है कि जीवों को उनके कर्मानुसार फल देना। यदि जीव ईश्वर का अंश ही हो अथवा स्वतंत्र न हो तो फल का भोक्ता भी नहीं हो सकता। उसके स्वतंत्र न होने पर पाप-पुण्य का सारा उत्तरदायित्व उस पर न होकर ईश्वर पर ही होगा और यह निर्विवाद है कि निर्लिप्त ईश्वर किसी प्रकार भी पाप-पुण्य में लिप्त नहीं हो सकता। जीव की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में स्वामीजी ने लिखा है—"अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतंत्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है।"[४] पाणिनि के मतानुसार कर्त्ता स्वतंत्र होता है अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि उसके आधीन होते हैं, वह जिस प्रकार चाहे इनको आदेश दे सकता है अथवा इनसे कार्य ले सकता है। यदि जीव पराधीन हो तो उसकी स्थिति भी निर्जीव पदार्थों की भांति हो जायेगी। एक व्यक्ति बन्दूक की गोली से किसी अन्य व्यक्ति की हत्या करता है, दण्ड बन्दूक चलाने वाले व्यक्ति को ही

---

[१] परमात्मा के दर्शन—स्वामी सर्वदानन्दजी, पृष्ठ ४७

[२] आत्मदर्शन—नारायण स्वामी, पृष्ठ ३३

[३] वही, पृष्ठ ३२

[४] सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ११७

दिया जाता है, बन्दूक और गोली को नहीं, क्योंकि ये दोनों पदार्थ निर्जीव थे और कार्य करने में स्वतंत्र नहीं थे।

२. आत्मा का लिंग नहीं होता—कोई आत्मा को पुल्लिग समझता है और कोई स्त्रीलिंग, किन्तु सत्य यह है कि आत्मा का कोई लिंग नहीं होता। श्वेताश्वतर उपनिषद् का भाष्य करते हुए श्री सत्यव्रतजी सिद्धांतालंकार ने लिखा है—"जीवात्मा न स्त्री लिंगी है, न पुल्लिगी, न नपुंसकलिंगी। ये लिंग शरीर के हैं, जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है उस-उस के लिंग के साथ युक्त हो जाता है।"[1]

३. अल्पज्ञ एवं सुख-दुःख के चक्र में लीन—ईश्वर सर्वज्ञ है और जीवात्मा अल्पज्ञ। लाख प्रयत्न करने पर भी जीवात्मा बहुज्ञ तो हो सकता है पर सर्वज्ञ नहीं। जो सृष्टि उसके उपयोग के लिये बनाई गई है, उसका सम्यक् ज्ञान तो दूर रहा, उसे अपने बारे में ही सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। बहुत से ज्योतिषी किसी दूसरे के भविष्य के संबंध में तरह-तरह के दावे करते हैं जो कि प्रायः असत्य सिद्ध होते हैं। ईश्वर तो पूर्णतः आनन्दमय है, किन्तु इस जीव को किसी न किसी प्रकार उस आनन्द की खोज रहती है, कभी वह मदिरापान में इसे खोजता है और कभी मांसभक्षण में, कभी चोरी में कभी परनिन्दा में, कभी समाजसेवा में और कभी वैराग्य में, जीवन के अंतिम क्षण तक उसकी तलाश जारी रहती है, पर पूर्ण एवं स्थायी आनन्द उसे कभी प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह उसका स्वभाव है ही नहीं। ऋग्वेद के मं. १। सू. १६४। मं. २० में ईश्वर और जीव की समता दो पक्षियों से की गई है। इस मंत्र की व्याख्या श्वेताश्वतर-उपनिषद् में तथा मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार की गई है—"दो पक्षी हैं, सुन्दर पंखों वाले, साथ-साथ जुड़े हुए, एक-दूसरे के सखा। एक ही वृक्ष को सब ओर से घेरे हुए है। उनमें से एक वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है, दूसरा बिना चखे सब कुछ देख रहा है। जीवात्मा तथा परमात्मा ही दो पक्षी हैं, प्रकृति ही वृक्ष है, कर्मफल ही वृक्ष का फल है। जीवात्मा को कर्मफल मिलता है, परमात्मा प्रकृति में सक्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व का द्रष्टा है।"[2] जीवात्मा प्रकृति के फलों का उपयोग अवश्य करता है या उपयोग करने में स्वतंत्र है, पर इसका परिणाम क्या होगा, यह उसे ज्ञात नहीं है, अतः वह अल्पज्ञ है। जीव नवीन कर्मों के करने में तो स्वतंत्र है, किन्तु उसके कुछ पूर्व संचित कर्म ऐसे हैं जिनका फल भोगने में उसे परतन्त्र रहना पड़ता है।

४. ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार शरीर धारण करना—जीव कर्म करने के लिये ही स्वतंत्र है किन्तु उसके परिणामस्वरूप उसको कौनसा शरीर धारण करना पड़ेगा, यह उसके क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। शरीर के प्रकार के लिये पौराणिकों ने चौरासी लाख योनियों की कल्पना की है, इसमें मनुष्य की योनि तो बड़े भाग्य से मिलती है। दृष्टान्त के रूप में कल्पना यह की गई है कि गोल घेरे वाला एक अहाता है जिसमें ८४ लाख दरवाजे हैं, सभी द्वार बन्द हैं और बाहर निकलने के लिये केवल एक द्वार खुला है और वही है

---

[1] एकादशोपनिषद् भाष्य-श्वेताश्वतर उपनिषद्—सत्यव्रत सिद्धांतालंकार पृ. १०२३

[2] एकादशोपनिषद् प्रथमभाग-मुण्डकोपनिषद्—सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, पृष्ठ १७७

मानव-योनि का द्वार। जीव अंधे के समान हाथ से टटोलता उस दरवाजे के समीप पहुंचता है और उसे जोर की खुजली उठने लगती है, खुजलाते-खुजलाते वह इस खुले द्वार को छोड़कर आगे बढ़ जाता है और उसे फिर सब दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं। मनुष्य योनि के खुले द्वार से वह अपने बंधनों को काटकर मुक्त हो सकता है, पर काम-क्रोध की खुजली उसे ऐसा नहीं करने देती। जिन व्यक्तियों ने यह दृष्टान्त रचा था "उन्होंने चौरासी लाख योनियों की गिनती नहीं की थी, मनुष्य देह के महत्त्व को समझाने के लिये ऐसे कथानकों को रचा था।"[1] परमेश्वर की इस व्यवस्था की थोड़ीसी झांकी मनुस्मृति तथा सत्यार्थप्रकाश के नवम् समुल्लास में की गई है। कौन सा कार्य करने से कौनसा शरीर धारण करना पड़ता है, इस विषय में स्वामीजी लिखते हैं "जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं····उत्तम रजोगुणी हैं वे गन्धर्व····जो उत्तम सत्वगुण युक्त होके उत्तम कार्य करते हैं वे ब्रह्मा सब वेदों का वेत्ता विश्वसृज सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे धार्मिक सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।"[2] विभिन्न योनियों में जन्म लेने के व्यवस्था की यह झांकी संभवतः जान-बूझकर अपूर्ण रक्खी गई है, क्योंकि कुछ नीच वृत्ति वाले हिंसक पशुओं का रूप धारण करने के लिये अपने कर्म भी वैसे ही करने लग जाते हैं। यह जगत् जीवात्मा के लिये कर्मक्षेत्र अवश्य है पर विशेष प्रकार का शरीर धारण करने में तो उसे परवश रहना ही पड़ता है।

५. ईश्वर द्वारा भोग को मर्यादित रखना तथा उसकी व्यवस्था करना—अनेक प्राणियों को मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, पर कोई जन्म से ही विचक्षण, सुन्दर, बुद्धिमान तथा आकर्षक होता है और कोई जन्म से ही अन्धा, लंगड़ा, बुद्धिहीन तथा कुरूप होता है। यह सत्य है कि ये सब कार्य पूर्वकृत कर्मों के ही फल हैं, पर उसकी व्यवस्था जीव द्वारा न की जाकर ईश्वर द्वारा की जाती है। कुछ का जन्म सम्पन्न घराने में होता है, किन्तु कुछ समय बाद कोई दाने-दाने को तरस जाता है, कोई उन्मत्त हो जाता है और कोई कर्कट रोग (Cancer) से पीड़ित हो जाता है। इस फल भोग के लिये कुछ कार्य तो इसी जन्म के होते हैं और कुछ पूर्व जन्म के। किस जीव को कब सुख मिलेगा और कब दुःख, यह सुख-दुःख कितना स्थाई होगा, इसकी मर्यादा तथा व्यवस्था ईश्वर के आधीन है।

६. प्रकृति से भिन्नता—जीवात्मा और प्रकृति का अंतर समझने से पूर्व हमें प्रकृति को जान लेना आवश्यक है। इसका विस्तृत विवरण तो अन्य प्रसंग में किया जायेगा, यहां तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि दृश्यमान जगत् प्रकृति नहीं है, किन्तु इस जगत् के बनने का मूल कारण प्रकृति है। सांख्य दर्शन में प्रकृति के सम्बन्ध में कहा गया है "कोई तत्त्व ऐसा है जो सब का कारण तो होता है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (प्रकृति)।"[3] प्रकृति जड़ है और जीवात्मा चेतन, गतिशील होना और चेतन होना एक बात नहीं है। जड़

---

१. वैदिक संस्कृति के मूल तत्व—सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, पृष्ठ ६१-६२

२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५९-६०

३. भारतीय दर्शन (सांख्य दर्शन)—बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ २५५

पदार्थों में भी एक प्रकार की गति दिखाई देती है, उनमें भी उत्पत्ति वृद्धि और नाश होता है, इसलिए कभी-कभी लोगों को भ्रम हो जाता है कि उनमें भी प्राणशक्ति है। चेतन जगत् में भी कई श्रेणियां होती हैं "वृक्षों में जीव है, परन्तु चेतनता नहीं, पशुओं में भी जीवन है और अनुभव करने की शक्ति है, उनके अतिरिक्त मनुष्य में भी जीवन है, अनुभव करने की शक्ति भी और तर्कनाशक्ति भी।"[१] पाश्चात्य विचारक हर्बर्ट स्पैन्सर के अनुसार जीव की चेतना प्राकृतिक गति का एक विकसित रूप है—"Conciousness is a sure by-product of the vital process of the organism"[२] वैदिक विचारधारा के अनुसार जीव की यह चेतनता किसी गति का विकसित रूप न होकर उसका स्वाभाविक गुण है, जिस प्रकार ईश्वर से आनन्द को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार जीव से चेतनता को पृथक् नहीं किया जा सकता।

७. **ईश्वर जीव का सम्बन्ध**—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से अभिन्न है अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा। वैसे ही ईश्वर और जीव की स्थिति है। ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और जीव अपेक्षाकृत स्थूल और सूक्ष्म ही स्थूल में प्रविष्ट हो सकता है, अतः सूक्ष्म ईश्वर के जीव में व्याप्त होने के कारण दोनों में व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त जीव के ईश्वर से कई अन्य सम्बन्ध भी है "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।"[3] अर्थात् वह (ईश्वर) हमारा बन्धु, जनक तथा निर्माण करने वाला, इस स्थिति में सम्बन्ध हुआ बन्धुत्व का, जन्य-जनकत्व का तथा निर्माप्य-निर्मापक का। जब जीव अपने आपको भगवान् का सेवक समझता है तो यह सम्बन्ध सैव्य-सेवक का हो जाता है, जब उसकी उपासना करता है तो सम्बन्ध उपास्य-उपासक का हो जाता है, इसी प्रकार जीव के ईश्वर से आधाराधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा तथा पिता-पुत्र आदि अनेक संबंध हैं। वेद के कई मंत्रों में भगवान् को 'मित्र' भी कहा गया है, पर यह मित्रता इस्लाम के "निश्चय अल्लाह मित्र रखता है उन लोगों को, कि लड़ते हैं बीच मार्ग उसके के।"[४] से भिन्न है, उनका खुदा तो कभी-कभी मनुष्यों से उधार भी मांग लेता है "वो कौन मनुष्य है जो अल्लाह को उधार देवे।"[५] इस प्रकार यह रिश्ता उत्तमर्ण और अधमर्ण का हो जाता है, किन्तु यह अवैदिक है।

८. **जीव का पुनर्जन्म**—ईश्वर की भांति जीव भी निराकार है, यह कभी भी मृत नहीं होता, जन्म नहीं लेता "न जायते म्रियते कदाचित् नायं भविता वा न भूयः।"[६] पर नवीन वस्त्रों की भांति यह नवीन शरीर अवश्य धारण करता है। यह जीवन जो हमें दिखाई पड़ता है यह तो एक लहर की भांति है जिसका प्रवाह कहां से आया और कहां चला गया, हमें ज्ञात नहीं। यह शरीर आत्म तत्व नहीं और आत्म तत्व शरीर नहीं, शरीर आत्मा के लिए है और आत्मा शरीर के लिये नहीं। शरीर तो एक बिस्तर के समान है जिस पर आत्मा विश्राम करती है,

---

[१] विश्व की पहेली—पूर्णचन्द्र, पृष्ठ ११२

[२] वही, पृष्ठ ११२-११३

[३] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १०६१

[४] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३७५

[५] वही, पृष्ठ ३४७

[६] श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, पृष्ठ ५०

बिस्तर बदल जाता है पर आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। विकासवादी मनुष्य को सबसे अधिक विकसित पशु मानते हैं, उनका विश्वास है कि कष्ट से बचने के लिए आकार में नैसर्गिक परिवर्तन होता है, जब दुम से कष्ट होने लगा तो पहले दुम छोटी हुई और फिर बिल्कुल लुप्त हो गई। मानव के सर्वाधिक विकसित होने के दो रूप हैं "एक सीधा खड़ा होना और दूसरे बुद्धि के प्रयोग की निराली सामर्थ्य रखना।"[१] उनकी यह धारणा नितान्त मिथ्या भी नहीं है किन्तु देखा यह जाता है कि यह द्विविध विकास सब मानवों में एक सा नहीं होता। कोई व्यक्ति 'होनहार बिरवान के होते चीकने पात' के रूप में जन्म लेता है और कोई प्रारम्भ से ही अभावग्रस्त रहता है, किसी को सभी सांसारिक सुविधाएं सुलभ हो जाती हैं और कोई दाने-दाने को मोहताज हो जाता है। किसी के घर में चूल्हा जलाने के लिए लकड़ियां भी उपलब्ध नहीं होतीं और किसी की चिता भी चन्दन से प्रज्ज्वलित होती है—इस वैषम्य का कारण क्या है, इस प्रश्न के उत्तर का नाम ही भारतीय मनीषियों ने पूर्व जन्म, पुनर्जन्म (Transmigration) रखा है।

ईसाई एवं यवन मत वालों का विश्वास है कि न तो यह संसार दुबारा बनता है और न पुनर्जन्म होता है। "यह संसार पहली ही बार रचा गया और प्रलय के पीछे दुबारा नहीं रचा जायेगा, यह केवल यहूदी विचार है और वह मूसाई तथा अन्य दो बड़े मत अर्थात् ईसाई व मुसलमानी मतों का—जिनकी भित्ति उसके आधार पर है विशेष उपलक्षण है।"[२] किसी जीवन को सत्य मानने वाला मुक्ति का प्रयास नहीं करते वे तो अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य 'Eat drink and be merry' अर्थात् खाओ, पीओ और मौज करो मानते हैं। भारत में भी वाममार्गी आदि कई मत हुए जिन्होंने इस जीवन को ही सब कुछ माना, जिनका लक्ष्य "यावज्जीवं सुखं जीवेत्....भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"[३] रहा। जीवन के सब बन्धन, नियम इनके लिये निष्प्रयोजन हो गये और इन्द्रियों के ये दास व्यभिचार की पराकाष्ठा पर पहुंच गये। इनके लिये माता भी विलास की वस्तु बन गई 'मातरमपि न त्यजेत्'। अपने भोग विलास में बाधा उपस्थित देख कर चार्वाक लोगों ने जीव का पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व भी समाप्त कर दिया। जब जीव का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा, तब कर्मों का फल भोगने का भी उनके समक्ष कोई प्रश्न नहीं रहा, कालान्तर में बौद्धों और जैनियों में इसका स्थान शून्यवाद ने ले लिया। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार पूर्व जन्म तथा पुनर्जन्म न केवल आवश्यक है अपितु अनिवार्य भी है।

साहित्य में एक वस्तु Poetic Justice (काव्यगत न्याय) के नाम से जानी जाती है अर्थात् अच्छाई का परिणाम अच्छा होता है और बुराई का बुरा। संसार में भी दुःखी व्यक्तियों को देखकर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि या तो यह ईश्वर का अन्याय है अथवा उनके कर्मों का फल। स्वामीजी ने लिखा है—"जो पूर्व जन्म को न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है, क्योंकि बिना पाप के दारिद्र्यादि दुःख और बिना पूर्वसंचित पुण्य के राज्य धनाढ्यता और निर्बुद्धिता उसको क्यों दी...."[४] प्रायः देखने में आता है कि कई व्यक्ति सांसारिक कष्टों से घबराकर आत्महत्या कर लेते हैं, उनके पूर्वजन्मकृत कुछ कर्मों का फल भोगना

---

[१] विश्व की पहेली—पूर्णचन्द्र, पृष्ठ ३०

[२] धर्म का आदि स्रोत—गंगाप्रसाद एम. ए., पृष्ठ ८

[३] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २५६

[४] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६५

शेष रह जाता है, यदि हम यह कल्पना कर लें कि उसका पुनर्जन्म नहीं होगा तो वह अपने पूर्वजन्मसंचित कर्मों का फल किस प्रकार भोगेगा। मृत्यु कुछ कष्टों को शान्त भले ही कर दे पर वह जीव को फल भोगने से सदा के लिए बचा नहीं सकती। मृत्यु का केवल यही तात्पर्य है कि हम वही हो जायें जो जन्म से पूर्व थे। "To die is only to be as we were before we were born"[1] पूर्वजन्म के सिद्धान्त को मानने से मनुष्य में मृत्यु का भय जाता रहता है क्योंकि वह इसे केवल वस्त्रों का परिवर्तन समझता है। सीजर ने गोल जाति के विषय में लिखा है—"They were brave because they believed in transmigration"[2] अर्थात् वे इसलिए वीर थे क्योंकि वे आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। यह सिद्धान्त सार्वजनिक प्रेम का भी आधार है क्योंकि इसी के आधार पर मनुष्य में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' वाली भावना आती है। इसी के कारण मानव को मांसभक्षण से वितृष्णा हो जाती है क्योंकि वह जानता है कि मांस बिना हत्या के प्राप्त नहीं होगा और हत्या करने वाले को उसी जन्म में अथवा अगले जन्म में उसका फल भुगतना होगा। इससे सदाचार में भी सहायता मिलती है, पुनर्जन्म का भय पाप कर्मों के करने में बड़ा बाधक है। प्रायः देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी के पैसे मारकर बैठ जाता है, फिर उसे ध्यान आता है कि ये पैसे मैंने अभी वापिस नहीं किये तो अगले जन्म में करने पड़ेंगे, अतः पाप से विरत हो जाता है। इसी सिद्धान्त से मानव को मानसिक शांति मिलती है, ईश्वर में उसका दृढ़ विश्वास होता है और वह परोपकार के लिये उत्साही होता है।

९. **वनस्पतियों में जीव**—कुछ मतवादियों का विशेषकर जैन धर्म के मतावलम्बियों का यह कथन है कि जितने शाक, पात और कन्दमूल हैं, उनमें छोटे-छोटे जीवों का वास होता है, इन पदार्थों का भोजन करने से उन छोटे जीवों की हत्या हो जाती है, अतः इनका सेवन नहीं करना चाहिये। उत्तर स्पष्ट है पेड़ों अथा वनस्पतियों में जीवन तो होता है पर सुख-दुःख अनुभव करने वाली चेतना नहीं होती। उपयुक्त प्रश्न का उत्तर स्वामीजी ने इस प्रकार दिया है—"हरित शाक खाने में जीव का मारना मन को पीड़ा पहुंचनी क्योंकर मानते हो? भला जब तुमको पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दिखती....तो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण भी कभी नहीं घट सकता।"[3] चिकित्सक लोग भी शल्य क्रिया करते समय पहले संज्ञाशून्य करने वाली औषधि देते हैं, फिर शल्य क्रिया प्रारम्भ करते हैं, उस समय मनुष्यों को कोई कष्ट नहीं होता क्योंकि दुःख अनुभूति की चेतना उनमें नहीं होती इसीलिये चिकित्सकों के इस कृत्य को कोई हत्या की संज्ञा नहीं देता। वैसे भी जैनियों का दया धर्म स्वामीजी के दृष्टिकोण से उनका प्रदर्शन मात्र है, "इनका दया धर्म कथन मात्र है और जो है सो क्षुद्र जीवों और पशुओं के लिये है, जैन भिन्न मनुष्यों के लिये नहीं।"[4] तथाकथित जीव हत्या के संबंध में जैनी लोग इतने आगे बढ़ गये हैं कि कोई भी विचारवान व्यक्ति उनसे सहमत नहीं हो सकता। वे विश्वास करते हैं कि तालाब, बावड़ी आदि बनवाने से उसमें जीव पड़ जाते हैं और बनवाने वाला पाप

---

[1] Several Essays—William Hazlitt—'On the fear of death, page 62

[2] विश्व की पहेली—पूर्णचन्द्र, पृष्ठ १३३

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २९१

[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २८०

का भागी होता है। उनके 'तत्व विवेक' में लिखा है—"एक नगरी में एक नन्दमणिका सेठ ने बावड़ी बनवाई। उससे धर्म भ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुए। मरके उसी बावड़ी में मेडुका हुआ।"[१]

१०. आत्मा रथी है रथ नहीं—कठोपनिषद् में कहा गया है—"आत्मा रथी है, अर्थात् रथ का मालिक है, शरीर एक रथ है, बुद्धि सारथि है—साईस है, मन लगाम है।"[२] जब आत्मा, इन्द्रियां तथा मन मिलकर कोई काम करते हैं तब मनुष्य भोक्ता कहलाता है। कुछ मनुष्यों को भ्रम है कि देह ही कार्यों का कर्ता है, वास्तव में इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वेदना आदि का समूह ही तो आत्मा नहीं है। गौतम मुनि ने इस भ्रम निवारण के लिये कई तर्क दिये हैं—

(क) एक ही वस्तु को मैं आँख से देखता हूं, हाथ से स्पर्श करता हूं, नाक से सूंघता हूं और जिह्वा से उसका स्वाद ग्रहण करता हूं। एक ही विषय के अनेक ज्ञान होने पर भी उनका एक ही कर्ता से सम्बन्ध हो सकता है। अतः इस ज्ञान की प्रतीति करने वाला आँख, हाथ, नाक या जिह्वा नहीं है और न उनका संघात ही है। प्रत्येक विषय को ग्रहण करने वाला कोई चेतन पदार्थ है और उसी का नाम है आत्मा या जीवात्मा।

(ख) जब तक शरीर में जीवात्मा है, तब तक उसको जलाने वाला हत्यारा कहलाता है और इस जीव के निकल जाने पर मृतक के शरीर को अग्नि समर्पित करने वाला पुण्यात्मा कहलाता है। 'यदि प्रकृतिजन्य शरीरादि का संघात ही आत्मा होता तो मृतक को जलाने वाला भी पापी कहलाता।'[३]

(ग) जीव की स्वतंत्र सत्ता में प्रत्यमिक्षा (Recognition) भी एक प्रमाण है। एक वस्तु को बाईं आंख देखती है, किन्तु दाईं आँख भी उस वस्तु को पहचान लेती है, अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि देखने वाली आँख नहीं अपितु अन्य वस्तु अर्थात् आत्मा होती है।

(घ) एक इन्द्रिय द्वारा पदार्थ की प्रतीति होने पर उसका प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी हो जाता है। गरम-गरम जलेबियां आँखें देखती हैं और पानी मुख में भर जाता है। आँख की यह खबर मुख को जीवात्मा के द्वारा ही दी जाती है। युग बीत जाने पर भी मनुष्य की स्मृति किसी पदार्थ को आँख के समक्ष उपस्थित कर देती है, अतः यह स्मृति गुण भी आत्मा के अस्तित्व का परिचायक है।

अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक मतानुसार जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है, वह प्रकृति के समान अस्तित्व वाली तथा ईश्वर के समान चेतनायुक्त है, वह निराकार है और उसकी संख्या अनन्त है, उसका कोई लिंग नहीं है, वह जन्म मरण के बन्धन से भी मुक्त है, युग युगों तक देह परिवर्तन करती रहती है। कभी-कभी इसको मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह भी अनन्तकाल के लिये नहीं होता, सारी सृष्टि का निर्माण इसके उपभोग के लिये ही किया गया है।

---

[१] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २८७

[२] एकादशोपनिषद्, कठोपनिषद्, पृष्ठ ७७

[३] विश्व की पहेली, पृष्ठ १२१

प्रकृति

परिभाषा एवं अनेक नाम—संसार में जितने भी कार्य होते हैं, उनका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। दार्शनिक शब्दावली में कारण को प्रकृति कहते हैं और कार्य को विकृति। एक ही पदार्थ एक ही समय एक का कारण भी हो सकता है और दूसरे का कार्य भी। श्रीखण्ड नामक मिष्टान्न दही से बनता है, अतः दही प्रकृति और श्रीखण्ड विकृति। दूध प्रकृति, दही विकृति, गाय प्रकृति और दूध विकृति आदि। इस प्रकार यदि हम सृष्टि के पदार्थों का विवेचन करते जायें तो एक स्थिति ऐसी आयेगी जब एक ऐसा कारण (मूल कारण) आ जायेगा जिसका कोई कारण नहीं होगा। सृष्टि के निर्माण के लिये जो ऐसा मूल कारण होता है, उसी का नाम है प्रकृति। समस्त सृष्टि उसी से उद्भूत होती है, पर वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, अतः वह मूल कारण अथवा प्रकृति जीव और ईश्वर की भांति अनादि है, अनन्त है, नित्य है। सांख्य दर्शन के अनुसार 'सत्वरजसतमसां साम्यावस्था प्रकृति' अर्थात् ''(सत्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाडय अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिल कर जो एक संघात होता है उसका नाम है प्रकृति।''[1] वैदिक वाङ्मय में प्रकृति को अनेक नामों से अभिहित किया गया है और वे नाम हैं, ''स्वधा, सामर्थ्य, परमाणु, उपादान कारण, सत रज तम गुणों की साम्यावस्था, परमाणु आपस में मिलकर स्कन्ध रूप होने वाली वस्तु। ज्ञात रहित अनादि तत्व। प्रदत्त आकृति धारण करने वाली वस्तु। जिसके अभाव में जगत् की एक भी वस्तु न बन सके। अविनाशी सत्य। अव्यक्त, प्रधान, अव्याकृत, अविभाज्य अंश (Indivisible ultimate particle)''[2] गीता के १३वें अध्याय में भी प्रकृति को अनादि कहा गया है 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।''[3]

जगत् उत्पन्न होता है—यह जगत् जो हमें दिखाई देता है जिसमें उतुंग शिखरों वाले पर्वत हैं, जिसमें कलकलनिनादिनी सरितायें हैं, जिसमें निविड़ कान्तार हैं जिसमें चहचहाती बुलबुले हैं, जिसमें रम्योथान और प्रफुल्लप्राय कलिकायें हैं—सब परिवर्तनशील हैं। एक समय आता है जब पर्वत धराशायी हो जाते हैं, सरितायें शुष्क हो जाती हैं, बीहड़ वन सामान्य मैदान में परिणत हो जाते हैं, बुलबुलें खामोश हो जाती हैं, उद्यान श्रीविहीन और कलिकायें वृन्तच्युत हो जाती हैं। इनके इस परिवर्तन अथवा विनाश का कारण यही है कि इनका कभी निर्माण हुआ था और जिसका निर्माण होता है, नियमानुसार उसका विनाश भी होता है। यह सारा जगत् नश्वर है क्योंकि इसका कभी सृजन हुआ है। गीता में लिखा है ''कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादो विसृजाम्यह्म।''[4] अर्थात् कल्पक्षय में सब भौतिक पदार्थ अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, फिर सृष्टि के आरंभ में उस अव्यक्त प्रकृति से मैं फिर उनका विसर्जन करता हूं। कुछ लोगों का विश्वास है कि यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं होता, अनादिकाल से अनन्तकाल तक ऐसा ही रहता है। यदि जगत् का यही स्वरूप माना जाये तो इसे नित्य होना चाहिये और इसके स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आना चाहिये, किन्तु पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों की दृश्यमान गति उनके इस दृष्टिकोण का खण्डन करती है। कुछ लोगों की धारणा है कि मूल तत्व मिलकर

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १२९ [2] वेदशास्त्रतालिका, पृष्ठ २३

[3] श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, पृष्ठ ३३२

[4] श्रीमद्भगवद्गीता, समर्पणभाष्य, पृष्ठ १९२

स्वतः ही जगत् का निर्माण कर लेते हैं —यह धारणा भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि निर्माण का कार्य सदा चेतन द्वारा होता है और यह स्पष्ट है कि न तो प्रकृति चेतन है और न जगत् चेतन है।

प्रकृति की आवश्यकता—अनेक मतवादियों का विश्वास है कि जब द्वैत अथवा अद्वैत से काम चल जाता है तो त्रैतवाद को क्यों माना जाये। वे या तो प्रकृति को मानना नहीं चाहते अथवा उसे नित्य मानना तो उन्हें स्वीकार ही नहीं है। यहां किसी भी पदार्थ की निर्माण प्रक्रिया को जान लेना आवश्यक है। किसी भी पदार्थ के निर्माण रूप कार्य के लिये तीन कारणों की आवश्यकता होती है —

(क) उपादान कारण, (ख) निमित्त कारण और (ग) साधारण कारण।

सृष्टि रचना की बात तो बहुत दूर की है, एक सामान्य घड़े को बनाने के लिये भी तीन कारणों मिट्टी (उपादान), कुम्हार (निमित्त), चाक, समय, देश आदि (साधारण) की आवश्यकता होती हैं, इसी प्रकार वस्त्र बनाने के लिये भी सूत, जुलाहा तथा अन्य उपकरणों की आवश्यकता होती है। ऊपर यह सिद्ध किया गया है कि जगत् का निर्माण हुआ है, अतः यह निष्कर्ष भी सरलता से निकाला जा सकता है कि इसके निर्माण में भी तीनों कारणों की अपेक्षा रही होगी। यह तो प्रायः सर्वसम्मत ही है कि जगत् के निर्माण का निमित्त कारण ईश्वर है क्योंकि निमित्त अथवा कर्ता होने के लिये जो तीन बातें अपेक्षित हैं वे इसमें विद्यमान हैं।

१. उपादान गोचर—अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् उपादान कारण का अपरोक्ष या निकटतम ज्ञान[1] अर्थात् जैसे कुम्हार को मिट्टी का ज्ञान होता है, इसी प्रकार ईश्वर को प्रकृति का ज्ञान होता है।

२. चिकीर्षा अथवा काम करने की इच्छा—जब ईश्वर सृष्टि के निर्माण की इच्छा करता है तभी वह सृष्ट हो पाती है।

३. क्रिया अर्थात् क्रिया का प्रयत्न—केवल इच्छा ही पर्याप्त नहीं होती उसे क्रिया रूप में परिणत भी करना होता है। इन लक्षणों से इतना ज्ञात होता है कि ईश्वर सृष्टि रचना के कार्य में सक्षम है, किन्तु जिस प्रकार कुम्हार सक्षम होते हुए भी बिना मिट्टी के घड़े का निर्माण नहीं कर सकता है, उसी प्रकार ईश्वर सक्षम होते हुए भी बिना उपादान कारण (प्रकृति) के जगत् का निर्माण नहीं कर सकता।

जिस प्रकार कुम्हार घड़े का निर्माता होता है, किन्तु अपने आपको घड़े के रूप में परिणत अथवा परिवर्तित नहीं करता। इसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि का निर्माण करते समय अपने आपको सृष्टि में परिणत नहीं कर सकता क्योंकि दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। "ईश्वर चेतन तत्व है, जगत् जड़ पदार्थ है। चेतना का परिणाम जड़ अथवा जड़ का परिणाम चेतन होना संभव नहीं।"[2] ईश्वर सर्वशक्तिमान् होते हुए भी बिना प्रकृति के सृष्टि निर्माण में

---

[1] आस्तिकवाद, पृष्ठ ८५

[2] आर्योदय स. प्र. विशेषांक, १५ नवम्बर १९६३, पृष्ठ १२३

असमर्थ है। वह जगत् का निमित्त प्रेरयिता, नियन्ता व अधिष्ठाता तो होता है किन्तु उसका उपादान कारण नहीं होता। यह सृष्टि निर्माण सत्कार्यवाद (कारण में कार्य का विद्यमान होना) के सिद्धान्त पर आधृत है अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ में यह जगत् प्रकृति में लीन होकर विद्यमान था अथवा कारण रूप से वर्तमान था, ईश्वर ने उसी कारण को कार्य रूप में परिणत कर दिया, अतः यह स्पष्ट है कि जगत् के निर्माण के लिये प्रकृति का होना अनिवार्य है।

जड़ सृष्टि की उत्पत्ति—यद्यपि प्रत्येक सृष्टि नश्वर होती है, फिर भी सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अविनश्वर है। यह जानना भी कम रोचक नहीं होगा कि इस सृष्टि का प्रारंभ किस प्रकार हुआ है। केवल 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् पूर्व सृष्टि की भांति इस सृष्टि का निर्माण किया अथवा इस्लाम के '....कहता है कि हो जा, बस हो जाता है'[1] के कह देने से इस समस्या का समाधान नहीं हो पाता। इस उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न मत अधिक प्रचलित हैं—

१. प्राकृतिक शक्तियों द्वारा सृष्टि निर्माण—कुछ लोग कहते हैं कि प्राकृतिक शक्तियों ने स्वयं इस सृष्टि को उत्पन्न कर लिया है, यह धारणा सत्य नहीं है क्योंकि प्रकृति की शक्तियाँ परमाणुओं के ही अन्दर हैं और परमाणु सब एक समान हैं। ऐसी दशा में समान बल वाले परमाणु न तो आपस में मिल ही सकते हैं और न अलग ही हो सकते हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार "९२ मूल तत्त्वों के परमाणु हैं, जिनके परस्पर संयोग से और अनेक प्रकार का समास बनने से यह विविध रचना देखने में आती है।"[2] यदि कुछ परमाणुओं को अधिक बल वाला और कुछ को न्यून बल वाला माना जाये तो प्रबल परमाणुहीन बलवालों को खींच लेंगे और कभी भी न छोड़ेंगे, किन्तु देखने में आता है कि समस्त पदार्थों में परिवर्तन और विनाश होता है जिससे ज्ञात होता है, "दूर-दूर स्थित परमाणु बिना किसी माध्यम के एक दूसरे पर प्रभाव डालकर न तो आकर्षित ही कर सकते हैं और न आकृष्ट, परमाणुओं को जुदा ही कर सकते हैं, इसलिये केवल प्राकृतिक शक्तियाँ ही सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकतीं।"[3]

२. समस्त जीवों के सम्मिलित प्रयत्न से सृष्टि निर्माण—कुछ लोगों का विश्वास है कि समस्त जीवों ने मिलकर सृष्टि का निर्माण कर लिया है। यह विचार भी सर्वथा असत्य है क्योंकि जो जीव ससीम और एकदेशीय होते हैं, भले ही गिनती में असंख्य हों तथा चेतन भी हों तो भी अनन्त सृष्टि का निर्माण उनके द्वारा सम्भव नहीं, सृष्टि का निर्माण तो दूर रहा, इस बनी बनाई सृष्टि का सम्यक् संचालन भी उनके द्वारा संभव नहीं है। जिस प्रकार मेंढकी कितना ही पेट फुलाये वह हाथी नहीं बन सकती उसी प्रकार समस्त अल्पज्ञ मिलकर सर्वज्ञ की योग्यता के बराबर नहीं हो सकते। वैसे भी सैकड़ों ग्रेज्युएट मिलकर योग्यता में एक डी. लिट् के बराबर नहीं हो सकते। जीव चेतना सम्पन्न होने पर भी मक्खी की टूटी टांग का भी पुनर्निर्माण नहीं कर पाता, इतने बड़े विश्व की बुद्धिपूर्वक रचना तो उसके लिये असम्भव ही है।

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३४४

[2] नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ-त्रैतवाद—वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १४१

[3] वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा, पृष्ठ ६९६

३. **अकेले परमेश्वर द्वारा सृष्टि निर्माण**—अकेले परमेश्वर द्वारा भी सृष्टि रचना संभव नहीं है। पहली बात तो यह है कि वह उपादान कारण के बिना सृष्टि का निर्माण नहीं करता, दूसरी बात यह है कि सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण है, परिपूर्ण वस्तु हिलडुल नहीं सकती और प्रकृति-परमाणुओं में गति हुए बिना सृष्टि रचना संभव नहीं है। एक बात यह भी है कि जो परिपूर्ण है उसमें परिवर्तन उसकी परिपूर्णता में सन्देह उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार यह तथा उपर्युक्त अन्य सिद्धान्त सृष्टि निर्माण की उचित व्याख्या करने में असमर्थ रहते हैं, केवल वैदिक विचारधारा शेष रहती है जो सत्य है तथा निम्न प्रकार है—

स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—"जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विद्यमान थी।"[1] उस समय आकाश भी नहीं था, परमाणु भी नहीं थे, हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहले विद्यमान था। आरम्भ में परमात्मा ने जीवों में प्रेरणा करके सारी प्रकृति में हलचल उत्पन्न कर दी। "परमात्मा और आत्मा से आकाश (ईथर), आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी बनी है।"[2] सृष्टि उत्पत्ति का क्रम जरदुश्तियों में इस प्रकार है "पहले समय में आसमान पैदा किया गया, दूसरे में पानी, तीसरे में पृथ्वी, चौथे में वृक्ष, पांचवें में पशु और छठे में मनुष्य उत्पन्न हुए"[3] यहुदियों की पुस्तक में सृष्टि रचना का वर्णन इससे कुछ मिलता-जुलता है जो निम्न प्रकार है—"पहले दिन आसमान, पृथ्वी पैदा किये, दूसरे दिन आकाश और पानी, तीसरे दिन सूखी भूमि, घास पक्षी और फल, चौथे दिन प्रकाश, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पाँचवें दिन चलने वाले जीव, पंखयुक्त पखेरु, विशालकाय व्हेल, छठे दिन जीवित प्राणी, पशु, लतायें, चौपाये और मनुष्य।"[4] जिस प्रकार हमारे हर्ष, शोक, चिन्ता आदि का प्रभाव शरीर-परमाणुओं पर पड़ता है, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा प्रेरित जीवों की हलचल से भी परमाणु समूह में हलचल उत्पन्न हो सकती है। इस गति से 'वैशेषिक दर्शन' में दिये हुए प्रकृति के उत्क्षेपणादि पांचों कर्म उत्पन्न होते हैं। अग्नि का गुण ऊपर जाना है और जल का गुण नीचे जाना है, अतः अग्नि के परमाणु ऊपर को जाते हैं तथा जल के नीचे को जाते हैं, इन दो विरुद्ध शक्तियों के टकराने से विशाज ठेलपेल प्रारम्भ हो जाती है। इसी समय पृथ्वी के आकर्षण गुण वाले परमाणु इस हलचल को ठहराते हैं, वायु के प्रसारण गुण वाले परमाणु उनमें धक्का लगाते हैं और आकाश के परमाणु उन्हें गमन के लिये स्थान देते हैं। इस प्रकार यह चक्र प्रारम्भ हो जाता है, इस चक्राकार गति में फिरने वाले आदिम प्रकृति पुंज को वेद में 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'[5] सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ नाम का महान् चमकीला और बहुत बड़ा प्राकृतिक गोला उत्पन्न हुआ,

---

[1] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु० मी०, पृष्ठ १३०

[2] वैदिक सम्पत्ति, ६९७

[3] धर्म का आदिस्रोत—गंगाप्रसाद एम० ए०, पृष्ठ ५४

[4] वही, पृष्ठ ५४

[5] यजुर्वेद भाषाभाष्य—दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ ४४४

इसको पाश्चात्य वैज्ञानिक 'नैब्यूलाथियरी'[1] कहते हैं, यही इस वर्तमान सृष्टि का मूल और बीच है। कालान्तर में इसी गोले से अनेक गोले हो गये और अनेक सूर्यों के नाम से आकाश में फैल गये।

चेतन सृष्टि की उत्पत्ति—इस सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण परमेश्वर द्वारा जीवों को उनके कर्मानुसार फल देना है। अनादिकाल से जीव कर्म करते चले आ रहे हैं और अनादिकाल से परमेश्वर उनको फल देता हुआ चला आ रहा है। सृष्टि निर्माण की प्रारंभिक प्रक्रिया के उपरान्त पृथ्वी के अनुकूल होने पर परमेश्वर जीवों को उनके शेष कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार की योनियों में जन्म देता है। "कर्मों के तीन वर्ग सात्विक, राजस और तामस हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में आचार, अनाचार और अत्याचार कहते हैं। ये तीनों प्रकार के कर्म बुद्धि, निर्बुद्धि और प्रमाद से किये जाते हैं।"[2] गीता के अनुसार "जो कर्मशास्त्र विधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना रागद्वेष से किया हुआ है वह सात्विक कहलाता है, जो कर्म बहुत परिश्रम से तथा फल को चाहने वाले और अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह राजस कहा गया है और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न कर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है वह तामस कहा जाता है।"[3] ज्ञानयुक्त सात्विक कर्मों के करने से ज्ञानयुक्त मनुष्य शरीर बनता है, अज्ञानयुक्त उलटे-सीधे कर्मों के करने से अज्ञानयुक्त पशु शरीर बनता है और आलस्य, प्रमाद तथा अभिमानयुक्त दुष्कर्मों के करने से ज्ञान और कर्महीन वृक्ष शरीर बनता है। अतः मनुष्य को ज्ञान और कर्म धारण करने वाले परिपूर्ण अंग दिये गये हैं, पशुओं को ज्ञानहीन केवल कुछ न कुछ करने वाले अपूर्ण अंग दिये गये हैं और वृक्षों को ज्ञान तथा कर्मों दोनों से वंचित कर दिया गया है।

"जो ज्ञान में और कर्म करने में पूर्ण होता है, वह ज्ञान शून्य का भोक्ता होता है और ज्ञान शून्य उसका भोग्य होता है।"[4] वैसे भी संसार में पहले भोग्य उपस्थित होता है, फिर भोक्ता, मां के स्तनों में दूध पहले उत्पन्न होता है और उसका उपभोग करने वाले बच्चे का जन्म बाद में, इसी प्रकार पशुओं के भोग्य वनस्पति आदि उनसे पूर्व ही उत्पन्न हो जाते हैं। इस नियम के अनुसार चेतन सृष्टि में पहिले वृक्ष उत्पन्न हुए, फिर पशु और उसके बाद मनुष्य उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में सृष्टि रचना का यही क्रम दिया है। मंत्र की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने लिखा है "पूजनीय पुरुष परमात्मा से सब (पृषदाज्यम्) दध्यादि भोगने योग्य वस्तु सम्यक् सिद्ध उत्पन्न हुआ, जो वन के सिंह आदि और ग्राम में हुए गौ आदि है उन वायु के तुल्य गुणों वाले पशुओं को जो उत्पन्न करता है उसको तुम लोग जानो।"[5] सबसे अन्त में मनुष्य की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी यह मनुष्य समाज अत्यधिक अनाचारी, अत्याचारी, कामुक बहु-सन्तति उत्पादक, मांसाहारी तथा युद्धकारी होकर प्राणियों का संहार करता है तो ईश्वर उसे अपने ढंग से दण्ड देता है। ईश्वर का कार्य 'सज्जनों का

---

[1] धर्म का आदिस्रोत, पृष्ठ ५५

[2] वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ७००

[3] श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, पृष्ठ ४२०-४२१

[4] वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ७००

[5] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १०४६

परित्राण तथा दुष्टों का विनाश' भी है। मनुष्य समाज के नियम विरुद्ध और संहार के रास्ते पर चलने पर ईश्वर अत्याचारी प्राणियों की वृद्धि कर देता है—'वह मांसाहारी मनुष्यों को बकरों और गौ आदिको में और बकरों तथा गौ आदिको को भेड़ियों और सिंह आदि हिंस पशुओं में उत्पन्न कर देता है।'[1] साथ ही साथ कृमियों (germs) के द्वारा नवीन व्याधियां भी उत्पन्न कर देता है और इस प्रकार अत्याचारियों को मारकर उनसे बदला ले लिया जाता है।

आदिम सृष्टि अमैथुनी होती है, उस समय मनुष्य न तो मां के गर्भ से जन्म लेता है और न वृक्ष बीज से, प्रारम्भ में स्त्री-पुरुषों के अनेकों युवा युगल तथा बड़े-बड़े वृक्ष आदि ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इन्स्टीटूटयू के जीव विज्ञान शास्त्र के अध्यक्ष डा. क्लार्क ने भी इस कथन की पुष्टि की है "Man appeared able to Think walk and defend himself"[2] अर्थात् मानव जब प्रादुर्भूत हुआ, वह विचार करने चलने-फिरने और अपनी रक्षा करने के योग्य था। मनुष्य के शिर का आधार द्यौः है, अतः जब तक शिर द्यौ की ओर रहता है, तभी तक मनुष्य का मस्तिष्क और मेधा काम करती है, ज्यों ही उसका सिर द्यौ से हट जाता है, उसकी ज्ञानशक्तिमन्द और अंधकाराच्छन्न हो जाती है। दो प्रकार के अनुभव इस बात को पुष्ट करते हैं—प्रथम तो जब हम अपना शिर द्यौ से हटाकर लेट जाते हैं तो निद्रा आने लगती है और ज्ञानशक्ति मन्द पड़ जाती है—द्वितीय जब हम कोई नशा करते हैं तो हमारी बुद्धि मन्द होने लगती है, पांव लड़खड़ाते हैं अथवा हम पड़ कर सो जाते हैं अर्थात् हम बुद्धि खोकर और बेहोश होकर खड़े नहीं रह सकते। जो मनुष्य बुद्धि का उचित उपयोग नहीं करते अथवा अन्ध परम्परा का अनुसरण करते हैं भगवान् उनको पशु बना देता है अर्थात् उनकी बुद्धि का स्थान द्यौ की ओर न करके क्षितिज की ओर आड़ा कर देता है, बुलबुल से लेकर शुतुरमुर्ग तक, मछली से लेकर मगर तक, हाथी से लेकर लीख तक और बन्दर से लेकर वनमनुष्य तक सब आड़े शरीर वाले ही हैं। जिन मनुष्यों ने प्रमाद और अभिमान के वशीभूत होकर जानबूझकर दुष्कर्म किये हैं, उनका सिर जमीन में गाड़ दिया है अर्थात् उन्हें वृक्ष बना दिया गया है। 'कठोपनिषद्' की षष्ठी वल्ली में मनुष्य का चित्रण इसी रूप में किया गया है "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।"[3] अर्थात् यह मनुष्य का शरीर तो एक सनातन 'अश्वत्थ' (आज है कल नहीं) है। यह उल्टा टंगा हुआ वृक्ष है। सतोगुणी कर्म करने वाले ऊपर की ओर जाते हैं, रजोगुणी मध्य की ओर जाते हैं और तमोगुणी नीचे की ओर जाते हैं।

जगत्-रचना का प्रयोजन—आदिम सृष्टि की रचना-प्रक्रिया का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, अब प्रश्न यह है कि इस सृष्टिरचना का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन तीन हैं—

१. भोग योनि—परमेश्वर के कार्यों में एक कार्य जीवों को उनके कर्मानुसार फल देना भी है। जीवों को यह फल जगत् के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। पूर्व जन्म में जो उत्तम,

---

[1] वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ७०१

[2] आर्योदय, सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, पृष्ठ १३३

[3] एकादशोपनिषद्—कठोपनिषद्, पृष्ठ १००

मध्यम और अधर्म कार्य जीवों ने किये हैं, उसका फल वे भोगयोनि में आकर भोगते हैं, अतः जगत् का प्रथम प्रयोजन भोगयोनि है। इसमें जीव फल भोगने के लिये परतंत्र रहते हैं, इस फल भोगने का उनकी इच्छा अनिच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

२. **कर्मयोनि**--मुक्ति के साधन करने के लिये यह कर्मयोनि है। कर्म करने या न करने के लिये जीव स्वतंत्र है, उत्तम कर्म करने पर भी उसे मुक्ति सुलभ हो सकती है। यदि यह जगत् न होता तो जीव उत्तम कर्म करने में भी असमर्थ होता, परिणामतः मुक्त होना उसके लिये संभव नहीं होता अतः जगत् रचना का दूसरा प्रयोजन कर्म योनि है।

३. **अयोनिसृष्टि**-- उत्तम कर्म करने से जीव मुक्त हो जाता है, ये उत्तम कर्म भी क्योंकि सान्त होते हैं, अतः उनके परिणामस्वरूप प्राप्त मुक्ति भी अनन्त न होकर सान्त होती है। दूसरी बात यह भी है कि अपने कर्मों के आधार पर यदि सभी जीव मुक्त हो जायें और यह मुक्ति अनन्त हो जावे तो सृष्टि का चलना भी असंभव हो जाये। अतः मुक्ति का समय समाप्त होने पर जीवों को पुनः संसार में आना पड़ता है। मुक्ति लाभ का कारण होता है, वेदाध्ययन और तद्नुसार आचरण। मुक्ति के समय में यह अध्ययन बन्द हो जाता है, अतः जीव फिर अपनी वास्तविक दशा में आ जाता है। मुक्ति से लौटे हुए ये जीव आदिम सृष्टि अथवा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होते हैं। "मुक्ति से लौटे हुए जीवों की सृष्टि एक सी बिना माता-पिता के युवा अवस्था में होती है। उनमें कोई निर्बल, लंगड़ा, कुबड़ा, अन्धा इत्यादि नहीं होता।"[१] यह अमैथुनी, आदिम अथवा अयोनि सृष्टि ही जगत् रचना का तीसरा प्रयोजन है। इस प्रश्न का उत्तर सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने निम्न शब्दों में दिया है—"और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने से ही सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे ही परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।"[२]

सृष्टि की आयु—सृष्टि की उत्पत्ति एवं आयु के संबंध ने जो विवरण शिव और भागवत् पुराणादि में दिया गया है, वह सर्वथा अवैज्ञानिक एवं अविश्वसनीय है, इस सम्बन्ध में जैनियों की स्थिति भी उनसे कुछ अधिक अच्छी नहीं है। 'ईसाई और इस्लाम के अनुयायी भी सृष्टि उत्पत्ति के समय को बहुत लम्बा मानने में संकोच करते हैं। "क्योंकि स्वयं इन मतों को अस्तित्व में आये हुए अधिक समय नहीं हुआ है। स्वामीजी के मतानुसार इस सृष्टि को बने हुए (१,९६,०८,५२,९७६) एक अरब, छियानवें करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छहत्तर वर्ष"[३] हो चुके हैं तथा इसको विनष्ट होने में (२,३३,३२,२७,०२४) वर्ष अभी और शेष हैं—इस प्रकार पूर्ण सृष्टि का काल ४,३२,००००००० वर्ष होता है जिसका विवरण निम्न है—

---

१. दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह (उत्तरार्द्ध-क), पृष्ठ ३८७

२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १३२

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ २६

सतयुग — १७,२८,००० वर्ष
त्रैतायुग — १२,९६,००० वर्ष
द्वापर — ८,६४,००० वर्ष
कलियुग — ४,३२,००० वर्ष
एक चतुर्युगी का योग — ४,३२०००० वर्ष[1]

ऐसो १००० चतुर्युगी का
एक सृष्टि-काल होता है

सृष्टि की आयु का अनुमान कई प्रकार से होता है—

१. सूर्य और तारागणों की दूरी से—'वर्तमान खोज से ऐसे-ऐसे सितारों और ग्रहों का पता चला है जिनके प्रकाश को इस पृथ्वी तक पहुंचने में करोड़ों वर्ष लगे हैं और उस समय से उन सितारों के रूप धारण करने से समय का पता चलता है।'[2]

२. पृथ्वी के अन्दर खोदने से—पृथ्वी को खोद कर उसकी तहों का पता लगाया जाता है और उनमें पाये जाने वाली पशु और मनुष्यों की हड्डियों आदि (fossil) के आधार पर उनकी आयु से पृथ्वी की आयु का अनुमान किया जाता है। इन खुदाइयों में कभी-कभी प्राचीन सभ्यताओं के चिह्न व लिखित पत्थर इत्यादि मिल जाते हैं, जिनसे उनकी प्राचीनता का अनुमान होता है। 'भूगर्भ विद्या ने पृथ्वी की तहों को देखकर पृथ्वी के भीतरी भाग को आठ भागों में विभक्त किया है। सबसे नीचे को Ezoic era कहते हैं और इसकी आयु ५० करोड़ वर्ष है और सबसे अंतिम की ६ करोड़ वर्ष पुरानी है उसे Tertiary or Canozoic era कहते हैं।"[3]

२५ दिसम्बर को 'अमेरिकन रिपोर्टर' में एक पत्र छपा था जिसमें अमरीकी वेधशालाओं के प्रमुख ज्योतिषियों ने घोषणा की थी, "पृथ्वी की आयु पांच अरब चालीस लाख वर्ष निकलती है।"[4] साथ ही उसमें यह भी स्वीकार किया गया था कि इस गणना में २० प्रतिशत भूल की संभावना थी। वैज्ञानिकों के इस गणना को यदि ४० लाख की जगह ४० करोड़ मान लिया जाय तो समस्या बिल्कुल सुलझ जायेगी। '५ अरब ४० करोड़ का २० प्रतिशत हुआ १ अरब ८ करोड़। ५ अरब ४० करोड़ में से १ अरब ८ करोड़ कम कर देने से शेष ४ अरब ३२ करोड़ रहा।"[5] ठीक यही गणना भारतीय मनीषियों ने भी की है। अतः स्वामी दयानन्दजी द्वारा दी हुई सृष्टि की आयु उचित ही प्रतीत होती है।

शास्त्रों में विरोध ?—वेदान्त, योगादि शास्त्रों में जो सृष्टि रचना प्रक्रिया दी गई है वह कुछ व्यक्तियों को परस्पर विरुद्ध प्रतीत हुई और प्रतीयमान विरोध के सम्बन्ध में उन्होंने स्वामीजी से शंका की। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि शास्त्र कोई भी झूठा नहीं है "झूठा वह है जो विपरीत समझता है……छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में 'ऐसा कोई कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय,' वैशेषिक में 'समय न लगे बिना बने ही नहीं' न्याय में 'उपादान कारण न होने से कुछ भी

---

[1] वेद शास्त्र तालिका, पृष्ठ २८

[2] विश्व की पहेली—पूर्णचन्द्र, पृष्ठ २००-२०१

[3] वही, पृष्ठ २०३

[4] वेद प्रकाश, दिसम्बर १९६०, सृष्टि की आयु, पृष्ठ २६२

[5] वही, पृष्ठ २६२

नहीं बन सकता,' योग में 'विद्या, ज्ञान, बिचार न क्रिया जाय तो नहीं बन सकता', सांख्य में 'तत्वों का मेल होने से नहीं बन सकता' और वेदान्त में 'बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न ही सके।''[1] इन्हीं छः कारणों से सृष्टि का निर्माण होता है और इन कारणों की व्याख्या पृथक्-पृथक् शास्त्र में की गई है, अतः उनमें विरोध कुछ भी नहीं है, वे सभी एक दूसरे के पूरक हैं।

प्रकृति उपासना से हानि—अब तक जो विवरण दिया गया, उससे इतना तो सिद्ध हो गया कि प्रकृति सृष्टि का मूल कारण अथवा उपादान कारण है, वह चेतन न होकर जड़ है। आज के मानव के आनन्दमय भगवान को छोड़कर प्रकृति का आश्रय ग्रहण किया है, सरल मार्ग को भूल कर वाममार्ग (उल्टे मार्ग) पर चलना प्रारम्भ किया है। ''जिस प्रकार वाम और दक्षिण दोनों विरोधी हैं उसी प्रकार प्रकृति परमात्मा के विरुद्ध गुणयुक्त है। परमात्मा चेतन है उसकी उपासना से ज्ञान बढ़ता जाता है, प्रकृति जड़ है उसकी उपासना से ज्ञान का ह्रास होता है।''[2] परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, अतः उसकी उपासना से मनुष्य को शक्ति प्राप्त होती है, प्रकृति निर्बल है अतः उसकी उपासना से जीव की शक्ति का ह्रास होता है। प्रकृति और परमात्मा को लोक में लक्ष्मी-विष्णु, शक्ति-शिव, वाम मार्ग-दक्षिण मार्ग नाम से सम्बोधित किया गया है। उपास्य के गुण उपासक में आते हैं, अतः प्रकृति के उपासकों को जड़ता के अतिरिक्त कुछ और उपलब्ध नहीं होता।

मुक्ति

परिभाषा एवं स्वरूप—'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में स्वामीजी ने लिखा है ''मुक्ति अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्ध रहित सर्व व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।''[3] मुक्ति अथवा मोक्ष का शाब्दिक अर्थ होता है पृथक् होना अथवा छूट जाना। यह शब्द चुरादिगणी मोक्ष अवसाने धातु से घञ् प्रत्यय करने पर बनता है। इसकी व्युत्पत्ति की जाती है ''मोक्षयन्ति समाप्नुवन्ति दुखानि यस्मिन्निति मोक्षः''[4] स्वामीजी ने भी 'पूना प्रवचन' में मुक्ति का यही अर्थ किया है। जीवात्मा बद्ध है इसको मुक्ति की आवश्यकता है ''दुःख अर्थात् बन्धन से छूटना मुक्ति है।''[5]

मुक्ति शरीर के समाप्त होने पर ही मिलती है। लोक में इसके कई नाम प्रचलित हैं—मोक्ष, स्वर्गीय होना, शान्त होना, दिवंगत होना, रामशरण होना, अल्लाहमियां को प्यारे होना, निर्वाण प्राप्त करना आदि। मोक्ष का अभिप्राय इस जग से छूट जाना है, स्वर्गीय अथवा दिवंगत होने में यह ध्वनि आती है कि मनुष्य इस लोक से किसी ऐसे लोक में पहुंच गया है जहां स्वर्ग (सुख) है जो इस पृथ्वी से कहीं बहुत ऊपर है, रामशरण अथवा अल्लाह को प्यारे

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १३७

२. दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह (उत्तरार्द्ध-क), पृष्ठ ४१८

३. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश, पृष्ठ ३८४

४. वैदिकसिद्धान्त, मोक्ष—बालकृष्ण शर्मा, पृष्ठ १८०

५. पूना प्रवचन, पृष्ठ १४५

हो जाने में कुछ ऐसा ही भाव है कि भगवान् कहीं ऊपर विराजमान हैं और जीव भी वहीं पहुंच जाता है। 'निर्वाण शब्द का प्रयोग बौद्धों ने किया। बौद्ध आत्मा को नित्य नहीं मानते। उनके यहां मुक्ति का स्वरूप यही है कि दीपक बुझ जाता है····वह यही समझते हैं कि जैसे दीपक बुझ गया, वैसे ही आत्मा भी समाप्त हो गया।''[1] इस प्रकार के मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतिमय विचार आधुनिक संसार में फैल रहे हैं। कुछ तो मुमुक्षु जीव का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, कुछ उसे प्रकृति का विकसित रूप मानते हैं, कुछ इस संसार को क्षणभंगुर मानकर शरीर के भष्मीभूत हो जाने पर ही इसका अन्त मानते हैं। कुछ ने मोक्ष के बारे में ऐसी कल्पना कर रखी थी कि वहां यहां से सुख अधिक मात्रा में मिलेगा, सुख का स्वरूप सांसारिक ही होगा, उसकी मात्रा और परिमाण में अन्तर होगा। उनके मतानुसार उस स्थान पर एक स्त्री के स्थान पर विलास के लिये अनेकों अप्सरायें होंगी, दूध और शहद की नहरें होंगी, विशाल भवन होंगे और वहां के बाग सदा मेवों से लदे रहेंगे। मुसलमान और ईसाई भाइयों की धारणा तो ऐसी है ही, उसका कुछ प्रभाव पौराणिक बन्धुओं पर भी है। जैनियों की मुक्ति की कल्पना तो और भी विचित्र है "उर्द्ध लोक में एक सिद्धशिला स्थान है, स्वर्गपुरी के ऊपर पैंतालीस लाख योजन लम्बी और उतनी ही पोली है तथा ८ योजन मोटी है। जैसे मोती का श्वेत हार वा गोदुग्ध है उससे भी उजली है, सोने के समान प्रकाशमान और स्फटिक से भी निर्मल है, यह सिद्धशिला चौदहवें लोक की शिखा पर है और उस सिद्ध शिला के ऊपर शिवपुर धाम उसमें भी मुक्त पुरुष अधर रहते हैं, वहां जन्म मरणादि कोई दोष नहीं....।''[2] स्वामीजी के दृष्टिकोण से उपर्युक्त सभी मत भ्रान्त हैं।

वैदिक साहित्य में मुक्ति के लिये जो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, वे हैं—अपवर्ग, निश्रेयस्, कैवल्य आदि। स्वामीजी के मतानुसार मुक्ति का पहला स्वरूप है दुःखों से छूट जाना और दूसरा स्वरूप है आनन्द प्राप्त करना। आनन्द प्राप्ति का यह समय बहुत विस्तीर्ण होने पर भी अनन्त नहीं है क्योंकि "यदि सुखों और दुःखों का अत्यन्तभाव ही आनन्द है तो क्लोरोफार्म सूंघे हुए मनुष्य और मरे हुए मुर्दे सब आनन्दमय समझने चाहिये और पत्थर, मिट्टी तथा दीवारों को मुक्त ही मानना चाहिये।''[3] मुक्ति का आनन्द सांसारिक आनन्द की भांति नहीं है, क्योंकि सांसारिक आनन्द शरीरधारी द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, वह तो परमेश्वर की प्राप्ति का आनन्द है, जो लोकोतर है, जहां सब शंकायें निवृत्त हो जाती हैं और संसार की कोई बात ज्ञातव्य नहीं रहती।

दुःख प्राप्ति के कारण—दुःखों से छूटने का नाम मोक्ष है और इस मोक्ष को प्राप्त करने के पहले यह जानना आवश्यक होगा कि दुःख आता कहां से है। जिस वस्तु से मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है वह उसके प्रति उदासीन हो जाता है, उस वस्तु के प्रति वैराग्य अथवा प्रेम का अभाव हो जाता है और इस विरक्त पुरुष को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। दुःख के आनुषंगिक कारण बहुत से हो सकते हैं, पर मुख्य कारण उसका मोहग्रस्त होना है। कोई व्यक्ति अपनी प्रेयसी के रूप पर मुग्ध है, इस मोहावेश में उस पर सब कुछ न्योछावर करने को उद्यत हो

---

१. आर्यमित्र, नवम्बर १९७२—प्रकाशवीर शास्त्री, पृष्ठ ५९

२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २८७ ३. वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ७१५

जाता है, सहसा उसे ज्ञात होता है कि उसकी पत्नी कुलटा है तो उसका मोह टूट जाता है। उसमें उससे विरक्त होने की भावना जागृत हो जाती है। संसार के स्वरूप को समझने वाला जितना उसमें मोहग्रस्त होता है उतना ही संसार के स्वरूप को ठीक से जानने वाला उससे विरक्त हो जाता है। मराठी के एक कवि ने तो इतना तक कह दिया है कि मूर्खों में भी महामूर्ख वह है जो संसार में सुख मानता है और महान दुःखमय संसार को दुःख नहीं गिनता।

"मूर्खामाजी पर मूर्ख, जो संसारी मानी सुख।
संसार दुःखा ये बढ़ें, दुःख गणी च नाजो॥"[1]

मोक्ष प्राप्ति के साधन—लोगों ने मुक्ति स्वरूप जितना भ्रमपूर्ण समझा है, मुक्ति के साधन उन्होंने उससे भी कहीं अधिक भ्रमपूर्ण जाने हैं। स्वामीजी ने तो इन नासमझ लोगों के सम्बन्ध में इतना तक लिखा है "आजकल तो लोग यह समझते हैं कि सस्ती भाजी की तरह मनमाने कार्यों से मुक्ति मिलती है, परन्तु मूर्खतापन की समझ है।"[2] कोई गंगा का नाम ले लेने से और कोई उसमें डुबकी लगा लेने से मुक्ति मानता है, कोई गुरुओं का चरण स्पर्श तथा उनका जूठा खाना मुक्ति का साधन मानता है, कोई किसी पैगम्बर या हिमायती की सिफारिश से मुक्ति की आशा करता है, कोई गाय की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करना चाहता है, कोई मद्य मांस मीन, मुद्रा और मैथुन से ही मोक्ष की आशा करता है और कुछ बीजमार्गी जैसे पामर इससे भी बहुत अधिक आगे बढ़ जाते हैं "और बीजमार्गी स्त्री पुरुष के समागम कर जल में वीर्य डाल मिला कर पीते हैं। ये पामर ऐसे कर्मों को मुक्ति का साधन मानते हैं।"[3] स्वामी दयानन्द पहले सुधारक थे जिन्होंने मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को हमारे सामने रखा और मोक्ष के साधनों का हमें सम्यक् रूप से परिज्ञान करवाया। उनके मतानुसार मोक्ष प्राप्ति की तैयारी माता के गर्भ से प्रारंभ होती है। उनके द्वारा निर्दिष्ट मोक्ष के प्रमुख साधन निम्न हैं—

१. यम नियमों का पालन—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पांच यम हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान पांच नियम हैं। इनका पालन करने के बाद प्राणायाम धारणा ध्यान, समाधि के उपायों का काम में लाना अनिवार्य है। ये कार्य हैं तो बहुत कठिन पर बिना इनके मुक्ति संभव नहीं है। संयमी न होने पर "ये इन्द्रियां और चंचल मन जीव को भोगवाद के झंझट में डालते रहते हैं।"[4] इसी बात को स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में और अधिक स्पष्ट शब्दों में लिखा है। मुक्ति के साधन बताते हुए उन्होंने लिखा है—"परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने

---

[1] वैदिक सिद्धान्त, मोक्ष—बालकृष्ण शर्मा, पृष्ठ १८४

[2] पूना प्रवचन, पृष्ठ १४५

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २२४

[4] विश्व की पहेली, पृष्ठ १५१

और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभंग करने आदि से बन्ध होता है।''[1]

२. ईश्वर प्राप्ति--ईश्वर का तत्वतः ज्ञान ही ईश्वर प्राप्ति है और ईश्वर प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है। अन्य सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की भांति ही इसके लिये चार बातें अपेक्षित हैं--(क) प्राप्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान (ख) वह वस्तु कहाँ मिलती है (ग) वस्तु की प्राप्ति के लिये धनादि साधन (घ) उसके लिये पुरुषार्थ। प्रथम बात का विस्तृत विवरण हम इसी अध्याय के ईश्वर विषयक शीर्षक में दे चुके हैं, संक्षेप में वह निराकार, नित्य तथा आनन्दमय आदि है। दूसरी बात के संबंध में इतना कहा जा सकता है कि वह घट-घट वासी है, वह हरिद्वार, काशी या जगन्नाथ में ही वास नहीं करता, प्रयत्न करने पर उससे कहीं भी साक्षात्कार किया जा सकता है। तीसरी बात का उत्तर इससे पूर्व प्रवट्टक (पैराग्राफ) में दिया जा चुका है और चौथी बात अर्थात् पुरुषार्थ करना तो प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है ही।

ईश्वर का स्वरूप ही जिनको अभी ज्ञात नहीं है, उनसे उसकी प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। ईश्वर का स्वरूप यजुर्वेद में 'ईशावास्यमिदꣳसर्वम्[2] के रूप में दिया गया है। इसमें 'वास्य' शब्द 'वस निवासे' अथवा 'वस आच्छादने' धातु से बना है अर्थात् परमेश्वर इस जगत् में निवास करता है और बाहर भी यह सब जगत् उससे आच्छादित है, आत्मा में भी विद्यमान है। इस स्थिति में प्रश्न उठता है नित्य प्राप्त वस्तु की प्राप्ति ही क्या? 'अन्तर तीन प्रकार का हो सकता है--१. देशकृत अन्तर, २. कालकृत अन्तर और ३. अज्ञानकृत अन्तर।'[3] जीवात्मा व परमात्मा के बीच का अन्तर पहले दो प्रकार का अर्थात् देशकृत और कालकृत नहीं हो सकता क्योंकि परमेश्वर सर्वव्यापी है और नित्य है और जीव भी नित्य है। यह अन्तर तीसरे प्रकार का अर्थात् अज्ञानकृत ही होता है। सामान्य व्यवहार में भी कभी-कभी ऐसा हो जाता है ''छोरा घर में और ढिंढोरा शहर में'', हाथ में रखे हुए रूमाल या चाबी के गुच्छे को मनुष्य घण्टों इधर-उधर ढूंढता रहता है। यदि किसी प्रकार इस अज्ञान को दूर किया जा सके तो ईश्वर प्राप्ति मोक्ष प्राप्ति सुलभ हो सकती है। 'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा'[4] अर्थात् यह आत्मा सत्य से और तप से पाया जा सकता है। सत्य की सीधी-साधी परिभाषा है--'जो वस्तु या बात जैसी हो उसको उसी प्रकार कहना सत्य कहाता है।' किन्तु आज अज्ञों की दुनिया में विज्ञों की सुनने वाला ही कौन है, परिणामतः अधिकाधिक सांसारिक मोक्ष से दूर होते जा रहे हैं। सत्य के बाद मोक्ष का दूसरा साधन है तप--''मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का नाम तप है।''[5] तीसरा साधन है सम्यक् ज्ञान। मनुष्य को ज्ञान प्रायः श्रवण के आधार पर ही होता है--अतः जालग्रन्थों को छोड़कर

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १४८

[2] यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १२०५

[3] वैदिक सिद्धान्त, मोक्ष--बालकृष्ण शर्मा, पृष्ठ २०२

[4] एकदशोपनिषद् प्रथम भाग, मुण्डकोपनिषद्, पृष्ठ १८०

[5] वैदिक सिद्धान्त, मोक्ष, पृष्ठ २०९

वेद अथवा वेदानुकूल ग्रंथों के अध्ययन अथवा श्रवण से ही सम्यक् ज्ञान हो सकता है। चौथा साधन है ब्रह्मचर्य—विषयासक्ति से निवृत्त होना ही ब्रह्मचर्य है, जिसका मन अत्यन्त विषयासक्त होता है, मोक्ष उससे कोसों दूर हो जाता है। मन का एकाग्र करना भी इसके लिए आवश्यक है, योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के इस रोध को ही योग कहा गया है, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। मोक्ष प्राप्ति का अन्तिम साधन है पुरुषार्थ। पुरुषार्थ की परिभाषा सांख्य दर्शन में दी गई है "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।"[१] अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। इतने सब साधन जुटाने पर भी यह निश्चित नहीं है कि मोक्ष एक जन्म में ही प्राप्त हो जाये, उसमें अनेक जन्म भी लग सकते हैं। गीता के छठे अध्याय में कहा गया है—"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्विषः। अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।" अर्थात् इस प्रकार लगातार श्रम करता हुआ अन्त को पूर्णतया दोषरहित होकर अनेक जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् सिद्धि पद लाभ करके परम गति को प्राप्त होता है।"[२]

मोक्ष में जीव कहाँ रहता है?—सामान्यजनों का विश्वास है कि मोक्ष में जीव कहीं ऊपर चौथे या सातवें आसमान में रहता है, पर स्वामीजी की धारणा ऐसी नहीं है। वे मोक्ष के लिये कोई विशेष स्थान नियत नहीं मानते। वैसे भी स्थान शरीरधारी के लिये चाहिये। उनके दृष्टिकोण से मोक्ष केवल अवस्था विशेष का नाम है, "जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतंत्र विचरता है।"[३] यह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता है, अन्य मुक्तों के साथ मिलता है तथा सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक लोकान्तरों में घूमता है। जितना उसमें ज्ञान अधिक होता है उतना ही उसे आनन्द अधिक मिलता है। मुक्तावस्था में भी जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है, वह ब्रह्म के साथ रहता हुआ भी पूर्णतः ब्रह्म में लीन नहीं होता। लय होने वाली बात नवीन वैदान्तियों द्वारा प्रचलित की गई है। स्वाभाविक रूप से जीव न बन्धन में होता है और न मोक्ष में, यह उसका नैमित्तिक गुण है "बन्धन और मोक्ष उसको दोनों कर्मों के निमित्त से प्राप्त होते हैं।"[४] मुक्तावस्था में जब जीव यह कहता है कि 'सोऽहम्' मैं वही हूं, इसका अभिप्रायः यह नहीं होता कि ईश्वर और जीव दोनों एक दूसरे में लीन हो गये। इसका तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि दोनों की घनिष्टता प्रतीत हो जाये। व्यवहार में घनिष्ट मित्रों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'वे एक प्राण दो तन हैं।' यदि जीव ब्रह्म में मिल जाये तो मुक्ति का आनन्द कौन भोगेगा—रत्नाकरजी ने तो उद्धवशतक में लिखा है "बनिहै बिगरि न वारिधता वारिधि की। बूंदता बिलै हैं बिवस विचारी की।"[५]

---

१. वैदिक सिद्धान्त, मोक्ष, पृष्ठ २१३
२. श्रीमद्भागवद्गीता—सामर्पणभाष्य, पृष्ठ १५४
३. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १४९
४. विश्व की पहेली, पृष्ठ १५६
५. उद्धवशतक—रत्नाकर, पृष्ठ ४६

मुक्ति से लौटना—कुछ मतवादियों का विश्वास है कि जीव एक बार मुक्त होकर सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाता है। उनके दृष्टिकोण से यदि पुनः जन्म-मरण के बंधन में पड़ना पड़े तो वह मुक्ति क्या हुई ? और तो और पहले स्वयं स्वामीजी का यही विचार था कि मुक्ति अनन्त होती है। आर्याभिविनय के प्रथम तथा द्वितीय संस्करण में पाठ इस प्रकार था "फिर कभी जन्म-मरण यदि दुःख सागर को प्राप्त नहीं होते तथा फिर वहां से कभी दुःख में नहीं गिरते।"[१] शताब्दी संस्करण में इस पाठ में इतना परिवर्तन उपलब्ध होता है "फिर वहाँ से शीघ्र दुःख में नहीं गिरते।"[२] किन्तु कुछ काल बाद मनीषी दयानन्द ने अपने विचारों में परिवर्तन करके सत्य को स्वीकार किया। उन्होंने विचार किया कि उत्तम कर्म करने से जीव को मुक्ति मिलती है और ये कर्म सान्त होते हैं, अतः सान्त कर्म का परिणाम अनन्त नहीं हो सकता। संस्कृतवाक्यप्रबोध जैसे छोटे से ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा 'प्राप्तमोक्षा जीवास्तत्र सर्वदा न वसन्ति····पुनर्जन्ममरणे'[३] प्राप्नुवन्त्येव अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हुए जीव वहां सर्वदा नहीं रहते···फिर जन्म और मरण को अवश्य प्राप्त होते हैं। श्री घासीरामजी ने जीवन चरित्र में इस घटना का विवरण इस प्रकार दिया है—"इस विषय पर हमने बहुत विचार किया है और सांख्यशास्त्र के प्रमाणानुसार हमें मुक्ति सान्त ही माननी पड़ी। जब जीव का ज्ञान परिमित है तो मुक्ति, जो उस ज्ञान का फल है, अपरिमित वा अनन्त कैसे हो सकती है।"[४] ऋग्वेद के एक मंत्र का भाष्य करते हुए स्वामीजी ने इस पुनरागमन को स्पष्ट किया है—"हम लोग जिस ज्ञान स्वरूप विनाशधर्मरहित पदार्थ का मोक्ष प्राप्त जीवों में अनादि विस्तृत अद्वितीय स्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने या संसार में सब पदार्थों के देने वाले परमेश्वर का पवित्र गुणों का गान करना जानते हैं वही हमको बड़े-बड़े गुण वाली पृथ्वी के बीच में फिर जन्म देता है जिससे हम लोग फिर पिता और माता और स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि को देखते हैं।"[५] मुक्ति से लौटने के संबंध में स्वामीजी ने निम्न युक्तियां और दी हैं—

१. जीव अनन्त सुख नहीं भोग सकते, जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता।

२. जो मुक्ति से कोई भी जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् संसार के जीवन शेष हो जाने चाहिए।

३. ईश्वर नये जीव उत्पन्न नहीं करता—यदि ऐसा माना जाये तो जीव अनित्य हो जायेगा।

४. मुक्ति के स्थान में बहुत भीड़-भड़क्का हो जावेगा।

५. दुःख के अनुभव के बिना सुख नहीं हो सकता।

६. जो ईश्वर सान्त कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाये।

---

[१] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ७३

[२] दयानन्द ग्रन्थमाला श० स० प्रथम भाग, पृष्ठ १४

[३] संस्कृतवाक्यप्रबोध, पृष्ठ ६०

[४] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग २—पं० घासीराम, पृष्ठ २३२

[५] ऋग्वेद हिन्दीभाष्य—प्रथम खण्ड, पृष्ठ ११८-११९

७. अल्पशक्ति वाले जीव पर अनन्त फल का भार नहीं रखा जा सकता।

८. यदि मुक्ति से लौटना न हो तो मुक्ति की तुलना जन्म-कारागार से दी जा सकती है। जब कारागार से आना ही नहीं तो जन्म कारागार में और मुक्ति में इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।

मुक्ति की अवधि—उपर्युक्त विवरण से यह तो ज्ञात हो गया कि मुक्त जीव को कुछ समय पश्चात् पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। मुक्तावस्था का यह समय सान्त होते हुए भी कम नहीं होता। स्वामीजी ने यह समय इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—"तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है……इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।[1] गणित के अनुसार इस समय की गणना निम्न प्रकार से होगी।

४३,२०,००० = एक चतुर्युगी
४३२०००० गुणित २००० = ८६४००००००० = एक अहोरात्र
८६४००००००० गुणित ३० = २५९२०००००००० = एक महीना
२५९२०००००००० गुणित १२ = ३११०४०००००००० = एक वर्ष
३११०४०००००००० गुणित १०० = ३११०४०००००००००० = परान्त काल[2]

इतने वर्षों तक जीव मुक्तावस्था में रहता है। स्वामीजी ने यह अवधि मुण्डकोपनिषद् के आधार पर दर्शायी है।

निष्कर्ष—ईश्वर, जीव, प्रकृति और मोक्ष में स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह उनके विस्तृत अध्ययन का परिचायक तो है ही, साथ ही साथ उनके निजी अनुभव भी इसमें सम्मिलित हैं। इस विषय पर दृष्टिपात करने के लिये उन जैसा अनुभवी एवं सत्यप्रिय व्यक्ति ही चाहिये था। वे घर का मोह छोड़कर सच्चे शंकर की तलाश में निकले थे, हिमालय की चोटी से लेकर समुद्र पर्यन्त उन्होंने भ्रमण किया, नर्मदा के स्रोत की खोज में गये, अनेकों योगियों, महात्माओं और व्यक्तियों से मिले पर सच्चा शंकर उन्हें नहीं मिल पाया। उन्होंने हरिद्वार, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरं, मथुरा, गया आदि सभी तीर्थ स्थानों की यात्रा की पर मनचाही वस्तु वे पा न सकें, अपने चाचा और बहिन की मृत्यु ने उनके हृदय पर जो आघात किया था, मृत्यु का वही रहस्य वे खोजने निकले थे, जीवन और मृत्यु का रहस्य मिला उन्हें योग में और वैदिक साहित्य में। उनकी सत्य की खोज जारी रही, जिसे उन्होंने असत्य समझा उसे न केवल अस्वीकार किया बल्कि उसमें संशोधन भी कर लिया। मुक्ति से पुनरागमन का सिद्धान्त इसका अन्यतम उदाहरण है। संभवतः हम उनके इन सिद्धान्तों से पूर्णतः सहमत न हों पर जब तक वेद के आधार पर कोई उन सिद्धान्तों को चुनौती नहीं देता तब तक उन सिद्धान्तों को हमें शिरोधार्य करना ही होगा।

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५१

[2] दयानन्द सिद्धान्त भास्कर—कृष्णचन्द्र विरमानी, पृष्ठ १७३

स्वामीजी ने जो कुछ सत्य समझा, उसे जनता के लाभ के लिये सबके समक्ष रख दिया। जनता को लाभ पहुंचाने के लिये वे 'समाधि' का सुख भी छोड़कर आये। मुक्ति के लिये सत्य, यम-नियम का पालन, चित्तवृति निरोध आदि जो बातें उन्होंने बताईं, व्याख्यान देने से पहले उन्हें अपने जीवन में क्रियारूप में परिणित भी किया। इस विषय में उनकी धारणायें कोरे दार्शनिक सिद्धान्त या वाग्जाल नहीं है, अनुभव की सच्चाई ने उनकी गरिमा को बढ़ा दिया है। उनके दृष्टिकोण से प्रकृति का केवल अस्तित्व है, जीव में अस्तित्व के साथ चेतना भी है और ईश्वर में इन दोनों गुणों के साथ-साथ आनन्दमय होना भी है। जीव को मोक्ष के लिये एक जन्म ही पर्याप्त नहीं होता, अनेक जन्म में भी यह कार्य बड़ी कठिनाई से हो पाता है। स्वामीजी से पूर्व भी कुछ व्यक्तियों ने इन सिद्धान्तों की चर्चा की थी पर इनकी भाषा संस्कृत थी, यह स्वामीजी का ही साहस था कि उन्होंने इतने गम्भीर विषय को भी सामान्य जनता के लिये उनकी सरल आर्य भाषा में रख दिया। यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वामीजी का शरीरान्त भी उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार किसी मुक्ति में जाने वाले प्राणी का होता है।

◆◆

सप्तम अध्याय

वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्णाश्रम का सामान्य परिचय—वैदिक साहित्य का प्रासाद जिन विशाल स्तम्भों पर खड़ा है उनमें से दो प्रमुख है—वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था। कुछ लोगों का विश्वास है कि वर्ण और जाति एक ही वस्तु है, सामान्यतः एक दिखाई पड़ने पर उनकी व्युत्पत्ति एवं स्वरूप में कुछ अन्तर है। जाति का संबंध (जात) अथवा जन्म से है और वर्ण का संबंध 'वरणी या वरीतुमही'[1] से है अर्थात्, जो वरणीय अथवा वरण करने के योग्य हो। जाति दैवाधि न होती है, उसमें परिवर्तन असम्भव है "दैवायतं कुले जन्म मदायतम् तु पौरुषम्"[2] किन्तु वर्ण को चुना जा सकता है और आवश्यकता होने पर उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। स्वामीजी के मतानुसार "मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण कहलाते हैं।"[3] श्री वी. एस. आप्टे ने भी अपने शब्द कोष में 'जाति' का अर्थ लिखते हुए इसी का समर्थन किया है 'The Primary Castes of The Hindus are only four' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व and शूद्र।[4] देश का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि 'बुद्ध' से लेकर 'राममोहन राय' तक सभी ने जाति प्रथा को धार्मिक संस्था माना है। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है Beginning from Buddha to Ram Mohan Roy everyone made the mistake of holding caste to a religious institution[5] अर्थात् बुद्ध से लेकर राममोहनराय तक समय में सभी ने जाति प्रथा को धार्मिक संस्था मानने की भूल की है।

जाति-भेद प्राचीन नहीं—वेद रीति के अनुसार स्वामीजी ने इस जाति के केवल दो भेद माने हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु। वेदों में कहीं भी वर्ण को जन्म के आधार पर नहीं माना गया है। आर्यसमाजी तथा पौराणिक दोनों ही अपना पक्षपोषण करने के लिये ऋग्वेद का निम्न मंत्र प्रस्तुत करते हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्या ᳫं शूद्रोऽजायत ।।[6]

पौराणिक भाष्यकारों ने इस मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—"ब्राह्मण ब्रह्म (ईश्वर) के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उसके पेट से और शूद्र उसके

---

[1] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ २६९

[2] वेणीसंहार (भट्टनारायण)—एम. आर. काले, पृष्ठ ७५

[3] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ २७०

[4] The Students Sanskrit-English-Dictionary —V. S. Apte, Page 219

[5] आधुनिक भारतीय संस्कृति—एल. पी. शर्मा, पृष्ठ ४

[6] ऋग्वेद १०।९०।१२, यजुर्वेद भाषाभाष्य, पृष्ठ १०४८

पैरों से ।"[1] यह मंत्र ऋग्वेद १०।९०।१२ में भी है और यजुर्वेद में भी है । ऋग्वेद के इस मंत्र का भाष्य स्वामीजी ने नहीं किया है, किन्तु यजुर्वेद में निम्न प्रकार किया है "हे जिज्ञासु लोगों तुम इस ईश्वर की सृष्टि में वेद ईश्बर का ज्ञाता इनका सेवक वा उपासक मुख के तुल्य उत्तम ब्राह्मण है । भुजाओं के तुल्य बल पराक्रमयुक्त राजपूत किया, जो जांघों के तुल्य वेगादि काम करने वाला, वह इसका सर्वत्र प्रवेश करने हारा वैश्य है, सेवा और अभिमान रहित होने से मूर्खपन आदि गुणों से युक्त शूद्र उत्पन्न हुआ ये उत्तर क्रम से जानो ।"[2]

पौराणिक विद्वान उक्त मंत्र से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जाति जन्मगत है और ब्रह्म के अंग विशेष से उत्पन्न होने के कारण वर्ण विशेष श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट है । वैदिक मतावलम्बी इसका अभिप्राय यह लेते हैं कि वर्ण व्यवस्था गुणों के आधार पर हुई । तथ्य पर पहुंचने के लिए इस मंत्र का पूर्वापर प्रसंग देखना होगा । यह मंत्र 'पुरुषसूक्त' में आया है जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों वेदों में आया है । इस सूक्त में सृष्टि का वर्णन एक विराट् पुरुष के रूप में किया गया है । मानव समाज को भी इसमें एक-एक पुरुष के रूप में उत्पन्न हुआ निर्दिष्ट किया गया है "यहां जिसे पुरुष रूप में वर्णन किया गया है उनके कितने ही अंगों की भी कल्पना की गई है । उसका सिर क्या था, उसकी भुजाएं क्या थीं और उसका उदर और पांव किसे बताया गया है ?"[3] यहां यह नहीं पूछा गया कि उस पुरुष के अनेक अंगों से कौन-कौन उत्पन्न हुआ था ? यदि अमिधा से इसका शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो इसमें कई आपत्तियां उपस्थित होती हैं । प्रथमतः वह ब्रह्म निराकार है तो उसके मुखादि अंग नहीं हो सकते, जो मुखादि अंगवाला हो वह पुरुष नहीं अर्थात् व्यापक नहीं[4] हो सकता, द्वितीय ब्राह्मण को मुख्य होने से मुख की संज्ञा दी गई है अन्यथा सभी वर्णों की उत्पत्ति एक ही स्थान से होती है । अक्खड़ कबीर के शब्दों में 'बाम्हन बाहमनी जे तू जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया ।' इस मंत्र का संक्षिप्त अभिप्राय इस प्रकार है—मनुष्य शरीर में विचार करने वाला मन और ज्ञानेन्द्रियां सिर में स्थित है, इसी प्रकार मानव समाज में 'ब्रह्म' का ज्ञान रखने वाले ब्राह्मण हैं । इस वर्ग में अध्यापक, धर्म प्रचारक, वैज्ञानिक अन्वेषक, चिकित्सक, विधिवेत्ता आदि समाहित हो जाते हैं, 'क्षतात् त्रायते अर्थात् हानि से बचाने वाले क्षत्रिय'मानव समाज की भुजाओं के समान हैं, इनमें सिपाही, फौजी मनुष्य, मजिस्ट्रेट तथा अन्य सभी राज कर्मचारी आ जाते हैं, वैश्य का अभिप्राय है व्यापार को फैलाने वाला, इसकी तुलना उदर (पेट, आंतें, जिगर, फेफड़े, हृदय, गुर्दे, प्रजनन इन्द्रियां) से की गई है--वाणिज्य व्यवसाय करने वाले तथा आयात-निर्यात करने वाले इसी श्रेणी में आते हैं । शूद्र पुरुष मानव समाज के पैरों के समान हैं क्योंकि जिस प्रकार पैर श्रम करके सारे शरीर को संभाले रहते हैं, उसी प्रकार शूद्र भी श्रमजीवी होने के कारण सारे समाज को संभाले रहते हैं ।

---

१. नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ-वैदिक वर्ण व्यवस्था, गंगाप्रसादजी, पृष्ठ ३१

२. यजुर्वेदभाषाभाष्य, पृष्ठ १०४८

३. नारायण अ० ग्रन्थ, वैदिक वर्ण व्यवस्था—गंगाप्रसादजी, पृष्ठ ३१

४. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५२

वेदों में तो जाति भेद की चर्चा मिलती ही नहीं, उपनिषदों में भी इसका संबंध जन्म से न होकर कर्म से है। छान्दोग्य उपनिषद् में हारिद्रुभत मुनि सत्यकाम से उसके गोत्र के सम्बन्ध में पूछते हैं। उसने उत्तर दिया—"मैं नहीं जानता मेरा क्या गोत्र है। मैंने मातुश्री से पूछा था, उन्होंने मुझे उत्तर दिया कि युवावस्था में वे अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थी, उसी समय मेरा जन्म हुआ, इसलिये उन्हें नहीं मालूम कि मेरा क्या गोत्र है... मुनि कहने लगे, जो ब्राह्मण न हो वह तो ऐसी बात कह ही नहीं सकता।"[1] इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि उस समय गोत्र निर्धारण कर्मों के आधार पर था।

महाभारत के शान्ति पर्व में अनेक स्थलों पर निर्दिष्ट किया गया है कि वर्ण व्यवस्था, कर्म के आधार पर थी। श्रीमद्भगवद्गीता का अति प्रसिद्ध श्लोक 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्मविभागशः' इसका ही अंश है। इस श्लोक में श्री कृष्णजी कहते हैं "चातुर्वर्ण्य का असली स्वरूप तो गुण कर्म विभाग पर आश्रित है। उस गुण कर्म विभाग पर आश्रित का वर्तमान युग में मैं स्रष्टा हूं।"[2] मनु स्मृति के अध्याय २ के १६८वें श्लोक में वेदाध्ययन न करने वाले ब्राह्मण को शूद्रत्व ही प्रदान किया गया है "जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह जीवित ही अपने वश के सहित शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है।"[3]

नीति शास्त्र में भी वर्ण व्यवस्था जन्मना स्वीकार नहीं की गई है। शुक्र नीति के प्रथम अध्याय के अड़तीसवें श्लोक में स्पष्ट लिखा है, "कोई भी मनुष्य इस जगत् में बिना कारण जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या म्लेच्छ नहीं बन सकता, प्रत्युत इन सब के भेद के कारण उनके पूर्व जन्म या इस जन्म के गुण कर्म ही हैं।"[4] सूत्र ग्रन्थों में भी यह व्यवस्था कर्म से ही मानी गई है, आपस्तम्भ सूत्र में लिखा है "धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्णों को प्राप्त होता है, और वह उसी वर्ण में गिना जाय जिसके वह योग्य होवे।"[5] इसके अतिरिक्त पौराणिकों को अतिप्रिय 'भागवत्' में भी जन्म से जाति मानने का स्पष्ट निषेध है 'न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणों भवेत्। चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिरः' अर्थात् हे युधिष्ठिर! कुल वा जाति से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता, क्रिया से होता है। चाण्डाल भी शुद्ध आचार वाला है तो वह ब्राह्मण है।"[6] इसके अतिरिक्त 'शंकर नीति' में भी स्वामी शंकराचार्य जी ने इसी मत को प्रकट किया है 'यहां जाति (जन्म) से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और मलेच्छ नहीं होता, सब गुण कर्मों के भेद से होते है।"[7] विभिन्न ग्रन्थों के उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि जन्म से वर्ण अथवा जाति मानने की प्रथा प्राचीन न होकर अर्वाचीन है।

---

१. एकादशोपनिषद् प्रथम खण्ड, छान्दोग्य उपनिषद्, पृष्ठ ४४८
२. श्रीमद्भगवद्गीता—समर्पणभाष्य, पृष्ठ १०२
३. शुद्ध मनुस्मृति—ईश्वरी प्रसाद प्रेस, पृष्ठ ११४
४. शुक्र नीति—अनु. गंगाप्रसाद शास्त्री, पृष्ठ १२
५. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५३
६. जाति भेद—पं. गंगाप्रसाद एम. ए., पृष्ठ १४ ७. वही, पृष्ठ १४

जाति भेद की उत्पत्ति और वृद्धि—प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था का आधार गुण तथा वर्ण था और यह व्यवस्था मध्य युग तक अविरत रूप से चलती रही। जन्म को आधार मानने वाली 'जन्म व्यवस्था भारत के मध्य युग में प्रकट हुई।'[१] जाति-पांति की रचना ब्राह्मणों के दिमाग की उपज है, अपनी वरिष्ठता सिद्ध करने के लिये तथा स्वार्थवश अधिकारों पर अनुचित तौर पर एकाधिपत्य जमाने के लिये उन्होंने इसकी सृष्टि की थी। राष्ट्र और देश भले ही रसातल को चला गया हो, किन्तु ब्राह्मणों को इसमें आशातीत सफलता अवश्य मिली। आज की शिक्षा का प्रसार तथा जागृति हो जाने पर भी यह कोढ भारत से पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हो पाया है। पहले केवल दो ही विभाग थे आर्य एवं अनार्य और इनका आधार गुण कर्म ही था। 'गीता' में अर्जुन के क्लीवता धारण करने पर भगवान् श्री कृष्ण ने उसको कर्मों के आधार पर 'अनार्य जुष्टमस्वर्ग्यम्कीर्तिकरमर्जुन' कहा है।[२] कालान्तर में ब्राह्मणों के स्वार्थ को देखकर क्षत्रियों ने भी अपने बल का अभिमान करना प्रारंभ किया, उन्होंने अपना महत्त्व पृथक् रूप में प्रतिपादित किया, इनकी देखादेखी वैश्यों को भी अपने पैसे का मद प्रारंभ हुआ। ये तीनों वर्ण एक दूसरे के पूरक न होकर परस्पर प्रतिस्पर्धी हो गये और फिर तो इनके अवान्तर भेद चरम सीमा को पहुंच गये। देश, आचार और व्यवसाय के भेद से इनके और भी अधिक टुकड़े हो गये और फिर एक-एक वर्ण में असंख्य छोटी-छोटी बिरादरियां बन गई। श्री एल. पी. शर्मा ने इन भेद-उपभेदों की संख्या के संबंध में लिखा है "आधुनिक हिन्दू समाज ३००० से भी अधिक जातियों और उप जातियों में विभक्त है।"[३] प्रत्येक समाज में व्यक्ति स्वभाव, प्रकृति और आर्थिक स्तर के आधार पर विभाजित होते हैं, "किन्तु पैतृक आधार पर सामाजिक विभाजन हिन्दू समाज की विशेषता है। इसके अतिरिक्त जबकि अन्य समाजों में व्यक्ति अपने वर्ण में परिवर्तन कर सकता है, हिन्दू समाज में यह संभव नहीं है।"[४] महाभारत तक तो जन्मना जाति प्रथा को कोई जानता ही न था। श्री आर. सी. दत्त ने 'Civilization in Ancient India' में लिखा है, "महाभारत के समय में ब्राह्मण और क्षत्रियों को छोड़कर शेष लोग एक वैश्य जाति में ही थे और उसके आजकल की तरह ऐसे-ऐसे छोटे-छोटे टुकड़े नहीं हो गये थे।"[५] यह स्पष्ट है कि तथाकथित जातियों की उत्पत्ति पौराणिक समय में ही हुई। आज भी नवीन जातियों का निर्माण हो रहा है। हिन्दुओं के साथ-साथ इसका प्रभाव मुसलमानी तथा ईसाई मत पर भी पड़ा है, मुसलमानों में अरबी, ईरानी, अफगानी अथवा मुगल अपने आपको अन्य सह कर्मियों से ऊंचा समझते हैं। ईसाइयों में 'पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच के कोंकण देश के रोमन कैथोलिक हिन्दू ईसाइयों में नीचे लिखे विभाग हैं—बाम्मण (ब्राह्मण) चारडास (क्षत्रिय या क्षत्री), सुदिर (शूद्र), रेंडर्स (खजूर का रस खैंचने वाले) गाविक (नमक बनाने वाले) मदवाल (धोबी)[६] आदि जातियों के ये भेद प्रमुखतः जन्म, धार्मिक आस्था, व्यवसाय, स्थान रीतिरिवाज आदि के आधार पर किये गये हैं।

---

१. वैदिक संस्कृति के मूल तत्व—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृष्ठ २१८
२. श्रीमद्भगवद्गीता—समर्पणभाष्य, पृष्ठ १८
३. आधुनिक भारतीय संस्कृति—एल. पी. शर्मा, पृष्ठ २
४. वही, पृष्ठ १ ५. जाति भेद, पृष्ठ ३७ ६. वही, पृष्ठ ४०-४१

वर्ण परिवर्तन—वर्ण व्यवस्था को गुण कर्म के आधार पर मानने पर उसका एक आवश्यक परिणाम इनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन है । यदि कुछ विशेष कार्यों के करने से कोई व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है तो कोई कारण नहीं कि उन कार्यों को छोड़ने पर उसके वर्ण में परिवर्तन न किया जाय । वैसे भी मनु के अनुसार सभी व्यक्ति शूद्र ही पैदा होते हैं 'जन्मना जायते शूद्रः' और 'संस्काराज्जायतेद्विजः' वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब उत्कृष्ट और निकृष्ट कर्मों के आधार पर मनुष्यों के वर्ण में परिवर्तन किया गया । छान्दोग्य उपनिषद् के सत्यकाम जावाल के दासी पुत्र से ब्राह्मण होने की कथा पिछले पृष्ठों में वर्णित की ही जा चुकी है, ऐतरेयोपनिषद् के कर्त्ता ऐतरेय भी जैसा कि उनके नाम से विदित होता है, 'इतर' अर्थात् शूद्रा स्त्री के पुत्र थे । उनका पूरा नाम महिदास ऐतरेय था । यद्यपि महाभारत के प्रक्षेपों के आधार पर लोगों ने यह भ्रमजाल भी फैलाया है कि व्यास कहारी से तथा पराशर चाण्डाली से तथा वशिष्ठजी वेश्या के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, किन्तु इतना तो यथार्थ है ही कि क्षत्रिय विश्वामित्र तपस्या करके ब्राह्मण हुए थे । 'आदि पर्व' में लिखा है ''तताप सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्' अर्थात् इस तपस्या से सिद्धि को प्राप्त हो उद्दीप्त तेज वाले विश्वमित्रजी ने अपने प्रभाव से सम्पूर्ण लोकों को स्तब्ध एवं संतप्त कर दिया और (अन्ततोगत्वा) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ।''[1] इसी प्रकार विष्णु पुराण के आधार पर कहा जा सकता है कि 'नाभागो नेदिष्ट पुत्रस्तु वैश्यताभगमत्'[2] अर्थात् नैदिष्ट का पुत्र नाभाग वैश्यता को प्राप्त हुआ ।

कुछ क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को ही प्राप्त नहीं हुए, वे बड़े-बड़े ब्राह्मण वंशों तथा गोत्रों के कर्ता हुए । विष्णु पुराण के अनुसार कण्व गोत्र की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई, 'हरिवंश' के अनुसार मैत्रेय और मोद्गल्य गोत्र भी इसी श्रेणी में आते हैं । इनमें से वशिष्ठ, कण्व, पुरुमीत आदि तो कई मण्डलों के ऋषि तक हो गये । वर्ण परिवर्तन की यह परम्परा आज भी पूर्णतः लुप्त नहीं हुई है । आधुनिक युग के चतुर्वेद भाष्यकर्ता पं. जयदेव शर्मा तथा सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित अथर्ववेद के भाष्यकर्त्ता श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी एवं पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय जन्मना कायस्थ ही हैं । इसी प्रकार किसी भी कारण से हिन्दुओं का मुसलमान अथवा ईसाई हो जाना अथवा ईसाई या अन्य मतावलम्बी का शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में प्रवेश वर्ण परिवर्तन का ही एक रूप है ।

जाति भेद से होने वाली हानियाँ—जाति भेद से होने वाली हानियों का वर्णन डा० भगवानदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पुरुषार्थ' में निम्न शब्दों में किया है, ''क्या यह 'जन्मना वर्णः' का ही फल है या नहीं, कि 'हिन्दू कहलाने वाले समाज में ढाई हजार से ऊपर (राष्ट्रीय मनुष्य गणना के विवरण के अनुसार) परस्पर बाह्य जाति, उपजाति, उपोप जाति, उपोप जातियां बन गई हैं ? क्या इन जात्युपजातियों में परस्पर स्नेह, प्रीति, समवेदिता, सहायता, अनुक्रोश, अनुकम्पन, अतः 'संघ शक्तिजनकऐक्ये की बुद्धि है ? वा परस्पर ईर्ष्या, मत्सर द्रोह आदि ही अधिक है ? क्या 'जन्मना वर्ण का यह फल है या नहीं, कि उच्च वर्णों में 'अधिकार' तो जन्मना सिद्ध मान लिये जाते हैं, और कर्त्तव्य सब भुला दिये जाते हैं ।''[3] इसके अतिरिक्त

---

[1] महाभारत प्रथम खण्ड, वन पर्व, पृष्ठ ५१७-५१८ [2] जाति भेद, पृष्ठ १८

[3] डा० भगवानदास—पुरुषार्थ, पृष्ठ ५९६-५९७

इस जाति भेद से कुछ अन्य हानियां भी होती हैं—१. खान-पान में अनुचित प्रतिबन्ध—भूख, भोजन और अवसर होने पर भी कई बार लोग भोजन इसलिए नहीं करते क्योंकि वह किसी जाति विशेष द्वारा निर्मित वा स्पृष्ट होता है। कान्यकुब्ज के ब्राह्मणों के विषय में तो यह प्रसिद्ध ही है 'नौ कनौजिये दस चूल्हे'। २. अनमेल विवाह—विवाह योग्य कन्या अथवा वर के लिये उपयुक्त जीवन साथी ढूंढने के लिये क्षेत्र बहुत सीमित रह जाता है, अतः विवश होकर मां-बाप को या तो बच्चों को अविवाहित रखना पड़ता है अथवा अनमेल विवाह के लिये विवश होना पड़ता है, परिणामतः वर-वधु का समग्र जीवन ही दुःखमय हो जाता है। ३. बाल विवाह को प्रश्रय दिया जाना तथा सम्पूर्ण जीवन के लिये दुर्बलता तथा व्याधि के पाश में ग्रस्त हो जाना। ४. वैश्य वर्ण का छिन्न-भिन्न होना—पहले स्वर्णकार, लुहार, बढ़ई, जुलाहा, तेली आदि वैश्यों की श्रेणी में थे, किन्तु छिन्न-भिन्न होने के कारण इनमें से कई जातियों को शूद्रों में परिगणित किया जाने लगा। याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में इन कर्मों को दूषित ठहराया गया है। श्री आर. सी. दत्त ने 'प्राचीन भारत के इतिहास' में लिखा है, "हिन्दुओं के इतिहास लिखने वालों को यह जानकर बड़ा दुःख होता है कि इन श्लोकों में सब शिल्प, व्यापार और धन्धों को व्यभिचार और पाप के बराबर कर दिया है।"[1] इससे भारत के शिल्प और व्यापार को बहुत हानि पहुंची है। ५. प्रतिमा का अधः पतन—निम्न तथा ओछी जाति में गिने जाने का कारण कुछ व्यक्तियों में आत्महीनता की भावना जागृत हो गई और वे अपनी प्रतिमा का विकास नहीं कर पाये। ६. समुद्र यात्रा का अभाव—इसी जाति भेद के कारण कुछ व्यापारी समुद्र यात्रा का साहस भी नहीं जुटा पाये क्योंकि इसको भी एक पाप समझा जाने लगा था। परिणामतः भारतीयों में दरिद्रता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। स्वामीजी ने समुद्र यात्रा को पाप न समझकर वाणिज्य के लिये आवश्यक समझा है। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"दीप द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं····क्या बिना देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में राज्य या व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है?"[2] अस्पृश्यता, पारस्परिक वैमनस्य और शूद्रों पर अमानुषिक अत्याचार भी इस जाति भेद की ही पैदावार है।

विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य—स्वामीजी ने वर्ण व्यवस्था को जन्मना न मानकर गुण तथा कर्म के आधार पर माना है, अतः चारों वर्णों के कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् होना भी स्वाभाविक है। कुछ कर्त्तव्य ऐसे हैं जो सभी वर्णों के लिये समान हैं और कुछ पृथक्-पृथक्। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के विशेष कर्त्तव्य हम विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर उद्धृत कर रहे हैं—

१. ब्राह्मण—सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में स्वामीजी ने चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुणों का वर्णन किया है। वेद के अतिरिक्त उनका प्रमुख आधार मनुस्मृति है। इसी आधार पर उन्होंने लिखा है कि ब्राह्मणों के कर्त्तव्य निम्न है, "ब्राह्मण के पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना ये छः कर्म हैं।"[3]

---

[1] जाति भेद, पृष्ठ ५३-५४ (आर. सी. दत्त—सिवलीजेशन इन एनसियन्ट इण्डिया पृष्ठ ६८०-६८१)

[2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६५

[3] वही, पृष्ठ ५४

(क) श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ब्राह्मणों के कर्म हैं "अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमा भाव एवं मन इन्द्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्व तत्त्व का अनुभव भी, ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।"[1]

(ग) ऋग्वेद के एक मंत्र १।१४९।५ में ब्राह्मणों के संबंद्ध में कहा गया है "यह जो ब्राह्मण है, वही हवनादि करने वाला अथवा दान देने और लेने वाला है। यह ब्राह्मण सब कीर्तियुक्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है; जो मनुष्य इसे देता है उसको विद्यादि ऐश्वर्य प्राप्त होता है।"[२]

(घ) मनुस्मृति में कुछ प्रक्षिप्त श्लोक भी भर दिये गये हैं जिनमें ब्राह्मणों को सभी कुत्सित कर्मों को करने का अधिकार सा मिल गया है "यद्यपि इस प्रकार सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों में रहते हैं तथापि ब्राह्मण सब प्रकार से पूजने योग्य हैं, क्योंकि वे महती देवता है।"[3] एक अन्य प्रसंग में शिष्ट ब्राह्मणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है, "किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से सांगोपांग वेद पढ़े हों जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि व निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों वे ही शिष्ट ब्राह्मण पुरुष होते हैं।"[४]

(ङ) श्री मद्भागवद् महापुराण के सप्तम स्कन्ध के १३वें तथा १४वें श्लोक में "इज्याध्ययनादि"[५] ब्राह्मणों के ६ कर्त्तव्य ही बताये हैं।

(च) शुक्र नीति के अनुसार "जो मनुष्य ज्ञान, कर्म, उपासना के द्वारा देवाराधन में तत्पर है तथा मन और इन्द्रियों का विजेता और प्राणी मात्र पर दया करने वाला है, वह गुणों से ब्राह्मण समझना चाहिये।"[६]

(छ) श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार ब्राह्मण को त्यागी होना परमावश्यक है "वर्ण व्यवस्था में पैसे के त्याग करने वाले को, अपनी इच्छा से निर्धनता का जीवन व्यतीत करने वाले को समाज में सबसे ऊंचा दर्जा दिया गया था।"[७] ब्राह्मणों में पैसा पैदा करने की क्षमता तो थी पर वे उस दिशा में न जाकर अपने जीवन को समाज की सेवा में बिता देते थे।

(ज) हिंदी के प्रसिद्ध खण्ड काव्य 'सुदामा चरित्र' में नरोत्तमदासजी ने ब्राह्मणों के लक्षण निम्न प्रकार बताये हैं—

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १८।४२, गीता प्रेस, पृष्ठ ४३०-४३१
२. वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र—धर्मदेव विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १४२-१४३
३. शुद्ध मनुस्मृति, पृष्ठ ६१५
४. वही, पृष्ठ ७४८
५. श्री मद्भगवद् महापुराणम् (मूल), गीता प्रेस, पृष्ठ ३७६
६. शुक्रनीति, पृष्ठ १२
७. वैदिक संस्कृति के मूल तत्व, सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, पृष्ठ २५८

‘जे तपकै परलोक सुधारत संपत्ति की तिनके नहीं इच्छा ।
औरनि को धन चाहिय बार्वारि ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा ।।[1] अथवा
विप्रन को प्रन है जु यही सुख-संपत्ति सों कछु काज नहीं ।
कै पढ़िबो कै तपोधन है कन मांगत ब्राह्मने लाज नहीं ।।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी शास्त्रों ने ब्राह्मणों से अध्ययनशील यज्ञरत, ईश्वर विश्वासी, तपोनिष्ठ तथा त्यागी रहने की अपेक्षा की है। इन्हीं गुणों के कारण ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ एवं पूज्य माना है, इन गुणों से रहित होने पर वह ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है।

२. क्षत्रिय—(क) क्षत्रियों के गुण स्वामीजी ने "न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़ के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन (दान) विद्या कर्म की प्रकृति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना, अग्निहोत्रादि यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान रहना।"[3]

(ख) ऋग्वेद ५।५७।२ के अनुसार क्षत्रियों के कर्त्तव्य इस प्रकार हैं, "हे मरने मारने के लिये उद्यत वीर क्षत्रियों! तुम परशुधारी तोमर वाले उत्तम धनुष वाले शरवान्, तरकश वाले, उत्तम अश्वों वाले, श्रेष्ठ रथों वाले, बढ़िया हथियारों वाले, उत्तम युद्ध सामग्री युक्त और मननशील विचारवान्, मनस्वी, मानी तथा देश को माता मानने वाले हो, अतः अच्छे परिणाम को प्राप्त करो।"[4]

(ग) श्री मद्भागवद् गीता के अनुसार क्षत्रियों के गुण निम्न हैं, "शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामी भाव, ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।"[5]

(घ) श्री मद्भागवत महापुराण के अनुसार "राज्ञो वृत्तिः प्रजा गोप्तुरविप्राद् करादिभिः।"[6] अर्थात् राजा से आजीविका प्राप्त करना, प्रजा की रक्षा तथा ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी से कर लेना क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं।

(ङ) 'शुक्र नीति' के अनुसार क्षत्रिय के गुण निम्न हैं—"जो लोक की रक्षा में तत्पर, चतुर, शूरवीर, उदार, पराक्रमी और दुष्टों के विग्रह में समर्थ है, वह राजा गुणों से क्षत्रिय कहाता है।"[7]

(च) 'सुदामा चरित' के अनुसार क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं "छत्रिन के प्रन युद्ध, जुआ, दल साजि चढ़ै गज बाजिन ही।"[8]

१-२. सुदामा चरित—सं. हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ २८ तथा २९
३. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५४
४. वेद प्रकाश (वैदिक धर्म विशेषांक) अगस्त १९६२, पृष्ठ १३१
५. श्री मद्भगवद्गीता १८।४४, गीता प्रेस, पृष्ठ ४३२
६. श्री मद्भागवद् महापुराण, पृष्ठ ३७६ ७. शुक्रनीति १।४१, पृष्ठ १३
८. सुदामा चरित, पृष्ठ २९

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि क्षत्रियों का कर्त्तव्य, देश की रक्षा, दुष्ट निग्रह, शत्रु विनाश तथा इन्द्रियजयी आदि होना है। जो कुछ उन्होंने संग्रह किया है, समय आने पर उसका त्याग करते हुए भी वे हिचकते नहीं थे। इतिहास साक्षी है कि चन्द्रगुप्त जैसे शक्तिशाली राजा ने वृद्धावस्था में अपना राज-पाट स्वेच्छा से अपने पुत्र बिन्दुसार को दे दिया था। इसी प्रकार रघुवंशी राजा भी 'वार्धके मुनिवृत्ते नाम' का आचरण करते थे। क्षत्रियों को वैसे भी ब्रह्म की भुजाओं से उपमा दी गई है—अभिप्राय यही है कि समाज के किसी भाग में कष्ट हो, क्षत्रिय रूपी हाथ सहायता के लिए एकदम वहां उपस्थित हो जाते हैं, समाज के किसी अंग पर भी प्रहार हो, ये क्षात्र-भुजायें उसे अपने ऊपर फैलने के लिये सनद्ध हो जायेंगी।

३. वैश्य—स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर वैश्यों के निम्न गुण निर्दिष्ट किये हैं—"गाय आदि पशुओं का पालन करने वाला, विद्या धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिये धनादि का व्यय करना, अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार करना, एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और देना, खेती करना, ये वैश्य के गुण कर्म हैं।"[१]

(क) अथर्ववेद के मंत्र ३।१५।२ में एक वैश्य के मुख से निम्न प्रार्थना करवाई गई है "द्यु लोक पृथ्वी लोक के अन्तर जो देवयान अनेक मार्ग हैं, उन सबसे मुझे घृत या दीप्ति और पय वा रस की प्राप्ति हो ताकि मैं दूर-दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण करके धन एकत्रित करूं।"[२]

(ख) 'श्रीमद्भगवद् गीता' में कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजम्[३] अर्थात् खेती, गोपालन तथा व्यापार करना वैश्यों के स्वाभाविक कर्म बताये हैं।

(ग) 'शुक्र नीति' में वैश्यों के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—"जो क्रय-विक्रय में कुशल और व्यापार में कुशल हैं तथा पशु रक्षा और कृषि में तत्पर हैं, वे वैश्य कहाते हैं।"[४]

(घ) 'वृहदारण्यक—उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ने क्षात्र-धर्म को रचने के बाद 'विश्'-वैश्य धर्म को रचा। देवों में वैश्य धर्म के प्रतिनिधि हैं, वसु, रूद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरूत्।'[५]

(ङ) सुदामा चरित के अनुसार वैश्य का गुण "वैस को वानिज और कृषि है।"

वेद में वैश्य की उपमा शरीर के मध्य भाग से दी गई है। जिस प्रकार पेट और फेफड़े खाद्य पदार्थों और वायु को एकत्र करते हैं, फिर भी भोजन को पचाकर और वायु को शुद्ध करके सारे शरीर को जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करते हैं। ठीक ऐसे ही वैश्य कृषि, व्यापार, उद्योग धन्धों द्वारा धन अर्जन करके समाज के हित में ही लगा देता है।[६] व्यापार

---

[१] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५५

[२] वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र—धर्मदेव विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १४९

[३] श्रीमद्भगवद् गीता १८।४४

[४] शुक्रनीति, पृष्ठ १३ [५] एकादशोपनिषद् द्वितीय भाग, वृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ ६९७

[६] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २४६

आदि धन संचय करना वैश्य का कर्त्तव्य अवश्य है पर उस धन का उपयोग स्वार्थ पूर्ति के लिये करना श्रेयस्कर नहीं समझा जाता। यह धन समाज का है और उसके हित में ही इसका उपयोग किया जाना चाहिये। यदि पेट स्वार्थी होकर शरीर को रस रक्त का प्रेषण न करे और अपनी ही वृद्धि में लीन रहे तो न केवल सारा शरीर जर्जर हो जायेगा अपितु उदर भी व्याधि-ग्रस्त हो जायेगा। मध्यकालीन इतिहास में 'भामाशाह' का नाम इसीलिये अमर है क्योंकि उसने दीर्घकाल तक अर्जित राष्ट्र की सम्पत्ति को आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्र को ही समर्पित कर दिया था।

४. शूद्र—स्वामीजी के मतानुसार 'शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन करना, यही एक शूद्र का गुण कर्म है।'[1]

(ख) शुक्र नीति के अनुसार शूद्र की परिभाषा इस प्रकार है, "जो द्विजातियों की सेवा में संलग्न, शूरवीर, शान्त और जितेन्द्रिय हैं तथा हल, काष्ठ और तृण घास आदि से वृत्ति करते हैं, वे प्रथम वर्ण वाले शूद्र कहाते हैं।"[2]

(ग) वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार 'पूषन्' अर्थात् पालन-पोषण करने वाले 'शौद्र-धर्म' को रचा। देवों में यह पृथ्वी पूषा है। संसार में यह जो कुछ है, उसका यही पालन-पोषण करती है।[3]

(घ) 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुसार शूद्र का कर्त्तव्य है, "सब वर्णों की सेवा करना यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।"[4] यहां भी 'सब' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है, सब वर्णों की सेवा करना सभी का कार्य है जिसे वे अपने-अपने ढंग से करते हैं, किन्तु शूद्र के लिये यह विशेष कार्य है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, "सब मनुष्यों की क्षमतायें समान नहीं होतीं, परन्तु समाज के लिये सब मनुष्य समान रूप से आवश्यक हैं और उनकी विभिन्न स्थितियों से प्राप्त होने वाले उनके अंशदानों का मूल्य भी समान है।"[5]

उपर्युक्त उद्धरणों से केवल इतना ज्ञात होता है कि शूद्रों का काम सेवा करना है, समर्पणभाष्य के अनुसार यह सेवाभाव भी दवाव से न होकर स्वेच्छया होना चाहिये। यजुर्वेद ३०।५ मंत्र में भगवान् से 'तपसे शूद्र' की प्रार्थना की गई है। स्वामीजी ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है "दुःख से उत्पन्न होने वाले सेवन के अर्थ, प्रीति से सेवा करने तथा शुद्धि करने हारे शूद्र को सब ओर उत्पन्न कीजिये।"[6] कैसा बुद्धि विपर्यय है कि स्वामीजी जिसे शुद्धि करने हारा बता रहे हैं, समाज उसे अस्पृश्य तथा दलित समझता है। वेद में शूद्र की उपमा पैरों से दी गई है अर्थात् जिस प्रकार पैर शरीर को सदा ढोये फिरते हैं और उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं, इसी प्रकार शूद्र भी सारे समाज का भार वहन करते हैं। जिस प्रकार एक मशीन

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५५ [2] शुक्र नीति, पृष्ठ १३

[3] एकादशोपनिषद् द्वितीय भाग, वृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ ६९७

[4] श्रीमद्भगवद्गीता, १८।४४, गीता प्रेस, पृष्ठ ४०२

[5] भगवद्गीता, राधाकृष्णन, पृष्ठ ३५३

[6] यजुर्वेदभाषाभाष्य, पृष्ठ १०२९

को चलाने के लिये छोटे-बड़े सभी पुर्जों का महत्त्व होता है उसी प्रकार समाजरूपी यंत्र को चलाने के लिये ब्राह्मण, शूद्र आदि का समान महत्त्व है। उपयुक्त ग्रन्थों में कहीं भी इस बात की ध्वनि नहीं प्रतीत होती कि शूद्रों को महत्त्वहीन अथवा घृण्य समझा जाय। द्विजों की सेवा करना उनका कर्त्तव्य है, किन्तु द्विज भी आचारवान् तथा द्विज कर्म समन्वित होने चाहियें। मनुस्मृति के अनुसार जीवधारियों में बुद्धि वाले श्रेष्ठ हैं, उनमें ब्राह्मण, ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृतबुद्धि, कृत-बुद्धियों में नवीन आविष्कार करने वाले और आविष्कर्ताओं में ब्रह्म का ज्ञान रखने वाले सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसे तपस्वी, त्यागी के सामने कोई भी नतमस्तक हो सकता है, किन्तु समस्या वहाँ आती है जहाँ लोगों के कर्म इसके विपरीत हों --नगर में एक 'शर्मा बूट हाउस' है, उसके मालिक जन्मना ब्राह्मण हैं, दिनभर लोगों के पैरों में नये जूते पहनाते हैं, आवश्यकता होने पर निकली हुई कील को अपने ही हाथ से ठोक भी देते हैं ऐसे व्यक्ति को कर्मणा चर्मकार ही कहा जायेगा, ब्राह्मण नहीं, दूसरों का भोजन बनाने वाले को मिसर भले ही कह लिया जाये मिश्र नहीं कहा जा सकता।'

शूद्र एवं शुद्धि—उपर्युक्त प्रमाणिक ग्रन्थों के विवेचन से ज्ञात होता है कि उन दिनों शूद्र समाज के अंग थे और किसी प्रकार भी हेय नहीं थे। मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व तक तो 'भंगी' और 'मेहतर' जैसे शब्द भी अज्ञात थे—"From Vedic times down to the advent of the Muhammadan invasion, there were no such man as 'Bhangi' or 'Mehtar' for removing night soil either in Hindu Indian villeges, or countries like modern Japan and China" (अर्थात् वैदिक काल से मुसलमानी आक्रमण के पूर्व तक भारतीय हिन्दू ग्रामों तथा आधुनिक जापान तथा चीन जैसे देशों में गन्दगी साफ करने के लिये भंगी या मेहतर जैसा कोई व्यक्ति नहीं था। मध्य युग में तथाकथित ब्राह्मणों की संकीर्ण मनोवृत्ति तथा उच्च वर्ग के अत्याचारों से पीड़ित होकर अनेक व्यक्ति धर्म परिवर्तन करने के लिये विवश हुए। दूसरी ओर विधर्मियों की चालबाजियों ने इस धर्म परिवर्तन की जलती आग में घी का काम किया। कुछ निदर्शन निम्न हैं—

(क) 'बंगाल की प्रसिद्ध घटना है कि एक नवाब साहब ने स्वासिक चावल बनवाये, तदनन्तर पड़ौसी ब्राह्मणों से पूछा कि क्या आप लोगों ने आज चावलों की सुगन्ध का अनुभव किया? उत्तर में हां पाया। इस पर नवाब साहब ने कहा कि चावल हमारे उच्छिष्ट थे, अब तो तुम लोग मुसलमान हो गये और जाति ने भी नवाब साहब के कथन की पुष्टि करते हुए उन्हें जाति च्युत मान लिया।'[१]

(ख) 'जो कोई मनुष्य अपने से उच्च जाति के मनुष्य को मारे तो उसके हाथ-पैर कटवा डालने चाहियें, जो कोई किसी उच्च जाति के मनुष्य को गाली दे तो उसकी जीभ कटवा डालनी चाहिये... (विष्णु स्मृति ५।१९-२४)[२] इसी प्रकार उच्च जाति को इन लोगों द्वारा उपदेश दिये जाने पर इनके मुंह में गरम तेल डलवाने, द्विज को छू लेने पर छूने वाले को मारते

---

[१] नारायण अ. ग्रन्थ, शुद्धि आन्दोलन—देवप्रकाशजी, पृष्ठ ३२०

[२] जाति भेद, पृष्ठ ७३

का विधान था। स्वयं शंकराचार्य ने कहा था कि शूद्र यदि वेद मंत्र का उच्चारण करे तो इसकी जिह्वा काट देनी चाहिये तथा कानों से सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा भरवा देना चाहिये। अस्पृश्यता के चरम सीमा पर पहुंच जाने पर "उच्च जातियां नीच जातियों के स्पर्श ही नहीं छाया तक से भी अपवित्र हो जाती थीं।"[1]

समाज की इस दुरवस्था को देखकर स्वामीजी ने वर्णाश्रम धर्म की पुनः घोषणा की। एक ओर शूद्रों के हृदय से उन्होंने हीन भावना को हटाया, दूसरी ओर जो विधर्मी हो गये थे उनको भी शुद्धि द्वारा पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित किया। वेद सभी की सम्पत्ति हो गई, किसी के लिए उसका अध्ययन वर्ज्य नहीं माना गया। "To make the sacred Vedas an open book to all classes and nations and in India at least, to make them available, in The spoken language of the people"[2] अर्थात् स्वामीजी ने पवित्र वेदों का द्वार सभी जातियों और राष्ट्रों के लिए खोल दिया और कम से कम भारत में तो उन्होंने इन्हें जनता की भाषा में भी सुलभ कराया। इस प्रकार स्वामीजी ने न केवल दलितों का उद्धार किया अपितु हिन्दू जाति को भी पूर्णतः पतित होने से बचाया।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था के विभिन्न आधार

118329

(१) वैज्ञानिक आधार—पश्चिम में सोशल आर्गेनाइजेशन कहते हैं—इसके चार परस्पर सम्बद्ध व्यूह थे। डा. भगवानदास ने लिखा है—(१) शिक्षा-व्यूह (एजुकेशनल आर्गेनाइजेशन्स, लर्नेड प्रोफेशन्स), (२) रक्षा व्यूह, राजनैतिक प्रबंध (प्रोटेक्टिव आर्गेनाइजेशन, एक्सीक्यूटिव प्रोफेशन्स), (३) जीविका व्यूह, आर्थिक संघटन (इकॉनामिक आर्गेनाइजेशन, कॉमर्शियल प्रोफेशन्स), (४) सेवा व्यूह, सहायता व्यूह, श्रमजीवी संघटन (इण्डस्ट्रियल आर्गेनाइजेशन, लेवर प्रोफेशन्स)।[3]

(२) अन्तःकरण शास्त्र का आधार—सांख्य शास्त्र के अनुसार सत्ता मात्र के आधार में सत्व, रज, तम तीन मौलिक तत्व हैं, इनकी साम्यावस्था प्रकृति है और संसार है विकृति। इन्हीं के आधार पर मन सात्विक, राजसिक और तामसिक होता है। "मनोविज्ञान के ये तीन तत्व समाजशास्त्र में जाकर चार बन जाते हैं—सात्विक, सात्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक तथा तामसिक—इस प्रकार चार प्रवृत्तियों को आधार बनाते हुए ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों के रूप में कर दिया है।"[4] सात्विक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति जिसका जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण होता है—ब्राह्मण कहाता है। वह समाजसेवा करते हुए यदि भूखा भी मरने लगे तो शिल और उञ्छ से निर्वाह कर लेता है पर किसी के सामने हाथ नहीं पसारता, उसमें ज्ञान (Knowing) प्रधान होता है। दूसरा रूप है सात्विक-राजसिक गुणों का सम्मिश्रण होता है ये क्षत्रिय कहलाते हैं। ये समाज की सेवा इसलिये नहीं करते कि यह

---

[1] हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, पृष्ठ ५.

[2] Dayanand Com. Vol. page 35

[3] पुरुषार्थ—भगवानदास, पृष्ठ ४६२

[4] वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्व, पृष्ठ २२५.

उनका पेशा है अपितु यह उनके जीवन का आधारभूत तत्व होता है। धन की ओर लालसा रखना क्षत्रियत्व की प्रवृत्ति नहीं है, उसकी प्रवृत्ति क्रिया (Willing) प्रधान है। ब्राह्मण यदि मस्तिष्क से समाज की सेवा करता है तो ये अपनी भुजाओं से समाज की सेवा करते हैं, इनका कार्य भी निष्काम होता है। तीसरी प्रवृत्ति है राजसिक-तामसिक--इन दोनों गुणों के मिश्रण से जो प्रवृत्ति बनती है वह वैश्य प्रवृत्ति होती है। इसमें भी रजस् की अपेक्षा तमोगुण का आधिक्य होता है। इसके कार्य निष्काम न होकर सकाम होते हैं 'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्' (अर्थात् जिस कामना को लेकर हम आपका आश्रय लें, वह हमारी कामना पूर्ण हो और हम धनेश्वर्यों के अधिकारी हों) इनमें इच्छा (feeling) प्रधान होती है। चौथी प्रवृत्ति है तामसिक—यह शूद्र की प्रवृत्ति है, उसका ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा दूसरों की सेवा करने तक होती है, जब अध्यवसाय अथवा भगवदनुकम्पा से उसमें ज्ञान, क्रिया या इच्छा की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तो उसका रूप भी परिवर्तित होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य का हो जाता है। स्वामीजी ने 'संस्कारविधि' में इन शूद्रों के सम्बन्ध में लिखा है—"यदि कोई कार्यकर्त्ता जड़, मंदमति, काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है।"[१]

(३) अर्थशास्त्र के सिद्धान्त का आधार—अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी श्रम करने वाले मनुष्यों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। डा. भगवानदास के अनुसार उनके नाम हैं—'विद्योपजीवी, शासनात्मक (अधिकारोपजीवी), व्यापारोपजीवी तथा शारीरिक श्रमोपजीवी वर्ग'[२] अर्थशास्त्र में तो सभी क्रियाओं का प्रमुख उद्देश्य धनोपार्जन अथवा अर्थ लाभ करना है। जो इसे विद्या के माध्यम से करते हैं वे विद्योपजीवी अथवा ब्राह्मण कहाते हैं, जो शासन व्यवस्था का अंग होकर अधिकारपूर्वक दूसरों से कार्य करवाते हैं, वे क्षत्रिय अथवा अधिकारोपजीवी वर्ण के कहलाते हैं। ये स्वयं भी कार्य करते हैं और अधिकारों के बल पर दूसरों को भी कार्य करने के लिये विवश करते हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति उस वर्ग के हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य धनोपार्जन है। इस कार्य के लिये ये अनेक कष्टों को सहन करते हुए विदेश यात्रा भी करते हैं, सभी वस्तुओं का ये व्यापार करते हैं, इनको वैश्य अथवा व्यापारोपजीवी वर्ग का व्यक्ति कहा जाता है। चतुर्थ वर्ग उन लोगों का है जो मानसिक श्रम की अपेक्षा शारीरिक श्रम अधिक करते हैं, इनकी गणना शूद्र वर्ग में अथवा शारीरिक श्रमोपजीवी वर्ग में की जाती है।

(४) समाजशास्त्र की दृष्टि से—यदि वर्ग विभाजन किया जाये तो यह क्षेत्र वर्ण का न होकर आश्रम का हो जायेगा। इस स्थिति में इसके शीर्षक अध्ययन, गार्हस्थ्य, जीविकोपार्जन तथा सन्तति पालन पोषण बिना किसी प्रतिफल या कीमत के सार्वजनिक सेवा और आध्यात्मिक ध्यान और मोक्ष साधन में लीन होना होंगे, प्रमुख रूप से इन कार्यों को करने वाले ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी कहलायेंगे। राजनीति शास्त्र में भी यह विभाजन चार प्रकार का होगा शास्त्र शक्ति (ज्ञान बल), शस्त्र शक्ति (सेवा बल), अन्न शक्ति (धन बल) और सेवा शक्ति (श्रम बल)। इनके अधिपति भी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होंगे। राजनैतिक दृष्टिकोण से ये चारों शक्तियां किसी एक व्यक्ति, सम्प्रदाय अथवा वर्ग में केन्द्रीभूत नहीं होनी चाहिये।

---

[१] संस्कारविधि, पृष्ठ २७

[२] पुरुषार्थ, पृष्ठ ४६७

(५) श्रम विभाग—"श्रम विभाग के सिद्धान्त से भी, वर्ण व्यवस्था की तरह के चार विभाग हो जाते हैं। इस समय यूरोप में भी क्लर्जी, सोल्जर, मर्चेन्ट तथा लेबरर—ये चार विभाग ही हैं।"[1] ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने भी अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में विभाजन का आधार इससे कुछ मिलता-जुलता ही रखा है। उसके अनुसार 'समाज के मुखिया गार्डियन अर्थात् रक्षक कहायेंगे।'[2] उनका जीवन इस प्रकार का होना चाहिये कि जहां तक संभव हो कोई निजी सम्पत्ति न बना सकें, उन्हें युद्ध करने में दक्ष होना चाहिये और सभी आवश्यक वस्तुयें उन्हें समाज की ओर से मिलनी चाहियें। सोने-चांदी को छूना भी उनके लिये पाप है। यदि वे रुपये के लोभ में पड़ गये तो वे 'गार्डियन' के स्थान पर घरबार वाले व्यापारी हो जायेंगे। इन्हीं का दूसरा नाम उसने फिलासफर्स भी रखा है। दूसरे विभाग का नामकरण उसने किया है, सोल्जर्स तथा आर्टिजन्स। आर्टिजन्स का अभिप्राय वैश्य प्रवृत्ति है।

'जन्दावस्था' में भी वर्ण व्यवस्था का यही स्वरूप मिलता है। डा० हॉग लिखते हैं—"इरानियों की धार्मिक पुस्तक ज़न्दावस्था में स्पष्टतया वर्णों का उल्लेख है, केवल नामों का भेद है—१. अथ्रवा "पुरोहित" (संस्कृत अथर्वण), २. रथेस्तो 'योद्धा' ३. वास्त्रियोंफश्या "कृषिकार" ४. हुइती (पहलवी हुइतोखश) 'कारीगर....।"[3] वर्ण व्यवस्था की सर्वसंग्राहकता को देखते हुए डा० भगवानदासजी ने इनका नया नामकरण भी किया है, जो निम्न है—

१. शिक्षक—आलिमो, आरिफों
२. रक्षक....महाफिज, आमिल, 'आमिर', अमीर
३. पोषक—तिजारत
४. धारक—जिस्मानी मेहनत, मश्क, मशक्कत[4]

(६) पारस्कर गृह्य सूत्र—इसमें वर्ण निर्धारण का एक और ढंग बताया है। बच्चे के अन्नप्राशन संस्कार के समय उसके समक्ष जमीन पर कुछ पदार्थ रख दिये जाते हैं जिनमें पहला भाग पुस्तक, लेखनी, मसिपात्र आदि का होता है, दूसरे भाग में शस्त्र-अस्त्र, छुरी, तलवार आदि होते हैं, तीसरे भाग में चांदी, सोने, ताम्बे आदि के सिक्के, अन्न, कपड़े आदि रखे जाते हैं और चौथे भाग में फावड़ा, कुदाल आदि रखे जाते हैं। बच्चा खिसकता हुआ जिस वस्तु की ओर जाता है, उसको पकड़ता है, उसी के अनुरूप उसकी जीविका योग्यता जानी जाती है।

(७) ज्योतिष के विचार—ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नवजात शिशु का जो वर्ण बताया जाता है वह प्रायः माता-पिता के जाति या वर्ण के नाम से भिन्न होता है। इसी वर्ण के आधार पर विवाह आदि के अवसर पर गुण और वृत्ति का निर्णय होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः समस्त संसार में जातिभेद का आधार मूलतः मनुष्य का प्रवृत्ति भेद ही रहा है। प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक वर्ण व्यवस्था जन्मना न होकर

---

[1] वैदिक संस्कृति के मूल तत्व—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृष्ठ २४४

[2] वही, पृष्ठ २४५

[3] धर्म का आदिस्रोत—गंगाप्रसाद एम. ए. पृष्ठ ८१

[4] पुरुषार्थ, पृष्ठ ५२४

कर्मणा ही रही है । वर्ण व्यवस्था एक विचारधारा की प्रतीक है; यदि वह विचार ही नष्ट हो जाये और यह पूरी व्यवस्था ही एक आडम्बर मात्र रह जाती है । कभी युग था जब भारत में ब्राह्मणत्व को, त्याग को और ज्ञान को महत्त्व दिया जाता था, तब समाज में एक से एक बड़े दार्शनिक, विचारक तथा ऋषि उत्पन्न हुए । फिर युग आया क्षत्रियों का जब 'वीरभोग्या वसुन्धरा' का नारा लगा, भुजाओं की शक्ति में ही सर्वगुण समाहित हो गये और समाज ने एक से एक वीर, साहसी, योद्धा तथा रणनीति विशारद् उत्पन्न किये, उन राजर्षियों के चरणों पर लक्ष्मी लौटने लगी, श्रेष्ठतम एवं सुन्दरतम कुमारिकायें मन मन्दिर में उनकी आरती उतारने लगीं और समस्त वैभव उन वीरों के पास संगृहीत हो गया । समय पलटा, आज के युग का श्रीगणेश हुआ, सरस्वती ड्राइंग रूम की शोभा हो गई और मन्दिर में सिंहासन पर विराजमान हुई लक्ष्मी । धन की इस देवी के चरणों में सरस्वती के साधक नतमस्तक हो गये । "धनैः निष्कुलीना कुलीनाः भवन्ति धनैरापदं मानवाः निस्तरन्ति । धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके धनान्यर्जयध्वम् धनान्यर्जयध्वम् ।" (अर्थात् धन से अकुलीन कुलीन हो जाते हैं; धन से मनुष्य आपदाओं को पार कर जाते हैं, धन से बड़ा कोई बन्धु नहीं है, धन की जय हो, जय हो) का घोष सर्वत्र गूंजने लगा । धन ही धन मनुष्य को दिखाई देने लगा, जागते समय धन की चिन्ता और सोते समय उसका स्वप्न, यही सामाजिकों की दिनचर्या रह गई । सारे नाते-रिश्ते इसके सामने गौण हो गये "बाप बड़ा न भइया सबसे बड़ा रुपैया" ।

आवश्यकता के अनुसार समाज को एक से एक बड़े धनी मिले । धन साधन न होकर साध्य हो गया । धन के लिए लोगों ने पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद-किया, धन के लिए लोगों ने धर्म परिवर्तन किया, धन के लिये बेटे ने बाप को अथवा बाप ने बेटे को विष दिया । सर्वत्र वणिकवृत्ति ही व्याप्त हो गई । पैसे की क्रय शक्ति इतनी बढ़ गई कि उससे विद्या, बुद्धि, शक्ति सब कुछ खरीदा जाने लगा; सारे अधिकार एक वर्ग-विशेष के पास ही एकत्र हो गये । घूसखोरी, रिश्वत, बेईमानी तथा भ्रष्टाचार कुछ भी हेय नहीं रहा । प्लेटो ने भी इसी 'सामाजिक दुर्व्यवस्था' की कल्पना की थी । देश की स्वतन्त्रता के बाद हम प्रगति की सीढ़ी पर और आगे बढ़े— यह युग समाज में शूद्रों की तथाकथित प्रतिष्ठा का है । बड़े-बड़े तिलकधारी प्रयत्न कर रहे हैं कि कि उन्हें किसी प्रकार पिछड़ी जाति का प्रमाण पत्र मिल जाये क्योंकि तब उनके लिये भी नौकरी में कुछ स्थान सुरक्षित हो जायेंगे । परिणामतः समाज में एक से एक वृहदाकार सर्वगुण सम्पन्न शूद्रों की बाढ़ आ गई ।

विगत कुछ शताब्दियों का इतिहास मानव की स्वार्थी और संकीर्ण मनोवृत्ति का इतिहास है । इस संचयवाद और भोगवाद ने नये-नये दुःखों की, रोगों की सृष्टि की है । इस मानवता का कल्याण तभी संभव होगा जब वर्ण व्यवस्था का प्रचलन पुनः सच्चे अर्थों में प्रारंभ होगा । आज तो अध्यापक भी अध्यापन के माध्यम से धन कमाना चाहता है, क्षत्रिय भी कुछ पैसे लेकर देश की रक्षा व देशद्रोह करता है और कुछ वैश्य तो केवल धन के लोभ से देश-शत्रुओं को अन्न भेजता है, शस्त्र भेजता है और वस्त्र भेजता है और देखादेखी इस दौड़ में शूद्र भी किसी से पीछे नहीं हैं । देशहित में ब्राह्मणों को त्यागी बनना होगा ,क्षत्रियों को

देश की रक्षा के लिये स्वेच्छया कटिबद्ध होना पड़ेगा और वैश्यों को भी स्वार्थ की अपेक्षा देशहित को प्रश्रय देना पड़ेगा तभी शूद्र भी भली प्रकार देश की सेवा कर सकेंगे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना की थी, उसकी आधारशिला यह कर्मणा वर्ण-व्यवस्था ही होगी। यह शास्त्रसम्मत भी है, विज्ञानसम्मत भी और लोकसम्मत भी। महात्मा गांधी जैसे तपोनिष्ठ व्यक्ति ने भी अछूतोद्धार का बेड़ा तो उठाया पर उनको शुद्ध करने का साहस वे न जुटा सके। वे इस ऊहापोह में ही फंसे रहे, "महात्मा गांधीजी के कथनानुसार शुद्धि के लिये हिन्दू इतिहास में कोई साक्षियां नहीं, अतः हमें शुद्धि स्थगित कर देनी चाहिए।"[1] हिन्दू नेता प्रमाण ही ढूंढते रहे और मुसलमान तथा ईसाईयों ने बिना किसी प्रमाण के हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन अथवा उनकी शुद्धि या अशुद्धि प्रारम्भ कर दी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शास्त्रों के प्रमाण भी जुटाये और निर्भीक स्वरों में दलितोद्धार तथा शुद्धि का संदेश दिया। यदि अकबर का कहा मान कर बीरबल ने उसको हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया होता, यदि बंगाल के कालियचन्द्रराय के शहजादी दुलारी के साथ विवाह को धर्मध्वजी पंडितों ने स्वीकार कर लिया होता तो देश में अनेक हिन्दुओं की धोतियां और यज्ञोपवीत बच जाते। अकेले कालियचन्द्रराय ने ही कालाचांद बनकर हिन्दुओं से जो प्रतिशोध लिया उसका इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता। उसको इतना तक कहने के लिये विवश होना पड़ा—"जिस धर्म में अनुतापी के लिये आश्रय नहीं है, हृदय का आदर नहीं है, भीतरी पवित्रता का पुरस्कार नहीं है वह धर्म ही नहीं है, बाहरी आडम्बर मात्र है।"[2] हिन्दू मात्र के पूज्य भगवान् राम ने शूर्पणखा के वैवाहिक प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, लेकिन लक्ष्मण को उसके साथ विवाह की अनुमति दे दी थी, राम ने स्वयं भीलनी के जूठे बेर खाये थे पर कहीं शूद्रता एवं अस्पृश्यता आड़े नहीं आई।

स्वामीजी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने राष्ट्र का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया—सारे राष्ट्र की कल्पना उन्होंने एक मानव शरीर के रूप में की जिसके ब्राह्मण-शूद्र आदि विभिन्न अंग हैं। एक अंग को पीड़ा पहुंचाने से वह अंग ही पीड़ित नहीं होता, समस्त शरीर ही पीड़ित होता है। वेद के प्रसिद्ध मंत्र 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्' के 'पद्भ्यां शूद्रो अजायते' का अर्थ डा० भगवानदासजी ने बहुत ही उपयुक्त किया है। उन्होंने लिखा है—पद्भ्यां शब्द पंचमी का नहीं "चतुर्थी है—विराट् पुरुष के शरीर में पैरों के स्थान के लिये, पैर बनने या पैर होने के लिये शूद्र हुआ।"[3] उन्होंने तो इतना तक लिखा है "मेरा विश्वास है कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था ही तत्वतः भारतीय है, सनातन है, व्यावहारिक है, अध्यात्म-शास्त्र सम्मत है, अथ किं, वेद वेदान्त सम्मत ही नहीं आदिष्ट भी है।"[4]

आश्रम-व्यवस्था

जीवनयात्रा के चार पड़ाव—वैदिक मर्यादा के अनुसार जीवन को शतायु माना गया है। यजुर्वेद में 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'[5] तथा 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी-

---

[1] वैदिक सिद्धान्त, शुद्धि—डा० बालकृष्ण एम. ए. पृष्ठ १४४

[2] काला चांद—स्वामी चिदानन्द सरस्वती, पृष्ठ २२

[3] पुरुषार्थ, पृष्ठ ४९५ [4] वही, पृष्ठ ५९६ [5] पुरुषार्थप्रकाश, पृष्ठ १८९

विषेच्छतꣳ समाः'[1] की कामना की गई है। इन सौ वर्ष की यात्रा एक ही गति, एक ही शक्ति तथा एक ही उत्साह से नहीं हो सकती, बच्चे की चंचलता और भोलेपन को वृद्ध की स्थिरता एवं गम्भीरता के समक्ष एक तराजू पर नहीं रखा जा सकता, अतः इस यात्रा को चार भागों में विभक्त करके चार पड़ाव डाल दिये हैं, उन पड़ावों के नाम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। इसी को यदि एक नाम देना चाहें तो इसे हम 'आश्रम व्यवस्था' कह सकते हैं। इस व्यवस्था में कामचोरी की कहीं भी कोई गुंजायश नहीं है। आश्रम का शाब्दिक अर्थ 'आ समन्तात् श्रम' अर्थात् चारों ओर श्रम करना। संसार में हमें दो विचारधारा के व्यक्ति दिखाई देते हैं—१. वर्तमान में जीने वाले, उनके लिये वर्तमान ही सब कुछ है, न उनका अतीत से परिचय है और न भविष्य की आकांक्षा, ग्रीक विचारकों ने इन्हें Epicureans कहा है। २. दूसरे वे हैं जिन्हें वर्तमान में रह कर भी भविष्य की चिन्ता है, यह भविष्य इस जीवन का भी हो सकता है और आने वाले जीवन का भी, वे नश्वर संसार को छोड़कर अज्ञात तत्त्व की खोज में लगे रहते हैं, ग्रीक विचारकों ने उन्हें Epicureans का नाम दिया है। भारत की अन्न समस्या को दृष्टिगत करते हुए शासन द्वारा किये जाने वाले वितरण को देख कर अत्यधिक आश्चर्य होता है। (कभी-कभी यह वितरण उन लोगों के नाम पर किया जाता है जो या तो संसार में आये ही नहीं हैं या वर्षों पूर्व यहां से कूच कर चुके हैं। खाद्य वितरण कार्यालय के किसी रजिस्टर को देखने से ज्ञात हो जायेगा कि चीनी-चावल के अधिकांश परमिट उन लोगों के नाम दिये गये हैं जो अभी मां के गर्भ में ही हैं—ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में प्रविष्ट होते ही ये किसी भुक्खड़ की भांति चीनी और चावल के बोरों को उदरस्थ कर जायेंगे। दूसरे प्रकार के परमिट श्राद्ध अथवा तेरहवीं के नाम पर दिये जाते हैं, अर्थात् जो पितर मृत हो चुके हैं उनके नाम पर।)

जीवन की इस यात्रा का एक मार्ग प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग, एक का संबंध भोग से है और दूसरे का त्याग से। भारतीय मनीषियों ने इनमें समन्वय करने की चेष्टा की है और उनके इस दृष्टिकोण का नाम है आश्रम व्यवस्था। प्रत्येक आश्रम की विशेषता तथा उसमें किये जाने वाले कर्त्तव्यों की चर्चा हम उस शीर्षक के अन्तर्गत ही करेंगे।

१. ब्रह्मचर्याश्रम—ब्रह्मचर्य के दो निर्वचन किये गये हैं—एक योग याज्ञवल्क्य में "ब्रह्मणे वेदादि विद्याये चर्यते इति ब्रह्मचर्यम्"[2] अर्थात् वेदादि विद्या के लिये जो व्रत धारण किया जाता है वह ब्रह्मचर्य कहाता है, दूसरा 'ब्रह्माण चरितुं, शीलमस्यास्ति इति ब्रह्मचारी'[3] अर्थात् ब्रह्म अथवा वेद विद्या को प्राप्त करने की जिसमें शक्ति हो। आज के युग में यह चर्चा बड़ी विचित्र सी प्रतीत होती है, आज का युग तो Eat, drink and be merry का है। उद्देश्य बुरा नहीं अर्थात् खाना जीवन का उद्देश्य हो सकता है पर इसके साथ समस्या आ जाती है कि कौन खा सकता है? उत्तर स्पष्ट है कि जिसे खूब भूख लगती हो, जिसके पास

---

[1] पुरुषार्थप्रकाश, पृष्ठ १८९

[2] पुरुषार्थप्रकाश—स्वामी नित्यानन्दजी, पृष्ठ ५ [3] वही, पृष्ठ ५

अन्न हो और जिसमें उसे पचाने की शक्ति हो। इस भूख को जागृत करना तथा पाचन शक्ति की अभिवृद्धि का नाम ही ब्रह्मचर्य है। किसी वस्तु का भोग अथवा व्यय करना तभी संभव है जब उसका संग्रह या संचय किया गया हो। ब्रह्मचर्य रूपी पहला पड़ाव द्वितीय पड़ाव गृहस्थ में जाने की तैयारी है, आधुनिक युवकों के समान यदि सब भोग इसी पड़ाव पर ही भोग लिये हों तो अगले आश्रम के लिये न तो आकर्षण रहेगा और न शक्ति ही। भोग-विलास ही यौवन नहीं है, जीवन के लिए उत्साह होना यौवन का चिह्न है। जीवन के प्रति इसी उत्साह को बनाये रखने के लिये ब्रह्मचारी के लिए तपस्वी होना आवश्यक है 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' अर्थात् ब्रह्मचर्य, तप से विद्वानों ने मृत्यु को हटा कर नष्ट किया है।[1] ब्रह्मचर्य विषय की संक्षिप्त चर्चा इसी पुस्तक के पृष्ठ ६७, ८४-८५ तथा ११८ पर की जा चुकी है। ब्रह्मचारियों का आश्रम भी शहर से दूर जंगल में ऋषि-मुनियों के आश्रमों में होता था, शहर के पाप और प्रलोभन इन ब्रह्मचारियों से कोसों दूर थे, बालकों में नैतिकता जागृत करने के लिये ऐसा वातावरण आवश्यक था। स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस आश्रम के संबंध में लिखा है, "वह सुशिक्षा और सत्य विद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।"[2]

जीवन रूपी प्रासाद की आधारशिला ब्रह्मचर्य है। यह शिला जितनी गहरी तथा दृढ़ होगी, प्रासाद उतना ही स्थायी एवं आकर्षक होगा। सामान्यतः ब्रह्मचर्य का अर्थ उपस्थेन्द्रिय का संयम होता है, "मैथुन तथा अन्य किसी प्रकार से भी वीर्य का नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना अर्थात् अन्य सब इन्द्रियों के निरोध पूर्वक 'उपस्थेन्द्रियों के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है।"[3] पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को उत्तेजक भोज्य पदार्थों तथा कामोद्दीपक दृश्यों से बचना होगा। इस उद्देश्य के लिए स्वामीजी ने ब्रह्मचारियों से जिन कार्यों की अपेक्षा की है वे संक्षेप में निम्न हैं—

"ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गान और बाजा बजाना, द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्या भाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे।"[4] इसी प्रकार उन्हें सत्य धर्म, स्वाध्याय, तथा सदाचार का सर्वदा सेवन करना चाहिये। विधिनिषेध के इन कर्मों की सूची मनुस्मृति एवं संस्कारविधि में पर्याप्त लम्बी है जिनका उद्देश्य है कि ब्रह्मचारी तपस्वी, कष्ट-सहिष्णु तथा द्वन्द्वातीत हों। जीवन संग्राम में सदा विजय लाभ के लिये ब्रह्मचारियों को कुछ दीक्षा लेनी पड़ती है। दीक्षा पारिभाषिक शब्द है और इस तक पहुंचने के लिये किसी भी

---

[1] अथर्ववेद भाष्य (९-१०)—क्षेमकरणदास त्रिवेदी, पृष्ठ ४१४

[2] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ २७१

[3] पातञ्जलयोगप्रदीप—स्वामी ओमानन्द तीर्थ, पृष्ठ ३८२

[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २९

व्यक्ति को कई सीढ़ियां पार करनी होती हैं। आभास प्रथम सीढ़ी है, जिसका अभिप्राय है विचार शक्ति द्वारा किसी बात को स्वीकार कर लेना। एक मनुष्य किसी के कहने से व्यायाम के महत्त्व को स्वीकार कर लेता है यह है आभास, प्रारम्भ करके संगति के अभाव में इसे छोड़ देना इसकी दूसरी सीढ़ी आवेश है, निरंतर उपदेश से यदि हृदय में स्वयं व्यायाम की तरंग उठने लगे तो यह तृतीय श्रेणी 'आवेग' है, निश्चित तिथि से उसे क्रिया रूप में परिणत करने का दृढ़ निश्चय करने का नाम चतुर्थ सीढ़ी 'संकल्प' है, संकल्प में शिथिलता देखकर भगवान् को साक्षी करके नियमोल्लंघन करने पर अपने आपको अपराधी समझने का नाम पांचवीं सीढ़ी अर्थात् 'व्रत' है, "फिर यदि इसमें और भी दृढ़ता उत्पन्न करने के लिये और लोकलाज से सहायता लेने के लिये गुरु, पुरोहित तथा प्रजा के सामने इस व्रत की घोषणा करे, तो इस व्रत का नाम दीक्षा हुआ।"[1] ब्रह्मचारी को गुरु के समक्ष कुछ कर्मों की दीक्षा लेनी पड़ती है और अध्ययन की समाप्ति तक उसे इन दीक्षाओं का पालन करना होता है। आज तो देश की स्थिति इतनी विचित्र है कि इसमें किसी भी शिक्षणालय या विश्वविद्यालय में दीक्षारंभ तो की नहीं जाती पर औपचारिक रूप से दीक्षान्त अभिभाषण (Convocation address) अवश्य दिया जाता है। इस दीक्षा के समय ही ब्रह्मचारी अपने भावी जीवन का मार्ग चुन लेते हैं और उन्हें शिक्षा भी उसी आधार पर दी जाती है।

जीवन की चार अवस्थायें मानी गई हैं—१. वृद्धि, २. परिपाक, ३. वात्सल्य, ४. विरक्ति (मृत्युप्रतीक्षाजन्य)। ब्रह्मचर्य का संबंध प्रथमावस्था अर्थात् वृद्धि से है। इस अवस्था में स्वास्थ्य, शक्ति ज्ञान, अनुभव आदि सभी पदार्थों में वृद्धि होती है। इस वृद्धि की अवस्था भी सदा समान नहीं होती। जीवन के प्रथम ५ वर्षों में वृद्धि पर्याप्त तीव्र वेग से होती है, फिर यह गति मन्द हो जाती है "पहिले १८ वर्षों में जैसी उसकी वृद्धि होती है, वैसी अगले ७ वर्षों में नहीं होती।"[2] और ३५ वर्ष के बाद से तो लगभग समावस्था हो जाती है। इस वृद्धि के अवसर पर ही जिन्हें कुकर्म रूपी व्यय या क्षय की आदत हो जाती है, यौवन की बहार उनके लिये पतझड़ बन कर ही आती है। उनके जीवन के "पौधे का तना टूट जाता है, उसकी कोपलें और कलियां कुम्हला जाती हैं, बालक का यौवन नष्ट हो जाता है और सर्वनाश आंखें फाड़-फाड़ कर उसके हृदय को कंपाने लगता है।"[3]

आज के समाज में ब्रह्मचर्य को पिछड़ेपन की निशानी समझा जाने लगा है, इस शब्द का प्रयोग प्रायः व्यंग्य में ही किया जाता है। कुछ पाश्चात्य विचारक तथा उनसे प्रभावित भारतीय विचारक भी अब यह विश्वास करने लगे हैं कि ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक जीवन है। इन्द्रिय निग्रह उनके लिये उपहास की वस्तु हो गया है, सादगी का स्थान विलासिता लेती जा रही है, इस मार्ग में विज्ञान उनका सहायक हो रहा है। "विज्ञान का मूल ध्येय अत्यधिक रति है। शृंगार, मादक वस्तुओं का सेवन तथा मांस-मत्स्य का आहार उसके सहायक हैं और तज्जन्य अनिवार्य बीमारियों के इलाज के लिये वैज्ञानिक ढूंढ तलाश आवश्यक

---

१. कायाकल्प—बुद्धदेव विद्यालंकार, पृष्ठ ७६

२. वही, पृष्ठ ६८ ३. ब्रह्मचर्य संदेश, पृष्ठ ३१

है।''[1] आज इसे अस्वाभाविक बता कर दो रूपों में तोड़ा जा रहा है १. जान-बूझ कर और दूसरा बिना जाने बूझे। दूसरा रूप क्षम्य भी हो सकता है पर 'जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः' के रूप में चुनौती समाज के लिये बड़ी घातक है। क्या विचित्र स्थिति है ''सर्वनाश और वह भी जान बूझ कर। मृत्यु और वह भी अपने हाथों।''[2] इसका जो अवश्यंभावी परिणाम होता है, वह एक पाश्चात्य चिकित्सक ने अपने मेटीरिया मेडिका में निम्न प्रकार से अंकित किया है ''उनमें स्त्री संभोग की बहुत अधिक वासना रहती है, पर संगम शक्ति नहीं रहती। कामुक विचार; ऐसे व्यक्ति गली के कोने में खड़े हो जाते हैं और इधर-उधर जाती हुई लड़कियों को देखा करते हैं और उनका वीर्य टपका करता है····जिनको इन बातों में आनन्द मिलता है, बचाने योग्य भी नहीं है और दवा उन पर क्रिया न करेगी।''[3]

देश में फैलते हुए इन पाश्चात्य विचारों से स्वामी दयानन्द अत्यन्त दुःखी थे, अतः इन विचारों का समूलोच्छेद करने के लिये उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की पुनर्स्थापना पर बल दिया। वे स्वयं भी आजन्म ऊर्ध्वरेता तथा आदित्य ब्रह्मचारी रहे। किसी ने उनसे पूछा था कि क्या काम उन्हें नहीं सताता, तो उन्होंने उत्तर दिया था ''हाँ, वह आता है परन्तु उसे मेरे मकान के बाहर ही खड़े रहना पड़ता है, क्योंकि वह मुझे कभी खाली ही नहीं पाता।'' यह ब्रह्मचर्य का ही प्रताप था कि स्वामी दयानंद अकेले होते हुए भी इतने विरोधियों का प्रत्येक क्षेत्र में सफलतापूर्वक सामना कर सके। वे ऐसी शक्ति सभी मानवों में देखना चाहते थे। ऐसे ब्रह्मचारियों को ढालने की फैक्ट्री का नाम उन्होंने 'गुरुकुल' रखा—गुरुकुल शिक्षा की दूकान नहीं है इसमें ''कुल शब्द का प्रयोग ही इसलिये किया जाता है क्योंकि शिक्षा का काम बच्चे को एक छोटे से कुल या परिवार से निकाल कर बड़े परिवार में डाल देना है।''[4] जहां परिवार की भावना जागृत हुई वहां अधिकार और कर्त्तव्य का संघर्ष भी समाप्त हो जाता है। ऋषि की इस विचारधारा तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट पाठ्यविधि का अनुसरण कर जीवनयात्रा के प्रथम पड़ाव की तैयारी पूर्ण हो जाती थी और द्वितीय पड़ाव में पग धरने के लिये नवीन उत्साह जागृत हो जाता था।

२. **गृहस्थ**—जीवन यात्रा का दूसरा पड़ाव है गृहस्थाश्रम। ब्रह्मचारियों को गुरुओं के पास नगर से दूर निवास करना पड़ता था, गृहस्थियों के लिये यह बन्धन नहीं है, उन्हें गृह का निर्माण और उसमें निवास करना पड़ता है। आपस्तंब धर्मसूत्र के अनुसार—''सम्पूर्ण विद्या को पढ़कर विवाह को करने का विधान किया है।''[5] विवाह किनका होना चाहिए और उसकी विधि क्या है, इसका पर्याप्त विवरण इस पुस्तक के पृष्ठ ६८ तथा ८५ से ८७ पर दिया जा चुका है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य संचय का आश्रम था उसी प्रकार गृहस्थ

---

१. वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा, पृष्ठ २९

२. ब्रह्मचर्य संदेश, पृष्ठ १०५

३. केण्ट मेटीरिया मेडिका प्रथमभाग—जेम्स टेलर केण्ट, पृष्ठ ४२१

४. वीरअर्जुन २२-४-७५ गुरुकुल शिक्षापद्धति की विचारधारा, डा. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ. २

५. पुरुषार्थप्रकाश, पृष्ठ १४१

भोग का आश्रम है, ब्रह्मचर्याश्रम शक्ति की वृद्धि का आश्रम था और गृहस्थ उसके परिपाक का आश्रम है। वस्तु का संचय यदि एक प्रकार की तपस्या है तो उसका उपयोग एक अद्वितीय श्रेणी की कला है, जीवन की बाती भभककर एकदम भी जल सकती है और धीरे-धीरे संसार को प्रकाशित करती हुई दीर्घकाल तक भी जल सकती है। इस भोग को सीमित कर उसके आनन्द को और भी अधिक बढ़ा देना वैदिक संस्कृति का अपना दृष्टिकोण है।

शास्त्रों में विवाह के ब्राह्म, आर्य आदि आठ प्रकार बताये गये हैं स्वामीजी ने उसमें से स्वयंवर विवाह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी बताया है—"हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे कामना के योग्य, सब सत्य विद्याओं को जानने हारे, सत्कार के योग्य शरीरात्मबलों से युक्त होके तुम्हारे लिये सब सुख प्राप्त कराने में समर्थ होवें।"[१] वर-वधू को तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण वाला होना चाहिये। आदर्श पत्नी कैसी होनी चाहिये, इसका विवरण अथर्ववेद के १४।२।१७ मंत्र में भलीभाँति किया है। श्री हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने इस मंत्र की व्याख्या निम्न प्रकार की है—"१. पत्नी का प्रथम गुण 'अघोर चक्षुः' शब्द से निर्दिष्ट हुआ है। उसकी आंख में किसी प्रकार की घोरता व क्रोध की भावना की सूचना न हो। वह सदा फूल के समान खिली हुई, प्रसन्न मन वाली हो। २. वह पति का हनन करने वाली न हो। वस्तुतः क्रोध के स्वभाव वाली नारी पति के हनन का कारण बनती है....पत्नी ने पति के जीवन को चिन्ताशून्य बनाने का भी प्रयत्न करना है। ३. वह सुन्दर, प्रसन्न करने वाली, शुभ और सौभाग्य का वर्धन करने वाली हो। पत्नी गृहलक्ष्मी कहलाती है। ४. वह कर्म में ही सुख समझने वाली हो। उसका जीवन क्रियाशील हो, वह आराम पसन्द न हो। ५. उसे मर्यादित ऊंचाई वाला होना भी आवश्यक है। माता के कद के बहुत छोटा होने पर संतानों के भी छोटे कद रह जाने की संभावना है। ६. वह घर में उत्तम व्यवस्था रखने वाली हो। वेद में उसे स्थान-स्थान पर घर की साम्राज्ञी कहा गया है। ७. उसने संसार में वीर पुरुषों की ही वृद्धि करने वाला बनना है........राष्ट्र के लिये निर्बल व रोगी सन्तान भार रूप होते हैं।"[२]

विवाहोपरान्त पति-पत्नी के कर्म निम्न होते हैं—

गृहस्थी के कर्त्तव्य—

१. जब-जब प्रातः-सायं वा परदेश से आकर मिलें तब-तब नमस्ते करें।
२. परस्पर कभी द्वेष न करें।
३. जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कार्य ही करें। विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रखें और वस्त्राभूषण भी धारण किया करें।
४. गृहस्थियों को गाय आदि पशुओं का पालन तथा उन्नति सदा करनी चाहिये।
५. दोनों को १०० वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिये।

---

[१] संस्कारविधि पृष्ठ १३१

[२] वैदिक परिवार व्यवस्था—पं. हरिशरण सिद्धांतालंकार, पृष्ठ २७ से ३२

६. "पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें।"[1]

७. अतिथियों का यथायोग्य सम्मान करें, "किन्तु कोई पाखण्डी, वेदनिन्दक नास्तिक....... अतिथि वेषधारी बन के आवें, उनका वचन मात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करें।"[2]

८. जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्तमान न करें।

९. सदा स्त्री-पुरुष दश बजे शयन करें और प्रात: ४ बजे उठें। स्नान करने के उपरान्त संध्योपासना तथा अग्निहोत्र करें। इसके अतिरिक्त वे पितृयज्ञ अर्थात् जीवित माता-पिता आदि की यथावत् सेवा, बलिवैश्वदेव तथा अतिथियज्ञ भी करें।

१०. सदा सत्य बोलें "झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़ कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें।"[3]

दाम्पत्य प्रेम— गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी को सहचर बनने का, एक-दूसरे को समझने का तथा भोग अथवा प्रेम करने का अधिकार मिल जाता है। प्रेम कोई आकाश में चमकने वाली बिजली नहीं है जो जरा-सी झलक दिखाकर कहीं लीन हो जाये, इसकी परख इसकी ध्रुवता तथा इसके स्थायित्व में होती है। पति-पत्नी में प्रारम्भिक आकर्षण तो रूप का ही होता है, किन्तु किसी कारणवश रूप के समाप्त होने पर यदि प्रेम की भी अंत्येष्टि हो जाये तो इसका नाम प्रेम के स्थान पर वासना रखना ही अधिक उपयुक्त होगा। वैदिक विवाह न क्षणिक समझौता है, न केवल मौज मनाने का साधन है, यह एक सामाजिक कर्त्तव्य है—विवाह का शाब्दिक अर्थ ही यह है कि विशेष प्रकार का भार वहन करना। वैदिक विवाह का उद्देश्य केवल कुछ लोगों की प्रसन्नता के लिये किसी प्रकार परस्पर गुण कर्म स्वभाव के व्यक्तियों को एकाकार करना नहीं है, दूसरी ओर योरोपीय पद्धति की भाँति इसमें संबंध विच्छेद की अनुज्ञा भी नहीं है। इस प्रकार के विवाह की उपमा एक विचारक ने फटे तम्बू से दी है, "स्वतंत्रता उच्छृंखलता तक पहुंची। ध्रुवता का निशान मिटने की नौबत आई। गृहस्थ आश्रम न रहा किन्तु एक फटा तम्बू हो गया, जो जब चाहे उखड़ जाये और सदा चूता रहे।"[4] प्रेम की स्थिरता भी साधन है साध्य नहीं, साध्य तो दम्पत्ति का सुख तथा राष्ट्र की सेवा है। वैदिक विवाह केवल गठबन्धन ही नहीं है, यह प्रतिज्ञा का बन्धन, व्रत का बन्धन, तपस्या का बन्धन तथा लोक-लाज का बन्धन भी है। सत्य तो यह है कि विवाह के अवसर पर 'समापो हृदयानि नौ' अर्थात् पति-पत्नी के हृदय दो विभिन्न स्थानों की नदियों के जल के समान मिल गये हैं वाली प्रतिज्ञा के बाद उनका एकाकी अथवा व्यक्तिगत कुछ रह ही नहीं जाता। विज्ञान इतनी उन्नति करने के बाद भी दो विभिन्न नदियों के संयुक्त जल को जमा सकता है, सुखा सकता है, उड़ा सकता है, विषमय बना सकता है, रंगीन बना सकता है पर उन्हें पृथक् नहीं कर सकता।

---

[1] संस्कारविधि, पृष्ठ १९४

[2] संस्कारविधि, पृष्ठ १९८

[3] वही, पृष्ठ २४५

[4] कायाकल्प, पृष्ठ ९४

यह मिलन भी धर्म का अंग है, "इसीलिए सीता राम की न तो अनुराग पत्नी थी, न रति पत्नी थी, न सेवा पत्नी थी, न प्रतिज्ञा पत्नी थी, वह थी राम की धर्मपत्नी।"[१]

इस आश्रम व्यवस्था में पति का स्थान पत्नी से बड़ा है किन्तु पुरुष का स्थान स्त्री से बड़ा नहीं है। किसी स्त्री का पति होने योग्य पुरुष वही है जो पुरुष होने के नाते नहीं, किन्तु अपनी व्यक्तिगत योग्यता से उससे बड़ा हो। 'पति होने के कारण पत्नी का देवता न हो, किन्तु देवता होने के कारण पति बना हो।'[२] संसार की कोई कन्या अपने से दुर्बल शरीर वाला पति नहीं चाहती, क्षत्रिय कन्या दुर्बल को अपना हृदय नहीं दे सकती, वैश्य कन्या कंजूस की पूजा नहीं कर सकती। इस व्यवस्था में पुरुषों को तप करके पहले देवता बनना पड़ता है, इस तपस्या पर ही गृहस्थाश्रम की नींव रखी है, "यह तप है गृहस्थाश्रम में पति प्रयत्न करता है कि चाहे उसे दुःख ही होता हो, परन्तु पत्नी सुखी रहे। पत्नी यत्न करती है कि भले ही वह दुःख में रहे किन्तु पति को आराम मिले यह तप है।"[३]

शुक्रकीट और रजःकण का जो पारस्परिक स्वाभाविक आकर्षण है, वही मानव जीवन में 'प्रेम' कहाता है। प्रेम एक प्रकार की आग है और भोले गृहस्थी यह नहीं जानते कि इस आग को किस प्रकार सुलगता रखा जाये। किसी के लिये एक बार मरना आसान है पर जीवन भर किसी का होकर रहना एक कठिन कला है। अत्यधिक विषय-भोग में रहने वाले पति-पत्नी कालान्तर में विषय-भोग के काम के नहीं रहते, लालची और ठूंस-ठूंस कर खाने वालों का हाजमा प्रायः खराब हो जाता है और उनकी भूख विदा हो जाती है। शारीरिक प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है, यह तो उस आध्यात्मिक प्रेम की छाया मात्र है। कला तो यही है कि समय बीतने के साथ-साथ पति-पत्नी का पारस्परिक परिचय तथा आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता जाये। विषय-भोग प्रेम नहीं है "वह रात्रि के पापमय एकान्त में ही नहीं, अपितु चौबीसों घण्टे प्रकट हो सकता है, और इसी प्रकार का प्रेम टिकने वाला भी होता है।"[४] पत्नी की सहमति के बिना उसे वासनापूर्ति का साधन बनाना एक प्रकार का व्यभिचार ही है। इस्लाम की मान्यता की भांति स्त्रियां घर की खेतियां नहीं हैं, "तुम्हारी बीबियां तुम्हारे लिये खेतियां हैं, बस जाओ जिस तरह चाहो अपने खेत में।"[५] संयमहीन जीवन वासना का परिचायक तो हो सकता है, पर प्रेम का नहीं, संयम तोड़ने का परिणाम सदा घृणा उत्पन्न होना ही होता है। स्वामीजी इस बात से सहमत नहीं कि स्त्रियों में काम पुरुषों की अपेक्षा आठ गुना अधिक होता है। जिस प्रकार हस्तमैथुन तथा वेश्या गमन पाप हैं, उसी प्रकार पत्नी को भी केवल काम की ही वस्तु समझना 'पत्नी व्यभिचार' है। अवस्था ढलने पर मनुष्य में काम वासना की प्रवृत्ति भी न्यूनतर होती जानी चाहिये, अन्यथा परिणाम बड़े भयावह होते हैं। गृहस्थाश्रम इस स्थिति में प्रेममय न होकर वासनामय हो जाता है, पुरुषों की शक्ति क्षीण हो जाती है पर उनकी वासना शान्त नहीं होती "पुरुष बूढ़े हो जाते हैं तो कुश्ते खाने लगते हैं, बाल सफेद पड़ जाते हैं तो खिजाब

---

[१] कायाकल्प, पृष्ठ ९७ [२] वही, पृष्ठ ९९

[३] आनन्द गायत्री कथा—आनन्द स्वामीजी, पृष्ठ ९५

[४] ब्रह्मचर्य संदेश, पृष्ठ १६२ [५] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३४७

मलने लगते हैं, स्त्रियों के झुर्रियां पड़ जाती हैं, तो भी पाउडर मला करती हैं, चालीस की हों तो भी तीस की बताती हैं—शक्ति नहीं रहती, वासना रह जाती है।"[1] आज तो वैज्ञानिक प्रगति के प्रभाव से इस क्षेत्र में नये-नये टॉनिकों, ऑपरेशन तथा पशु ग्रंथियों का संयोजन आदि आविष्कार भी होते जा रहे हैं, भांति-भांति के मादक द्रव्यों का प्रयोग आत्म प्रवंचना के लिये किया जा रहा है। संज्ञाहीनता हटने पर उन्हें कष्ट और बढ़ा हुआ प्रतीत होता है और वे गृहस्थी को जंजाल और नरक समझने लगते हैं।

गृहस्थाश्रम भयावह नहीं है—कुछ व्यक्ति गृहस्थाश्रम को पुष्पों की शैया समझते हैं और कुछ इसको कंटकपूर्ण समझ कर इस जाल से भागना चाहते हैं। स्वामीजी ने लिखा है—"हे गृहस्थ लोगो! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से मत डरो, मत कम्पायमान हो.... तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है।"[2] सत्य तो यह कि सभी आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम से ही है। गृहस्थी स्वयं तो श्रमपूर्वक उदरपूर्ति करते ही हैं, ब्रह्मचर्य में दीक्षित व्यक्तियों का पालन भी उनके द्वारा होता है, अभ्यागत का सम्मान भी वे ही करते हैं और यदा-कदा पहुंचे हुए वानप्रस्थी और संन्यासियों की शुश्रुषा एवं भोजन व्यवस्था का भार भी उन पर होता है। गृहस्थ यदि कर्त्तव्यच्युत हो गये तो सारी आश्रम व्यवस्था ही धराशायी हो जायेगी। ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ आश्रम से पराङ्मुख होना न केवल क्लीबता है अपितु देशद्रोह और राष्ट्रद्रोह भी है। जिनमें सचमुच वैराग्य जागृत हो जाय वे देशसेवा के लिये सीधे वानप्रस्थ अथवा संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो सकते हैं अन्यथा 'इश्के हकीकी' (अध्यात्म प्रेम) के लिये भी 'इश्के मजाजी' (सांसारिक प्रेम) जरूरी है। अथर्ववेद ७।६०।२ में इन घरों को 'इमे गृहा मयोभुव'[3] अर्थात् ये घर आनन्द देने वाले हैं, यह कहा है। इन घरों को स्वर्ग बनाने के कुछ सूत्र आचार्य शिवपूजनजी ने निम्न प्रकार उद्धृत किये हैं—

१. ब्रह्मचर्य व्रत का खूब परिपाक करें।
२. पवित्र भावना से इसमें प्रवेश करें।
३. पदार्थों का उपयोग इस प्रकार करें कि अगले आश्रमों के लिये शक्ति बची रहे।
४. घर अति सुन्दर तथा हरियावल से युक्त हों।
५. धनधान्य तथा घी-दूध की उनके घर में नदियां बहती हों।
६. ब्राह्मणों का अन्नादि से सदा पालन करें।[4] आदि

स्त्रियों की स्थिति—वैदिक मर्यादा अनुसार स्त्रियों की क्या स्थिति होनी चाहिये, यह जानने से पहले यह आवश्यक है कि हम जान लें कि स्वामीजी के पदार्पण के समय समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति थी। पुरुष वर्ग ने स्त्रियों पर जितने अत्याचार किये हैं, उन्हें सोच-सोच कर यह भी आश्चर्य होता है कि संसार अभी तक टिका किस प्रकार है? उस समय स्त्री को काम-क्रीड़ा की कठपुतली समझा जाता था, पठन-पाठन उनके लिए वर्ज्य था, इस दृष्टि से

---

[1] वैदिक संस्कृति के मूल तत्व, पृष्ठ १७३

[2] संस्कारविधि, पृष्ठ १९१

[3] अथर्ववेद भाषाभाष्य, आठवां खण्ड, पृष्ठ ८२१

[4] वेदप्रकाश : अक्टूबर १९६२—आचार्य शिवपूजन सिंह, पृष्ठ १२-१३

उन्हें 'स्त्रीशूद्रौनाधीयाताम्' की श्रेणी में रखा गया था। नारी के प्रति उच्च विचार उपहास की वस्तु समझे जाते थे, स्त्रियों का न पुनर्विवाह होता था और न विधवा विवाह की कोई व्यवस्था थी, किन्तु पुरुष अपने हरम में एक साथ अनेक पत्नियों को रख सकते थे। कभी-कभी दो-दो वर्ष की बच्चियों का विवाह कर दिया जाता था, पति के मृत होने पर या तो उन्हें घर में ही नारकीय यातनायें दी जाती थीं या फिर जलती चिता पर जबर्दस्ती जलने के लिये विवश किया जाता था। शिशु कन्याओं का वध तो उन दिनों बड़ी सामान्य बात थी, उन्हें देवी का नाम देकर 'देवी' शब्द का भी मानो उपहास किया जाता था। नीचता की पराकाष्ठा तो यह थी कि कई सभ्य मतावलम्बी स्त्रियों में आत्मा होना भी स्वीकार नहीं करते थे, "सन् ५७८ ई. में जिस ईसाई धर्म-संघ का आह्वान किया गया था, उसमें यह निश्चय हुआ था कि स्त्रियों में आत्मा नहीं होती।"[1] कुछ स्थानों पर कुमारी लड़कियों के बाल बच्चे होना सम्मानजनक माना जाता था—"It is honourable for a virgin girl to have children. She then gets a wealtheir husband"[2] (किसी कुमारी लड़की के बाल बच्चे होना सम्मानजनक माना जाता है और उस अवस्था में उसे अधिक सम्पन्न पति मिलता है)। शंकराचार्य जैसे सन्त उन्हें नरक का द्वार समझते थे, कुछ स्थानों पर मज़दूर की औरत जमींदार की सम्पत्ति समझी जाती थी, ऐसे उद्धरणों का भी अभाव नहीं है जहां लोग वासनापूर्ति करने के बाद औरतों का वध कर देते थे और कुछ कबीलों में उनके मांसभक्षण की भी प्रथा थी। ऐसी स्थिति में स्वामीजी ने नारी संबंधी अपने क्रांतिकारी विचारों की उद्घोषणा की।

स्वामीजी ने 'स्त्रीशूद्रौनाधीयाताम्' को अवैदिक बताया, स्त्री और शूद्र दोनों को ही वेदाध्ययन का अधिकार दिया और मनु के इन शब्दों "नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते" अर्थात् "जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हो जाती है,"[3] का निर्भीक स्वर में समर्थन किया। उन्होंने बालविवाह, अनमेल विवाह तथा बहुविवाह का भी विरोध किया। उन्होंने इतना तक लिखा, "चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये।"[4] स्त्रियों के लिये पृथक् विद्यालयों की स्थापना पर उन्होंने बल दिया और स्त्रियों से अपेक्षा की कि वे स्वयं भी मधुर एवं सत्य बोलें तथा दूसरों को भी वैसा करने की प्रेरणा दें, अपने पति तथा दूसरों को भी उत्तम सलाह देना उनका कर्त्तव्य है और यज्ञादि का अनुष्ठान देवियों का धर्म है। यजुर्वेद के ८।४३ के अनुसार स्त्रियों की स्थिति स्वामीजी ने 'प्रशंसित गुण युक्त' रमणीय, पूज्य, कामना करने के योग्य, आह्लादित करने वाली, घर में ज्योति के समान प्रकाशमान, दीनता और दुर्बलता के भावों से रहित,....विदुषी, महान् उदार भावों से युक्त....[5] बताई। प्रत्येक शुभ कर्म में पत्नी की अनुमति लेना वेद में आवश्यक बताया है। महाभारत के

---

[1] शरत् साहित्य १५वां भाग, नारी का मूल्य, पृष्ठ १६

[2] वही, पृष्ठ २०

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५८ [4] वही, पृष्ठ ४९

[5] वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र : धर्मदेव विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १०५

आदि पर्व में शकुन्तला दुष्यन्त से कहती है—"वही भार्या है जो घर के काम-काज में कुशल हो, वही भार्या है जो पति को प्राणों के समान प्रिय मानती हो, वही भार्या है जो पतिव्रता हो। भार्या पुरुष का आधा अंग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है।"[1] रति, प्रीति तथा धर्म पत्नी के आधीन हैं। 'शुक्र नीति' के अनुसार स्त्री को "पति से सर्वदा प्रेम करने वाली, गृह कार्य में कुशल, पुत्र उत्पत्ति करने वाली, सुशील और सुयौवना"[2] होना चाहिये। स्त्री को पति से पहले उठना चाहिये तथा बिस्तर आदि उठा कर घर का मार्जन करना चाहिये। स्वामीजी ने स्त्रियों को लक्ष्मी स्वरूप माना है क्योंकि "लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है।"[3]

विधर्मियों तथा अत्याचारियों के द्वारा सताई हुई स्त्रियों के लिये भी स्वामीजी के हृदय में सहानुभूति थी, इसके लिये उन्होंने नारी-अनाथालयों की व्यवस्था भी की थी। यदि भाई के रहते हुए बहन का और पति के रहते हुए पत्नी का कोई अपहरण कर ले तो दण्ड अपहरणकर्ता को दिया जाना चाहिये अथवा अपहृत के संरक्षक को, क्योंकि वे उसकी रक्षा करने में असमर्थ रहे, किन्तु इस हिन्दू समाज का तो बाबा आदम ही निराला है। यहां न संरक्षक को दण्ड दिया गया और न अपहर्ता को, सारा दोष विवश नारी के मत्थे ही मढ़ दिया गया, परिणामतः उन्हें या तो विधर्मी बनना पड़ा या बाजार का रास्ता ग्रहण करना पड़ा। कोई भी नारी स्वेच्छा से वेश्यावृत्ति स्वीकार नहीं करती। पैसों से खरीदी जाने वाली काम की ये मूर्त्तियां प्रेम किसी सुन्दर युवक से करती हैं और शरीर बेचना पड़ता है उन्हें एक धनी कुत्सित वृद्ध के हाथों। इनके सुधार के लिये स्वामीजी ने जहां नारी आश्रमों की व्यवस्था की, पतन के कारणों के समूलोच्छेद का प्रयत्न किया, वहाँ उनकी शुद्धि की भी व्यवस्था की। इस युग में स्त्रियों का जितना कल्याण इस तपोनिष्ठ संन्यासी ने किया उतना संभवतः अन्य सुधारकों ने मिलकर भी नहीं किया। कुरीतियों की केन्द्र इन नारियों की शोचनीय दशा देखकर ही स्वामीजी ने महाराष्ट्र की ब्राह्मण पुत्री रमाबाई को उपदेश दिया था—"तुम आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर उनका सुधार करो। उनकी शिक्षा का बीड़ा उठाओ, उनकी दीन-हीन दशा दूर करो। क्योंकि माताओं पर ही देश का भविष्य अवलंबित है।"[4] स्त्री शिक्षा को वे पुरुषों की शिक्षा से भी अधिक महत्त्व देते थे क्योंकि स्त्रियों के शिक्षित होने पर उनकी संतति भी शिक्षित हो जाती है। इस्लाम की भांति यदि स्त्रियों को पैरों की जूतियां समझा जाये तो उनके बच्चे भी चप्पल और सैंडिल ही हो सकेंगे।

नियोग—कुछ पौराणिक विद्वान् स्वामीजी से इसलिये रुष्ट हैं क्योंकि स्वामीजी ने नियोग की व्यवस्था को मान्य किया है। 'नियोग' का अभिप्रायः उन्होंने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में इस प्रकार दिया है, "नियोग' विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि के वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री का आपात्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ

---

[1] महाभारत प्रथम खण्ड, आदि पर्व, पृष्ठ २२२

[2] शुक्र नीति, पृष्ठ २७३

[3] संस्कारविधि, पृष्ठ १९६

[4] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २९७

पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।"[1] यदि युवावस्था में ही किसी स्त्री का पति दुर्घटनाग्रस्त हो जाये अथवा मृत हो जाये, तो इसमें उस बिचारी का क्या दोष। यदि अपनी नियति को स्वीकार कर वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रह सके, तब तो बात सर्वश्रेष्ठ है ही। किन्तु यदि वह प्रकृति की पुकार की अवहेलना न कर सके तो क्या किया जाये। क्या उसे चोरी छिपे व्यभिचार की अनुमति दी जाये अथवा उसके मन में भांति-भांति की कुण्ठाओं को जागृत होने दिया जाये या फिर कोई ऐसा मार्ग ढूंढ निकाला जाये जिससे सांप भी मरे और लाठी भी ना टूटे। इस्लाम के "उमर ने अपनी लड़की से दरयाफ्त किया कि औरत बिना मर्द कितने दिनों तक रह सकती है ? वह शर्म से चुप रही। फिर फरमाया—३ महीने।"[2] यह सीमा इतनी कम भले ही न हो पर सामान्यजनों के लिये संयम की कोई न कोई सीमा तो बांधनी ही होगी। इस समस्या का एक समाधान यह भी हो सकता है कि स्त्री का पुर्नविवाह कर दिया जाये, किन्तु स्वामीजी इस पक्ष में नहीं थे। उन्होंने लिखा है, "क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध कर लेगा।"[3] पुर्नविवाह और नियोग में अन्तर यह है कि पहली स्थिति में विवाहित स्त्री पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है, किन्तु नियुक्त स्त्री-पुरुष का संतानोत्पत्ति के बाद कोई संबंध नहीं रहता। नियोग व्यभिचार की सीढी न होकर उसके रोकने का एक मार्ग है। नियुक्त स्त्री-पुरुष भी दो चार बार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते। यह कार्य चोरी छिपे न करके घर वालों की सम्मति से ही किया जाता है।

प्रश्न यह है कि नियोग की कल्पना क्या स्वामीजी के अपने मस्तिष्क की उपज थी ? उत्तर स्पष्ट नकारात्मक है। अन्य प्रश्नों की भांति इसके लिये भी उनके पास वैदिक आधार है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उन्होंने ऋग्वेद के ७।८।१८।२ का भाष्य करते हुए लिखा है—"जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो····यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से ही हो सकता है।"[4] तथा, "हे स्त्री ! अपने मृतक पति को छोड़कर इस लोक में जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो····"[5] अन्य ग्रन्थों में भी 'नियोग विधि' का उल्लेख है, मनुस्मृति के नवें अध्याय के ५९वें श्लोक में लिखा है, "पति की छः पीढियों में पति का छोटा या बड़ा भाई अथवा सजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए।"[6] कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी प्रकारान्तर से नियोग से सहमति प्रकट की गई है—"यदि पति राजकार्य के लिये बाहर गया हो तो पत्नी जीवनपर्यन्त उसकी प्रतीक्षा करे। परन्तु इस अन्तराल में यदि वह किसी सवर्ण जाति से सन्तान उत्पन्न करा लें तो वह निन्दा की पात्र न होगी।"[7] इसके अतिरिक्त महाभारत में तो नियोग के अनेक उदाहरण हैं। आदि पर्व में

---

[1] सत्यार्थप्रकाश—स्वमंतव्यामन्तव्यप्रकाश, पृष्ठ ३८६

[2] चमन इस्लाम की सैर—पं० शिव शर्मा, पृष्ठ ६३

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ६९

[4] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ २४५

[5] वही, पृष्ठ २४५

[6] शुद्ध मनुस्मृति, पृष्ठ ५५३

[7] कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्रो. इन्द्र, पृष्ठ ८४

2026
87

सत्यवती ने ब्रह्मचारी भीष्म से कहा कि वे अंबिका तथा अम्बालिका के साथ नियोग करें। भीष्म के मना करने पर किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर इस कार्य के लिए बुलाने का निश्चय किया गया है। अन्ततः इस कार्य के लिये व्यासजी को उपयुक्त पाया गया। उन्होंने "ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः"[1] अर्थात् उस समय नियोग विधि के अनुसार सत्यवादी महर्षि व्यास ने अम्बिका के महल में प्रवेश किया। स्वामीजी ने पूना प्रवचन में लिखा है "कुन्ती और माद्री दोनों ने पुत्र के लिये नियोग किया था।"[2] इस प्रसंग में एक विचित्र बात यह है कि नियोक्ता पुरुष से अपेक्षा की गई है कि वह कार्य करें और अपने शरीर पर घी चुपड़ कर जाये। उपर्युक्त व्यास और अम्बिका के नियोग के प्रसंग की टीका करते हुये टीकाकार ने लिखा है "शरीर पर घी चुपड़े हुए, संयतचित्त, कुत्सित रूप में"[3] तथा मनुस्मृति में 'विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्मतो निशि' जो विधवा के साथ नियोग करे, वह रात में शरीर में घी लगाकर मौन होकर....।[4] दोनों ग्रन्थों से यह स्पष्ट नहीं होता कि इस घृत प्रयोग का क्या उद्देश्य था, संभव है कि इसका कोई चिकित्सकीय कारण हो।

भारतीय शास्त्रों के अतिरिक्त पुराण तथा बाइबिल में भी इस विषय की चर्चा है। कुरान की एक आयत है "फइन् तल्लतहा फलातहिल्लु लहू'.....'फिर अगर उसको तलाक दी तो अब हलाल नहीं उसको वह औरत उसके बाअाद जब तक निकाह न करें उसके सिवाह गैर से। फिर अगर यह शख्स भी तलाक देवे तब गुनाह नहीं उस पहले वाले से फिर निकाह होने में (तलाक देने वाला उसी औरत को दोबारा तब तक नहीं ले सकता जब तक उस औरत का किसी दूसरे से निकाह न हो जावे और वह भी उसे तलाक न दे दे)।"[5] बाइबिल में यह चर्चा इस प्रकार है "ऐरे के मारे जाने पर 'ओनान' छोटे भाई ने अपनी विधवा भावज के साथ विवाह किया....'ओनान' मारा गया इसके छोटे भाई शेलाह ने उपरोक्त भावज से विवाह किया....फिर 'जूदाः' ने भी इसे रख लिया।"[6] शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित और स्वामीजी द्वारा अनुमोदित यह नियोग व्यवस्था व्यभिचार का साधन नहीं अपितु उसे रोकने का एक प्रयास है। इसके साथ कुछ बंधन वा विशेषतायें भी हैं जो निम्न हैं—

(क) नियोग में भी सब वही विधि होती है जो एक विवाह में होती है।

(ख) नियोग आपद् धर्म कहलाता है और विवाह सदैव का धर्म कहलाता है।

(ग) व्यभिचार और भ्रूण हत्या रूपी रोग समाज में उत्पन्न न हो अतः इनकी रोकथाम के लिये यह उपाय अपनाया गया है।

(स) यह श्रेष्ठ विकल्प नहीं है, यथा सम्भव विधवा को आजन्म ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये। पुत्र की इच्छा होने पर दत्तक पुत्र ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि वासनाओं को संयत

---

१. महाभारत प्रथम खण्ड—आदिपर्व, पृष्ठ ३२४

२. पूना प्रवचन, पृष्ठ १२३

३. महाभारत प्रथम खण्ड—आदि पर्व, पृष्ठ ३२४

४. शुद्ध मनस्मृति, पृष्ठ ५५३

५. वेद शास्त्र तालिका, पृष्ठ १०२ ६. वही, पृष्ठ १०१

न किया जा सके तो व्यभिचार रूपी रोग से बचने के लिये नियोग रूपी औषधि का सेवन किया जाये।

(ड) नियोग का उद्देश्य मनोरंजन नहीं अपितु सन्तानोत्पत्ति है।

(च) नियोजित स्त्री दस तक सन्तान उत्पन्न कर सकती है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बार उसका एक व्यक्ति विशेष से ही नियोग किया जाये। एक काल में एक ही वीर्यदाता पति होगा दूसरा नहीं।

इस प्रकार जीवन यात्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव समाप्त होता है। यदि इसका प्रयोग उचित रूप में किया जाये तो इस जैसा सुख देने वाला कोई अन्य स्थान नही है और यदि इसके प्रयोग में असावधानी की गई तो इस आश्रम जैसा दुःखदायी भी कोई नहीं है। गृहस्थाश्रम की उपमा एक रथ से दी गई है जिसके पति-पत्नी रूपी दो पहिये हैं, दोनों पहिये यदि समान हों एकाकार हों और एक ही दिशा में जाने वाले हों तो जीवन यात्रा स्वर्गीय हो जाती है। इसमें स्त्री-पुरुष दोनों के समान अधिकार होते हैं पर श्रेष्ठता उन्हें कर्त्तव्यों से मिलती है।

३. वानप्रस्थ आश्रम—जीवन यात्रा का तीसरा पड़ाव है वानप्रस्थ। जीवन की कथा इस आश्रम में चरम सीमा की ओर पहुंच कर उपसंहार की ओर उन्मुख होती है। गृहस्थाश्रम जन्म से मृत्यु तक जाने वाले मार्ग का अंतिम छोर नहीं, बल्कि एक पड़ाव है। मनुष्य को यह आश्रम इतना मोहक प्रतीत होता है कि वह अज्ञानवश इसे ही अपनी यात्रा की इतिश्री समझने लगता है। इस सराय से निकलने के लिये प्रकृति अपने ढंग से संकेत देती है, भोग की शक्ति समाप्त होने लगती है, नौकरी से रिटायर कर दिया जाता है और अपने ही लड़के-बहुयें कामना करते हैं कि किसी प्रकार यह व्यक्ति रंगमंच से दूर हो जाये। सराय से धक्के खाकर निकलने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि समझदारी से स्वयं ही उसका मोह छोड़ दिया जाये। प्रेय से श्रेय की ओर तथा प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाने वाली इसी प्रवृत्ति का नाम वानप्रस्थ है। आज के समाज में एक नई बीमारी उत्पन्न हो गई है और बह है कुर्सी से, अधिकार से चिपकने की बीमारी। पहले "यह बीमारी राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित थी, अब यह धर्म के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गई है।"[1] इस बीमारी के कारण जहाँ पहले जनता जिन व्यक्तियों के नाम की जय बोलती थी, उनके स्वागत में आंखें बिछाती थी, अब उनके लिये 'गद्दी छोड़ो' के नारे, घेराव और कभी-कभी हत्या तक करने के लिये विवश हो गई है। 'टुक टुक दीदम दम न कसीदम' वाले पके फल के समान व्यक्ति स्वयं वृक्ष से टपकना नहीं चाहते किन्तु प्रकृति के नियम को कोई टाल नहीं पाता।

वानप्रस्थ ग्रहण करने की अवस्था—वानप्रस्थ करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। दूसरा ढंग यह भी है कि जब पुत्र का पुत्र अर्थात् पौत्र हो जाये तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करे। तीसरा ढंग यह भी है कि 'गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें।'[2] चौथा ढंग यह

---

[1] वैदिक संस्कृति के मूल तत्व, पृष्ठ १७६-७७

[2] संस्कारविधि, पृष्ठ २५१

भी है कि जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्नि होत्र की सामग्री सहित लेवे, ग्राम से निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे। यूरोप के स्टाल महोदय ने 'पैंतालीस वर्ष के पुरुष को क्या जानना चाहिये' नामक पुस्तक में लिखा है 'शिर और मूंछ, दाढ़ी में श्वेत बालों का आना प्रकट कर रहा है कि अब अवस्था बदल चली।'

वानप्रस्थी के कर्त्तव्य कर्म—'मनुस्मृति' के षष्ठाध्याय के अनुसार वानप्रस्थियों के निम्न प्रमुख कर्त्तव्य हैं (१) मृगचर्म या वल्कल पहने, सायं और प्रातः स्नान करे, जटा, दाढ़ी-मूंछ तथा नाखूनों को सदा साफ रखे (२) खाद्य पदार्थों में से अपनी शक्त्यनुसार बलि (प्राणियों का भोजन) और भिक्षा दे। (३) वन में वेदों का अध्ययन-अध्यापन करे और यदि स्त्री साथ हो तो भी विषय सेवन न करे (४) नियमानुसार वैतानिक यज्ञ करे (५) फल, मूल का भोजन करे और शराब, मांस, लिसौड़ा आदि का सेवन न करे (६) शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे तथा अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों से ममता न करे (७) नाना प्रकार की उपनिषद् तथा श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे।

वैदिक काल के वानप्रस्थाश्रम—इन आश्रमों में गृहस्थी युवक यदा-कदा जाते थे और उनसे उपदेश सुनकर अपने कार्यों में आ जुटते थे। आज थके माँदे युवकों के लिये अपनी थकान दूर करने का या मन बहलाने का एकमात्र साधन सिनेमा या सांस्कृतिक कार्यक्रम रह गया है। कोई युवक यदि किसी कारण कुण्ठाग्रस्त अथवा अशान्त हो जाये, तो इससे छुटकारे का उसके पास कोई उपाय नहीं है, उसे भटकाने वाले तो सहस्रों हैं पर सहारा देने वाला कोई नहीं। ऐसे युवक इन अनुभवी वानप्रस्थियों के पास जाकर नवस्फूर्ति तथा नवजीवन प्राप्त करते थे। ये वानप्रस्थ किसी सीमा तक आर्थिक समस्या को भी हल करते थे। जिन व्यक्तियों को रिटायर हो जाना चाहिये, पेंशन प्राप्त करनी चाहिये वे भी आज पुनः नौकरी के पीछे भाग रहे हैं, परिणामतः युवक बेकार घूम रहे हैं। एक छोटा सा घर, उसमें तीन-तीन पीढ़ियां किस प्रकार रह पायें। यदि प्राचीन मर्यादा के अनुसार बच्चों को गुरुकुल भेज दिया जाय और वृद्धों को वन में,तो मकानों की कोई समस्या ही न रहे। अनुभवों में पके ये वानप्रस्थी विद्यादान तो करते थे पर उसके बदले में कोई पारिश्रमिक नहीं लेते थे—इतने प्रशिक्षित और इतने निःस्वार्थ जन सेवक किसी अन्य व्यवस्था में उपलब्ध नहीं हो सकते। गृहस्थाश्रम में चाहे कोई ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो अथवा वैश्य, इस आश्रम में पहुंच कर सभी को ब्राह्मण हो जाना पड़ता था।

वह युग कितना सुन्दर रहा होगा जब वृद्ध स्वेच्छा से एक घर को छोड़ कर समस्त वन को अपना घर समझते होंगे, एक परिवार का मोह छोड़कर पूरे देश को अपने परिवार की सीमा में सम्मिलित करते होंगे। अनिवार्य शिक्षा बिना किसी बजट के ही पूर्ण हो जाती होगी। पीढ़ी का संघर्ष जो आज के युग की देन है, इसका सर्वोत्तम हल यही है कि वृद्ध युवकों के लिये स्वेच्छा से स्थान छोड़ें। सास-बहू तथा पिता-पुत्र के संघर्ष की कोई कल्पना भी नहीं कर सकेगा। ये व्यक्ति वन में रहते हुए भी युवकों को आचार की शिक्षा दे सकते थे और छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित केकय देश के राजा अश्वपति के कथन के अनुरूप 'न मे स्तेनो जनपदे'[1] अर्थात् 'मेरे

१: एकादशोपनिषद् प्रथम खण्ड, छान्दोग्योपनिषद्, पृष्ठ ५१२

जनपद में कोई चोर नहीं है, कोई कृपण नहीं, कोई मद्यप नहीं है, कोई अनाहिताग्नि नहीं है, कोई अविद्वान् नहीं है, व्यभिचारी नहीं है—फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है ?," प्रत्यक्ष कर सकते थे। इन वानप्रस्थियों के पतित होने की भी कोई सम्भावना नहीं है— क्योंकि उनके वस्त्र गेरुए रंग के होते हैं जो इन्हें याद दिलाते रहते हैं कि जीवन का अन्त इन्हीं के रंगों के समान लपटों में होगा।

(४) संन्यासाश्रम—भारतीय मर्यादा के अनुसार जीवनयात्रा का चतुर्थ एवं अन्तिम पड़ाव संन्यासाश्रम है। कुम्भकार का चक्र जीवनभर चलता रहा, जितने मृत्पात्र बनाये जाने थे, बनाये जा चुके, अब चक्र चले तो भी और न भी चले तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वामीजी के मतानुसार "पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राट्, अर्थात् संन्यासी हो जावे।"[1] दूसरी ओर उन्होंने यह भी कहा है "जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे।"[2] इस विषय में गीता के १८वें अध्याय में लिखा है 'काम्यानां कर्मणा न्यासं' अर्थात् "क्रान्तदर्शी लोग काम्यकर्म को न्यास अर्थात् धरोहर समझ कर करना, इसे संन्यास कहते हैं तथा विचक्षण लोग सब प्राप्त फलों के त्याग को त्याग जानते हैं........सारांश यह है कि कर्म से पहले मन को स्वार्थभावना से शून्य करना संन्यास है तथा प्राप्त फल को अपना न समझ कर विष्णु के अर्पण करना त्याग है।"[3]

संन्यासियों के प्रमुख कर्त्तव्य—संन्यासियों का धर्म पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्य भाषणादि लक्षण मनुष्य मात्र के हैं, किन्तु संन्यासियों के लिये विशेषतः परिपालनीय है, उन्हें पृथ्वी पर दृष्टि रख कर चलना चाहिये, वस्त्र से छान कर पानी पीना चाहिए तथा धर्म और विद्या का उपदेश करने के लिये विचरण करना चाहिये। केश, नख, दाढ़ी, मूंछ का छेदन करवाना चाहिए तथा नित्य प्रति प्राणायाम करना चाहिये। धृति, क्षमा, दम आदि धर्म के दश लक्षणों का उसे पालन करना चाहिये। मनुस्मृति के अनुसार केवल ब्राह्मण को ही संन्यास लेने का अधिकार है। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करता है तब उसका नियन्ता संन्यासी होता है। संन्यासियों के सभी कर्त्तव्य एवं धर्म को स्वामीजी ने अपने जीवन में उतार लिया था, क्षमा की तो वे साक्षात् मूर्त्ति ही थे। जब राव कर्णसिंह से स्वामीजी को मारना चाहा था, तब उसका हाथ पकड़ कर उन्होंने कहा था—"क्या तुम यह चाहते हो, मैं भी आततायी पर प्रहार करके बदला लूं ?—मैं संन्यासी हूं। तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट करना तो दूर रहा, उसे मन में भी न लाऊंगा।"[4] अपने जीवन के सांध्यकाल में इसी प्रकार का व्यवहार उन्होंने अपने विषदाता से किया था। जीवन के अन्य पदार्थों की भाँति आज संन्यासियों में भी adulteration (मिश्रण) होने लगा है। अनधिकारी लोगों ने साधु संन्यासी बन कर इस वेष को कलंकित कर दिया है। "जो मनुष्य मानवहित शून्य होकर अपाहिजों की भाँति गली गली

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ७७ २. वही, पृष्ठ ७७

३. श्रीमद्भगवद्गीता, सामर्पणभाष्य, पृष्ठ ३३५-३६

४. महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ ११२

में भटकते फिरते हैं, जन-जन के आगे हाथ पसारते हैं और घर-घर के टुकड़ों के चटोरे बन जाते हैं, वे संन्यास आश्रम की मान मर्यादा और महत्त्व को धूल में मिलाने वाले हैं। शारीरिक सामर्थ्य रखते हुए अनुपकारी जन का पराये अन्न पर पेट पालना एक प्रकार का पतित कर्म है। इन निकम्मे साधुओं ने हमारे देश की दरिद्रता को बढ़ा दिया है।"[1]

मानव जीवन के तीन पड़ाव अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास खुली हवा में व्यतीत होते हैं। पश्चिम वाले चाहे Return to Nature (प्रकृति की ओर लौटो) का चाहे कितना ही नारा लगा लें, किन्तु प्रकृति का वास्तविक साहचर्य तो भारतीय आश्रम व्यवस्था से ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु गृहस्थी दो चार बच्चों या पास पड़ौस वालों का ही बाबा होता है, किन्तु वानप्रस्थी अपने बच्चों का मोह छोड़ कर गांव भर के बच्चों का बाबा हो जाता है। मोह की रही-सही गांठ भी संन्यासाश्रम में खुल जाती है। संन्यासी निर्द्वन्द्व होकर विचरण करता है, कोई विशेष व्यक्ति न उसका मित्र होता है न दुश्मन। वह सबको अपना बना लेता है और स्वयं सबका हो जाता है। संन्यास बाहर का नहीं अपितु भीतर का चिह्न है। संन्यासियों के घर वालों को कभी-कभी तो इतना भी ज्ञात नहीं रहता कि उनके पूज्य देवता इस संसार से कब कूच कर गये। संन्यासी की दृष्टि 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृष्टि हो जाती है "सन्यासी की दृष्टि संयुक्त राष्ट्र संघ की दृष्टि है।"[2]

संसार के प्राणियों का संगठन—संसार को एकसूत्रता में पिरोने के लिये जितना कार्य ये संन्यासी कर सकते हैं, उतना कोई और नहीं। ये विश्व हित के लिये सब कुछ कुर्बान कर सकते हैं, प्राणी मात्र की सेवा में अपने को भूल सकते हैं, लघुत्तर प्रेम को वृहत्तर प्रेम का आधार बना सकते हैं। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि आज "शराब बेचने वाले, कोकीन वेचने वाले भांग, चरस, अफीम वेचने वाले, स्त्रियों का व्यापार करने वाले संसार भर में एक हैं। उनमें देश, जाति, धर्म का कोई भेद नहीं। उनका विश्व व्यापी संगठन है।"[3] किन्तु मानवता का कल्याण करने वाले और समस्त विश्व को एकसूत्रता में पिरोने वालों का कोई संगठन नहीं है, यदि किसी प्रकार संसार के मस्तिष्क इकट्ठे हो सकें, तो संसार के हाथ पैर स्वतः एकत्र हो जायेंगे।

निष्कर्ष—भारतवर्ष को गर्व हो सकता है कि उसने संसार की समस्याओं का अध्ययन और समाधान अपने ढंग से किया है। वर्णाश्रम व्यवस्था उसकी अपनी विशेषता है। प्राचीन ऋषियों ने उन्नति के लिये जो पथ सुझाया है, आज भी उसको चुनौती देने वाला कोई उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो यह आश्रम-व्यवस्था आज भी न केवल भारत का अपितु, समस्त मानव का कल्याण कर सकती है। सन् १९६७ में डेन्मार्क के सार्वजनिक धर्म सम्मेलन की सभानेत्री मिस जटरंकू ने इसीलिये विश्व का ध्यान भारत की ओर आकृष्ट किया था—"O you assembled scholars of the earth, if you desire to help the atmosphere of World quiet and calm, go to the saints in caves and forests of India,

---

१. महर्षि दयानन्द, पृष्ठ ८३

२. वैदिक संस्कृति के मूल तत्व—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृष्ठ १९२

३. कायाकल्प, पृष्ठ ११४

sit at their feet and learn divine wisdom from their holy lips and then propagote it in Europe and America.''[१] (अर्थात् ओ भूमण्डल के एकत्रित विद्वानो ! यदि तुम संसार के वायुमण्डल को शान्त तथा सुखदायक बनाना चाहते हो तो भारत के सन्तों के पास गुफा और जंगलों में जाओ। उनके चरणों में बैठकर उनसे ब्रह्मज्ञान सीखो और उसे यूरोप तथा अमेरिका में फैलाकर शान्ति का राज्य स्थापित करो। स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास भी विश्व को देने के लिये ऐसा ही दिव्य सन्देश था, किन्तु उन्होंने यह अपेक्षा नहीं की कि लोग उनकी सेवा करके इसे ग्रहण करें। उन्होंने अपने समाधि सुख को छोड़कर भी स्वयं स्थान-स्थान पर जाकर यह संदेश प्रसारित किया और इसे स्थायी साहित्य का रूप देकर विश्व के मानवों के लिये सुलभ बना दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था उस दिव्य संदेश का एक उपयोगी एवं शाश्वत अंश है।

◆ ◆

---

[१] सार्वदेशिक (आर्यसमाज स्थापनाशताब्दी--विशेषांक), १३ अप्रेल ७५, पृ. ८७

अष्टम अध्याय

स्वदेश, (आर्य भाषा) हिन्दी, खान-पान संबंधी विचार

विषय प्रवेश—भारत वसुन्धरा ने एक से एक देदीप्यमान, अमूल्य एवं आकर्षक नर-रत्नों को जन्म दिया है। इनमें सर्वस्व त्यागी भी हुए हैं, जितेन्द्रिय भी हुए हैं और ज्ञान के अथाह सागर भी हुए हैं। कभी राजकुमार गौतमबुद्ध ने इस धरित्री को अपने जीवन से कृतकृत्य किया, लाखों मनुष्यों को उन्होंने निर्वाण पथ की ओर उन्मुख किया, बंग भूमि के नवद्वीप में गौरांगदेव ने अवतरित होकर बंगाल को भक्ति-तरंगों में निमग्न कर दिया। इसी प्रकार लगभग १२०० वर्ष पूर्व नम्बूद्रि ब्राह्मण कुल में स्वामी शंकराचार्य उत्पन्न हुए, उन्होंने बचपन में ही संन्यास ग्रहण करने की इच्छा की, माँ के मना करने पर नदी में स्नान करने के लिये पहुंचे और शोर मचा दिया—"मां ! मुझे मगरमच्छ ने पकड़ लिया है, वह मुझे खींचे लिए जा रहा है ···मगरमच्छ बोलता है कि यदि तू संन्यासी हो जाये तो मैं तुझे छोड़ दूंगा·····।"[२] इन शंकर और दयानन्द दोनों ने ब्रह्मचर्याश्रम में ही संन्यास ग्रहण किया, दोनों ने वेदों का प्रसार किया, दोनों ने अनेक उपयोगी ग्रन्थ लिखे, दोनों ने नास्तिकता और वाममार्ग से टक्कर ली, दोनों ने मानव समस्याओं को अपनी बुद्धि के अनुरूप सुलझाने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी दोनों में कुछ अन्तर रहा। शंकर ही नही, दयानन्द के पूर्व भारत में जितने भी साधक, ज्ञानी, नेता, कर्मकाण्डी व्यक्ति हुए हैं, उनके संबंध में एक प्रश्न किया जा सकता है—"क्या उन्होंने विभक्त और विच्छिन्न भारत में ऐक्य स्थापना के लिए कोई यत्न किया ? उत्तर सिवाय नहीं के और कुछ नहीं हो सकता।"[२]

देश से परिचय—देश में एकता स्थापित करने अथवा देशप्रेम करने के लिये भी व्यक्ति का देश विशेष से परिचय होना आवश्यक है। यह परिचय पुस्तकों के अध्ययन तथा परिभ्रमण दोनों ही प्रकार से हो सकता है। स्वामीजी ने भारत के अतीत को पुस्तकों के माध्यम से देखा और वर्तमान का परिचय प्राप्त किया परिभ्रमण के द्वारा। देश के जितने भागों में उन्होंने यात्रा की, उतने भागों की यात्रा संभवतः कई व्यक्ति मिलकर भी नहीं कर पायेंगे। वे लेह से लेकर कन्याकुमारी तथा रावलपिंडी से लेकर पुरी तक गये, उन्होंने कलकत्ता, बम्बई तथा कानपुर जैसे व्यस्त नगरों को भी देखा और मानसरोवर तथा नर्मदा के उद्गम जैसे प्रशान्त स्थलों को भी, हिमगिरि के उतुंग शिखरों पर भी उन्होंने आरोहण किया और सागर की गुरु गंभीरता का भी उन्होंने प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया, राजाओं के प्रासादों से दीन हीन जन की कुटिया तक भी उन्होंने दृष्टिपात किया। हरिद्वार, प्रयाग, पुष्कर और ओंकारेश्वर जैसे तीर्थ स्थलों को भी उन्होंने देखा और शिवपुरी तथा नर्मदा तट पर स्थित

---

१. शंकर और दयानन्द-–आनन्द स्वामी सरस्वती, पृष्ठ ७

२. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, प्रथम भाग—घासीरामजी, पृष्ठ २२

निविड़ कान्तारों का भी उन्होंने अवलोकन किया। उत्तर और दक्षिण भारत की इन यात्राओं के बीच उन्हें कभी भक्तों द्वारा स्वादिष्ट भोजन भी मिला और मल्लाह की आधी रोटी खाकर भी उन्होंने जीवन निर्वाह किया। ऐसे अवसर भी आये जब रेत ही उनका विस्तर रही, ईंट ही तकिया और मणिखचित आकाश ही उनका ओढ़ने का वस्त्र रहा। महल और मन्दिर का खोखलापन, पंडित पुजारियों की स्वार्थपरता, विदेशियों की बर्वरता और स्वदेशियों की निर्धनता भी उनके दृष्टिपथ में आई। देशवासियों की विषण्ण अवस्था देखकर उनकी आत्मा भी क्षुब्ध हो गई माया-मोह से रहित इस विरक्त संन्यासी की आंखें भी अश्रु परिपूर्ण हो गई, "कुछ गहरे जल में पैठ उसने (माता) बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार कर बालक के वस्त्रहीन निर्जीव कलेवर को हाय-हाय के आर्तनाद के साथ पानी में प्रवाहित कर दिया। अपने प्यारे बच्चे के शव पर लपेटे हुए कपड़े को धोकर वायु में सुखाती हुई और रोती हुई वह माता अपने घर की ओर चली गई।"[1] निर्धनता की इस चरम सीमा को देखकर स्वामीजी का हृदय भी अप्रभावित नहीं रहा। जिस महापुरुष की आंखों पर अपनी प्रिय बहिन की मृत्यु पर भी आंसू नहीं आये, जिसने मां-वाप की ममता को भी स्वेच्छया त्यागने पर दुःख अनुभव नहीं किया, स्वदेश की इस दुर्दशा और अधःपतन पर वह भी रो पड़ा।

देश के अतीत का गौरव तथा वर्तमान दशा पर क्षोभ—इस देश की दुर्दशा देखकर उन्होंने कहा—"सहस्रों भारतवासी पेट भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं, भूख से कुत्ते-बिल्ली की मौत मरते हैं। फिर भी देश में धड़ाधड़ तूंबाधारी और जटाधारी बनते चले जा रहे हैं।[2]" उन्होंने देखा कि सारी जाति कुम्भकर्णी निद्रा में सोई हुई है, अतएव अभाव और अज्ञान ने इस देश में पैर जमा लिये हैं तथापि देशवासी परमेश्वर से विमुख हो उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं। कहां मनु का युग जब समस्त भू-मण्डल के प्राणी यहां के ब्राह्मणों से चरित की शिक्षा लिया करते थे "स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेस् पृथिव्यां सर्वमानवाः।"[3] और कहां पुरुषार्थहीनता, ईर्ष्या, द्वेष और विषयासक्ति में लीन आधुनिक जन, कहां 'नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'[4] का आदर्श और कहां स्त्रियों को वासनापूर्ति अथवा बच्चा जनने का यंत्र समझना, कहां अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य और कहां पग पग पर पराश्रित तथा विदेशियों से पादाक्रान्त आधुनिकजन। गुरु का गौरव तो चला ही गया। अब तो शिष्यत्व की भी योग्यता नहीं रही। देश की इस पतित अवस्था में भी स्वामीजी ने इस देश की आरती उतारी, "यह आर्यावर्त ऐसा देश है जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं है, इसीलिये इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है"[5] तथा "पारस पत्थर केवल सुना गया है। वह वस्तु है भी या नहीं इसे कोई नहीं जानता पर भारतवर्ष सचमुच ऐसा पत्थर है जिसको छूते ही विदेशी रूपी लोहे स्वर्ण में परिणत हो गये हैं।"[6] देश की दशा सुधारने के लिये स्वामीजी ने अपने ढंग से प्रयत्न किये तथा भगवान् से

---

[1] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २९२

[2] वही, पृष्ठ २६२

[3] मनुस्मृति – पं० तुलसीराम, पृष्ठ ८३

[4] वही, पृष्ठ १४९

[5] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७२

[6] आर्यमित्र (ऋष्यंक) २८ अक्टूबर १९५६, पृष्ठ १७

भी प्रार्थना की—"हे कृपानिधे ! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम, चातुर्य, विविधधन, ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेश सुखसंपादनादि गुणों में सब नरदेहधारियों से उत्तम करो।"[१] "भगवन् हम पर सहायता करो जिससे सुनीति युक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।"[२] "आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों, एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्ड रहित करें।"[३]—"उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग (फूट) हम आर्यों में से नष्ट हो जाये।"[४]

देश के पतन के कारण—स्वामीजी के मतानुसार देश का पतन महाभारत के युद्ध के बाद हुआ, विनाश का सबसे बड़ा कारण कौरव और पांडवों की पारस्परिक फूट थी, यह फूट आज भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है। दूसरा कारण था देशवासियों का प्रमादी, स्वार्थी तथा चरित्रहीन होना। तीसरा कारण है धर्मगुरुओं और नेताओं की असावधानी। इनके प्रमाद के कारण करोड़ों लोग विधर्मी तथा विदेशी बन चुके हैं, "यदि यही व्यवस्था रही तो आप (धर्मगुरु आदि) मुक्ति के स्वप्न देखते रहे जायेंगे और आर्य जाति की सदा के लिये समाधि लग जायेगी।"[५] चौथा कारण है—देश में धन का अभाव होना, धन प्राप्त होता है विदेशों में व्यापार करने से, समुद्र में यात्रा करने से किन्तु यहां के धर्माचार्यों ने समुद्र यात्रा को भी एक पाप घोषित कर दिया था। स्वामीजी ने वैश्यों के लिये समुद्र यात्रा को एक आवश्यकीय कृत्य माना है। पांचवां कारण है वैदिक शिक्षा का अभाव, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, मिथ्या भाषण आदि। छठां कारण उन्होंने मांसाहार माना है, "जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आ के गौ आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है।"[६] देश की अवनति के लिये स्वामीजी ने मूर्त्ति पूजा को भी एक कारण माना है—एक और विशेष कारण जिसकी ओर उनके समकालीन सुधारकों ने ध्यान नहीं दिया अथवा उन्हें उस ओर ध्यान देने का साहस नहीं हुआ, यूरोपीय लोगों अथवा विदेशियों का भारत आगमन है। एक स्थान पर वे लिखते हैं "विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण...."[७] दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है, "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने-पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं"[८] तथा "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है"[९] आदि।

---

[१] दयानन्द ग्रन्थमाला श. स. प्रथम भाग, आर्याभिविनय, पृष्ठ १०

[२] वही, पृष्ठ १३

[३] वही, पृष्ठ ३७

[४] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६७

[५] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ १७९

[६] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६८

[७] वही, पृष्ठ १६६

[८] वही, पृष्ठ १४१

[९] वही, पृष्ठ १६६

अंग्रेजों की तथा अंग्रेजी राज्य-व्यवस्था की कई बातों में सराहना करते हुए भी जब अपने देश की गरिमा का प्रश्न आया तो उन्होंने कोई समझौता नहीं किया। भक्त स्काट के पास वे मिलने के लिये स्वयं गिरजाघर तक गये, किन्तु एक स्थान पर जब उनसे पगड़ी उतारने के लिये कहा गया तो उन्होंने उत्तर दिया—"हमारी रीति के अनुसार पगड़ी पहिनना प्रतिष्ठा-सूचक है, तुम कहो तो हम अपना जूता उतार सकते हैं। उस मनुष्य ने कहा कि आपको पगड़ी और जूता दोनों उतारने चाहियें। इसे स्वामीजी ने स्वीकार नहीं किया और वह बरामदे से ही गिरजा के भीतर रखी हुई मूर्त्तियों को देखकर चले आये।"[1] इसी प्रकार लार्ड नार्थ ब्रुक ने[2] उनसे अनुरोध किया था कि वे अपने व्याख्यानों में अंग्रेजी राज्यों से प्राप्त उपकारों का उल्लेख किया करें, इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि वे उनकी आशा को पूर्ण नहीं कर सकेंगे क्योंकि "मैं तो नित्य प्रातः-सायं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि मेरा देश पराई दासता से मुक्त हो।"[3] स्वामीजी इन विदेशी अंग्रेजों की नीयत से भलीभांति परिचित थे। इस देश को नीचा दिखाने अथवा परतन्त्र बनाने के लिये अंग्रेज सभी कुछ कर सकते थे। स्वामीजी के कई पत्रों में यह भावना दृष्टिगोचर होती है, "बड़ौदा में नहीं जायेंगे। बड़ौदा में गड़बड़ मची है। अंग्रेज लोग फौज लेके चढ़ गये, राजा को कैद कर लिया। राजा के ऊपर विष का फरेब लगा के"[4] तथा "यदि ग्रिफिथ साहब उसको देखते तो कभी ऐसा न लिखते। विचार करता हूं कि उनने मेरा भाष्य बिना ही देखे भाले अपनी मनमानी अनुमति प्रकाशित कर दी है।"[5]

देशोन्नति के उपाय—यद्यपि स्वामीजी सम्पूर्ण भूमण्डल का कल्याण करना चाहते थे, फिर भी अपने देश के लिये उनमें विशेष सम्मान था। हर संभव उपाय से वे इस देश को पूर्व के समान उन्नत बनाना चाहते थे। अपने भाषणों, लेखों तथा पत्रों से उन्होंने अनेक व्यक्तियों को इस महान् कार्य के लिये प्रेरणा दी। उनके पत्रों के कुछ अंश उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(क) "इसी से ही यह देश सुधरेगा अन्यथा नहीं....उसी से इस देश का कल्याण होगा।"[6]

(ख) "तुम्हारी यह इच्छा देखकर कि तुम अपने देश की अवस्था उत्तम करने का यत्न करते हो मुझे ऐसा आनन्द हुआ कि वर्णन नहीं कर सकता।"[7]

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ २५६

[2] श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार यह भेंट हुई ही नहीं थी क्योंकि स्वामीजी ने कहा था "लार्ड नार्थ ब्रुक तो हमारे पास आयेंगे नहीं और हम भी संन्यासी हैं, हम भी उनसे मिलने नहीं जायेंगे, एक मध्यस्थ स्थान नियत करो तो दोनों का मिलन हो सके।"
—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७१

[3] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ ३३१

[4] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २८

[5] वही, पृष्ठ ७१

[6] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २५

[7] वही, पृष्ठ ९५

(ग) "अब आपकी दृष्टि देश के सुधार पर होनी चाहिये।"[1]

(घ) "....और कोई बात वा काम ऐसा न हो कि जिससे अपने देश का ह्रास होवे।

(ङ) "....and the confiscation of all his books, without any due enquiry into the matter. As the matter is of great concern not only to Munshi Indraman, but to our country and to all of us."[2] अर्थात् और इस प्रसंग में बिना किसी उचित जांच पड़ताल के उनकी सब पुस्तक को जप्त करना। क्योंकि इस विषय का विशेष संबंध केवल मुंशी इन्द्रमन से नहीं है अपितु हमारे देश और हम सब से है।

(च) "जिनका एक देश, एक भाषा, एकत्र जन्म, सहवास और विवाहादि व्यवहार सम्बन्ध आपस में होते हैं उनसे उनको जितना लाभ और उनकी उनमें जितनी प्रीति होती है उतना अन्य देशवासियों से अन्य देशवासियों को लाभ और उन्नति नहीं हो सकती।"[3]

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि देशोद्धार के लिये स्वामीजी में कितनी लगन थी। इस देश की दशा को ऊंचा उठाने के लिये उन्होंने जो प्रयत्न किये उनका कुछ विवरण निम्न है—

१. एकता के लिये प्रयत्न—"सम्पूर्ण देश को एकसूत्र में पिरोने के लिये उन्होंने वेदों का आधार स्वीकार किया। इस कल्याणी वाणी का द्वार उन्होंने जन-जन के लिये खोल दिया था। उनसे पूर्व वेदों का पाठ पर्दे के पीछे से होता था कि कहीं वेद भ्रष्ट न हो जायें।"[4] इन्हीं वेदों के आधार पर स्वामीजी ने समस्त देशवासियों के लिये एकेश्वर की उपासना पर बल दिया। ईश्वर के स्वरूप में भिन्न-भिन्न आस्था रखने वालों में ऐक्य संभव नहीं—इसीलिये स्वामीजी ने जमकर मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया। देश में प्रचलित अनेक कुरीतियों, निरक्षरता, अस्पृश्यता, अनमेल विवाह आदि के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष किया। हिन्दू धर्म (आर्य अथवा वैदिक धर्म) को निन्द्य न समझ कर उस पर गर्व करना उन्होंने सिखाया, हिन्दुओं के षोडश संस्कारों की पुनर्स्थापना का उन्होंने प्रयत्न किया।

२. तीन देवियों की प्रतिष्ठा—ऋग्वेद के १।१३।९ में तीन देवियों इडा, सरस्वती, मही की चर्चा की गई है। "इडा = भाषा, सरस्वती = विद्या और मही = मातृभूमि" इन तीनों देवियों के माध्यम से राष्ट्र अथवा देश में एकता स्थापित की जा सकती है। स्वामीजी ने देशवासियों को मातृभूमि का सम्मान करना सिखाया। विद्या के लिए वैदिक पाठ विधि नियत की और अटक से कटक तथा काश्मीर से कन्याकुमारी तक सभी देशवासियों के लिये उन्होंने एक भाषा का स्वप्न संजोया। उस समय राष्ट्रभाषा शब्द प्रचलित नहीं था, अतः स्वामीजी ने इसका नाम 'आर्य भाषा' रखा। आजकल इस भाषा को लोग हिन्दी के नाम से जानते हैं। इस संबंध में श्रीमती ज्ञानवती दरबार ने लिखा है—"स्वामीजी का वेदों का अधिकृत ज्ञान, उनका प्रबल सुधारवाद, ओजस्वी व्यक्तित्व और हिन्दी को अपनाने में असाधारणा उदारता, इन सब बातों के कारण हिन्दी को जो प्रोत्साहन मिला, शायद हिन्दी भाषा के इतिहास में

---

[1] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १००

[2] वही, पृष्ठ २१६

[3] वही, पृष्ठ २५८

[4] नारायण अ. ग्रन्थ —१९वीं शती के धार्मिक आन्दोलन—हरिदत्त वेदालंकार, पृष्ठ ७५

किसी और घटना की उससे तुलना नहीं की जा सकती। हिन्दी भाषा को गति मिली, उसमें व्यापकता आई और सबसे बढ़कर उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई।"[1] स्वामीजी के मतानुसार देशवासियों में ऐक्य-स्थापना के लिये एक भाषा का होना अनिवार्य है।

३. स्वराज्य के प्रथम प्रयोक्ता—स्वामीजी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने इस शब्द के महत्त्व को स्वीकार किया और हिन्दी में प्रथम बार इस शब्द का प्रयोग किया। देश में एकता लाने के लिये स्वराज्य अथवा देशवासियों का अपना राज्य होना भी आवश्यक है। स्वामीजी ने अपनी प्रार्थनाओं में बारम्बार 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' की रट लगाई, "और उसकी कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञा पालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें स्वतंत्र रहें।"[2] इसके अतिरिक्त 'आर्याभिविनय' में भी उन्होंने अनेक बार इस शब्द का प्रयोग किया, "हम पर सहायता करो जिससे सुनीतियुक्ति होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।"[3]

४. मानसिक पराधीनता को दूर करना—स्वामी दयानन्द के आविर्भाव के समय भारत परतन्त्र था। सदियों तक इसे मुसलमानों का गुलाम रहना पड़ा और फिर मुसलमानों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया। पहली गुलामी राजनीति तक ही सीमित थी, दूसरी ने मस्तिष्क को भी बुरी तरह प्रभावित किया। "साधारण हिन्दुओं का मस्तिष्क पुरोहितों के हाथ में था। हिन्दू धर्म एक खिलौना था, कुछ रस्में थीं जिनका पालन पौराणिक पण्डितों के हाथ में था।"[4] मिस मेयो ने हिन्दुओं को देवताओं का गुलाम (Slaves of Gods) बताया था। देश का भाग्य फलित ज्योतिषियों तथा नक्षत्रों के हाथ में था, हर विपत्ति के लिये कलियुग को दोष दिया जाता था, भूतों और चुड़ैलों ने देश के व्यक्तियों को खोखला कर दिया था। अंग्रेज विद्वानों, राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों ने हमारे मस्तिष्कों को परतन्त्र रखने के लिये तरह-तरह के कृत्रिम सिद्धान्त हमारे गले के नीचे उतारने प्रारम्भ किये। किसी ने कहा कि भारत के लोगों में स्वतन्त्र रहने की योग्यता नहीं है, वे सदैव दास रहे हैं, किसी ने कहा कि भारत गर्म देश है अस्तु यहां के निवासी बड़े आलसी और सुस्त होते हैं। ठण्डे देशों के लोग सदा वीर, विजेता और चतुर होते हैं। उनके इतिहासकारों ने महाराज चन्द्रगुप्त आदि की विजयों का वर्णन नहीं किया, किन्तु पराजयों को चमकदार रोशनाई में लिखा। मैक्समूलर ने वेदों को गड़रियों के गीत कहा और मैकाले ने लिखा, "किसी अच्छे पुस्तकालय की किसी आलमारी के एक ताक पर पड़ी हुई पुस्तकें समूचे संस्कृत व अरबी वाङ्मय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है.......संस्कृत भाषा में लिखी पुस्तकों से संग्रहीत इतिहास इंग्लैण्ड की प्रारम्भिक पाठशालाओं में उपयोग में आने वाले तुच्छतम संक्षिप्त इतिहासों से भी अधिक निष्कृष्ट है।"[5] स्वामीजी ने इन सभी

---

[1] भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा—डा. ज्ञानवती दरबार, पृष्ठ ८९

[2] दयानन्द ग्रन्थमाला श. स. प्रथम भाग, पंचमहायज्ञविधि, पृष्ठ ८६५

[3] वही, आर्याभिविनय, पृष्ठ १३

[4] राष्ट्र निर्माता स्वामी दयानन्द —गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ ९

[5] नारायण अ. ग्रन्थ, १९वीं शती के धार्मिक आन्दोलन—हरिदत्त, पृष्ठ ९५

मान्यताओं का मुंहतोड़ उत्तर दिया और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि देश को मानसिक पराधीनता से मुक्त किया।

स्वामीजी ने देश के अतीत का स्वर्णिम चित्र खींचकर देशवासियों में गौरव की पुन: प्रतिष्ठा की। वेदों का भाष्य करके विदेशियों की एतद्विषयक दुर्जनता का पर्दाफाश किया, चक्रवर्ती सम्राटों की चर्चा करके यह धारणा निर्मूल की कि भारतवासी सदा से परतन्त्र रहे हैं। आधुनिक विज्ञान पर गर्व करने वाले विदेशियों को स्वामीजी ने बताया कि विज्ञान का मूल भी वेद ही है, यहाँ विमान आदि का प्रयोग होता रहा है। उनके दृष्टिकोण से "सायंस न पश्चिमी है, न पूर्वी, न काली है न गोरी, न अंग्रेजी है न जापानी। सायंस ईश्वरीय है।"[1] स्वामीजी ने जहाँ राजनैतिक जागृति का प्रयत्न किया, वहां सामाजिक उत्थान के लिये भी उन्होंने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। देश में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कर उन्होंने शारीरिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया तथा वेदों का ज्ञान सबको देकर मानसिक दासता को भी दूर किया। नक्षत्रों, भूत-प्रेतों से आस्था हटाकर उन्होंने देशवासियों को "कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित:"[2] का पाठ पढ़ाया। उन्होंने देशवासियों को तर्कबुद्धि दी और संस्कृत तथा आर्य भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित कर अंग्रेजी के चरण यहाँ नहीं जमने दिये।

५. नारी-उद्धार—देश की उन्नति के लिये स्वामीजी ने नारी जागरण को आवश्यक माना। 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' का खण्डन करके उन्होंने उन्हें न केवल शिक्षा का अपितु वेदाध्ययन का भी अधिकार दिया। उनके लिये अनेकों कन्याविद्यालयों की स्थापना पर भी उन्होंने बल दिया। बालब्रह्मचारी होते हुए भी वे नारी समस्याओं की ओर तटस्थ नहीं थे। एक बार स्वामीजी को अपमानित करने की दृष्टि से कुछ लोगों ने स्वामीजी की सभा में कुछ वेश्याओं को भेज दिया था। स्वामीजी ने उनको सम्बोधित करते हुए कहा था—"माताओ (वेश्याओं के लिये)! तुम्हें देखकर हिन्दू समाज का वह पैशाचिक स्वरूप और उसमें प्रचलित कुरीतियां और कुप्रथायें मेरी आंखों के सामने नाचने लगती हैं, जिन्होंने तुम्हें यह घृणित वृत्ति अपनाने के लिये बाध्य किया है। मेरा सिर लज्जा से झुक जाता है, तुम निर्दोष हो। तुम्हारी वर्तमान दशा का सारा उत्तरदायित्व उसी समाज के कंधों पर है जिसकी छाती पर अभिशाप बन कर जीवन व्यापन कर रही हो....यदि मेरा वश चलता तो तुम में से प्रत्येक को गृहलक्ष्मी के पद पर आरूढ करके ही दम लेता।"[3] नारी जाति के प्रति इतनी वेदना शायद ही किसी सुधारक में विद्यमान रही हो। नारी कल्याण को दृष्टिगत करते हुए ही स्वामीजी ने अपने नियमों को शिथिल करते हुए पंडिता रमाबाई को पढ़ाना प्रारम्भ किया था। स्वामीजी की इच्छा थी कि "रमाबाई ब्रह्मचारिणी रह कर स्त्री जाति में शिक्षा और वैदिक धर्म का प्रचार करें।"[4]

६. स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग—स्वामीजी को स्वदेश के गौरव का ध्यान था। वे स्वदेश में निर्मित वस्तुओं का ही उपयोग करते थे और दूसरों को भी ऐसा ही करने की प्रेरणा

---

[1] राष्ट्र निर्माता स्वामी दयानन्द, पृष्ठ ३४

[2] अथर्ववेद ७।५।८

[3] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ १३७

[4] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, द्वितीय भाग—पं० घासीराम, पृष्ठ २४४

देते थे । इस विषय में उन्हें अंग्रेजों से कुछ स्पृहा सी थी । उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है, "अपनी स्वजाति की उन्नति के लिये तन, मन, धन व्यय करते हैं, आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं । देखो, अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं इस देशी जूते को नहीं । इतने ही से समझ लेओ कि अपने देश के बने हुए जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते ।"[1] स्वामीजी के जीवन चरित्र में लिखा है कि एक दिन ठाकुर भूपालसिंह का पुत्र ऊधोसिंह विदेशी वस्त्र पहिन कर स्वामीजी की सेवा में आया तो उन्होंने उसे स्वदेशी वस्त्र पहिनने का उपदेश दिया ।[2] स्वामीजी न केवल खान-पान में ही स्वदेशी वस्तुओं के पक्षपाती थे अपितु चिकित्सा के क्षेत्र में भी उन्हें स्वदेशी औषधियां स्वीकार्य थीं । कुम्भ प्रचार का कार्य समाप्त करके जब वे हरिद्वार से देहरादून पहुंचे तो उन्हें भयंकर अतिसार हो गया, "उनसे बहुतेरा कहा गया कि डाक्टर को बुला लिया जाये, परन्तु वह डाक्टर की औषधि खाने पर सहमत न हुए ।"[3] एक अन्य प्रसंग में भी उन्होंने यही उपदेश दिया है "अपने देश के वैद्यों से चिकित्सा करानी चाहिये और स्वदेशी वस्त्र पहिनने चाहिए ।"[4] स्वामीजी को स्वयं कई औषधियों की जानकारी थी और आवश्यकता पड़ने पर इसका निर्देश वे व्यक्तिविशेष को दिया करते थे । उनके पत्रों से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मी बूटी का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करते थे । श्री पं० लेखरामजी द्वारा रचित जीवन चरित्र में पृष्ठ १०३६ से लेकर पृष्ठ १०३९ तक उन औषधियों की सूची दी हुई है जिनका निर्देश स्वामीजी ने लोगों को किया था । इस सूची में अन्य व्याधियों के अतिरिक्त सर्पदंश तथा विष भक्षण की चिकित्सा भी है, सर्वत्र देशी औषधियों का ही प्रयोग किया गया है । एक पत्र में उन्होंने कृपाराम स्वामी को दांत की औषधि निम्न रूप में लिखी थी, "माजूफल । मोरेठी । पपरिया कत्था, रूमी मस्तगी । नीला थोथा ये पांच चीजें बराबर अर्थात् आध आध पाव से कम न हो........।"[5] देश की निर्धनता को दूर करने के लिये वे कलाकौशल की वृद्धि चाहते थे, एतदर्थ उन्होंने जर्मनी स्थित अपने कई शिष्यों को लिखा भी था । व्यापारवृद्धि के लिये उन्होंने न केवल समुद्र यात्रा का मण्डन किया है अपितु उसे आवश्यक भी माना है ।

७. राम और कृष्ण का आदर्श—कोई भी जाति उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये अपने समक्ष कोई आदर्श रखती है—कहीं यह स्थान किसी वीर पुरुष को दिया जाता है, कहीं किसी त्यागी को और कहीं किसी देवता को । स्वामीजी ने भी देश के सामने वेदों का आदर्श रखा तथा इसी मार्ग का अनुसरण करने के कारण राम और कृष्ण को उन्होंने आंख से ओझल नहीं होने दिया । यह सत्य है कि उन्होंने राम और कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं किया, किन्तु उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम एवं योगिराज के रूप में वन्दनीय अवश्य

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २४२

[2] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित प्रथम भाग—घासीरामजी, पृष्ठ २९३

[3] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित प्रथम भाग—घासीरामजी, पृष्ठ १६८

[4] वही, पृष्ठ ३०१

[5] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २९०

माना। उनका विश्वास यह तो नहीं था कि राम और कृष्ण के नाम-स्मरण से मनुष्य पापमुक्त हो सकता है, पर उनके कार्यों के अनुकरण से कोई भी व्यक्ति सिद्धि की ओर अग्रसर अवश्य हो सकता है। राम के संबंध में वे लिखते हैं "जब रामचन्द्र के समय विरुद्ध हो गया, तो उसको (रावण) रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था।"[1] तथा "क्योंकि वे सब (वाल्मीकि, वशिष्ठ, राम) वेदानुयायी थे, वेद से विरुद्ध न बना सकते और न कह सुन सकते थे।"[2] इसी प्रकार योगिराज कृष्ण के सम्बन्ध में उनका यह कथन "श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण-कर्म-स्वभाव और चरित आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्णजी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा।"[3] जब वीरता का प्रसंग आया है, स्वामीजी ने सगर्व महाराज श्रीकृष्ण का नामोल्लेख किया है। वे द्यूत प्रेमी महाराज युधिष्ठिर को धर्मपुत्र मानने को उद्यत नहीं थे, एकलव्य जैसे व्यक्ति को धोखा देने वाले आचार्य द्रोण उनके लिये आदर्श नहीं हो सकते थे। ऐसे अंधविश्वासों से वे देशवासियों को बचाना चाहते थे। अशिक्षित लोगों को स्वतन्त्रता दिलाने का भी उनके लिये कोई अर्थ नहीं था, अतः आर्यसमाज का एक नियम उन्होंने यह रखा "अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।"[4] अविद्वान् एवं अशिक्षित लोग अपने आदर्श पुरुषों को भी भ्रष्ट एवं विकृत बना देते हैं। स्वामीजी ने अपनी शिक्षा प्रणाली के द्वारा देशवासियों को यह अनुभव कराया कि वे भी धर्मानुकूल आचरण करके आदर्श व्यक्ति बन सकते हैं।

८. एकता के लिए सक्रिय प्रयत्न—स्वराज्य का उद्घोष करने तथा 'अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य भी निकृष्टतम स्वदेशी राज्य से उत्तम नहीं होता' का संदेश देने के बाद स्वामीजी ने देशवासियों को एकत्र करने के लिए कई सक्रिय प्रयत्न किये। "उन्होंने देशवासियों को 'आर्य भाषा' के नाम पर एकत्र करना चाहा, गोरक्षा के लिये हस्ताक्षर अभियान चलाया, साधु समाज को एकत्र करने का प्रयत्न किया तथा दिल्ली दरबार के अवसर पर सुधारकों की एक सभा आयोजित की जिसमें मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, बाबू केशवचन्द्र सेन, मुंशी इन्द्रमणि, सर सैयद अहमद खां, बाबू हरिश्चन्द्र सम्मिलित हुए।"[5] देश का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि इन सभी प्रयत्नों में स्वामीजी कृतकार्य न हो सके। इस दिशा में अन्तिम प्रयत्न उन्होंने देशी रियासतों और उनके राजाओं को सुधारने का किया, कुछ राजाओं को उपदेश देकर उन्होंने उनके सोये हुए क्षात्रत्व को जागृत किया, कुछ की दिनचर्या सुधरवाई और कुछ को स्वयं वैदिक ग्रन्थों का अध्यापन भी करवाया। संभव था कि उनका यह प्रयत्न रंग लाता पर उनके जीवन के पटाक्षेप ने इस प्रयत्न का भी पटाक्षेप कर दिया।

स्वामीजी ने सभी उपायों से देशोन्नति का प्रयत्न किया, इसके लिये उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण किया, व्याख्यान भी दिये, साहित्य निर्माण किया और अंग्रेज अधिकारियों

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७२

[2] वही, पृष्ठ १८६

[3] वही, पृष्ठ २१५

[4] वही, आवरण, पृष्ठ ३

[5] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ १७

से कानून बनवाने का अनुरोध भी किया । इस दिशा में उनका सवसे वड़ा कार्य देशवासियों के हृदयों में स्थित कुण्ठा एवं अविद्या रूपी विष को दूर करना था। शरीर के वाहर यदि मनों विष भी पड़ा हो तो वह उतना घातक नहीं होता जितना कि शरीर के अन्दर पहुंचा हुआ थोड़ा सा भी विष। भारतीय देश के गौरव की प्रतिष्ठापना के लिए स्वामीजी ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को इंग्लैण्ड भी भेजा था। देशोन्नति के लिये प्रयत्न करने वाले स्वामीजी के पूर्व तथा समकालीन कई व्यक्ति हुए पर किसी का क्षेत्र केवल वंगाल तक रहा, किसी ने इस कार्य के लिये पाश्चात्य प्रणाली को अपनाया, किसी ने अपना कार्य अंग्रेजी जानने वालों के लिये किया। कुछ सुधारक केवल धर्म तक ही अटक कर रह गये और कुछ ने केवल सामाजिकता तक ही अपने को सीमित रखा। स्वामीजी ने इस दिशा में सर्वांगीण प्रयत्न किये "स्वामीजी की नस-नस में देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता के भाव भरे थे और उन्हें अपने वैदिक मत के प्रचार के लिये एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना अनिवार्य था जिसके द्वारा समस्त देश के अधिकांश लोगों तक उनका नया संदेश पहुंच सके।"[1] परिणामत: स्वामीजी ने अपना समस्त संदेश हिन्दी के माध्यम से ही दिया। देश की सर्वांगीण उन्नति के लिये प्रयत्न करने वाले उनके पूर्व, समकालीन तथा पश्चात्कालीन व्यक्तियों में कोई भी उनके समक्ष उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं ठहरता।

आर्य भाषा (हिन्दी)

हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानने वाले आदि मनीषी—देश और जाति के लिये त्याग करना और परिवार तथा भाषा आदि के मोह को छोड़ देना अत्यधिक कठिन कार्य है। स्वामीजी के पूर्व तथा उनके समकालीन लेखकों का तो कहना ही क्या है, उनके वाद के मनीषी, विद्वान् तथा नेता भी इस मोह से उबर नहीं सके हैं। स्वामीजी के आविर्भाव के बाद भी महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा गुजराती में लिखी थी। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने 'गीता रहस्य' मराठी में लिखा और पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा, 'Letters to his daughter' तथा 'Glimpses of The World History' आदि ग्रंथ अंग्रेजी में लिखे। स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी, संस्कृत के वे अद्वितीय विद्वान् थे, फिर भी राष्ट्र के कल्याण के लिये उन्होंने अपनी मातृभाषा का मोह छोड़ दिया तथा गीर्वाणवाणी की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने बहुजन हिताय हिन्दी को गले लगाया। रीति काल के प्रवर्तक महाकवि केशवदास ने भी हिन्दी को अपनाया था। पर इसका उन्हें बहुत दुःख था "भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल के दास। भाषा कवि भी मंदुमति तेहि कुल केशवदास।"[2] स्वामीजी ने भी हिन्दी का वरण किया, पर दुःखपूर्वक नहीं अपितु प्रसन्नतापूर्वक तथा कर्त्तव्य के वशीभूत होकर। देश को एकसूत्रता में वांधने के लिये उन्होंने एक राष्ट्रभाषा का स्वप्न संजोया "आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही महात्मा गांधीजी के पूर्व आसेतु हिमालय की भारतीय जनता को राष्ट्र-

---

[1] हिन्दी गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी, पृष्ठ २३७

[2] केशवदास : जीवनी कला और कृति—किरणचन्द्र शर्मा, पृष्ठ २८

भाषा में बांधने का स्वप्न देखा था, और उसे सफल बनाने के लिये उन्होंने आर्य भाषा हिन्दी का प्रचार भी आरंभ कर दिया।"[१]

'हिन्दी' शब्द में संभवत: उन्हें 'हिन्दू' की गंध आई (जिसका फारसी लुगात में अर्थ चोर, काला, लुटेरा और दास है)[२] अत: यह नाम उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ, राष्ट्र भाषा नाम की वस्तु का उस समय नामकरण भी नहीं हुआ था, अत: जनहित में अपनाई गई इस भाषा का नाम स्वयं उन्होंने 'आर्यभाषा' रख दिया। यह भाषा उन्हें सीखनी पड़ी, इसका उन्होंने अभ्यास किया और इसमें इतनी सिद्धहस्तता प्राप्त की कि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के कर्तृत्व पर ही लोगों ने प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया, "सत्यार्थप्रकाश की मुहावरेदार भाषा को देखकर कुछ लोगों को संदेह होता है कि वह स्वामीजी का लिखा हुआ नहीं है, किन्तु उनके बतलाये हुए भाव किसी अन्य लेखक ने अपने ढंग से लिखे हैं।"[३] इन अज्ञातनाम लोगों को क्या उत्तर दिया जाय, अब तो पीएच. डी., डी. लिट् उपाधिधारी ऐसे भी हिन्दी के प्राध्यापक हैं जो सत्यार्थप्रकाश को अनूदित ग्रन्थ समझते हैं, "स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' का हिन्दी में अनुवाद किया।"[४] कुछ पंडितों ने यह भी कहा कि स्वामीजी को संस्कृत भलीभाँति नहीं आती, अत: वे हिन्दी का प्रयोग करते हैं किन्तु हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानने वाले उस आदि मनीषी ने इस प्रकार की किसी आलोचना की चिन्ता नहीं की।

संस्कृत की अवहेलना नहीं—यद्यपि स्वामीजी ने हिन्दी की महत्ता को स्वीकार कर उसके प्रचार-प्रसार के लिये गुरुतर कार्य किया, फिर भी उन्होंने संस्कृत भाषा की अवहेलना नहीं की। रायबहादुर पं. सुन्दरलाल ने उनसे कहा था कि संस्कृत तो मृत भाषा है, उसके पढ़ने में व्यर्थ श्रम क्यों किया जाये, इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया था—"बन्धुवर! संस्कृत मृतभाषा नहीं, देव भाषा है। संसार की भाषाओं की जननी है। आर्य जाति के पूर्व गौरव और प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति को सुरक्षित रखने वाला वृहद्कोष है। यदि संस्कृतरूपी सूर्य अस्त हो जाय तो आर्य जाति का भविष्य सदा के लिये अंधकारमय हो जायेगा।"[५] प्रारंभिक दिनों में स्वामीजी अपने व्याख्यान संस्कृत भाषा में ही दिया करते थे, उनकी भाषा सरल तथा मधुर होती थी। 'पताका' पत्रिका के सम्पादक ने उनकी संस्कृत भाषा के संबंध में कहा था—"....संस्कृत भाषा में ऐसी सरल और मधुर वक्तृता हो सकती है। वह ऐसी सरलतम संस्कृत में व्याख्यान देने लगे कि संस्कृत से जो महामूर्ख है वह भी उनके व्याख्यान को समझने लगा।"[६] एक बार आरा के तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट ने स्वामीजी से संस्कृत बोलने का कारण पूछा था तो स्वामीजी ने उत्तर दिया था—"भारतवर्ष में द्रविड़ प्रभृति अनेक भाषाएं बोली जाती हैं तब

---

[१] दक्षिणभारत के हिन्दीप्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास, पी. के. केशवन नायर, पृष्ठ २३

[२] यवन मत समीक्षा—लेखराम आर्य पथिक, पृष्ठ १३

[३] हिन्दी गद्य मीमांसा, पृष्ठ २३७

[४] हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास खण्ड १—डा. प्रतापनारायण टंडन, पृ. २९३

[५] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ ७६

[६] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग १—घासीरामजी, पृष्ठ २५९

मैं किस भाषा में बोलूं ? इसके अतिरिक्त संस्कृत सारे हिन्दुओं की भाषा है और समस्त भाषाओं की मूल है, अतः संस्कृत बोलना ही उचित है।"[1] संस्कृत से इतना लगाव होने पर भी उन्होंने हिन्दी को क्यों अपनाया ? इसका उत्तर महात्मा नारायण स्वामी ने 'सत्यार्थप्रकाश संस्कृतानुवाद' की भूमिका में निम्न प्रकार दिया है—"....आर्यभाषा में सत्यार्थप्रकाश इसलिये नहीं लिखा था कि संस्कृत भाषा उनको अप्रिय थी किन्तु इसलिये कि संस्कृत की अपेक्षा आर्य भाषा के समझने वाले अधिक थे—और उनको उस समय इष्ट यह था कि उनके विचार अधिक से अधिक लोगों तक पहुंच जायें।"[2]

भाषा बोलने का परामर्श—यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वामीजी स्वयं अहिन्दी भाषी थे और उन्हें हिन्दी बोलने की प्रेरणा भी एक अहिन्दी भाषी ने दी थी। कलकत्ता में दोनों का साक्षात्कार भी बड़े नाटकीय ढंग से हुआ था। केशवबाबू स्वयं स्वामीजी से मिलने गये थे और अपना परिचय दिये बिना ही उनसे वार्तालाप करते रहे, किन्तु स्वामीजी ने बातचीत में पहचान लिया कि अभ्यागत महानुभाव केशवचन्द्र सेन हैं। केशव बाबू को शोक था कि स्वामीजी जैसे वेदवेत्ता अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ हैं और स्वामीजी को शोक था कि भारतवासियों के उद्धार का दम भरने वाला ब्राह्म समाज का नेता संस्कृत से अनभिज्ञ है। इन्हीं केशवबाबू ने स्वामीजी को संस्कृत के स्थान पर भाषा में व्याख्यान देने का परामर्श दिया था और कारण यह दिया था—"संस्कृत में आप कुछ कहते हैं और दूसरे श्रोताओं को उसका आशय अन्यथा समझा देते हैं।"[3] केशवचन्द्र तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उन्हें वस्त्र धारण करने का परामर्श भी दिया था। स्वामीजी क्योंकि सत्य के ग्रहण करने तथा असत्य के त्यागने में सदा उद्यत रहते थे, अतः उपर्युक्त दोनों परामर्श उन्होंने स्वीकार कर लिये थे।

स्वामीजी द्वारा हिन्दी भाषा में व्याख्यान दिये जाने का एक और कारण स्वामी सत्यानन्दजी ने 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' में बताया है। उन्होंने माघ वदी ५ सं. १९२६ की प्रयाग की एक घटना का उल्लेख किया है। स्वामीजी उन दिनों अवधूत अवस्था में रहते थे, गंगा किनारे उस दिन उन्होंने देखा कि एक मां बच्चे के कलेवर पर लपेटे हुए कफन को धोकर वायु में सुखाती अपने घर को जा रही है। दरिद्रता के इस दृष्टान्त को देखकर स्वामीजी का हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने प्रण किया—"कुछ काल तक, मैं इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूंगा।"[4] दोनों ही कारणों से इतना तो ज्ञात होता है कि हिन्दी सेवा का व्रत उन्होंने जनकल्याण के लिए लिया था।

आर्य भाषा में ग्रन्थ रचने का उद्देश्य—धर्म प्रवर्तक तथा समाज सुधारक अपने प्रचार कार्य के लिए प्रायः ऐसी भाषा अपनाते हैं जो सामान्य जनता अथवा अधिक से अधिक

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवनचरित, भाग १—घासीरामजी, पृष्ठ २४९

[2] सत्यार्थप्रकाश (संस्कृतानुवादः)—शंकरदेव पाठक, पृष्ठ २

[3] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग १—घासीरामजी, पृष्ठ २६२

[4] श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ २२६

मनुष्यों को सरलता से समझ में आ जाये। भगवान् बुद्ध ने यही सोचकर संस्कृत के स्थान पर पालि को अपनाया था तथा जैन प्रचारकों ने भी इसी विचार से प्राकृत को प्रश्रय दिया था। गौतम बुद्ध का पालि अपनाने का एक कारण यह भी था कि वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित नहीं थे और उस भाषा में पंडितों की अपनी बात मनवा लेना उनके लिये सरल कार्य नहीं था। स्वामी दयानन्द की स्थिति इसके सर्वथा विपरीत थी, वे अपने समय के संस्कृत के महत्तम विद्वान् थे। संस्कृत भाषण उनकी दिनचर्या ही थी और इस क्षेत्र में बड़े-बड़े दिग्गज पंडितों को परास्त कर वे विजय दुन्दुभी बजा चुके थे। जनता के कल्याणार्थ उन्होंने 'वेदभाष्य' प्रारंभ किया, भाष्य की पूरी बारीकियां तो उन्होंने संस्कृत भाषा में ही प्रदर्शित कीं किन्तु साथ ही साथ केवल हिन्दी जानने वाले सामान्यजनों के लिये उन्होंने भावार्थ हिन्दी में भी दे दिया। इस संबंध में उन्होंने 'भ्रान्ति निवारण' में अपनी स्थिति स्पष्ट की है, "भाषार्थ में जो शब्द (किया है) लाया गया तो इसका कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्राय मात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है उनको बिना भावार्थ के यथार्थ वेद ज्ञान नहीं हो सकेगा।"[१] इसी प्रकार 'संस्कारविधि' की आवृत्ति के समय भूमिका में उन्होंने लिखा है—"उसमें (पूर्व संस्करण) सब लोगों की बुद्धि कृतकार्य नहीं होती थी, इसलिए अब सुगम कर दिया है, क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे, साधारण नहीं।"[२] शास्त्रीय चर्चा तथा शास्त्रार्थ जैसे कुछ ग्रंथों को छोड़कर उन्होंने अपनी समस्त रचनायें हिन्दी भाषा में ही कीं।

शुद्ध भाषा—स्वामीजी के गुरु प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी व्याकरण के सूर्य थे और स्वयं स्वामीजी भी व्याकरण के महापण्डित थे। वेदांग प्रकाश के अनेक खण्डों में उन्होंने व्याकरण का व्याख्यान किया है, कई शास्त्रार्थों में उन्होंने व्याकरण संबंधी प्रश्न पूछकर विरोधियों को मौन कर दिया था, अतः यह स्वाभाविक ही है कि ऐसा व्यक्ति भाषा में अशुद्धि को सहन नहीं कर सकेगा। जब उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रणयन प्रारम्भ किया था तब उनको हिन्दी लिखने का अच्छा अभ्यास नहीं था किन्तु सत्यार्थप्रकाश का दूसरा संस्करण छपने तक उन्होंने यह अभाव भी दूर कर दिया। उस संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा "जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"[३] भाषा की अशुद्धि स्वामीजी को कितनी खटकती थी, इसका आभास जैन मतावलम्बियों को लिखे एक पत्र से हो जाता है, "देखिये आप ऐसे विद्वान होकर 'मूर्ख' को 'मुर्रा' लिखते हैं और पत्र में लिखित शब्दों के ठीक करने में बहुत-सी हरताल भी लपेटते हैं (मिटाते हैं)

---

[१] दयानन्द ग्रंथमाला श. स. भाग २, भ्रांतिनिवारणम्, पृष्ठ ८७९

[२] संस्कारविधि, भूमिका, पृष्ठ (क)

[३] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १

कैसे शोक की बात है कि संस्कृत तो दूर रही, देशी भाषा को भी आप लोग नहीं जानते।"[१] भाषा संबंधी अशुद्धि की शिकायत उन्हें अपने अधीनस्थ लेखकों से भी थी। अपने पत्रों में इस भावना को उन्होंने अनेक बार व्यक्त किया है। एक पत्र में उन्होंने पं० ज्वालादत्त को लिखा है "देखो तुम्हारे शुद्धिपत्र के अनुसार ४० पृष्ठों में ५१ अशुद्धि हैं और तुमने शुद्ध का अशुद्ध किया। और तुम्हारे २४ पृष्ठ में ५९ अशुद्धियां हैं।"[२] अंग्रेजों से भी वे इसलिए रुष्ट थे कि उन्होंने यहां आकर इतने समय में भी अपना उच्चारण सुधारा नहीं था। एक दिन अमृतसर में व्याख्यान देते हुए जब उन्होंने कहा "यद्यपि अंग्रेजों को इस देश में आये इतना समय हो गया, परन्तु उनका उच्चारण अब तक शुद्ध नहीं हुआ, वह तकार की जगह टकार, तुम की जगह टुम ही बोले जाते हैं।"[३] तो अंग्रेज इंजीनियर मि० काक चिढ़ गये थे।[४] "प्रारम्भ में स्वामीजी को हिन्दी भाषा बोलने में पर्याप्त कठिनाई हुई, जो कुछ वे संस्कृत में बोला करते थे, पण्डित लोग जानबूझ कर उसका अनर्थ किया करते थे। प्रारम्भ में उनके भाषणों तथा लेखों में सहस्रों शब्द ही नहीं अपितु वाक्य के वाक्य ही संस्कृत के आ जाते थे किन्तु कालान्तर में उन्होंने आर्य भाषण पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया।[५]

अनुवाद रुचिकर नहीं—स्वामीजी के कई ग्रन्थों का अनुवाद विश्व की कई प्रसिद्ध भाषाओं में हो चुका है, कुछ पुस्तकों का अनुवाद तो उनके जीवनकाल में ही गुजराती, मराठी, उर्दू आदि भाषाओं में हो चुका था, फिर भी वे अपनी रचनाओं का अनुवाद अन्य भाषाओं में करवाना नहीं चाहते थे। एक सज्जन ने स्वामीजी को परामर्श दिया था कि वे पुस्तकों का अनुवाद फारसी लिपि में छपवावें जिससे पंजाब आदि प्रान्तों के निवासियों को इसके अध्ययन की सुविधा हो जाये। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया,—"अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करता है। नागरी के अक्षर थोड़े ही दिनों में सीखे जा सकते हैं। आर्यभाषा का सीखना कोई कठिन काम नहीं है।"[६] इसी प्रकार अपने वेद भाष्य का भी अंग्रेजी में अनुवाद तब तक करवाना नहीं चाहते थे जब तक वह संस्कृत तथा आर्य भाषा में सम्पन्न न हो जाये। अपने पत्र व्यवहार में उन्होंने इसके कई कारण दिये हैं (1)...........Ved Bhashya must not be translated into English or Vernacular before reaching its completion because if translated into English or Urdu then it will wealken the hearts of the people to study Sanskrit, thinking that they would be able to gain their object either by English or Urdu without caring for Sanskrit and Bhasha"[७] अर्थात् पूर्ण

---

[१] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—पं० लेखराम, पृष्ठ ७१७-१८

[२] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २७१

[३] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, द्वितीय भाग—घासीरामज़ी, पृष्ठ ६५

[४] एक बार एक पण्डित ब्रजलाल ने एक श्लोक पढ़ा परन्तु वह इतना अशुद्ध था कि स्वामीजी को आवेश आ गया और उन्होंने कड़ककर कहा—"यह बालकों की शाला नहीं है कि अशुद्ध बोलकर हमारा समय नष्ट करो।"

[५] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, पृष्ठ ७७ [६] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २७२

[७] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ९३

होने से पूर्व वेदभाष्य का अनुवाद अंग्रेजी अथवा किसी देशी भाषा में नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि यदि इसे अंग्रेजी अथवा उर्दू में अनूदित किया गया तो यह संस्कृत के अध्ययन में रत व्यक्तियों के हृदयों को दुर्बल बना देगा, वे यह सोचने लगेंगे कि संस्कृत और आर्य भाषा की चिन्ता किये बिना ही अपना उद्देश्य अंग्रेजी अथवा उर्दू के माध्यम से प्राप्त कर सकेंगे।

(२) मैडम ब्लैवट्सकी को भी उन्होंने एक पत्र में इस संबंध में लिखा था कि एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना अतिदुष्कर कार्य है, अनुवादक को दोनों भाषाओं पर समानाधिकार होना चाहिये। वेद भाष्य का अनुवाद सामान्य देशी भाषा का अनुवाद नहीं है। इसके लिये अंग्रेजी तथा संस्कृत का सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति चाहिये, और फिर भी वह यह कार्य आशा के अनुरूप नहीं कर सकेगा।

(३) अनुवादक को कुछ समय तक मेरे पास रहना होगा ताकि वह गूढ़ अंशों को समझ सके। इतना प्रबंध कर भी दिया गया तो भी इतनी हानि तो अवश्य होगी कि भारत के अंग्रेजी जानने वाले व्यक्ति इसे संस्कृत अथवा हिन्दी में पढ़ने से विमुख हो जायेंगे, "The Aryan (English-Students) community of Indians will, on the appearance of English translation of my Veda Bhashya give up the Sanskrit and Hindi studies which they are so vehemently pursuing।"[1]

देववाणी और आर्य भाषा से इतना स्नेह रखते हुए भी आवश्यकता होने पर उन्होंने अपनी कुछ रचनाओं को न केवल अंग्रेजी में अनूदित होने की अनुमति दी अपितु अपने विचारों के प्रसार में लिये जनहित में उन रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद करने का कई बार आदेश भी दिया। गोकरुणानिधि के संबंध में उन्होंने लाला मूलराज को एक पत्र में लिखा, "बड़े भारी शोक की बात है आपने अब तक (लगभग १५ महीनों में) गोकरुणानिधि की अंग्रेजी नहीं की। हमें निराश होकर यहां बम्बई में और लोगों से अंग्रेजी बनवानी पड़ी।"[2] दूसरी ओर अन्य भाषाओं के ग्रन्थों से उन्होंने हिन्दी भाषा के भण्डार को पूर्ण करने का अनथक प्रयत्न किया। बाइबिल के कई अंशों का उन्होंने अपने उपयोग के लिये हिन्दी में अनुवाद करवाया था, तथा योग्य विद्वानों से कुरान शरीफ का भी उन्होंने आर्य भाषा में अनुवाद करवाया था। उन्होंने स्वयं भी अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ किया था पर जीवन की व्यस्तता के कारण वह कार्य अधूरा ही रह गया।

स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त हिन्दी प्रचार-प्रसार के साधन

१. **व्याख्यान**—राष्ट्रहितार्थ स्वामीजी ने हिन्दी में व्याख्यान देने का व्रत ले लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके व्याख्यानों में संस्कृत के पण्डितम्मन्य व्यक्तियों की संख्या तो कम हो गई किन्तु जनसाधारण की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती गई। देश के प्रत्येक भाग में उन्होंने परिभ्रमण किया और सर्वत्र हिन्दी की भागीरथी को साथ ले जाकर उन्होंने देशवासियों को इससे आकण्ठ स्नान करवाया। उनके व्याख्यानों से तो हिन्दी का प्रचार

---

[1] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १६६

[2] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—यु. मी., पृष्ठ १३७

हुआ ही। व्याख्यानों से पूर्णतः तृप्त न होने पर उनके साहित्य का अध्ययन भी प्रारम्भ किया। उनकी कई पुस्तकें तो प्रकाशित होने के साथ ही समाप्त हो गईं। तत्कालीन साहित्य में जितनी ख्याति उनके 'सत्यार्थप्रकाश' को मिली उतनी हिन्दी के किसी अन्य लेखक की किसी रचना को नहीं मिली। व्याख्यानों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ शास्त्रार्थ भी हिन्दी माध्यम से किये। आश्चर्य तो यह है कि जब वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए वे अपनी जन्म भूमि गुजरात पहुंचे तो वहां भी व्याख्यान उन्होंने गुजराती में न देकर आर्य भाषा में ही दिये, "सब व्याख्यान हिन्दी में दिये थे और संस्कृत भी बोलते थे।"[1]

२. **लेखन**—उनका समस्त वाङ्मय संस्कृत तथा आर्यभाषा में है। ज्यों-ज्यों देश में उनकी ख्याति बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनके साहित्य की मांग भी बढ़ती गई, जिसके कारण हिन्दी का पर्याप्त प्रसार हुआ। भक्तों ने तो उनके साहित्य से लाभ उठाया ही, उनके विपक्षियों ने भी उनकी बातों का विरोध करने के लिए उनके साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। कुरान, बाइबिल, जैन और बौद्ध धर्मों का जो साहित्य विभिन्न भाषाओं में होने के कारण जनता की पहुंच के बाहर था, स्वामीजी ने खण्डन-मण्डन का आश्रय लेकर हिन्दी भाषा के माध्यम से उनका परिचय जनसाधारण को कराया। धार्मिक दृष्टि से उनके विरोधी कितने ही बढ़ गये हों पर इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि जनता की हिन्दी के अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

३. **शिक्षणालय**—अपने विचारों को मूर्त्तरूप देने के लिये उन्होंने कई शिक्षण संस्थाओं का श्रीगणेश किया। इसमें कुछ गुरुकुल थे, कुछ पाठशालायें तथा कुछ कन्या पाठशालायें थीं। चरित्रनिर्माण, सादगी आदि अन्य बातों के अतिरिक्त इन सभी में हिन्दी भाषा का अध्ययन अनिवार्य था। कई देशी रियासतों के राजाओं को उन्होंने स्वयं हिन्दी माध्यम से शिक्षा दी थी। पत्र व्यवहार में भी वे उन्हें देवनागरी भाषा के अध्ययन के संबंध में प्रेरणा देते रहते थे। जोधपुर नरेश को लिखे एक पत्र के गुप्त समाचार में उन्होंने महाराजा को आदेश दिया था, "महाराज कुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइयेगा। २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या जो कि सनातन आर्ष ग्रन्थ हैं जिनके पढ़ने में परिश्रम और समय कम होने और महालाभ प्राप्त हो इन दोनों को पढ़ें"[2] इसी प्रकार मैडम ब्लैवट्सकी और कर्नल आल्काट को भी उन्होंने आर्य भाषा सीखने की प्रेरणा दी थी जो फलवती भी हुई। कर्नल आल्काट को स्वामीजी ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए लिखा "I am glad to hear, you have begun reading Nagari."[3] (मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुमने नागरी भाषा का अध्ययन प्रारंभ कर दिया है)।

४. **पत्र-पत्रिका-विज्ञापन**—स्वामीजी का पत्र व्यवहार प्रायः हिन्दी में होता था। जो आवश्यक पत्र उनके पास अंग्रेजी भाषा में आते थे, उसका भी वे अपने सहयोगियों से हिन्दी में अनुवाद करवा लेते थे। समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं में उनके विज्ञापन भी हिन्दी भाषा में ही

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र —लेखरामजी, पृष्ठ २६८

[2] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४९८

[3] वही, पृष्ठ १६३

होते थे। आर्यसमाजी विचारधारा की कुछ पत्रिकायें स्वामीजी के जीवनकाल में ही प्रकाशित होनी प्रारम्भ हो गई थीं। प्रचार कार्य के लिये छोटी-छोटी पुस्तिकायें (Tracts) भी लाखों की संख्या में प्रकाशित हुईं तथा वितरित की गईं। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से एक नवीन तार्किक शैली का जन्म हुआ, जिसको पाकर हिन्दू जाति अपने आपको परमुखापेक्षी न समझ कर सशक्त समझने लगी। तत्कालीन हिन्दी गद्य की भाषा के संबंध में जो एक विवाद सा चल रहा था, उसका बहुत कुछ हल इन माध्यमों से निकल गया और खड़ी बोली को एक स्थिर और निश्चित स्वरूप मिलने लगा।

५. अनुयायियों द्वारा प्रचार कार्य—स्वामी दयानन्द ने अपने समस्त अनुयायियों अथवा आर्यसमाजियों के लिए हिन्दी भाषा का ज्ञान आवश्यक माना, उनकी कथाएं साप्ताहिक सत्संग आदि भी इसी माध्यम से होते थे। स्वामीजी जैसे व्यक्तित्व के कारण ही उर्दू के गढ़ पंजाब में हिन्दी का झण्डा गाड़ा जा सका। स्वामीजी के अनुयायी जहाँ भी गये, हिन्दी को अपने साथ लेते गये और अपने विचार तथा व्यवहार से इसका आशातीत प्रचार किया। स्वामीजी ने अनुभव किया कि "देशोत्थान के लिये एक धर्म, एक भाषा और एक लिपि का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय नेशनल कांग्रेस की स्थापना से भी कई वर्ष पूर्व अपने ये विचार देश के सम्मुख प्रस्तुत किये थे।"[1] स्वामीजी ने देशी रियासतों के राजाओं को भी राज्य कार्य हिन्दी में करने का परामर्श दिया। और कुछ विभागों का तो हिन्दी नामकरण स्वयं उन्होंने किया। बम्बई में स्वीकृत आर्यसमाज के २८ नियमों में से ५वां इस प्रकार था, "प्रधान समाज में वेदोक्त धर्मानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा में सदुपदेश के लिये नाना प्रकार के पुस्तक रहेंगे और एक आर्य प्रकाश साप्ताहिक पत्र निकलेगा। ये सब समाज में प्रवृत्त किये जायेंगे।"[2] अपनी रचनाओं को प्रकाशित करने के लिये स्वामीजी ने वैदिक यंत्रालय नाम का प्रेस भी खोला। पंजाब से उर्दू भाषा में निकलने वाले 'उर्दू प्रताप', 'सद्धर्मप्रचारक' आदि ने भी हिन्दी में बहुत सहायता की।

६. हिन्दी में राजकार्य—स्वामीजी चाहते थे कि समस्त राजकार्य आर्य भाषा हिन्दी में ही हो। उन्होंने महारानी विक्टोरिया को भेजने के लिये गोरक्षा के संबंध में एक स्मरण पत्र (Memorandum) तैयार करवाया था और दूसरा स्मरण पत्र उन्होंने आर्यभाषा हिन्दी को समस्त राजकार्य में प्रवृत्त कराने के लिये भी तैयार किया था और उस पर हस्ताक्षर कराने का अभियान भी देश में उन्होंने जोरों से चलाया था। एक पत्र में उन्होंने लिखा था "गो रक्षार्थ कितनी सही हो चुकी, इसका भी उत्तर लिखना इस समय आर्य भाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने अर्थ जो मेमोरियल छापे हैं सो शीघ्र भेजना और आप लोग भी....आर्य भाषा के राजकार्य के प्रवृत्त होने के अर्थ शीघ्र प्रयत्न कीजिये।"[3] इससे इतना तो ज्ञात होता ही है कि हिन्दी को राजभाषा तथा राष्ट्र भाषा बनाने के लिये उनके हृदय में कितनी तड़प थी। दुर्भाग्य के

---

[1] आर्यसमाज और हिन्दी—डा. सूर्यदेव शर्मा, पृष्ठ ९

[2] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३२५

[3] आर्यसमाज और हिन्दी, पृष्ठ १०

अतिरिक्त इसे और क्या कहा जाय कि इस मेमोरेण्डम को भिजवाने से पूर्व ही उनकी इहलीला समाप्त हो गई ।

हिन्दी में नवीन शब्दों के लिये उन्हें अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषा के द्वार खटखटाना उचित नहीं प्रतीत होता था, वे इस अभाव को संस्कृत के विपुल साहित्य से ही पूर्ण करना चाहते थे । राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रयोग के संबंध में वे इतने कट्टर थे कि पार्सलों पर पते भी अन्य भाषा में लिखे जाना पसन्द नहीं करते थे। "स्वामीजी द्वारा भेजी जाने वाली वैदिक पुस्तकों के पार्सल बण्डलों पर अंग्रेजी में पता तक नहीं लिखने देते थे ।"[१] उन्हें यह भी आशंका थी कि भारत के पिछड़े क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा में लिखे गये पतों वाली चिट्ठियां किस प्रकार पहुंचती होंगी क्योंकि उन ग्रामों में देवनागरी जानने वाला तो सुलभ हो सकता था, अंग्रेजी जानने वाला नहीं । हिन्दी प्रचार के कार्य को वे तथाकथित धार्मिक कृत्यों से भी अधिक महत्त्व प्रदान करते थे । एक बार एक सेठ ने प्रचुर धन व्यय कर लक्ष्मीनारायण का विशाल मन्दिर बनवाया था और एतदर्थ वह स्वामीजी से साधुवाद एवं सराहना चाहता था, किन्तु इस कृत्य पर दुःखी होकर स्वामीजी ने कहा—"सेठजी आपने यह कार्य अच्छा नहीं किया....इस धनराशि से यदि उद्योग धन्धों के केन्द्र स्थापित करते, आर्यभाषा (हिन्दी) तथा देव भाषा संस्कृत की पाठशालायें खोलते तो देश की निर्धनता और अज्ञानता को थोड़ा बहुत दूर करने में सहायक होकर यश के भागी बनते।"[२] एक अन्य घटना से भी उनकी अंग्रेजी के प्रति वितृष्णा तथा आर्य भाषा के प्रति अत्यधिक आसक्ति प्रतीत होती है । एक बार कालीप्रसन्न वकील स्वामीजी के निकट बैठ अंग्रेजी में बात कर रहे थे, जब स्वामीजी ने उनसे कहा था—"अपनी भाषा में बात करना उत्तम है । स्वदेशियों में बैठकर विदेशी भाषा में बोलना भला नहीं प्रतीत होता ।"[३] एकाध स्थल पर स्वामीजी ने आर्य भाषा को संस्कृत से भी अधिक महत्त्व दिया है । एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के पास आया और संभवतः उनके संस्कृत ज्ञान की परीक्षा लेने के लिये बहुत देर तक संस्कृत में बात करता रहा । जब अधिक देर हो गई तो स्वामीजी ने उससे कहा—"अब तो जान गये होंगे कि मैं संस्कृत जानता हूं । अब आप भाषा में बातचीत करें जिसे पास बैठे हुए सज्जन भी समझ सकें ।"[४]

७. संस्कृत और आर्य भाषा में प्रथम वेदभाष्यकर्ता—चिरकाल से हिन्दू वेदों को पूज्य एवं धर्म ग्रंथ मानते आ रहे हैं पर उनमें से पांच प्रतिशत को भी यह ज्ञात नहीं है कि इनमें कौनसा भण्डार भरा है । वेदों में किसका भाष्य उचित एवं उपादेय है, यह प्रश्न दूसरा है, पर यह सत्य है कि स्वामीजी से पूर्व किसी भी विद्वान् ने उनका भाष्य हिन्दी भाषा में करने का साहस नहीं किया । स्वामीजी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में वेदभाष्य किया । दूसरी बात यह भी है कि स्वामीजी के पूर्व के सभी भाष्यकारों ने प्रायः एक वेद का ही भाष्य किया है । स्वामीजी ने चारों वेदों का भाष्य करने की योजना बनाई । उन्हें विश्वास था कि जिस दिन चारों वेदों का भाष्य प्रकाशित होकर संसार में

---

[१] वेदप्रकाश, सितम्बर १९६२, पृष्ठ १७

[२] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ ८९

[३] वही, पृष्ठ २७५

[४] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ ३८

आनेगा, सारा संसार वेदों के प्रकाश से जगमगा उठेगा। स्वामीजी कृत वेदों के हिन्दी भाष्य ने अनेक व्यक्तियों को हिन्दी सीखने के लिये विवश किया तथा उनके वेदभाष्य ने हिन्दी के प्रचार में महान् योगदान किया।

८. हण्टर कमीशन से हिन्दी के प्रचलन का अनुरोध--सन् १८८२ में भारतीय विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस पर विचार करने के लिए सरकार की ओर से एक कमीशन बैठाया गया जिसके अध्यक्ष डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर थे। मास्टर दयारामजी के सुझाव पर स्वामीजी ने सब समाजों को पत्र भिजवाये और कहा—"वे हण्टर कमीशन को पत्र लिख कर प्रार्थना करें कि राजकार्य में और पाठशालाओं में हिन्दी को प्रचलित किया जाये।"[1] समाजों द्वारा प्रेषित पत्र में यह भी लिखा गया था कि आर्य भाषा के अतिरिक्त कोई भी भाषा प्रारंभिक शिक्षा देने योग्य नहीं है। उनका यह विश्वास निराधार नहीं था क्योंकि अन्य कोई भी भाषा न सरलता से सिखाई जा सकती है और न ग्रहण की जा सकती है। विदेशी भाषा में बच्चों को शिक्षा देना व्ययसाध्य भी था और श्रमसाध्य भी। इसका परिणाम चाहे कुछ भी निकला हो पर इतना तो स्पष्ट है कि हिन्दी का प्रसार करने के लिये स्वामीजी ने हर प्रकार का प्रयत्न किया। यदि स्वामीजी के अनुयायियों द्वारा की गई हिन्दी प्रचार-प्रसार संबंधी सेवाओं की चर्चा की जाये तो कई सौ पृष्ठ भी कम रहेंगे।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से इतना ज्ञात होता है कि हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में कल्पना करने वाले वे प्रथम मनीषी थे। तत्कालीन श्रृंगारी काव्य और नाटकों का विरोध करते हुए भी उन्होंने हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण दान दिया। अपने एक भक्त से स्वामीजी ने कहा था—"भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिये तरस रही हैं जब काश्मीर से कन्या-कुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्य भाषा का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे।"[2] आज खड़ी बोली गद्य का जो वृक्ष पुष्पित और पल्लवित होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका बीजारोपण स्वामीजी ने ही किया था। उन्होंने इस राष्ट्र भाषा को आर्य भाषा नाम दिया, स्वयं इसमें साहित्य सृजन किया, औरों को इसके अध्ययन की प्रेरणा दी तथा दैनिक व्यवहार में इसकी प्रतिष्ठा की। राजाओं को इसके लिये प्रेरित किया तथा जनता-जनार्दन को इस पुण्य कार्य की ओर आकृष्ट किया। विद्यालयों में इसे शिक्षा का माध्यम रखने के लिये उन्होंने मेमोरेण्डम तैयार करवाया, न्यायालय में इसका प्रवेश कराने के लिये उन्होंने प्रयत्न किया। उनके इन सर्वांगीण प्रयत्नों का फल यह हुआ कि अनेक व्यक्तियों ने उनके ग्रन्थ और विशेषत: 'सत्यार्थप्रकाश' को पढ़ने के लिये हिन्दी सीखी। असम राज्य के रामप्रसाद उपाध्याय ऐंजल ने लिखा—"मैंने सत्यार्थप्रकाश को पढ़ने के लिये ही हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को विशेष प्रयत्न से सीखा....आप आश्चर्य न मानियेगा, मैंने इसकी बीसों आवृत्ति लगाई और मैं कृतार्थ सा हो गया।"[3]

आर्य भाषा के इस प्रचार-प्रसार में देशवासियों को एकसूत्रता में पिरोया तथा विपक्षियों से लड़ने की शक्ति दी। प्रांतीयता और प्रादेशिकता के भूत को भी इसने बहुत कुछ कम किया।

---

[1] आर्यसमाज और हिन्दी, पृष्ठ ७३

[2] नारायण अ. ग्रंथ, पृ. १५६

[3] आर्यसमाज और हिन्दी, पृष्ठ २२

क्या यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जब देश में भाषावार प्रान्तों की रचना हो रही हो, अंग्रेजी को शिरोधार्य करने के लिये नित्य नवीन बहाने बनाये जा रहे हों, उस समय सन् १९५९ ई. में विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधि महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा में एकत्र होकर ऋषि के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि चढ़ावें, "श्री आयंगर मद्रासी हैं, श्री ढेबर गुजराती तथा श्री महाजन पंजाबी। तीनों ही अंग्रेजी के भी विद्वान् थे परन्तु तीनों ही ने तथा सभी विद्वानों ने अपने विचार राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही प्रकट किये। इसकी सभी ने प्रशंसा की।"[1] आर्य भाषा और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के अध्ययन का उन्होंने प्रतिषेध नहीं किया, किन्तु यह अवश्य चाहा इन भाषाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही अन्य भाषायें सीखी जायें। खड़ी बोली के आदि युग का नाम 'भारतेन्दु युग' भले ही रख लिया जाये, पर स्वामीजी के योगदान के बिना वह युग पूर्ण नहीं हो सकेगा।

खान-पान सम्बन्धी विचार

स्वामीजी के मतानुसार मनुष्य के लिये आचारवान् होना परमावश्यक है। आचारवान् होने का संबंध जहां शिक्षा, परिस्थिति आदि से है वहां भोजन से भी है। स्वामीजी के मतानुसार भक्ष्य पदार्थ ग्रहण करने से मनुष्य आचारवान् होता है और अभक्ष्य खाने से आचार-हीन। प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि भक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्या है? 'गीता' के ६।१७ में 'युक्ताहारविहारस्य' की चर्चा की गई है। इस युक्त अथवा भक्ष्य आहार का निर्णय हम तीन प्रकार से कर सकते हैं—

१. आयुर्वेद के दृष्टिकोण से—अर्थात् कोई वस्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है। महर्षि चरक ने 'ऋतभुक्, मितभुक् तथा हितभुक्' का उपदेश दिया है।

२. न्याय की दृष्टि से—किसी के उद्यान में लगे मधुर फल स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी तो हैं, पर उसके स्वामी की अनुमति के बिना उनको तोड़ लेना न्यायसंगत नहीं है।

३. धार्मिक दृष्टि से – पदार्थ विशेष की उपलब्धि पाप से तो नहीं हुई है? किसी प्राणी की हिंसा करना पाप है, अतः हिंसा से प्राप्त सभी पदार्थ अभक्ष्य श्रेणी में ही परिगणित होंगे।

तीन प्रकार के आहार—जिस प्रकार मनुष्य में सत्व, रजस्, तमस् तीन प्रकार के गुण होते हैं, उसी प्रकार आहार भी तीन प्रकार के अर्थात् सात्विक, राजसिक, तामसिक तीन प्रकार के होते हैं। इस विषय का निर्धारण आयुर्वेद द्वारा भी हो सकता है और धार्मिक साहित्य द्वारा भी। गीता में इसके लक्षण निम्न प्रकार बताये गये हैं—

(क) सात्विक आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रस-युक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय आहार सात्विक होते हैं।

(ख) राजसिक – कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त और अतिगरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक, दु:ख चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजसिक होते हैं।

---

[1] वेद प्रकाश (महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा अंक) जुलाई, १९५९, पृष्ठ १७

(ग) तामसिक—जो भोजन, अधपका, रसरहित और दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह तामसिक होता है।[1]

मनु को आधार मानकर स्वामीजी ने लिखा 'वर्जयेन्मधुमांसं च।' अनेक प्रकार के मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि मादक द्रव्यों का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया तथा निर्देश दिया "जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं उनका सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार से न बने हुए और मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है उनके हाथ का न खावें।"[2]

उच्छिष्ट भोजन—स्वामीजी ने प्रत्येक परिस्थिति में उच्छिष्ट भोजन का निषेध किया है। कुछ जातियों में जूठा खाना शिष्टाचार का अंग माना जाता है, राधास्वामी मत में उच्छिष्ट भोजन का सेवन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। आश्चर्य तो तब होता है जब बीसवीं सदी के इस वैज्ञानिक युग में भी कोई व्यक्ति इन बातों पर विश्वास करे, उनके सार वचन में लिखा हुआ है "पीकदान में पीक करावे। फिर सब पीक आप पी जावे।"[3] तथा "कुल्ली दई स्वामी कुल मेरा उधारा। जन्म सुफल और तन मन सुधारा।"[4] इन घृण्य बातों का स्वामीजी ने स्पष्टतः खण्डन किया है। 'गुरोरुच्छिष्टभोजनम्' का अभिप्राय भी स्वामीजी ने यही बताया है कि गुरु के भोजन करने के पश्चात् जो पृथक् शुद्ध अन्न स्थित हैं, उसका सेवन करना न कि गुरु की जूठन खाना। एक तार्किक ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि शहद मक्खियों का उच्छिष्ट है, दूध बछड़े का और एक ग्रास खाने के बाद शेष भोजन अपना ही उच्छिष्ट हो जाता है, तो उसका सेवन क्यों किया जाये। स्वामीजी ने उत्तर दिया—"सहत (शहद) कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत सी औषधियों का सार ग्राह्य, बछड़ा अपनी मां के बाहर का दूध पीता है....और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता।"[5] जूठे भोजन से अनेक प्रकार की संक्रामक बीमारियां होने की संभावना रहती हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि एक थाली में एक साथ बैठकर खाने से प्रीति बढ़ती है। स्वामीजी को यह मत भी रुचिकर नहीं था क्योंकि "शिया और सुन्नी, रूसी और अंग्रेज, प्रोटैस्टेंण्ट और रोमन कैथोलिक एक साथ खाने पर भी आपस में लड़ा करते हैं।"[6] वैसे भी कुत्ते एक ही पत्तल की जूठन चाटते हैं और फिर आपस में लड़ते हैं।

शूद्र के हाथ की रसोई—भोजन पकाने का कार्य एक सेवाकार्य है और यह शूद्रों के लिये विधेय है। आर्यों का भोजन ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के द्वारा न बनाया जाकर शूद्रों द्वारा ही बनाया जाना चाहिये। भोजन बनाते समय उन्हें शुद्धता का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, उनके शरीर तथा वस्त्र आदि पवित्र होने चाहियें। रसोई बनाते समय उन्हें अपने मुख पर कपड़ा बांध लेना चाहिये ताकि उनके मुख का उच्छिष्ट तथा श्वास भी अन्न पर न पड़े। एक

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, पृष्ठ ३९४-९५ [2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६७

[3] व [4] वेदप्रकाश जनवरी १९६१, पृष्ठ २७७

[5] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६८

[6] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २४२

बार एक नाई ने भक्तिपूर्वक स्वामीजी को रोटी लाकर दी। जब स्वामीजी ने उसे खाना प्रारम्भ किया तब एक ब्राह्मण ने उनसे कहा कि वे ब्राह्मण होकर क्या अनर्थ कर रहे हैं। "भोले ब्राह्मणों, ये रोटियां तो गेहूं की हैं, इनके खाने में दोष नहीं है। अन्न दो प्रकार से दूषित होता है, एक तो जब अन्य को दुःख देकर प्राप्त किया जाये और दूसरे जब उसमें कोई मलिन वस्तु मिल जाये।"[1] स्वच्छता का ध्यान रखते हुए भी स्वामीजी ने चांडाल-चांडाली के हाथ के भोजन का निषेध किया है "क्योंकि उनका शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है।"[2] स्वामीजी के जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब उन्होंने चोरी से लाई हुई वस्तु को अथवा तथाकथित देवता पर चढ़ाई गई वस्तु को खाने से मना कर दिया। प्रेम से तो उन्होंने कई बार विष भी स्वीकार कर लिया, पर मलिन, दूषित तथा अपहृत अन्न को जानबूझ कर उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। एक बार बहुत अधिक बुभुक्षित होने पर उन्होंने मल्लाह से मांग कर भी रोटी खाई।

ग्रहण के समय भोजन—कुछ लोगों का विश्वास है कि सूर्य अथवा चन्द्र ग्रहण के समय भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि उस समय वह अपवित्र हो जाता है, स्वामीजी इस बात को अवैज्ञानिक मान कर स्वीकार नहीं करते थे। भोजन का संबंध तो भूख से है, "जब भूख लगे तभी खा लेना चाहिये। ग्रहण का कोई प्रभाव भोजन पर नहीं पड़ता है। राहु द्वारा सूर्य-चन्द्र के ग्रहण के ग्रस्त होने की बात मन-गढन्त है।"[3] इसी प्रकार सखरी-निखरी के चक्र को भी स्वामीजी व्यर्थ समझते थे। जो अन्न जल आदि में पकाये जाते हैं उन्हें सखरा कहते हैं और जिनमें घी-दूध आदि डाला जाता है उन्हें निखरा कहते हैं। स्वार्थियों ने अपनी उदर पूर्ति तथा भक्तों को धोखा देने के लिये वह प्रपंच रचा है। इसी प्रकार लोग रोटी-दाल आदि को कच्चा भोजन कहते हैं और पुड़ी-मिष्ठान आदि को पक्का भोजन (यह भी बखेड़ा) व्यर्थ का ही है क्योंकि जिसको अग्नि पर अच्छी प्रकार पका लिया गया वह कच्चा कैसे हो सकता है? वैसे भी कुछ कच्चे पदार्थ स्वास्थ्य के लिये अधिक उपयोगी होते हैं, चने इत्यादि तो कच्चे खाये ही जाते हैं, फल प्रायः कच्चे ही खाये जाते हैं और आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार सलाद कच्ची (आग पर न पकाई हुई) सब्जियां तथा फल स्वास्थ्य के लिये अधिक उपयोगी होते हैं क्योंकि उनके विटामिन तत्व इस प्रकार पूर्णतः अवशिष्ट रहते हैं।

भोजन के समय चौका लगाना—भोजन पवित्र होना चाहिये और जिस स्थान पर भोजन ग्रहण किया जाये, वह भी स्वच्छ होना चाहिये, किन्तु तथाकथित चौके, लकीर खींचना तथा बायां हाथ रेखा से बाहर निकाल लेना, छूत पाक मानना आदि से इसका कोई संबंध नहीं है। स्वामीजी के मतानुसार पक्के मकान को पानी से धो लेना चाहिये तथा कच्चे मकान को मिट्टी और गोबर के लेपन से स्वच्छ कर लेना चाहिये। इस स्वच्छता का संबंध स्वास्थ्य एवं सुन्दरता से है, धर्म से उसका कोई संबंध नहीं। मलिन स्थान पर भोजन करने में किसी भी सभ्य व्यक्ति को अरुचि हो सकती है, "जैसे मियांजी की रसोई के स्थान में कोयला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हांडी, कहीं जूठी रकेबी, कहीं हाड़ गोड़ पड़े रहते हैं और

---

[1] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ १०४

[2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६९

[3] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ ९६

मक्खियों का तो क्या कहना ? वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे तो उसे वान्त होने का भी संभव है।"[१] यदि दुर्जनतोषन्याय से चौका लगाना विधेय भी मान लिया जाये तो भी यह सदा संभव नहीं है। युद्धादि में क्षत्रिय को तो घोड़े पर बैठकर भी भोजन करना पड़ता है। वहां भूखे भरण तो किया जा सकता है पर चौका लगाना संभव नहीं है। एकाध स्थान पर तो स्वामीजी ने इस प्रथा पर बड़ा ही मार्मिक व्यंग्य किया है, "इन खाने-पीने की वस्तुओं ने वीरों को कायर कर दिया और चौका लगाकर बैठे-बैठे सारी बड़ाई पर चौका लग गया।"[२] इस प्रकार खाने के संबंध में छुआछूत के चक्र को भी वे व्यर्थ समझते थे। जिस व्यक्ति ने हींग और शक्कर जैसी वस्तुओं का सेवन कर लिया, उसके लिये छुआछूत का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। आपातकाल में तो ये मर्यादायें और भी शिथिल हो जाती हैं। स्वामीजी ने राजा रणजीतसिंह के नामी सरदार हरिसिंह नलवा का एक उदाहरण दिया है 'जब उसने काबुल कंधार पर चढ़ाई की तो एक समय उसके सिपाहियों के पास कुछ भी खाद्य पदार्थ शेष न रहा। उसने सिपाहियों को आदेश दिया कि मुसलमानों का कुल खाना इकट्ठा कर लो और सूअर का एक दाँत ले आओ। "वह सूअर का दांत हरिसिंह ने उस भोजन के ढेर के चारों तरफ फेर दिया और सिपाहियों से कहा—अब सारा अन्न शुद्ध हो गया। अब इसके खाने में हिन्दुओं को कुछ भी दोष नहीं है।"[३]

मादक द्रव्यों का निषेध—बुद्धि को जो भ्रष्ट करने वाले पदार्थ हैं, वे मादक कहलाते हैं, उनके सेवन का वैदिक वाङ्मय में निषेध है। गांजा, भांग, चरस, अफीम तथा मदिरा आदि इसी श्रेणी में आते हैं। स्वामीजी के युग में तथा उनसे पूर्व वाममार्गी तथा चोलमार्गी आदि कुछ सम्प्रदाय वाले मदिरापान को पुण्य कार्य समझते थे, उन्होंने 'मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन' आदि पदार्थों को मोक्ष देने वाला निर्दिष्ट किया था। स्वामीजी ने इन पदार्थों का निषेध ही नहीं किया अपितु उन्हें गर्हित भी बताया है। आज के युग में जब देश तथा विदेश में मदिरापान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, उपर्युक्त मादक द्रव्य अपर्याप्त समझे जाकर इनसे कहीं अधिक मादक एल. एस. डी. आदि पदार्थों का सेवन आभिजात्य का एक अंग हो गया है, तब इस पदार्थ की उपयोगिता पर विचार कर लेना कुछ आवश्यक है। एक चिकित्सक के अनुसार मदिरा के सामान्य गुण निम्न हैं—"गरम, खुश्क, कड़वी है। आमाशय, फेफड़ा और मस्तिष्क इसके लगातार प्रयोग से छिल जाते हैं और उनमें फुंसियां निकल आती हैं। हृदय की गति इतनी तीव्र हो जाती है कि कई बार एकदम गति रुक जाने से मृत्यु हो जाती है.......हाथ-पांव काबू से बाहर हो जाते हैं, वृक्क, मूत्राशय, नरवस सिस्टम और मूत्रवाहक नाड़ियां दुर्बल हो जाती हैं.......सुजाक, गठिया, अर्धांग, लकवा आदि हो जाने का भय सदा रहता है.......।"[४] इसके बाद कोई निष्पक्ष और समझदार व्यक्ति तो इसके सेवन की सम्मति नहीं दे सकता।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६९ २. पूना प्रवचन, पृष्ठ १२४
३. वही, पृष्ठ १२५
४. केवल भोजन द्वारा स्वास्थ्य प्राप्ति—कविराज हरनामदास, पृष्ठ २४७

कुछ व्यक्तियों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये इसका संबंध वैदिक युग के विख्यात पेय सोमरस अथवा सोमलता से जोड़ना प्रारम्भ कर दिया था। उन लोगों के अनुसार सोम भी एक प्रकार का मद्य ही था। प्रसिद्ध लोकप्रिय विद्वान् श्री रामगोविन्द त्रिवेदी के अनुसार सोमवल्ली में १५ पत्ते होते हैं। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं के साथ में पूर्णता को प्राप्त होते हैं, कृष्ण पक्ष क्षीण होते-होते अमावस्या को इनका पूर्ण क्षय हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर हर्ष होता है, उमंग बढ़ती है, वही स्थिति सोम के सेवन से होती है। "वस्तुत: सोम सबसे मूल्यवान और शक्तिशाली जड़ी अथवा ओषधि था। यह आरोग्य, आनन्द, वीर्य, प्रतिभा, मेधा आदि प्रदान करने वाला था।"[1] बुद्धि वृद्धि इसका विशेष गुण था, वृद्धों को यह तारुण्य प्रदान करता था, शरीर को रोग रहित कर देता था।[2] इस वर्णन से स्पष्ट है कि सोम का और मद्य का गुणों की दृष्टि से कोई पारस्परिक संबंध नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे "सोमो वा अकृष्ट पच्यस्य राजा।"[3] (अकृष्ट पच्य-हल से न जोती हुई भूमि का पदार्थ) का राजा बताया गया है। जब से कृषि का श्रीगणेश हो गया, यह पदार्थ लुप्त हो गया। अकृष्टपच्य अन्न स्वास्थ्य के लिये अतिलाभकारी होते हैं, ज्यों-ज्यों कृषि में औजारों और खाद आदि में कृत्रिमता बढ़ती जाती है, अन्न के गुण न्यून होते जाते हैं।

मांसभक्षण ?—अन्य समाजों की भांति स्वामी दयानन्द के अनुयायी भी आमिष भोजन के संबंध में एकमत नहीं हैं। कुछ का विश्वास है कि मांस भोजन स्वास्थ्यवर्धक होता है, कुछ इसका सेवन स्वाद की दृष्टि से करते हैं, कुछ इसे धार्मिक दृष्टि से उपादेय समझते हैं और कुछ के मत में यह वीरता का प्रतीक है। कुछ व्यक्तियों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वामीजी ने कुछ विशेष परिस्थितियों में अथवा विशिष्ट जाति वालों को इसके सेवन की अनुमति दे दी थी। इस विषय का विशद् अध्ययन करना होगा, तभी स्वामीजी का तात्पर्य ज्ञात हो सकेगा। वैसे अन्य बातों की भांति इस विषय में भी स्वामीजी का वही मत है जो वेद से लेकर जैमिनी पर्यन्त व्यक्तियों को अभिमत है। नीचे हम कुछ उद्धरण दे रहे हैं जिनके आधार पर स्वामीजी के विचारों का निष्कर्ष निकाला जा सके।

(क) "हां इतना अवश्य चाहिये कि मद्यमांस का ग्रहण कदापि न करें।"
—सत्यार्थप्रकाश, पृ. १६५

(ख) ...."मद्य मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य मांस के परमाणुओं से ही पूरित है उनके हाथ का न खावें।"
—सत्यार्थप्रकाश, पृ. ६७

(ग) "....अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्य मांसादि रहित" —संस्कारविधि, पृ. ४३

(घ) "....जब से ईसाई मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में वैर विरोध हुआ उन्हीं ने मद्यपान, गोमांसादि का खाना-पीना स्वीकार किया, उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया।"
—सत्यार्थप्रकाश, पृ. १६९

---

[1] वैदिक साहित्य—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ ३८५

[2] जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देने हारा है उसको सोम कहते हैं। --दयानन्द ग्रन्थमाला श. स. प्रथम भाग, पंचमहायज्ञविधि, पृष्ठ ८८५

[3] भारतवर्ष का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग—भगवद्दत्त, पृष्ठ २०८

(ङ) "....हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुमको उसने रचा है क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है वैसे ही सिंह गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस खाने पर चलता है तो उनके लिये तुम क्यों नहीं।" —गोकरुणानिधि, पृष्ठ ६

(च) "वाह वाह यह बुद्धि का विपर्यास आपको मांसाहार से ही हुआ होगा।"
—गोकरुणानिधि, पृष्ठ ७

(छ) "....इसीलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।" —गोकरुणानिधि पृ. ९

(ज) "....मैं मांस नहीं खाता। माँस खाना तो दूर रहा, मैं तो उसे देख कर ही रोगी हो जाता हूँ। मुझे अत्यन्त खेद है कि आप विद्वान् ब्राह्मण होकर भी मांसभक्षी हैं। मांस खाना और पशुओं का बलिदान करना हिंसात्मक कार्य है और वेद अर्थात् परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध है, इसलिये पापकर्म है।" (महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय पृ. ४८)

उपर्युक्त उद्धरणों में एक स्थल भी ऐसा नहीं है जहाँ स्वामीजी ने मांस भोजन का स्पष्ट निषेध न किया हो, फिर भी लोगों को जो बहाना मिला है उसके दो आधार हैं (१) संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में संस्कृत मंत्र और उनका भाषार्थ पृथक् पृथक् स्थलों पर था, उस संस्करण में कुछ गृह्यसूत्रों का उल्लेख था जिनमें मांसभक्षण का विधान है। "कई मांस भक्षण के पक्षपाती मांसभक्षण को उचित्त सिद्ध करने के लिए ऋषि के इस ग्रन्थ का भी आश्रय लेते हैं, परन्तु यह सर्वथा अनुचित है। ऋषि ने अपने समस्त जीवन में एक बार भी मांसभक्षण का प्रतिपादन नहीं किया।"[1]

(२) दूसरा उद्धरण सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास का वह अंश है जहाँ राजपुरुषों को हानिकारक पशुओं के वध का आदेश दिया गया है, फिर प्रश्न यह होता है कि मांस का क्या किया जाये ? इसका उत्तर स्वामीजी ने इस प्रकार दिया है, "चाहें फैंक दे चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।" इस अंश के आधार पर मांसाहारियों ने यह सिद्ध किया है कि स्वामीजी ने मांसाहार की अनुमति दे दी है। हिन्दी भाषा का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी जानता है कि किन्तु का प्रयोग करने पर वाक्य का पूर्वांश निरर्थक हो जाता है। जैसे कोई यह कहे कि मैं यह स्वादिष्ट भोजन खाना तो चाहता हूँ, किन्तु उपवास होने के कारण....इस वाक्य में किन्तु का प्रयोग होने के कारण पूर्वांश अर्थहीन हो जाता है। वही स्थिति स्वामीजी के उपयुक्त वाक्य की भी है। दूसरी ओर यदि हम उन ग्रन्थों का अवलोकन भी कर लें जिन्हें स्वामीजी ने प्रामाणिक माना है तो समस्या कुछ और सुलझ जायेगी।

चारों वेदों में एक स्थल पर भी मांसभक्षण का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु उसमें तो स्पष्ट 'यजमानस्य पशुन् पाहि। तथा द्विपदे शं चतुष्पदे"[2] की चर्चा है। गोमेध,

---

[1] ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ८४

[2] पशूंस्त्रायेथाम्—यजु. ६।११

अजामेध तथा अश्वमेध आदि की चर्चा हम अन्य प्रसंग पर करेंगे। ऋग्वेद के १०।८७।१६ मंत्र में मांसभक्षक के लिये दण्ड की व्यवस्था की गई है, "जो-जो राक्षस पुरुष संबंधी मांस से अपने आत्मा को पुष्ट करते हैं, जो अश्व के मांस से और अन्यान्य मृगादि पशुओं से अपने को पोषण करते हैं,....हे सर्व व्यापक देव ! उन सब राक्षसों के शिरों को अपने तेज से काट दीजिये।"[1] मनुस्मृति के ५।४८ श्लोक में लिखा है कि प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस उपलब्ध नहीं होता और प्राणियों की हत्या स्वर्ग देने वाली नहीं है, अतः मांसभक्षण का सर्वथा परित्याग कर दे। इसके अतिरिक्त पशु हत्या के लिए सम्मति देने वाला, उसको काटने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला तथा खाने वाला इन आठों को ही मनु ने घातक की संज्ञा दी है। द्वितीय अध्याय के १७७वें श्लोक में 'वर्जयेन्मधुमांसं च' का स्पष्ट निर्देश है। "शुक्रनीति अध्याय ३ श्लोक ९ में लिखा है कि मनुष्य, कीट, पतंग आदि को भी अपने देह के तुल्य ही समझें।' महाभारत के अनुशासन पर्व के ६३ ६७ श्लोक में उन ३३ राजाओं के नाम परिगणित किये गये हैं जिन्होंने मांस नहीं खाया। मांस का अर्थ ही महाभारत में दिया गया है 'मांस भक्षयते यस्मात् भक्षयिष्ये तमप्यहम्'[2] अर्थात् आज मुझे वह खाता है तो कभी मैं भी उसे खाऊंगा। "महाभारत के अनुसार जो मद्य मांस का त्याग करते हैं, ये धार्मिक कहलाते हैं, जो मांसभक्षण के त्याग के प्रकरण को पढता अथवा बार-बार सुनता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और जो दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और निर्दयी मनुष्य कोई दूसरा नहीं है।"[3]

कुरान के निर्माता ने कुछ पशुओं को हलाल और कुछ को हराम बताया। 'सूरत बकर' में लिखा है "सिवाय इसके नहीं कि हराम किया ऊपर तुम्हारे मुरदार और लहू और गोश्त का और जो कुछ पुकारा जावे ऊपर उसके गैर अल्लाह के ..।"[4] मुहम्मद साहिब के मरने के लगभग १०० वर्ष बाद इस्लामी विद्वानों ने इन पदार्थों का विभाजन तीन प्रकार किया, १. हलाल (भक्ष्य), २. हराम (अभक्ष्य), ३. मकरूह (घृणित), यह विभाजन भी सर्वसम्मत नहीं हो सका। इमाम मालिक ने हाथी और बन्दर को हलाल बताया और इमाम हन्फी ने उन्हें हराम, गीदड़ को इ. शैइया ने हराम बताया और खतबिया ने हलाल। अतः यह निष्कर्ष निकालना असंभव है कि इस्लाम के दृष्टिकोण से कौनसी वस्तु भक्ष्य है और कौनसी अभक्ष्य। वास्तव में उत्पन्न पदार्थ (Products) हलाल या हराम होते हैं कारखाना (Factory) नहीं। फैक्ट्री के बने हुए केक या बिस्कुट हलाल या हराम हो सकते हैं, फैक्ट्री नहीं। इसी प्रकार गाय या बकरी यदि हलाल हैं तो उससे उत्पन्न दूध, दही, मावा आदि हलाल अर्थात् भक्ष्य होंगे गाय नहीं। यदि फैक्ट्री को हलाल या हराम माना गया तो मानव मंगल के लिये औषधि निर्माण करने वाले सभी कारखानों को भक्ष्य समझ कर समाप्त कर देना होगा।

---

[1] वेदप्रकाश, मार्च १९६१, पृष्ठ ३३७

[2] महाभारत, षष्ठ खण्ड, गीता प्रेस, पृष्ठ ५८६१

[3] वही, पृष्ठ ५८६०

[4] यवन मत समीक्षा—पं. लेखराम, पृष्ठ १८३

अल मसूरी ने ईसा के शिष्यों के संबंध में उल्लेख किया है, ''ईसाजी के सब शिष्य और अनुयायी भिक्षु पहले निराभिष भोजी थे।''[1] मांसभक्षण के संबंध में इतना विवेचन होने के बाद भी यदि कोई व्यक्ति इसका सेवन करता है तो उसका कारण स्वार्थ, जिह्वा-लोलुपता आदि हो सकता है, धार्मिकता वैदिकी अथवा शास्त्र सम्मति नहीं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या क्षत्रिय भी मांस न खायें ? उत्तर है नहीं, क्योंकि क्षत्रिय की व्युत्पत्ति ही यही है 'क्षतात् त्रायते स क्षत्रियः' अर्थात् जो प्राणियों की दुःख से रक्षा करे वह क्षत्रिय होता है। किसी का मांस खाने से उसकी रक्षा नहीं हो सकती। क्षत्रियों में मांसभक्षण की प्रथा उस समय से प्रारंभ हुई जब उसकी उपमा सिंह से दी जाने लगी ''राजा दशरथ सिंह न थे। राजा युधिष्ठिर सिंह न थे....जिस दिन से क्षत्रियों ने अपने नाम के साथ 'सिंह' लगाना प्रारंभ, वे कोरे सिंह बन गये।''[2] सिंह में पाशविक बल होता है, राजा के लिये नैतिक बल आवश्यक है, सिंह सभी को खा जाता है, किसी की रक्षा नहीं करता। राजा अथवा क्षत्रिय का प्रधान कर्त्तव्य ही रक्षा करना है।

गोवध-गोमेध इत्यादि—वेदों में अनेक बार गोमेध, अजामेध, अश्वमेध इत्यादि की चर्चा है और इन्हें प्रशंसनीय धार्मिक कृत्य माना गया है। किन्तु इन शब्दों का जो अर्थ मान्य किया जा रहा है क्या इसे सत्य वा प्रामाणिक माना जाये ? इन प्राचीन शब्दों के उपयुक्त अर्थ प्राचीन कोषों में ही देखने होंगे अन्यथा अनर्थ की आशंका है। यजुर्वेद अ. ३६ का मं. २४ है ''तच्चक्षुर्देवहितं....प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः'' इस मंत्र में आये 'मदीना' शब्द का अर्थ क्या मुसलमानों का तीर्थ स्थान 'मदीना' माना जाये तथा श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के पांचवें श्लोक 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।' में आये हुए मे को (May) तथा चार्जुन[3] को चार जून मान लिया जाये। यदि नहीं तो गोमेध का अर्थ भी आधुनिक शब्द कोषों से ज्ञात नहीं हो सकेगा। वर्तमान हिन्दी भाषा में भी 'गो का अर्थ सदा गाय नहीं होता, जब हम कहते हैं सुन्दर रूप दृष्टिगोचर हुआ अथवा मधुर शब्द कर्णगोचर हुआ, तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि गाय आंख अथवा कान में घुस गई--यहाँ इसका अर्थ इन्द्रिय ही होता है। गोमेध इत्यादि के संबंध में स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है ''राष्ट्रं वा अश्वमेध....अर्थात् घोड़े, गाय आदि पशु तथा मनुष्य मार के होम करना कहीं नहीं लिखा.... विद्यादि का देने हारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना अश्वमेध, अन्न, इन्द्रियां किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना गोमेध, जब मनुष्य मर जाय तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना नरमेध कहाता है।''[4] श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने 'गोमेध, अश्वमेध, आदि के मेध को पवित्र का पर्याय माना है ''गोमेध, अश्वमेध आदि में जो मेध शब्द है, उसका अर्थ पवित्र है।''[5]

---

१. भारतवर्ष का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—भगवद्दत्त, पृष्ठ २११

२. हम क्या खावें—घास या मांस—गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ १३७

३. एक बार एक ईसाई पादरी ने निरक्षर ग्रामीणों को यह बताने की चेष्टा की कि कृष्ण का जन्म महाप्रभु ईसा के बाद हुआ है क्योंकि गीता में लिखा है बहुत सी मई व्यतीत हो जाने पर चार जून को कृष्ण का जन्म हुआ।

४. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७९-८०

५. वैदिक साहित्य—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ ३६०

बम्बई से प्रकाशित ओषधिकोश में समस्त पशुसंज्ञक नाम वनस्पतियों के लिये भी आये हुए दिखाये गये हैं उनमें कुछ का अर्थ निम्न है—

अश्व—अश्वगंधा
अज—अजमोदा
गो—गौलोमी
नर—सौगन्धिक तृण
रुधिर—केसर

अस्थि—गुठली
मांस—गूदा, जटामासी
चर्म—बक्कल
स्नायु—रेशा
आलंभन—स्पर्श[1]

हठयोग प्रदीपिका में एक स्थल पर लिखा है 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं....' अर्थात् जो नित्य गोमांस खाता है और मदिरा पीता है वही कुलीन है अन्य कुलघाती है। इस चमत्कारी श्लोक को देखकर लोगों को भ्रम न हो जाये, इसलिये अगले श्लोक में ही 'गो शब्देनोदिता जिह्वा' के रूप में गो शब्द की व्याख्या कर दी गई है अर्थात् गो जिह्वा को कहते हैं और जिह्वा मांस की ही होती है इसलिये जिह्वा को गोमांस कहा गया है। वेदों में भी इस प्रकार के चमत्कारिक प्रयोग हैं। अथर्ववेद १८।४।३२ के अनुसार धान ही गाय है और तिल ही उसके बछड़े हैं। अथर्ववेद ११।३।५ के अनुसार चावल के कण ही अश्व हैं चावलों का जो श्याम भाग है वही मांस है और जो लाल अंश है वही रुधिर है।

इतना होने पर भी भारत में अथवा अन्यत्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी मान्यता है कि प्राचीन भारत में गोमेध अर्थात् गाय को मारकर यज्ञ में डालना तथा गोमांसभक्षण का प्रयोग होता था। इनमें से कुछ जिह्वालोलुप हैं, कुछ स्वार्थी और कुछ ने शास्त्रों का अध्ययन करके अपने पक्ष का पोषण करने के लिये कुछ प्रमाण भी दिये हैं। नीचे हम उन प्रमाणों की तथा उनकी संक्षिप्त समीक्षा भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गो मांस भक्षण का विधान—सर्वप्रथम राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने इस ओर संकेत किया। उन्हीं के आधार पर पी. वी. काणे[2] आर. सी. मजूमदार[3] आदि ने इसका समर्थन किया। उक्त उपनिषद् के छठें अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण की १८वीं कण्डिका में लिखा है कि चारों वेदों में पारंगत संतान पाने के लिये पति-पत्नी गोमांसभक्षण करें। उपनिषद् का मूल पाठ यह है "अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रुषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति **मांसौदनं** पाचयित्वा

---

[1] वैदिक सम्पत्ति—रघुनंदन शर्मा, पृष्ठ ५९५

[2] In Rg. frequent reference is made to The cooking of flesh of the ox for offering to Gods ..In Rg. x/79/6 it was suggsted that the cow was cut up with a sword or axe.—History of Dharma Shastra Vol. II pt. II, page 772.

[3] यह बात बहुत सहज में विचारी जा सकती है कि पंजाब के पुराने हिन्दू लोग विशेष करके मांस खाते थे। हम लोगों को गउ, भैंसें और बैलों की बलि चढ़ा कर पकाये जाने का कई जगह वर्णन मिलता है....प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास, पृष्ठ ४९-५०

सर्पिष्मन्त मश्नी यातामीश्वरों जनयित्वा **औक्षेण वार्षभेण** वा ।''[१] ....इस अंश में मांसोदनम् का अर्थ मांस और चावल, औक्षेण का अर्थ युवा बैल का मांस तथा अर्षभेण का अर्थ वृद्ध बैल का मांस किया गया है ।....यदि इसका पूर्व प्रसंग देखा जाये तो अर्थ कुछ स्पष्ट हो सकता है । पूर्व प्रसंग में एक वेद के ज्ञाता पुत्र के लिये दूध, घी और चावल, दो वेदों के ज्ञाता पुत्र के लिये दही घी मिश्रित चावल, तीनों वेदों के ज्ञाता पुत्रोत्पत्ति के लिये पानी के साथ घी मिश्रित चावल के भोजन का विधान निर्दिष्ट किया गया है । विदुषी कन्या के लिए भी तिल, घी मिश्रित चावल का भोजन बताया गया है । प्रश्न यह है कि जब मांस के भोजन के बिना तीन वेदों का ज्ञाता पुत्र हो सकता है तो चौथे के लिये मांस की आवश्यकता क्यों पड़ गई है । यदि गोमांस ही अभिप्रेत है तो उसके लिये 'औक्षेण, अर्षभेण' दो शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है । इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में मांस का अर्थ ओषधि का कोमल गूदा होता है । अंग्रेजी के flesh का अर्थ भी यही होता है । 'उक्षा' शब्द का अर्थ स्वयं सर मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी में "Name of 'Soma' (as sprinkling or scattering small drops)"[२] अर्थात् झरता टपकता हुआ अर्थात् रस से परिपूर्ण दिया हुआ है, दूसरा अर्थ 'One of the eight Chief medicaments' (अष्ट वर्ग ओषधियों में से एक) दे रखा है । उसी डिक्शनरी में ऋषभ शब्द का अर्थ "a kind of medical plant"[3] दे रखा है । सत्य तो यह है कि मूल अंश 'मांसौदन' शब्द अशुद्ध छपा है, इसके स्थान पर 'माषौदन' (अर्थात् उड़द और चावल) होना चाहिये । उक्त अंश का भाष्य करते हुए सिद्धान्तालंकारजी ने लिखा है कि "इस स्थल में मांसोदन की जगह 'माषौदन' पाठ ठीक है । इस प्रकार पूर्व प्रसंग से संगति भी मिल जायगी और अनर्थ की संभावना भी नहीं रहेगी । पारसी लोगों की जेंदावेदस्ता में "गोमेज यज्ञ वैदिक गोमेध के सदृश है, उसमें गौ की हिंसा बिलकुल नहीं,....केवल सोमवल्ली के रस का प्रयोग किया जाता है ।"[४] यदि पारसियों का गोमेज गोवध के बिना हो सकता है तो वैदिक आर्यों की वही स्थिति क्यों नहीं हो सकती ।

राजा रंतिदेव की रसोई में प्रतिदिन दो हजार गायों की हत्या—श्री आर. सी. मजूमदार ने 'The History and Culture of The Indian People'[५] में लिखा है, "According to Mahabharat a king called Rantideva killed every day two thousand cattle and two thousand kins in order to dole out meat to the people"[६] अर्थात् महाभारत के अनुसार रंतिदेव नामक एक राजा प्रतिदिन लोगों को मांस बांटने के लिये दो हजार पशुओं और दो हजार गायों की हत्या करता था । महाभारत का तथाकथित श्लोक निम्न है—"राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज । द्वे सहस्रे तु वध्येते

---

[१] एकादशोपनिषद् भाष्य द्वितीय खण्ड—वृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ ९६५

[२] A Sankrit English Dictionary—Monier Williams, Page 172

[३] Ibid, Page 226

[४] प्राचीन भारत में गो मांस: एक समीक्षा—प्रकाशक-मोतीलाल जालान, पृष्ठ १६१

[५] भारतीय विद्याभवन, ५२९

[६] प्राचीन भारत में गोमांस, पृष्ठ ६९

पशूनावहं तदा । अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा ।"[1] पहली बात तो यह है कि उपर्युक्त अंश गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा मुद्रित महाभारत में उपलब्ध नहीं होता, दूसरी बात यह है कि इस अंश को प्रक्षिप्त न भी माना जाय तो भी 'वध्येते' का अर्थ व्याकरण के अनुसार मारना नहीं हो सकता, "पाणिनि का सूत्र है 'हनो वध लिङि. लुङि. च ।' इस सूत्र का अर्थ हृ धातु को वध आदेश होता है लिङ. और 'लुङ.' लकारों में ।"[2] यहां स्पष्ट ही इन लकारों का प्रयोग न होकर लट् अर्थात् वर्तमान काल का प्रयोग है । अतः वध के अर्थ में यह प्रयोग व्याकरणसम्मत नहीं है । इसके अतिरिक्त एक स्वतंत्र वध धातु है किन्तु उसका अर्थहत्या करना न होकर 'बांधना' होता है । अथर्ववेद १४।१।२६ में आया है 'पतिर्बन्धेषु बध्यते'[3] में बध्यते का अर्थ बंध जाना ही है । तीसरी बात है कि महाभारत में राजा रंतिदेव की कीर्ति का कारण मांस भक्षण न होकर मांस निषेध है । द्रोण पर्व में लिखा है "उन महामना नरेश के यहां दो लाख रसोइये थे, जो घर पर आये हुए ब्राह्मण अतिथियों को अमृत के समान मधुर कच्चा-पक्का उत्तम अन्न दिन-रात परोसते थे ।"[4] तथा अनुशासन पर्व ११५।६७ के अनुसार उन्होंने कभी मांस नहीं खाया था ।

चर्मण्वती नदी बनने का कारण—महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, "रन्तिदेव के भोजनालय में प्रतिदिन दो हजार गायें मारी जाती थीं और उनका गीला चमड़ा रसोई में रखा जाता था, उसी का टपका हुआ जल जो बहा, वही एक नदी बन गया और उस चर्म से निकलने का कारण उसका नाम चर्मण्वती पड़ गया ।"[5] प्रमाण स्वरूप उन्होंने शान्ति पर्व का निम्न श्लोक पाद टिप्पणी में उद्धृत किया है—

'महानदी चर्मराशे रूत्वन्वेदात ससृजे घतः ।

ततश्चर्मण्डवतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥ इस श्लोक में कहीं भी कोई गाय के अर्थ का वाचक शब्द नहीं है तथा कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिससे वध या हत्या की गंध आती हो । राजा रंतिदेव बड़े दानी व्यक्ति थे, वे प्रायः बीस हजार तक गौएं प्रतिदिन दान किया करते थे । गायों को नहलाने के बाद उनके शरीर से स्पृष्ट होकर जो पानी बह निकलता था वही चर्मण्वती नदी (आधुनिक चम्बल) के रूप में परिणत हो गया होगा । इससे पूर्व श्लोक का अर्थ यह है कि कठोर व्रत का पालन करने वाले, यशस्वी महात्मा रन्तिदेव के पास गायें और जंगलों के पशु अपने आप उपस्थित हो जाते थे । तुलसीदास जी ने 'मानस' में लिखा है "मुनिगन निकट विहंग मृग जाहीं । बाधक बधिक विलोकि पराहीं ।"[6] रन्तिदेव यदि बधिक होते तो पशु स्वयं उनके पास हत्या के लिये उपस्थित नहीं हो सकते थे । एक बात और यह

---

१. चित्रशाला संस्करण—अध्याय २०८, भण्डारकर संस्करण-अध्याय १९९

२. प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृष्ठ ८५

३. अथर्ववेद भाषाभाष्य—सार्वदेशिक आर्य प्र. सभा, भाग ९-१०, पृष्ठ ६६२

४. महाभारत चतुर्थ खण्ड—गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ ३२६८

५. वोल्गा से गंगा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ २२७

६. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २६३।२६४ के बीच

भी है कि सामान्य से सामान्य गोश्तखोर भी यह जानता है कि रसोईघर और वधशाला एक स्थान पर नहीं होते, अतः सांकृत्यायनजी की उक्त कल्पना निराधार है। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार रन्तिदेव का अर्थ 'रन्तिः रमणं देवानां यस्मिन् सः'—जिसमें विद्वान् रुचि लेते हैं। रन्तिदेव की स्वराज्य रक्षा ही सुरभितनयालम्भ है, यज्ञ है। इसकी कीर्ति की परिचायिका चर्मण्वती नदी है। उसी के किनारे इन महाराज ने अपनी दानवीरता, विद्वत्प्रेम, वीर कर्म, प्रजापालन आदि का परिचय दिया था।''[1] चर्मण्वती का पदच्छेद होता हैं चर्मण्+वत्+ई। स्वामीजी ने चर्म का अर्थ जाना या कीर्ति को प्राप्त करना लिखा है, चरति गच्छति येन तत् चर्म प्रसिद्धम्''।[2]

पशुओं का आलम्भन—पशु हत्या के पक्षपाती अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये प्रायः महाभारत के द्रोण पर्व के ६७वें अध्याय का १४वां श्लोक उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है ''सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथि र्वसेत्। आलभ्यन्त तदा गावः सहस्राण्येक विंशतिः।'' इसमें आये 'आलभ्यन्त' शब्द ने गड़बड़ मचा दी है। इन लोगों ने इसका अर्थ हत्या करना किया है। ''आङ् पूर्वक लभ् धातु से आलम्भ शब्द बनता है उसका अर्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त करना, स्पर्श करना वा देना यही होता है।''[3] आलम्भन का अर्थ हिंसापरक किसी कोष में नहीं मिलता, यजुर्वेद के ३०।२२ ''अथैतानष्टौ विरूपानालभते अतिदीर्घ'' मनु २।१७९ 'स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भ मुपघातं'' 'पारस्कर गृह्य सूत्र' 'अथास्य दक्षिणांसं अधिहृदयं आलभते' आदि में सर्वत्र अर्थ प्राप्ति अथवा स्पर्श करना है, हिंसा करना कहीं नहीं है। मीमांसा दर्शन की सुबोधिनी टीका में लिखा है 'आलम्भः स्पर्शो भवति'[4] तथा श्रीमद्भागवत में स्पष्ट लिखा है ''यद्घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।''[5] अर्थात् यज्ञ में सुरा सूंघने का विधान है पीने का नहीं। यज्ञ में पशु का आलभन (स्पर्श) ही विहित हैं हिंसा नहीं।

मधुपर्क में गोमांस ?—श्री पी. वी. काणे ने अपनी पुस्तक 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मधुपर्क विना गोमांस के नहीं होता था 'Let the Madhuparka not be without flesh'[6] यह आश्वलायन गृह्यसूत्र के 'नामांसो मधुपर्को भवति' की छाया है। स्वामीजी ने 'संस्कारविधि' के पृष्ठ १३८ की पाद टिप्पणी में लिखा है ''मधुपर्क उसको कहते हैं जो दही में घी व शहद मिलाया जाता है।'' स्वयं उपर्युक्त आश्वलायन गृह्यसूत्र में १।२४, ५,६ में लिखा है 'दधनि मध्वानीय सर्पि वा मध्वलाभे' अर्थात् दधि और मधु मिलाने, मधु के अभाव में घृत। अन्य गृह्य सूत्र में भी मांस मिलाने का कहीं उल्लेख नहीं है, जहां तक वेद का संबंध है ऋग्, यजु तथा साम में 'मधु पर्क' शब्द ही उल्लिखित नहीं

---

[1] प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृष्ठ २२७

[2] उणादिकोष, पृष्ठ १३६

[3] गोरक्षा परम कर्त्तव्य और गो हत्या महापाप—धर्मदेव विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ५०

[4] प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृष्ठ ९०

[5] श्रीमद्भागवत महापुराणम् (मूलमात्रम्), गीता प्रेस, पृष्ठ ६७६

[6] प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृष्ठ १०५

है, केवल अथर्ववेद के १०. ३. २१ में 'यथा यशः सोपपीथे मधुपर्के यथा यशः' इसके भाष्य में मधुपर्क के विषय में लिखा है "मधुपर्क मधु, दही, घी, जल और शर्करा के पंचमेल वा पंचामृत में है।"[१] ऋग्वेद के एक मंत्र ६।४४।२९ में 'मधुपेय' शब्द आया है और इसी में "वृषाऽसि देवो वृषभः पृथिव्या वृषा" का भी प्रयोग। पाश्चात्य तथा उनके उच्छिष्ट भोजी भारतीयों ने इस वृषा का अर्थ बैल समझ दिया है, किन्तु स्वामीजी के भाष्य[२] में इसका अर्थ बैल नहीं है। मोनियर विलियम्स ने भी अपने कोष में इन शब्दों के अर्थ बैल से भिन्न निम्न दिये हैं—

वृष[३] १. a strong or potent man = शक्तिशाली पुरुष

२. The Chief of the class or anything the most excellent or prominent or best of its kind किसी वर्ग का प्रमुख या अपनी श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ।

वृषभ[४] bull (in Veda, epithet of various Gods) as of Indra = बैल (यह शब्द वेदों में विभिन्न देवताओं का जैसे इन्द्र का विशेषण है) वृषकर्मा - Doing manly deeds as Indra (Rigveda) (ऋग्वेद में) इन्द्र की तरह पौरुषेय कर्म करने वाला।

यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाये कि मधुपर्क में गोमांस का मिश्रण होता था तो भी व्यवहार में यह संभव नहीं है। एक अतिथि के आने पर उसी समय गाय को मार कर गोमांस निकालना, पका कर, मधुपर्क में मिलाकर देने में कितना विलम्ब होगा। मधुपर्क में मिलाये जाने वाली मांस की मात्रा भी १० से २० ग्राम से अधिक नहीं होगी, शेष मांस का क्या किया जायेगा ? कुछ लोगों ने मनु स्मृति के एक प्रक्षिप्त श्लोक "अत्रैव च पशुं हिंस्यान्ना न्यथेत्यब्रवीन्मनुः" का उल्लेख किया है, किन्तु इसमें 'अब्रवी त्मनुः' इस बात का संकेत कर रहा है कि अंश किसी और का बनाया हुआ है। इस प्रकार मधुपर्क में गोमांस का मिश्रण न व्यवहार्य है, न नैतिक, न उपयोगी और न वेदसम्मत है।

कुछ विद्वानों ने यह भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है कि विवाह के अवसर पर गो-हत्या और गोमांस का प्रचलन था। वी. एम. आप्टे के अनुसार 'The guests are entertained with the flesh of cows killed on the occassion'[५] तथा ए. बी. कीथ के "विवाह

---

[१] अथर्ववेद भाषाभाष्य—९-१० खण्ड, पृष्ठ २४७

[२] हे शत्रुओं के सामर्थ्य के प्रतिबन्धक ऐश्वर्य से युक्त जिससे आप सूर्य के बलिष्ठ और श्रेष्ठ भूमि से वर्षाने वाले और नदियों वा समुद्रों के वर्षाने वाले और मिले हुए नहीं चलने और चलने वाली प्राणी और अप्राणियों के अत्यन्त करने वाले हैं। आप उत्तम सुख के वर्षाने वाले के लिए पान को स्वादु से युक्त सोमलता का रस सहत के साथ पीने योग्य हो। —ऋग्वेद भाषाभाष्य ३ खण्ड, पृष्ठ ५२६

[३] A Sanskrit English Dictionary—Monier Williams, P. 1012

[४] Ibid, page 1012

[५] History & Culture of The Indian People—R. C. Majumdar Social & Economic Condition—V. M. Apte, p. ३८९

संस्कार के समय बैलों का स्पष्टत: खाने के लिये वध किया जाता था''[1] के अनुसार उस समय गो हत्या तथा गोमांस का प्रचलन था। जहां देशीय विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों में अनेक प्रक्षेप किये हैं वहां विदेशीय विद्वानों ने वेदों के अनर्थ करने का जानबूझकर विशेष प्रयत्न किया है, अंग्रेजी परम्परा से प्रशिक्षित देशी विद्वान् तो उनके उच्छिष्टभोजी ही हैं। वेद में गाय को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद ३०।१८ के ''अन्तकाय गोघातम् के अनुसार घातक के लिये प्राणदण्ड की व्यवस्था है, पुराणों में भी पशु हिंसा का निषेध है। भागवतपुराण के ४।२५।७ श्लोक का अर्थ है, ''हे राजन्! तुझ निर्दय द्वारा मारे इन पशुओं को देख वे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब तू मरे ताकि वे लोहे के सदृश अपने सींगों से तुझे छिन्न-भिन्न करें। मत्स्यपुराण के १४३ अध्याय के १३वें श्लोक का भाव यह है, ''तुमने जो पशुओं की हिंसा प्रारंभ की है यह अधर्म है। धर्म का घात करने वाली है। महात्मा बुद्ध ने लिखा है जैसे माता, पिता, भाई तथा दूसरे बन्धु हैं वैसे ही गौवें परम मित्र हैं जिनसे कि दवा पैदा होती है। यही अन्न बल वर्ण (रूप) तथा सुख देने वाली है, इस बात को जानकर वे गौओं को नहीं मारते थे।''[2] ईसाई धर्म में भी गो हत्या मनुष्य हत्या के समान है। ''He that killeth an ox is as if he slew a man'' और तो और कुरानशरीफ तक में मांस भक्षण का निषेध किया गया है, ''लय्यन्ना लल्लाहा लुहुमूहा वला दिया बुहा वलाकिन् म्मना लुहुत्तकवए मिन्कुम'' अर्थात् ईश्वर को नहीं पहुंचता उनका गोश्त और लहू उसको पहुंचता है तुम्हारा संयम आदर।

मांस और विज्ञान—कुछ लोगों का विश्वास है कि मांस खाना रोगनाशक, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा शक्तिप्रद है। वे विश्वास करते हैं कि शक्तिदायक तत्व वनस्पतियों में पाये जाते हैं, पशु उन वनस्पतियों का सेवन करते हैं, अत: उनमें भी वही शक्ति आ जाती है, पशु का मांस सेवन करने वाले में वही शक्ति मांस के सेवन से आ जाती है। एक उदाहरण से ज्ञात हो जायेगा कि उक्त विचार न्यायसंगत है या नहीं? एक व्यापारी ने कई वर्ष तक श्रम करके धन कमाया और उसे अपनी तिजोरी में रख दिया। एक चोर ने तिजोरी तोड़ कर वह धन प्राप्त कर लिया उसके श्रम की भी काफी बचत हो गई, किन्तु बुद्धिमान लोग इस प्रकार एकत्र किये हुए धन को क्या न्यायसंगत कह सकेंगे? मांस से कई बार शक्ति तो प्राप्त हो जाती है, किन्तु प्राय: वह नई बीमारियों के द्वार खोल देती है। डा. एलेक्जेण्डर हेग का कथन है मांस से यूरिक एसिड बहुत बनती है और इससे कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। एक विशेष प्रकार का सिरदर्द इसके खाने से उत्पन्न होता है और छोड़ देने से ठीक हो जाता है—''A certain form of headache is made worse by eating meat, meat soup, or meat extracts and is cured or prevented by abstaing from them.''[3] स्काटलैण्ड के डा. बैल के अनुसार कैंसर रोग मांस खाने से बढ़ जाता है और केवल मांस छुड़ाकर ही वे अपने रोगियों का इलाज कर पाते हैं। शाकाहार से शक्ति उत्पन्न होती है और मांसाहार से उत्तेजना। बुढ़ापे में मांसाहारी के अंगों में कम्पन रोग प्रारंभ हो जाता है। डा. हेग ने तो इतना तक कहा है कि ''मांस और

---

[1] वैदिक इंडेक्स—भाग दो—ए. ए. मेक्डोनल तथा ए. वी. कीथ, पृष्ठ १६३

[2] गोरक्षा परम कर्त्तव्य और गोहत्या महापाप, पृष्ठ २७

[3] हम क्या खावें घास या मांस—गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ १००

मद्य के सेवन से मनुष्य के स्नायु इतने दुर्बल हो जाते हैं कि वह जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने पर बाधित हो जाता है।"[1] यदि मांस को शक्तिवर्द्धक मान भी लिया जाय तो भी आत्मोन्नति में बाधक होता है, "शास्त्रीय आज्ञायें दो प्रकार की हैं। कुछ का संबंध आत्मा से है और कुछ का शरीर से। शरीर संबंधी आदेश न पालने से रोग आदि दुःख होते हैं, और आत्माविषयक आज्ञाओं का उल्लंघन करने से शारीरिक दुःख तो नहीं होते परन्तु आध्यात्मिक उन्नति से मनुष्य वंचित रहता है।"[2] अतः विज्ञान की दृष्टि से भी मांस कोई उपयोगी एवं उत्तम पदार्थ नहीं है।

क्या मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है ?—मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है क्योंकि—

(१) मनुष्य के दांतों की बनावट मांसाहारियों की तरह नहीं है। कुत्ते आदि मांसाहारियों के दांत नुकीले होते हैं जो मांस में एकदम गड़ जाते हैं, मनुष्य के दांत सर्वथा भिन्न होते हैं। यदि मनुष्य के दांत भी वैसे ही नुकीले होते तो उसे मांस भक्षण के लिये छुरी कांटे की आवश्यकता नहीं होती।

(२) मांसाहारियों की भोजन नलिका (Alimentary Canal) छोटी होती है और शाकाहारियों की बहुत लम्बी। मनुष्य की भोजन नलिका उसके शरीर से १२ गुणी होती है।

(३) मनुष्य के हाथों और जानवरों के पंजों में अन्तर स्पष्ट है। इसीलिये मनुष्य को शिकार करने के लिये किसी न किसी हथियार अथवा औजार की आवश्यकता पड़ती है।

(४) दोनों के मुंह के रस में भी अंतर होता है। मनुष्य में Alkaline अंश अधिक होता है और मांसाहारी जीवों में कम।

(५) मांसाहारी जीभ से पानी पीते हैं और शाकाहारी पशु अथवा मनुष्य भिन्न प्रकार से।

(६) विकासवादी दृष्टिकोण से बन्दर मनुष्य के सबसे निकटस्थ है, अब यदि बन्दर शुद्ध शाकाहारी है तो मनुष्य को भी स्वभावतः वैसा ही होना चाहिये।

निष्कर्ष—स्वामीजी के मतानुसार मनुष्य को शुद्ध, सात्विक तथा मिताहार ही करना चाहिये। मद्य-मांस आदि उत्तेजक तथा मादक द्रव्यों का सेवन किसी स्थिति में भी न्यायसंगत नहीं है, रुग्णावस्था में भी मांस भक्षण नहीं किया जाना चाहिये। मांस भक्षण न न्यायसंगत है न उपादेय और न वैदिक शास्त्रानुमोदित। हिंसा के बिना इसकी उपलब्धि नहीं होती। यज्ञ में पशु हत्या तथा मांस सेवन या तो भ्रमवश है या विदेशियों की शरारत के कारण दोनों ही स्थितियों में इसका परिहार किया जाना चाहिये। उच्छिष्ट भोजन कदापि नहीं करना चाहिये। साथ बैठ कर खाने-न खाने का संबंध धर्माधर्म से नहीं है, इसका संबंध केवल लोकाचार से है। भोजन करने का स्थान शुद्ध होना चाहिये किन्तु मनुष्य को चौके अथवा सखरी-निखरी के चक्र में नहीं पड़ना चाहिये। मद्य-मांस के सेवन करने वाले व्यक्तियों के हाथ का भोजन भी नहीं करना चाहिये। सर्वोत्तम भोजन अकृष्टपच्य होता है, फिर फलाहार, तत्पश्चात् दुग्धाहार और अन्त में अन्न सेवन।

✤

---

१. हम क्या खावें—घास या भोजन, पृष्ठ १०४

२. महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ १२७

नवम अध्याय

भाषा शैली व हास्य-व्यंग्य

शिक्षा, राजनीति, ईश्वर, धर्म तथा भाषा आदि विभिन्न विषयों पर निर्दिष्ट स्वामीजी की विचारावली एवं सिद्धान्तों का किंचित् दिग्दर्शन हमने पिछले कुछ अध्यायों में करवाया है। उनकी भाषा शैली, हास्य व्यंग्य आदि का परिचय प्रस्तुत अध्याय में दिया जा रहा है। स्वामीजी ने साहित्य का निर्माण तो किया और वह भी प्रचुर मात्रा में किन्तु उनके साहित्य को किस विधा में रखा जाये, यह एक समस्या है। यदि वे पूर्णतः कवि होते तो उनके साहित्य का आलोचन हम 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[1], 'तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि'[2], रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[3] आदि के आधार पर कर लेते, यदि वे नाटककार होते तो हम उनके साहित्य में संकलनत्रय, ईहामृग, वी थी, डिम आदि को ढूंढ लेते, यदि वे सम्प्रदायवादी होते तो हम उनके काव्य में ध्वनि, रीति अथवा वक्रोक्ति की प्रतिभा अन्वेषण करते, तथाकथित आचार्य होते तो हम उनके काव्य में नायिकाभेद, बारहमासा, अष्टयाम और अलंकार-छन्दों की प्रदर्शनी के दर्शन करते। गद्य की विधाओं की कसौटी पर यदि उनके साहित्य को कसा जाये, तब भी वे उपन्यास, कथा अथवा आख्यायिका लेखक सिद्ध नहीं होते; बीस सहस्र पृष्ठों में अंकित उनके साहित्य को हम पूर्णतः निबंध की परिधि में भी समाविष्ट नहीं कर सकते। दूसरी ओर इतने विस्तृत, उपयोगी और कल्याणकारी साहित्य की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यदि सूर का वात्सल्य नवरसों में समाहित न होकर भी काव्य है तो स्वामीजी का साहित्य भी विभिन्न प्रचलित परिभाषाओं में आबद्ध न होकर भी साहित्य है। उनके साहित्य की विशिष्टविधा का नामकरण तो आगामी युग करेगा, हम तो यहां उनकी लेखन शैली की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात कर रहे हैं—

संस्कृत की छाया—स्वामीजी संभवतः पहले व्यक्ति वा साहित्यकार थे जिन्होंने अपनी मातृभाषा गुजराती और संस्कृत के प्रकाण्ड पांडित्य के मोह को छोड़कर आर्य भाषा (हिन्दी) का आंचल पकड़ा, और तो और हिन्दी भाषियों के लिये उन्होंने वेदों का द्वार भी खोल दिया। अतः स्वाभाविक ही था कि उनके साहित्य में गुजराती के कुछ शब्दों का समावेश हो जाय तथा उनका समस्त वाङ्मय संस्कृत की शैली से आक्रान्त हो। शब्द चयन के अतिरिक्त उनके लिंग निर्धारण, वाक्य रचना आदि पर भी संस्कृत की छाप है।

(क) वही परमात्मा, गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है। **अपने लोग सदा उसकी भक्ति किया करें।**[4]

---

[1] साहित्य दर्पण—डा० सत्यव्रत सिंह, पृष्ठ २३

[2] काव्य प्रकाश—माणिक्यचन्द्र, पृष्ठ ६

[3] रसगंगाधर भाग एक—पं. बद्रीनाथ झा, पृष्ठ १०

[4] संस्कारविधि—पृष्ठ ५-६

(ख) वेद सब सत्य विद्याओं **का** पुस्तक है ।[१]

(ग) ····सामान्य प्रकरण **का** विधि भी सामान्य प्रकरण में लिख दिया है ।[२]

(घ) जो संस्कृतवाक्यप्रबोध पर पुस्तक **छपाया** है....[३]

(ङ) विदित हो कि **आपका** पुस्तक हमारे पास पहुंच गया है....[४]

(च) **अपना** विजय करना ही आचार और पराजित हो जाना अनाचार है ।[५]

इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में अनेक स्थलों पर संस्कृत के अनेकों वाक्यांश उपलब्ध होते हैं । स्वामीजी ने अपने व्याख्यान जब देववाणी के स्थान पर आर्यभाषा (हिन्दी) में प्रारंभ किये थे, तो वाक्यों की कई लड़ियां अनायास ही संस्कृत भाषा में उनके मुख से निसृत हो जाती थीं, लेखन के समय भी अपनी इस प्रवृत्ति से वे पूर्णतः मुक्त नहीं रह पाये थे । नीचे के कुछ वाक्यांश निदर्शन के लिये पर्याप्त होंगे— 'उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचत इति बाधित न्यायः'[६], 'हे दुष्टानामुपरि क्रोधकृत्'[७], 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'[८], 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी,'[९] 'उभयतः पाशा रज्जुः ।''[१०]

उनके समस्त साहित्य में संस्कृत तत्सम शब्दों का तो बाहुल्य है ही, जिन तद्भव शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है, वे संस्कृत के पर्याप्त निकट हैं । दस के स्थान पर उन्होंने 'दश' का प्रयोग किया, वाष्प को भाप में परिणत करने के स्थान पर उन्होंने वाफ[११] का प्रयोग किया है, स्यात् शायद में न बदलकर शायत्[१२] ही रह गया है, लुंचन लूंच[१३] तक ही सीमित रहा है वह नोंचना का आवरण नहीं पहिन पाया है, शुण्ठी सूंठी[१४] तो हो गई पर सोंठ नहीं बन पाई है और पुराण शब्द पुराना न होकर पुराणे[१५] ही रहा है ।

प्रारंभिक भाषा अशुद्ध थी—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण की भाषा पर्याप्त अशुद्ध थी । स्वामीजी ने अगले संस्करण की भूमिका में स्वयं लिखा है—''····संस्कृत भाषण करने, पठनपाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस

---

१. आर्यसमाज के नियम—सत्यार्थप्रकाश आवरण, पृष्ठ ३

२. संस्कारविधि—भूमिका, पृष्ठ ख

३. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २२३

४. वही, पृष्ठ २८५

५. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६५

६. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १

७. आर्याभिविनय—श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ ४५

८. व्यवहारभानु—श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ७६३

९. भ्रमोच्छेदनम्, वही, पृष्ठ ८६३

१०. पूना प्रवचन—पृष्ठ ८५

११. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २८८

१२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ५२४

१३. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३०८

१४. संस्कारविधि, पृष्ठ ४५

१५. दयानन्द ग्रंथमाला, श. स., प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ १८

भाषा का परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी....''[1] सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण[2] का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, अतः उसकी भाषा की ओर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

(क) शब्दों की संधि अत्यन्त अशुद्ध है—'लोग कहते हैं—किमनुस्मृति के अनुकूलजोस्मृति उसको मानना चाहिये—''[3] '....तो भी पराएबागखेतमें कभी कुछनहीं बोते और जो लौंडेबाजीकतेहैं वे तो सुवरवा कौवे की नाइहैक्योंकिसूवरवाकौवेविष्टा सेवडी प्रीति रखते हैं....'[4] तथा ''....कोसन्देहयुक्त कह चुके हैं इस्से आपका सन्देहहीसन्देहनष्ट हो गया फिर आपकिसीव्यवहारमेंप्रवर्त्त नहोसकोगे....''[5]

(ख) व्याकरण की अशुद्धियां भी अनेक हैं—तैत्तिरीयशाखा की **श्रुती**[6] है, युद्ध **करें**,[7], भ्रमण **कर्ते** थे,[8] **षष्ठम्समुल्लासः**[9], **अष्टम** समुल्लासः **नवम्समुल्लास, दसम्समुल्लास**[10] उनमेउनकानामपृथक हो जायेगा,[11] **अर्थात्**[12] आदि, इसमें मनुष्यों की सृष्टि **भई** थी ...**उस्से,**[13] सोजैनोंकेराज्यही सेमूर्त्तिपूजनचली इसके **आगेनथी**[14], यह धर्मात्मओं की रीतिनहीं,'[15] आदि।

(ग) समुल्लासों में प्रघटकों (Paragraphs) का विभाजन नहीं है। कौनसा प्रघटक कहां से प्रारम्भ होगा, यह पता करना कठिन ही है, २९८ पृष्ठ के प्रारंभ में नवमःसमुल्लासः सम्पूर्ण मोटे अक्षरों में लिखा है। इसी के एकदम नीचे छोटे अक्षरों में दशम समुल्लास का प्रारम्भ है।

उपर्युक्त प्रकार की अशुद्धियां उनके प्रारम्भिक पत्रों में भी दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी खड़ी बोली का स्वरूप उस समय तक निर्धारित नहीं हो पाया था, हिन्दी साहित्योद्यान के मालाकार महावीर प्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव तब तक नहीं हुआ था, अतः उस प्रकार की अशुद्धियाँ भारतेन्दुकाल के सभी लेखकों में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। कुछ अशुद्धियों का कारण स्वामीजी का तत्कालीन अज्ञान था और कुछ का प्रेसवालों की भूल तथा शरारत। यह स्वामीजी की महत्ता ही थी कि स्वामीजी ने उन भूलों को स्वीकार कर अगले संस्करण में उनका संशोधन कर दिया।

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, भूमिका, पृष्ठ १

[2] सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण आजकल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। सन् १९१६ ई० में सनातन धर्म के महोपदेशक पं० कालूराम शास्त्री ने प्रथम संस्करण की फोटो स्टेट कापी करके लोकोपकारार्थ धर्मप्रेस मेरठ सिटी में मुद्रित कराया था। अनेक व्यक्तियों के उसमें प्रमाण पत्र छपे हैं जिससे विदित होता है कि प्रथम संस्करण की अविकल प्रतिलिपि है। प्रथम संस्करण के नाम पर दिये गये उद्धरण उसी पुस्तक के हैं।

[3] सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४७

[4] वही, पृष्ठ १५१

[5] वही, पृष्ठ २२९

[6] ७, व ८—वही, पृष्ठ २९९

[9] वही, पृष्ठ १९२

[10] वही, पृष्ठ २९८

[11] व १२. वही, पृष्ठ २७०

[13] वही, पृष्ठ ३०९

[14] वही, पृष्ठ ३१२

[15] वही, पृष्ठ ३०२

प्रथम अध्याय पर शीर्षक नहीं—स्वामीजी की यह विशिष्ट शैली ही है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों के प्रथम अध्याय पर 'प्रथमो अध्यायः' आदि नहीं लिखा है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में तृतीय अध्याय के ४० पृष्ठ तक प्रथम, द्वितीय, तृतीय समुल्लास आदि नहीं लिखा गया है। आधुनिक संस्करण में भी प्रथससमुल्लासः तो लिख दिया गया है पर इस पर वर्ण्य विषय का शीर्षक नहीं है। आर्याभिविनय में भी द्वितीय, प्रकाशः तो लिखा है पर प्रथमः प्रकाशः उल्लिखित नहीं है, पंचमहायज्ञविधि में भी प्रथमोयज्ञः नहीं लिखा गया और इसी प्रकार व्यवहारभानु में भी प्रथम प्रसंग में कोई शीर्षक नहीं है। हिन्दी तथा योरोपीय भाषाओं के कई ग्रंथकार प्रथम पृष्ठ पर पृष्ठ की संख्या का उल्लेख नहीं करते, इसी प्रकार प्रथमो अध्यायः आदि न लिखना स्वामीजी की अपनी विशिष्ट शैली है।

शुद्ध भाषा—स्वामीजी को आर्यभाषा का अभ्यास करने में कुछ कठिनाई अवश्य हुई, इसमें उनको कुछ समय भी लगा, पर जब वे इसमें पारंगत हो गये तो उन्होंने दिग्गजों के भी कान काटने प्रारम्भ कर दिये। उन्हें सभी से शुद्ध उच्चारण, शुद्ध विचार, शुद्ध आचरण तथा शुद्ध भाषा की अपेक्षा थी। व्याकरण का प्रगाढ़ ज्ञान तो उन्हें अपने गुरू से विरासत में ही मिला था। भाषा के आदर्श के विषय में उन्होंने संस्कृतवाक्यप्रबोध की भूमिका में लिखा, "और पढ़ने वाले भी एक वाक्य को पढ़के उसके सदृश अन्य वाक्यों की रचना भी करें कि जिससे बहुत शीघ्र बोध हो जाय, परन्तु वाक्य बोलने में स्पष्ट अक्षर शुद्ध उच्चारण सार्थकता देश और काल के अनुकूल जो पद जहाँ बोलना उचित हो वहीं बोलना....।"[1] अपने समस्त साहित्य में उन्होंने इन आदर्शों का पालन किया है। भाषा पर उनका इतना अधिकार हो गया था कि वे दूसरों की अशुद्धियां भी निःशंक होकर निकालने लगे थे। एक पत्र में आनन्द विजय आत्मारामजी को उन्होंने लिखा, "देखिये आप ऐसे विद्वान् होकर मूर्ख को मूर्ष लिखते हैं.... कितने शोक की बात है कि संस्कृत तो दूर रही देसी भाषा भी आप लोग नहीं जानते...."[2]

रूपरेखा बनाना—स्वामीजी अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक De Ouincey तथा R. L. Stevenson की भांति अफीम का गोला चढ़ाकर लिखने वाले नहीं थे और न वे लिखने से पूर्व 'शिवशम्भु शर्मा के चिट्ठे' के लेखक की भांति भांग खाने के अभ्यस्त थे। लिखने से पूर्व वे विषय की पूर्ण रूपरेखा तथा विषयसूची बना लेते थे और जो कुछ लिखते थे वह पूरी निष्ठा तथा पूर्ण योजना के आधार पर लिखते थे। वेदों का भाष्य करने से पूर्व उन्होंने 'चतुर्वेद-विषयसूची'[3] नाम से एक रूपरेखा तैयार कर ली थी। ऋग्वेद के आठवें अष्टक के आठवें

---

[1] संस्कृतवाक्यप्रबोध, भूमिका, पृष्ठ ६

[2] ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २७४

[3] 'चतुर्वेद विषय सूची' बहुत समय तक प्रकाशित रही। सन् १९७१ में श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा इसका प्रथम संस्करण निकला। इसका विस्तार ५।। × ८।। इंच के ११६ पृष्ठों में है। चारों वेदों का सूची पत्र इसमें पृथक् दिया गया है। इसमें केवल मुख्य बिन्दु (Points) ही दिये गये हैं। स्वामीजी के वेदभाष्य तथा उनके आशय को समझने के लिये यह ग्रन्थ परम सहायक है।

अध्याय के कुछ मंत्रों के संबंध में उन्होंने लिखा है, "४१-ईश्वराशीर्विद्या, ४२ गर्भाधानादिविद्या ४३ ईश्वराशीर्विद्या ४४ वाय्वादी पदार्थ विद्या।"[1] सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में उन्होंने पूरे ग्रंथ की रूपरेखा लिख दी थी। जहाँ उन्हें यह आशंका थी कि लोग उन्हें गलत समझेंगे वहीं उन्होंने एक ही ग्रन्थ में कई-कई अनुभूमिकायें भी लिखी हैं। जिस भाषा को वे नहीं जानते थे, यदि उस पर उन्हें लेखनी उठानी होती थी, तो सम्बद्ध ग्रंथों का भाषानुवाद वे पहले ही किसी योग्य व्यक्ति से करवा लिया करते थे। इसी योजना के अन्तर्गत उन्होंने कुरान तथा बाइबिल का हिन्दी अनुवाद करवाया था। इसी प्रकार 'संस्कारविधि' लिखने के पूर्व ही उन्होंने उसके उद्देश्य को भूमिका में स्पष्ट कर दिया है।

वैधानिक मस्तिष्क—जिस विषय पर भी स्वामीजी ने लेखनी उठाई है, उसमें उनके वैधानिक मस्तिष्क का परिचय है। कविवर नन्ददास की तरह एक-एक शब्द यथास्थान जड़ा हुआ है, थोड़ा-सा परिवर्तन भी आशय को अस्पष्ट कर देता है। आर्यसमाज के दसों नियमों से तो उनकी यह प्रतिभा दृष्टिगोचर होती ही है, गोकृष्यादिरक्षिणी सभा का यह विधान भी कम कानूनी नहीं है, "प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंग सभा में एक तिहाई से अधिक न हों।"[2] 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में अर्थ के संबंध में वे लिखते हैं "अर्थ वह है जो कि धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।"[3] उनके 'स्वीकारपत्र' में भी हमें उनकी इसी प्रतिभा के दर्शन होते हैं...."सब सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय हो या होवे और यदि सभासदों की सम्मति में विरोध रहे तो बहु सम्मति के अनुसार काम करें और सभापति की सम्मति को सदा द्विगुण समझें।"[4]

संश्लिष्ट वर्णन—स्वामीजी को कवि हृदय प्राप्त था, भावुकता उनके हृदय में थी पर इस भावुकता का प्रयोग उन्होंने नायिका के नखशिख वर्णन अथवा दुरारूढकल्पनाओं में नहीं किया। जीवन का उन्हें बड़ा विस्तृत और व्यापक अनुभव था, अतः जो चित्र भी उन्होंने खींचा वह अत्यन्त संश्लिष्ट, बिम्बग्राही एवं याथातथ्य है। कुछ उदाहरण प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये जाते हैं—

(क) "....क्योंकि जब शूद्र, चमार, भंगी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में ईख को काटते छीलते पीलकर रस निकालते हैं तथा मलमूत्रोत्सर्ग करके उन्हें बिना धोये हाथों से छूते, उठाते, धरते, आधा सांठी चूंस रस पीवे आधा उसी में डाल देते हैं और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं जब चीनी बनाते हैं तब पुराने जूते कि जिसके तले में मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं........।"[5]

(ख) जैसे मियांजी के रसोई के स्थान में कहीं कोयला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हांडी, कहीं जूंठी रकेबी, कहीं हाड-गोड पड़े रहते हैं और मक्खियों का तो क्या कहना?

---

१. चतुर्वेदविषयसूची—दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ ६२
२. गोकरुणानिधि, पृष्ठ १४ ३. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३८४
४. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३३१
५. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६६

वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे तो उसे वांत होने का भी संभव है.......।[१]

(ग) "....नाम तो धरा रामस्नेही और काम करते हैं रांड स्नेही का। जहां देखो वहां रांड ही रांड संतों को घेर रही हैं, यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती ? ये लोग अपने चेलों को जूंठ खिलाते हैं और स्त्रियां भी लम्बी पड़ के दण्डवत् प्रणाम करती हैं।"[२] इन वर्णनों को पढ़ कर सारा वातावरण सचित्र ही आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। वह दृश्य भी कम चित्ताकर्षक नहीं है जहां स्वामीजी ने बाजार में होने वाले ग्राहक और दुकानदार की सौदेबाजी का वर्णन किया है।

(घ) "(ग्राहक) छः आने गज दो और सच सच लेने देने की बात करो (बजाज) अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं चौदह आने दो। (ग्राहक) है तो टोटा परन्तु सात आने लेलो। (बजाज) अच्छा तो सच सच कहूँ। (ग्राहक) हां। (बजाज) चलो एक आना टोटा ही सही तेरह आने दो तुमको लेना हो तो लो। (ग्राहक) मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा।"[३]

स्थान-स्थान पर कथाओं का प्रयोग—स्वामीजी ने जो साहित्य सृजन किया है, वह पर्याप्त मननीय एवं गंभीर है। अपने भाषणों की ही भांति उसको प्रभावोत्पादक तथा रोचक बनाने के लिए उन्होंने यथा स्थान पर दृष्टान्त अथवा कथाओं का प्रयोग किया है।

(क) "एक प्रियदास का चेला भगवानदास अपने गुरु से बाहर वर्ष पर्यन्त पढ़ा, एक दिन उनसे पूछा कि महाराज ! मुझको संस्कृत बोलना नहीं आया, गुरु बोले—सुन बे ! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती किन्तु गुरु की कृपा से आ जाती है....संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देश भाषा में हों उन पर एक-एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं....भगवानदास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया—

बांधं आंजां नंमं स्कृंत्यं पंदं तंथैंवं चं।
मंयां भंगंवांनंदांसेंनं गींतांटीं कां कंरोंम्यंहंम्।।"[४]

(ख) साम्प्रदायिक साधु साधुत्व ग्रहण करने के बाद भी अपने जातीय स्वभाव को नहीं त्याग पाते। इसी बात को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं, "जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—राम नाम लड्वा गोपाल नाम घी। क्षैत्रिय साधु हो तो वह कहता है—राम नाम की ढाल बनाकर कृष्ण कटारा बांध लिया। यदि कोई साधु बनिये हुए तो यों कहते हैं—राम मेरा बांनियां समज करे व्यापार।"[५] इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण दयानन्द ग्रंथमाला श. स. के द्वितीय भाग के पृष्ठ ७५५ (लाल बुझक्कड़ की कथा), पृष्ठ ७५८ (अविद्वान् राजा तथा मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण का दृष्टान्त), पृष्ठ ७६२ (अंधेर नगरी

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ, १६९
२. वही, पृष्ठ २३२
३. व्यवहारभानु, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ७५५
४. वही, पृष्ठ ७४६ ५. पूना प्रवचन, पृष्ठ ९३

गवर्गण्ड राजा की कथा, पृष्ठ ७६५ (महाराज और बैंगन की कथा) तथा पं. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश के आर्यसमाज शताब्दी संस्करण के पृष्ठ ४५२, ५१६, ५३५, ५६५ पर क्रमशः वैरागी के दो चेले, जाट पोप कथा, परिकाल डाकू की कथा, नकटों का दृष्टांत आदि के रूप में देखे जा सकते हैं।

बहुज्ञता—रीति काल के प्रसिद्ध कवि बिहारी के संबंध में जिस प्रकार कहा जाता है कि वे बहुज्ञ थे, इसी प्रकार स्वामीजी के साहित्य से भी हमें उनके अनेकविध ज्ञान का परिचय मिलता है। अपनी पाठविधि में तो उन्होंने विविध विषयक अपने ज्ञान का परिचय दिया ही है, अन्य लेखों में भी उस ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं है। कुछ विषयों के ज्ञान की हम थोड़ी सी झलक नीचे के उप शीर्षकों में दे रहे हैं—

(क) गणित—शून्य आकाश, अदृश्य, अवकाश और बिन्दु को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ। इस शून्य में पदार्थ अदृश्य रहते हैं। जैसे एक बिन्दु से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार होने से भूमि पर्वतादि ईश्वर की रचना से बनते हैं...."[1] इस विषय का दूसरा उदाहरण उनकी गोकरुणानिधि से दिया जाता है। एक गाय की वंश वृद्धि तथा उपकारों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं "....एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नौ सौ अस्सी मनुष्य एक बार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ बार ब्याती है इसका मध्य भाग तेरह बार आया तो २५७४० पच्चीस हजार सात सौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भरके दूध मात्र से एक बार तृप्त हो सकते हैं...."[2] अंक, बीज और रेखा आदि गणित के भेदों का परिचय उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका[3] में दिया है।

(ख) भूगोल—उनके साहित्य में अनेक स्थलों पर हमें उनके भूगोल विषयक ज्ञान का परिचय उपलब्ध होता है। दिशाओं के ज्ञान के संबंध में लिखते हैं "जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ है, होगा, उसको पूर्व दिशा कहते हैं और जहां अस्त हो उसको पश्चिम कहते हैं। पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर दक्षिण और बाईं ओर उत्तर दिशा कहाती है....पूर्व दक्षिण के बीच की दिशा को आग्नेयी, दक्षिण पश्चिम के बीच को नैऋति, पश्चिम उत्तर के बीच वायवी और उत्तर पूर्व के बीच को ऐशानी दिशा कहते हैं।"[4] यूरोप का पुराना परिचय वे निम्न शब्दों में देते हैं—"जिन देशों का नाम इस समय यूरोप है उन्हीं को संस्कृत में हरिवर्ष कहते थे....अर्जुन का विवाह पाताल में जिसको अमेरिका कहते हैं वहाँ के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था।"[5]

(ग) वैद्यक—स्वामीजी को वैद्यक शास्त्र का ज्ञान भी कम नहीं था। आवश्यकता होने पर वे स्वयं तो अपनी चिकित्सा कर ही लेते थे, कभी-कभी ओषधि बताकर अपने भक्तों का भी रोग दूर कर देते थे। उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ ओषधि—'योगों का संग्रह' पं. लेखरामजी द्वारा रचित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन चरित' के एक परिशिष्ट में पृष्ठ १०३७ से

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १३४ [2] गोकरुणानिधि, पृष्ठ ३

[3] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—यु. मी., पृष्ठ १६४-१६५

[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३५ [5] वही, पृष्ठ १६४

१०३९ तक दिया हुआ है। श्री कृपाराम स्वामीजी को लिखे एक पत्र में स्वामीजी ने उन्हें दांत की एक ओषधि लिखकर भेजी है और लिखा है "इससे दांत पुष्ट रहेंगे, न हिलेंगे, न गिरेंगे, न पीड़ा होगी...."[1] चिकित्साशास्त्र के साथ रोग के निदान का भी उनको अच्छा अभ्यास था और इस विषय में कभी-कभी तो वे बड़े-बड़े डाक्टरों को भी चुनौती दे देते थे। हरिद्वार के कुंभ मेले पर स्वामीजी से वार्तालाप करने के लिये नैनीताल से एक यूरोपियन डाक्टर तथा रुड़की से एक मिलिट्री सर्जन आये थे। वहां के वातावरण को देखते हुए स्वामीजी ने उनसे कहा कि यहां तीसरे या चौथे दिन हैजा फैल जायेगा। दोनों चिकित्सकों ने कहा कि ऐसा कभी नहीं हो सकता किन्तु तीसरे दिन से हैजे का प्रकोप प्रारम्भ हो गया "Actually cholera did break out on the third day and several people died."[2] अन्त में स्वामीजी ने उसके प्रतिषेध का उपाय भी बताया।

(घ) इतिहास—स्वामीजी का इतिहास विषयक और विशेषकर भारतीय इतिहास संबंधी ज्ञान अद्भुत था। प्राचीनतम काल से लेकर उनके समय तक के इतिहास की उन्हें पर्याप्त जानकारी थी—"अब थोड़ा-सा इतिहास आर्यावर्तदेशीय राजवंश कि जिसमें श्रीमान् महाराज युधिष्ठिर से लेके महाराजे यशपाल तक (हुए हैं) का इतिहास लिखते हैं।"[3] "जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिश्रवालों, उनसे यूनानी, उनसे रूस और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।"[4] आदि इसके निदर्शन है। इस विषय में अपने विचारों का प्रतिपादन उन्होंने निर्भीक होकर किया है। वे लिखते हैं "उतने में दो जैन ऊपर से कथन मात्र वेदमत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपट मुनि थे, शंकराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनकी क्षुधा मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में फोड़े फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया।"[5] तथा........"इसी लक्ष्मण भट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ इसने भी पहिले विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहस्थाश्रम धारण किया और गोकुलनाथ विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया........।"[6] उन्होंने मूर्त्तिपूजा का श्रीगणेश जैनियों से माना है तथा कबीर को वे कुकर्म की सन्तान समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति भी की है, "इतिहास........इतिवृत अर्थात् अतीत वर्णन को इतिहास कहते हैं। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता है।"[7] एक अन्य स्थल पर उन्होंने इतिहास और पुराण के अन्तर को भी स्पष्ट किया है, "जहां-जहां प्रश्न और उत्तर पूर्वक कथा होवे, उसका नाम इतिहास है। और जहाँ-जहाँ वंशकथा होवे ब्राह्मण

---

[1] ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २९०

[2] लाइफ़ आॅफ दयानन्द सरस्वती—हरबिलास शारदा, पृष्ठ २२१

[3] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २५१

[4] वही, पृष्ठ १७४

[5] वही, पृष्ठ १८२

[6] वेदविरुद्ध मत खण्डनम्, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ८११

[7] पूना प्रवचन, पृष्ठ ८२

पुस्तकों में, उसका नाम पुराण है।"[1] पूना प्रवचन के अष्टम से लेकर तेरहवें प्रवचन का विषय इतिहास ही है।

(ङ) विज्ञान—वैदिक साहित्य के अद्वितीय व्याख्याता होते हुए भी स्वामीजी विज्ञान से अपरिचित नहीं थे। आजकल के अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों की सिद्धि उन्होंने वेद से की है। यदि किसी बर्तन को पानी भरकर पूर्णतया बन्द कर दिया जाये और उसे गरम किया जाये तो उसका परिणाम क्या होगा? इस विषय में वे लिखते हैं—"और जो उसका मुख सर्वथा बन्द किया जाए, तो क्या बर्तन टूट फूट वा न उड़ जायेगा?"[2] विज्ञान के सामान्य उपकरणों की चर्चा तो दूर रही, कुछ आधुनिक शोधकर्ताओं के अनुसार स्वामीजी ने परमाणु बम तथा हाइड्रोजन बम बनाने की अनुज्ञा दी है—"सूर्य की किरणों के समान आग्नेय अस्त्र बनायें।"[3] इस प्रकार उनके साहित्य में योग, ज्योतिष, नीतिशास्त्र आदि विभिन्न शास्त्रों का उल्लेख मिलता है।

काव्यशास्त्रीय ज्ञान—स्वामीजी रीतिकालीन अथवा संस्कृत कवियों के समान आचार्य नहीं थे, पर वे इनके तत्वों से परिचित अवश्य थे, अतः प्रसंग प्राप्त होने पर उन्होंने इस विषय की संक्षिप्त चर्चा अवश्य की है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लक्षणा को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं,........"जहाँ जहाँ असम्भव होता है वहाँ वहाँ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मंचान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मंचान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं.......।"[4] शब्द शक्ति के साथ-साथ उन्होंने अलंकारों की विवेचना की है। उपमा के वाचकलुप्ता, उपमानलुप्ता आदि आठ भेद बताने के बाद उन्होंने साधारण धर्म, उपमान, उपमेय आदि की परिभाषा दी है, इसके अनन्तर रूपक के भेदों की उन्होंने चर्चा की है—"इसके आगे दूसरे रूपकालंकार के छः भेद हैं। अधिकाभेद रूपक १, न्यूनाभेद रूपक २, अनुभयाभेद रूपक ३, अधिकताद्रूप्य रूपक ४, न्यूनताद्रूप्य रूपक ५ और अनुभयताद्रूप्य रूपक ६।"[5] इसी प्रसंग में उन्होंने श्लेषादि कुछ अन्य अलंकारों का भी विवेचन किया है। काव्यशास्त्र के दोषों से भी वे भलीभांति परिचित हैं। किसी की आलोचना करते समय यदि कहीं भाषा में दोष आया है तो वह उनकी दृष्टि से बच नहीं पाया है। एक प्रसंग में वे लिखते हैं......."क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है।"[6] एक अन्य स्थल पर उन्होंने सहजानन्द के काव्य में छन्दोभंगदोष दिखाया है,........"इस श्लोक में छन्दोभंग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छन्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी।"[7] भाषा शुद्धि का उन्हें इतना ध्यान था कि

---

[1] दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह—डा. भवानीलाल भारतीय, पृष्ठ ६१
[2] स्मारिका—आ. स्था. शता. समा. दिस. १९७५, पृष्ठ १८२
[3] महर्षि दयानन्द, एक पुनर्मूल्यांकन—हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ९७
[4] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ २७८
[5] वही, पृष्ठ ७१५-७१६
[6] वही, पृष्ठ ७९९—(वेदविरुद्धमत खण्डनम्)
[7] वही, पृष्ठ ८३९—(स्वामीनारायणमत खण्डनम्)

स्वल्प सी भी वर्तनी की अशुद्धि उन्हें खटक जाती थी। 'विस्तर' शब्द के संबंध में वे लिखते हैं, "विस्तर शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। विस्तर की जगह विस्तार शब्द लिखना चाहिये। कथन, श्रवण आदि अर्थों में ही विस्तार प्रयोग होता है।"[1] इसी प्रकार शुद्धाद्वैत शब्द को भी उन्होंने अशुद्ध बताया है "........शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण। जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्यकारण के एक स्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने में असंगत है। षष्ठीतत्पुरुष समास भी ठीक नहीं। क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकर हो सकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं है तो कार्यकारण रूप कहना व्यर्थ है........।"[2] एक कार्य जो उनका समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कोई नहीं कर पाया, वह है उनका स्वर निर्देश "स्वामी दयानन्द ने ही प्रथम बार वेदमन्त्रों के स्वरों का निर्देश किया है।"[3]

स्वामीजी कवि के रूप में—स्वामी दयानन्द को कवि हृदय तो प्राप्त था ही, पर कभी-कभी तो उन्होंने कविता भी की है। उनका क्षेत्र संस्कृत का था, अतः कविता का अंश संस्कृत में ही उपलब्ध है पर हिन्दी में भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा आशुकवित्व उनमें कूट कूट कर भरा था। सत्यार्थप्रकाश का निम्न दोहा इसका उदाहरण है—"गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव। भवसागर में डूबते, बैठ पथर की नाव।"[4] आचार्य केशवदासजी संस्कृत के ही कवि थे, पर उन्होंने हिन्दी का आंचल बड़े अनमनेपन से पकड़ा था, स्वामीजी ने हिन्दी के क्षेत्र में आकर किसी हीन भावना का अनुभव नहीं किया। गोस्वामी तुलसीदास ने भी हिन्दी का महाकाव्य रामचरित मानस लिखकर भी प्रत्येक काण्ड के प्रारम्भ में कुछ संस्कृत के पद दिये हैं। स्वामीजी ने भी अपने कई ग्रन्थों के प्रारम्भ अथवा उपसंहार में इस शैली का आश्रय लिया है। ग्रन्थ रचनाकाल की सूचना देने वाले इन संस्कृत छन्दों में उन्होंने कूट शैली का आश्रय लिया है। वेदविरुद्धमत खण्डन के अन्त में निम्न श्लोक मिलता है—

"शशिरामांक चन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः॥

"इस श्लोक में रचनकाल शब्द शशि (१) राम (३) अंक (९) तथा चन्द्र (१) हैं। 'अकांनां वामतो गतिः' के न्याय से यह संवत् १९३१ होता है। शेष मास, पक्ष, तिथि तथा दिन का नाम स्पष्ट ही है।"[5] इस पद्धति का अनुसरण उन्होंने आर्याभिविनय, आर्योद्देश्यरत्नमाला, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, गोकरुणानिधि आदि में किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत के कुछ स्वतंत्र पद भी बनाये हैं जिनमें वसन्ततिलका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, अनुष्टुप्, मन्दाक्रान्ता तथा वंशस्थ आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। एक स्थान पर उन्होंने चित्रकाव्य का भी प्रयोग किया है, पर यह शुद्ध संस्कृत का विषय है।

---

[1] स्वामिनारायण मतखण्डनम्, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ८४२
[2] वेदविरुद्धमतखण्डनम्, श. स., भाग दो, पृष्ठ ८१०
[3] ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ५५
[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०८
[5] ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ६७

उनके आशुकवित्व अथवा प्रत्युत्पन्नमतित्व का एक उदाहरण निम्न छन्द में देखा जा सकता है। पाराशरी के श्लोक 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी नववर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला, का उत्तर 'ब्रह्मोवाच' करके वे देते हैं "एकक्षणा भवेत् गौरी द्विक्षणे यन्तु रोहिणी। त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला।" भाषा इतनी सरल है कि हिन्दी के सामान्य जानकार भी इसे सरलता से समझ सकते हैं। यदि हिन्दी वालों को प्रसाद और हरिऔध की भाषा समझ में आ सकती है तो कोई कारण नहीं है कि उन्हें ये अंश समझने में कठिनाई हो। उनके आशुकवित्व का परिचय उनकी जीवनी के कई स्थलों पर मिलता है। एक मैथिली पंडित ने स्वामीजी से पुराणों के काव्य सौन्दर्य की चर्चा की। स्वामीजी ने हंसकर उत्तर दिया—"पण्डितजी ! तनिक लिखने का कष्ट करें। मैं अभी आपको कल्पित कथाओं के बीसियों श्लोक लिखवाये देता हूँ। स्वामीजी ने उसे अभी दस ही श्लोक लिखवाये हैं कि वह उन श्लोकों के वचन माधुर्य और पद-विन्यास के लालित्य पर ऐसा लट्टू हुआ........।"[१] इन उद्धरणों से इतना तो ज्ञात होता है कि उनमें कवित्व की प्रतिभा का अभाव नहीं था। उन्होंने किसी खण्डकाव्य अथवा महाकाव्य का निर्माण भले ही न किया हो पर उनका काव्यत्व उनकी रचनाओं में बिखरा पड़ा है।

शैली—उनकी शैली सामान्यत: व्याख्यात्मक शैली है, उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य ही प्राचीन वैदिक साहित्य का व्याख्यान करना था। वे शब्दों का सम्यक् रूप में प्रयोग करते थे, न कम और न अधिक। अपनी शैली के विषय में एक स्थल पर वे स्वयं लिखते हैं, "........विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो उतना ही लिखना उचित होता है न अधिक न न्यून........मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना योग्य हो वहां उतना ही लिखना।" उनका समस्त वेदभाष्य तथा अन्य वाङ्मय इस शैली का निदर्शन है। व्याख्या करते-करते उनकी शैली में उपदेशात्मकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगती है, "हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो परन्तु ऐसे दोष वाले मनुष्य को राजा कभी न करना........"[२] अथवा, "........जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुराचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्णविद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं.......।"[३] तथा "जो जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं उनका सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, विगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है उनके हाथ का ना खायें........।"[४] आधुनिक आलोचक उपदेशात्मकता को एक दोष मानते हैं किन्तु जो साहित्यकार के लिये दोष है वही किसी सुधारक, धर्म प्रचारक अथवा ऋषि के लिये गुण भी हो सकता है। स्वामीजी के साहित्य में कुछ लोगों को 'सुन्दरम्' का स्वर उतना निखरा हुआ भले ही न लगे पर उनके सत्यम् और शिवम् का कौन प्रतिषेध कर सकता है। साहित्य रचना का स्वामीजी का उद्देश्य अपना पांडित्य प्रदर्शन नहीं था, अपितु मानव मंगल ही था

---

[१] महर्षि दयानन्द —यदुवंश सहाय, पृष्ठ १८७

[२] संस्कारविधि, पृष्ठ २०३

[३] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०

[४] वही, पृष्ठ १६७

प्रसाद गुण—गम्भीर शास्त्रीय चर्चा से परिपूर्ण होने पर भी स्वामीजी में प्रसाद गुण का अभाव नहीं है। जो कुछ भी वे अभिव्यक्त करना चाहते थे, वह सभी को सरलता से समझ में आ जाता था, "श्रेष्ठ माता, पिता........से अभागे सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर-उधर लीला करेंगे ही, बाग में जाके नाच तमाशा करेंगे या वैरागी हो जायेंगे, पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है........"[1] अथवा "क्योंजी यहाँ तो मुसलमान लोग शराब को बुरा बतलाते हैं परन्तु उनके स्वर्ग में तो नदियां की नदियां बहती हैं। इतना अच्छा है कि यहाँ तो किसी प्रकार मद्य पीना छुड़ाया परन्तु यहाँ के बदले वहाँ उनके स्वर्ग में बड़ी खराबी है। मारे स्त्रियों के वहाँ किसी का चित्त स्थिर नहीं रहता होगा। और बड़े-बड़े रोग भी होते होंगे। यदि शरीर वाले होते होंगे तो अवश्य मरेंगे और जो शरीर वाले न होंगे तो भोगविलास ही न कर सकेंगे....।"[2] संभवतः पक्षपातशून्य न होने के कारण कुछ लोग इनकी विचारधारा से सहमत न हों, पर यह कहना तो असंभव ही है कि उनकी बात समझ में नहीं आती। इस सरलता के साथ-साथ उनकी शैली में कहीं-कहीं कवित्व भी जुड़ गया है जिसने उसमें चार चांद लगा दिये हैं...... "निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी-सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत-सी बकरियां चर रही थीं। झोपड़ियों और टूटे-फूटे घरों के द्वारा और छिद्रों में टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था, जो जाते हुए पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था। मैंने वहां एक विशाल वृक्ष के नीचे, जो एक झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था, रात्रि व्यतीत की........"[3] इस प्रकार के अनेक उदाहरण उनके साहित्य से दिये जा सकते हैं।

चलती भाषा—प्रसाद गुण के साथ-साथ उन्होंने चलती भाषा का भी प्रयोग किया है, वस्तुतः दोनों का चोली दामन का नाता है। कुछ उद्धारण हमारे कथन को स्पष्ट कर देंगे, "........महा ब्राह्मणों ने भी लूटा और भुक्कड़ों ने भी बहुतसा माल पेट में भरा अर्थात् जब सब क्रिया हो चुकी तब जाट ने जिस किसी के घर से दूध मांग मूंग निर्वाह किया। चौदहवें दिन प्रातःकाल पोपजी के घर पहुंचा। देखे तो गाय दुह बटलोई भर, पोपजी की उठने की तैयारी थी........"[4] तथा "....... जब तेरी सुनने की इच्छा हो तब हमको बुला लेना सुना देंगे, परन्तु आपसे आप मत बांच लेना नहीं तो अधर्मी हो जायेगा, जो कुछ भेंट-पूजा लाया हो सो धर के चला जा। और सुन ! हमारे वचन को मान ले नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी........"[5] इस प्रवाहपूर्ण भाषा में कहीं-कहीं व्यंग्य[6] का पुट भी है जिसने भाषा को और भी अधिक आकर्षक बना दिया है, "........अब घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परंतु

---

[1] व्यवहारभानु, श. स., भाग दो, पृष्ठ ७४२

[2] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३७१

[3] ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्म चरित्र, पृष्ठ ४४

[4] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २१८

[5] व्यवहारभानु, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ७४८

[6] स्वामीजी के हास्य-व्यंग्य पर इस अध्याय के अन्त में पृथक् रूप से विचार किया गया है।

हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी में गांठ न देंगे तो धर्म गया। अंगरखा लम्बा पहना गया, तो धर्म गया। खाने पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है। इन खाने-पीने की वस्तुओं ने तो वीरों को कायर बना दिया और चौका लगाकर बैठे-बैठे अपनी बढ़ाई पर चौका लग गया.........''[1] इस प्रवाहपूर्ण भाषा में कहीं-कहीं गालियों (अपशब्दों) का प्रयोग भी हो गया है, ''सुनिये महाराज ! हमको **साले** बैंगन से क्या लेना देना था........''[2] तथा ''........उन्हें **हरामी** या जाति से बाहर न समझा जाय........''[3] पहले प्रसंग में गाली का प्रयोग खुशामदियों की मनोवृत्ति दिखाने के लिये है, एक तो यह प्रयोग प्रसंग के अनुरोध से है दूसरा इसमें खुशामदियों के प्रति स्वामीजी का विक्षोभ भी दृष्टिगोचर होता है, दूसरे प्रसंग के संबंध में इतना ही कहना है कि जो बात स्वामीजी अभिव्यक्त करना चाहते थे उसके लिये इससे अधिक उपयुक्त शब्द कम से कम उस समय की भाषा में नहीं था। स्वामीजी के समकालीन लेखकों ने अपनी भाषा में अपशब्दों का जितना प्रयोग किया है, यह उसका शतांश भी नहीं है।

आवेशमयी शैली—स्वामीजी कोरे उपदेशक ही नहीं थे, जब अवसर आया है तो उन्होंने अपने भक्तिप्रवण हृदय का भी परिचय दिया है, उस समय उनकी भावुकता भक्तिकालीन कवियों को भी कई कदम पीछे छोड़ देती है। ''.........मैं अत्यन्त दीन होके यही मांगता हूं कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूं, हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणपितः, प्राणाधार, प्राणजीवन, सुराज्यप्रद। मेरे प्राण वाले आप ही हो, मेरा सहायक आप के बिना कोई नहीं है, हे महाराजाधिराज !........''[4] अथवा ''.....अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा क्या कहना किन्तु आर्य्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है भी सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्भिक्ष जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है.......''[5] यही आवेश देश को पतन की ओर ले जाने वाले आडम्बरप्रिय तथाकथित धार्मिक व्यक्तियों को अपना लक्ष्य बनाता है तो इसका स्वरूप सर्वथा परिवर्तित हो जाता है ''.........तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल कल्पना से हुई है,''[6] ''सुनो अन्धो ! पूर्ण परमात्मा न आता है और न जाता है.....''[7] ''वाह रे वाह भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़ ! क्या कहना तुमको, ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें सीखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अन्धा ही बन गया.........इन भागवतआदि पुराणों के बनाने वाले क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये ? वा जन्मते ही मर क्यों न गये ?.....''[8] स्वामीजी को व्यक्तिगत मानापमान की चिन्ता तो नहीं थी, पर जब जाति या देश के मानापमान का प्रसंग आता था, तब उनकी भाषा

---

[1] पूना प्रवचन, पृष्ठ १२४

[2] व्यवहारभानु—श. स., भाग दो, पृष्ठ ७६७

[3] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २२३

[4] आर्याभिविनय, श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ ३८-३९ [5] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १४१

[6] वही, पृष्ठ ४४ [7] वही, पृष्ठ १९६ [8] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २११

अत्यन्त रोषमयी हो जाती थी। यह कहना भी संभवतः अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि तब उनकी भाषा यदाकदा मर्यादा का उल्लंघन भी कर जाती थी, "यह वल्लभ का भूंकना है ··"[1] "सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट मिथ्या भूतप्रेत धर्म्मकथा प्रतिपादक दशम स्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है····परन्तु सहजानन्द भौंकता है,"[2] तथा "····कुछ दबना मत। खूब टुकड़े-टुकड़े उड़ा दो। ऐसा न होगा तो वे लोग बंध न होंगे····मुसलमानों के मुकद्दमे में सहायतार्थ रुपया आया था उसमें इन्द्रमणि ने क्या-क्या लीला की। सो तो आपको विदित ही है। फिर ऐसे का क्या लिहाज रखना····"[3] संभवतः ऐसे स्थलों को देख कर ही श्री जगन्नाथ शर्मा ने इस भाषा को "सीधी, तीव्र और लक्कड़तोड़ भाषा"[4] लिखा है।

लोकोक्ति तथा मुहावरे—स्वामीजी की ग्राहिका शक्ति पर आश्चर्य होता है कि अपरिचित भाषा होते हुए भी हिन्दी का न केवल पुस्तकीय ज्ञान ही प्राप्त किया अपितु बोलचाल के मुहावरों और लोकोक्तियों को भी उन्होंने अपनी भाषा में समाविष्ट कर लिया। दो-चार मुहावरे या लोकोक्तियां होतीं तो संभवतः कोई इस ओर ध्यान न देता, किन्तु यहां तो उन्होंने इनकी झड़ी ही लगा दी है। यदा-कदा मुहावरे तथा लोकोक्ति के स्वरूप में परिवर्तन भी कर लिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत लोकोक्ति तथा मुहावरों की संक्षिप्त सूची निम्न है—

"तेरी भी चुप मेरी भी चुप (सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १४२) उलटि चोर कोतवाल को दण्डे(सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १४७), पुरुषार्थ का चौका लगा कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं (सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १६५), रोटी खाइये शक्कर से दुनियां ठगिये मक्कर से (सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २४७) लल्लो पतो की बातें सुनकर (वही, पृष्ठ २५०), लम्बी चौड़ी बातों के हांकने में (वही, पृष्ठ २८२), हिये की आंख फूट गई है (वही, पृष्ठ ३२८), जैसे को तैसा मिले (वही, पृष्ठ ३५३), काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो (संस्कारविधि, पृष्ठ २७), मेरी दाल न गलेगी (व्यवहारभानु, श. स., भाग २, पृष्ठ ७६१), यहां चोर कोटपाल को दंडे, टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट-पत्थर फैंकने वाले के तुल्य, झूठे गाल बजाने—भ्रमोच्छेदनम् (वही, पृष्ठ ८५६), जाट खाट और कोल्हू लौट कर आप ही के शिर पर चढ़े वा नहीं ? (वही, पृष्ठ ८५७), जैसा बैल के सामने अत्यन्त निपुण गान गाने वाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है (वही, पृष्ठ ८८६), दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है (वही, पृष्ठ ८६८), अपना अपना छप्पर अपने अपने हाथ से छाने की फिकर की—(भ्रान्तिनिवारण, भूमिका-श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ८७२), हल्दी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे (वही, पृष्ठ ८७६), पंडितजी ने मन के गुलगुले खाये हैं (वही, पृष्ठ ८७८), क्योंकि नाच न आवे आंगन टेढा (दयानन्दशास्त्रार्थसंग्रह, पृष्ठ १७९), इस अंधा की भीतर और बाहर की दोनों फूट गई आंख (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३१), घसड़ पसड़

---

१. वेदविरुद्धमतखण्डनम्, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ८०८

२. स्वामीनारायण मतखण्डनम्, श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ८३७

३. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३४५

४. हिन्दी की गद्य शैली का विकास—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृष्ठ ६०

हो के रह जाय (वही, पृष्ठ २९९), सिवाय परोक्ष में गाल बजाने के (वही, पृष्ठ २४१), जैसा भूतनाथ वैसा प्रेतनाथ (वही, पृष्ठ ३७२), कहां राजाभोज कहां गांगा तेली ? (वही, पृष्ठ ४६८), न दे तो उसके नाम पर धूल डालो (वही, पृष्ठ ४८४), क्योंकि बड़े बड़े तो बिगड़ कर तेल के बड़े हो जांय····(वही, पृष्ठ ४९१) आदि । यह सूची भी उनके कुछ ग्रन्थों का स्वल्पांश ही है । इन मुहावरों तथा लोकोक्तियों ने उनकी भाषा के प्रवाह एवं प्रभविष्णुता में वृद्धि की है तथा भाषा को सजीव बनाया है ।

सूक्तियां एवं परिभाषायें—स्वामीजी ने जिस विषय पर भी लेखनी उठाई वे उसके संबंध में संशयग्रस्त नहीं हैं, उनकी दी हुई अथवा बताई हुई शब्दों की परिभाषा से भले ही कोई सहमत न हो, पर उनमें स्वामीजी का दृष्टिकोण तो स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है । कुछ शब्दों की परिभाषा देना यहां अनुपयुक्त न होगा ''श्रेष्ठ—श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो गुण कर्म, स्वभाव और सत्य सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो ।''[1] ''सरस्वती—जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे''[2], ''अतिथि—जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छलकपट रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं उनको अतिथि कहते हैं''[3], ''पुण्य—जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्य भाषणादि सत्याचार का करना है उसको पुण्य कहते हैं ।''[4] उनके साहित्य में अनेकों ऐसे स्थल हैं जो सूक्तियों का कार्य करते हैं ''जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये ।''[5] ''····विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है ।''[6], ''चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य ही मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें''[7], ''ब्रह्मचर्य के कारण शरीर बल और बुद्धि बल प्राप्त होता है ।''[8] उनकी परिभाषायें मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं तथा उनकी सूक्तियां हृदयस्पर्शी होती हैं । उनकी सूक्तियों में मस्तिष्क एवं हृदय का मणिकांचन संयोग है ।

शब्दचयन एवं नवीन शब्द निर्माण—''आर्यसमाज आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती की भाषा संस्कृत गर्भित है, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं ब्रजभाषापन भी मिल जाता है ।''[9] डा. वार्ष्णेय का उक्त कथन सत्य होते हुए भी पूर्ण नहीं है । संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रचुरता होने पर भी उसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी उपलब्ध हो जाते हैं, वे गुजराती थे अतः उनकी भाषा में यदा-कदा गुजराती शब्दों का प्रयोग हो जाना अस्वाभाविक नहीं है । उन्होंने पूरे देश का कई बार

---

[1] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५ [2] वही, पृष्ठ ११

[3] पंचमहायज्ञविधि, श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ ८८९

[4] आर्योद्देश्य रत्नमाला, श. स., प्रथम भाग, पृष्ठ ८९१

[5] गोकरुणानिधि, पृष्ठ ११ [6] सत्यार्थप्रकाश, भूमिका, पृष्ठ २

[7] संस्कारविधि, पृष्ठ २४५

[8] दयानन्द सूक्ति और सुभाषित—सं. जगदीश विद्यार्थी, पृष्ठ १२७

[9] आधुनिक हिन्दी साहित्य—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ १२१

भ्रमण किया था अतः मराठी, ब्रज, बंगाली आदि कई भाषाओं के शब्द भी उनके साहित्य में अनायास आ गये हैं। कुछ शब्द मौलिक रूप में आये हैं और कुछ का स्वामीजी ने संस्कार कर दिया है, कुछ शब्द विचित्र भी प्रतीत होते हैं। ऐसे शब्दों की सूची बड़ी लम्बी है फिर भी उनमें से कुछ को नीचे दिया जा रहा है—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—"विलाय (विलीन के अर्थ में) पृष्ठ ७७, सभों (सब) १०९, खन (खोदकर) १४४, सच्चिकन (चिकने) ११४, उपरली वा बिचली १२१, बूसा (भूसा) १४५, सैकड़ह हजारह १५१, घुमड़ि घुमड़ि के १७३, गेरी हुई (गिराई हुई) १८४, गेरकर (गिराकर)।" सत्यार्थप्रकाश के निम्न शब्द भी दर्शनीय हैं—"मनसा से देखेगा भूमिका पृष्ठ ४, बड़ों को मान्य दे १८, मृतस्त्रीक पुरुष ७२, प्रतिभू अर्थात् जामिन ८७, बड़ीया करते हैं १२४, कुलुम्बस (कोलम्बस) प्रतीकें १२७, धरी १२७, पड़दा (पर्दा) १४७, पिशान १६६, सूधा १७५, मकानात १७६, जियाफत १७६, पर्सन (स्पर्श) १९४, गप्फा १८०, मर्ची (मिर्च) २०६, जाजरु २०६, बंगाले (बंगाल) २२१, ऊंदरों (चूहों) २२३, पूजारी २२३, सक्कर २३२, धोके (धोकर) २३२, बर्डानि २६२, जीओगे २८१, भूंदू (भोंदू) २८२, पोकल २८२, बाफ (भाप) २८८, जाजरु (२८९), निलोति (२९१) सौंप (सोंफ) २९१, आंतरे (अन्तर) २९५, बाटला, हण्डेचुड़ते २९७, सन्ति ३०१, लूंच (नोंचना) ३०८, टोटे टामन ३१०, कढाकूट ३४२, सैल (सैर) ३७९।" इसी प्रकार कुछ शब्द संस्कारविधि में भी देखे जा सकते हैं—"शहत (शहद) पृष्ठ १५, मासा (माशा) २३, चमसा (चमचा) २३, जिमाना २७, तूअर (अरहर) ४५, सूंठी (सोंठ) ४५, पधारें (जायें) ७६, उपन्ना (अंगोछा) ९१, धाणी (धान) १५८, सूपड़ा (सूप) जमणे (दाहिने। बायें) १५९। इसी प्रकार के अन्य अनेक शब्द दयानन्द ग्रन्थमाला के दोनों भागों में भी मिलते हैं।

यदि उनकी प्रारंभिक रचनाओं से कुछ विचित्र शब्दों का संचयन किया जाये तो वे शब्द विस्मयकारी प्रतीत होंगे। उनके पत्र व्यवहार के कुछ शब्द निम्न हैं 'दवाइत और छतरी भेजा' पृष्ठ २९, जे (जो) ४२, भ्वां सैं (वहां से) ४७, इहां सैं, आपु (आप) ४७, रमाने करि (रवाना कर) ४७, कधी अनोदक (कभी अन्नोदक) ४८, उनने (उन्होंने) ७१, अन्त पर (अन्त में) ७३, कल्ल (कल) ९९, ईर्शक (ईर्ष्यालु) ९९, तव्ही १२५, मेरा ठिकाना छपे करा परचे में १६१, टाटल पेज, शरकारी २०९, क्लंक (कलंक) २३५, बहोत (बहुत), स्पुर्द (सुपुर्द), शिघ्र २४६, फुंडरी ३५४, डरपुकनों ३६५, सोविता (सुभीता) ३७५, तुमारी (तुम्हारी) ५०४ शिघ्रोतर ५०४, शायत् (शायद) ५२४।" "इसके अतिरिक्त उनके पत्र व्यवहार में उर्दू के भी अनेकों शब्दों का प्रयोग है यथा—"तादाद, वाकिफ ९४, खिदमत शरीफ ११७, मजकूर ११७; वराय इनायत दस्तखत ११७, इस्तकबाल ११९, बजरिये मुअजिज रईसान १२०, बखूबी पाबन्द १२१, दीगर साहिबान १२१, तहरीर १३५, कैफियत १३५, अनफरीब बशरते दस्तयाबी अरसाल खिदमत होगी १८२, आदि।" इनमें से कुछ शब्द अशुद्ध भी हैं, पर उनकी ग्राहिका शक्ति का परिचय अवश्य देते हैं। यदि कबीर की भाषा को आलोचक पंचमेल खिचड़ी कहते हैं, तो इसमें उनसे भी अधिक भाषाओं का मेल दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त शब्दों की तालिका से उनकी ग्राहिका शक्ति का परिचय भले ही मिल जाये, पर ये उनकी प्रतिभा का परिचय कराने में असमर्थ हैं। उनकी प्रतिभा वहां द्योतित होती है जहां वे शब्दों का निर्माण अपने ढंग से करते हैं या शब्दों की परिभाषा अपने अनुरूप कर लेते हैं। "मुंशी समर्थदान को उन्होंने मनीषी समर्थदान के रूप में परिणत कर लिया, मैक्समूलर ने उनके साहित्य में मोक्षमूलर का स्थान पाया और फतहकरण का स्थान त्रिजयकरण ने ले लिया।"[1] उन्होंने ताराख्य यंत्र, प्राड् विवाक (वकील), महद्राजसभा, शैलकान्तारसम्बन्धिनी सभा, शर्करावत् (शरबत) आदि नवीन शब्दों का निर्माण किया। प्रचलित शब्दों को उन्होंने नया अर्थ भी दिया यथा "पोप = इसकी सूचना रूमन् भाषा में तो बड़ा और पिता का नाम पोप है परन्तु अब छलकपट से दूसरे को ठगकर अपना प्रयोजन साधने वाले को पोप कहते हैं।"[2] "तिलक = यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हों तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिए।"[3] "पुजारी (पूजारि) = पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार उसका जो अरि नाम शत्रु यह पुजारी शब्द का अर्थ है।"[4] "दण्डवत् = दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो उसको दण्डवत् कहते हैं यह 'दण्डवत्' शब्द का अर्थ है।"[5] उपर्युक्त शब्दों में कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति व्यंग्य अथवा विरोधी के उपहास के लिये की गई है, पर इससे उनकी नवीन शब्द निर्माण की अद्भुत शक्ति का परिचय अवश्य मिलता है।

आत्मकथा के लेखक के रूप में—संस्कृत साहित्य तथा हिन्दी साहित्य में जीवनियां तो पर्याप्त मिलती हैं, पर आत्मकथा-लेखन अपेक्षाकृतनवीन विधा है। प्राचीन साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को कम महत्त्व देते थे और साहित्य को अधिक, अतः उनके व्यक्तित्व के संबंध में आज भी जो थोड़ा बहुत ज्ञान मिलता है, वह प्रामाणिकता के आधार पर अधिक विश्वसनीय नहीं है। उसमें साहित्यिकता अधिक मिलती है, श्रद्धा का पुट पर्याप्त होता है पर तथ्य निरूपण अधिक विश्वसनीय नहीं होता। और तो और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी अपने चरित्र नायकों के चित्रण करने में तटस्थ नहीं, "यदि भारतेन्दु के जीवनी साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो उसमें कई त्रुटियां दृष्टिगोचर होती हैं, जहाँ तक चरित्र चित्रण का प्रश्न है, उन्होंने किसी भी अपने चरितनायक का विस्तृत रूप से वर्णन नहीं किया....इनके चरित्र चित्रण में वह तटस्थता नहीं जो कि एक जीवनी लेखक की जीवनी में होनी चाहिए····।"[6] डा. श्रीमती खन्ना ने स्वामीजी की दो एक जीवनियों 'आर्यधर्मेन्द्र जीवन', 'दयानन्द चरितामृत' आदि की चर्चा अवश्य की है, पर न जाने क्यों स्वामीजी के आत्मलिखित जीवन चरित्र का उसमें कहीं उल्लेख नहीं है। यों स्वामीजी की लगभग एक दर्जन जीवनियां हिन्दी भाषा में ही उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ तो काफी विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण हैं। यह भी संभव है कि आत्मकथा-

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४१०

२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १७५

३. वेदविरुद्धमतखण्डनम्—श. स., द्वितीय भाग, पृष्ठ ७८१-८२

४. वही, पृष्ठ ८०६ ५. वही, पृष्ठ ८०७

६. आधुनिक हिन्दी का जीवनी परक साहित्य—डा. शान्ति खन्ना, पृष्ठ १०१

लेखन के क्षेत्र में यह अभिनव प्रयोग हो अथवा आत्मकथा लेखन जीवनी परक साहित्य से कोई भिन्न वस्तु हो अथवा इसमें साहित्यिकता का अभाव समझ कर उन्होंने इसकी चर्चा न की हो। वैसे भी हिन्दी के महान साहित्यकारों में स्वामीजी तथा उनकी रचनाओं की ओर ध्यान कम ही दिया है, अतः किसी भी शोधकर्ता का उस ओर से तटस्थ हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

'ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्म चरित' यदि विधा के रूप में स्वामीजी का नवीन प्रयोग है तो इसकी जितनी सराहना की जाये कम है, यदि इस दिशा में स्वामीजी का प्रयास प्रथम नहीं है तो भी अपने गुणों के कारण यह छोटी सी रचना उपेक्षणीय नहीं है। यदि इसके ऐतिहासिक महत्त्व को हम थोड़ी देर के लिये दृष्टि से ओझल भी कर दें तो भी अपनी साहित्यिक विशेषताओं के कारण यह आकर्षण का विषय है। स्वामीजी आत्मप्रशंसा अथवा आत्मविज्ञापन के अभिलाषुक नहीं थे, यह रचना उन्होंने कर्नल आल्काट के अनुरोध पर उनकी पत्रिका में छपने के लिए प्रेषित की थी। इस रचना में तथ्यनिरूपण भी है और आत्माभिव्यक्ति भी, "गुजरात देश में दूसरे देशों की अपेक्षा मोह विशेष है। यदि मैं इष्ट मित्र, भाई-बन्धु की पहचान दूं या पत्र व्यवहार करूं तो मुझे बड़ी उपाधि होगी। जिन उपाधियों से मैं छूट गया हूँ, वही उपाधियां मेरे पीछे लग पड़ेंगी····।"[1] तथ्यों का निरूपण कितनी सरल भाषा में किया गया, "मैंने पांचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था···· ।"[2]

सारा संसार जानता है कि उन्हें मूर्त्तिपूजा से विरक्ति क्यों हुई, पर छोटे से बच्चे के मन में वह भाव कैसे आया होगा, उसने क्या-क्या मनन किया होगा, उसका वर्णन कितनी मनोरम और अकृत्रिम शैली में किया गया है, "····अतः चूहे की यह लीला देख मेरी बालबुद्धि को ऐसा प्रतीत हुआ कि जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े-बड़े प्रचण्ड दैत्यों को मारता है, क्या उसमें एक निर्बल चूहे को भगा देने की शक्ति नहीं?"[3] कदम कदम पर उनके हृदय की उत्सुकता दिखाई पड़ती है, छोटी बहिन और चचा की मृत्यु और फिर अपनी मुक्ति का उपाय सोचना, सभी घटनायें आँखों के सामने चलचित्र की भांति गुजरती चली जाती हैं। पाठक भाव में इतना विभोर हो जाते हैं कि भाषा सौष्ठव की ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं। संसार यात्रा के इस पथिक के हृदय में कितनी निश्छलता तथा भोलापन था, उसका वर्णन उन्होंने कितनी सादगी से किया है, "जो मेरे पास थोड़े से रुपये, अंगूठी आदि भूषण था, वह सब पोपों ने ठग लिया, कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होंगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दोगे। उनके कहने से मैंने सब दे दिया।"[4]

उपर्युक्त वर्णन स्वाभाविक होते हुए भी सामान्य है। कोई भी सहृदय कलाकार उसका चित्रण कर सकता था, पर फिर जिस दृश्य का वर्णन किया गया है वहाँ कल्पना तो पहुंच सकती है, स्वयं पहुंचने का साहस जुटाना दुष्कर है। दूसरी समस्या यह है कि जो वहाँ तक पहुंचते हैं वे वर्णन नहीं करते, जो वर्णन करते हैं वे पहुंचे हुए नहीं होते, "कुछ दूर तक चलकर मेरा गमन एक ऐसे घने वन में हुआ, जहाँ के शैल खण्ड वण्ड और नाले भी शुष्क

---

[1] ऋषि दयानन्द स्वरचित जन्म चरित्र, पृष्ठ १

[2] वही, पृष्ठ ३ [3] वही, पृष्ठ ६-७

[4] ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित जीवन चरित्र, पृष्ठ १४

और वहाँ से आगे को मार्ग भी न चलता था····पर चोटी की उच्चता और कठिनता के विचार से मैंने सोचा कि पर्वत की चोटी पर चढ़ना असंभव है····अगम्य पहाड़ियों, टीलों और जंगल के अतिरिक्त जिसमें मनुष्य का गमन असम्भव था अब कुछ दिखाई न पड़ा····बड़े-बड़े कांटों में उलझ उलझकर वस्त्रों की धज्जियां उड़ गईं और शरीर भी क्षत हो गया और पांव भी लंगड़े हो गये····''[१] सारा वर्णन अभिधा में है, पर हम चाहें तो उसका रूपकात्मक अर्थ भी ले सकते हैं—पूरा संसार ही घना वन है, बाधाओं के विशाल शैलखण्ड उसमें स्थित हैं, किसी पथ प्रदर्शक के अभाव में व्याघात बढ़ते जाते हैं और मंजिल दूर हो जाती है और अन्त में साधक को विषाद, निराशा और दीनता के अतिरिक्त क्या मिलता है। यह उदाहरण एकाकी नहीं है, खोजने वाला हृदय यदि हो तो अनेक उदाहरण यहाँ दृष्टिगोचर होंगे।

कुछ दृश्य तो ऐसे हैं जिन्हें देखकर यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि लेखक की मातृभाषा हिन्दी के अतिरिक्त कुछ और है, जिनमें प्रचारक और सुधारक का रूप तिरोहित होकर कवि कल्पना सुस्पष्ट हो जाती है, "पर्वत मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुए थे, और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी....अपने आपको सर्वथा अपरिचित और अनजान जाना....।''[२] फिर दृश्य ऐसा आता है जिसे पढ़कर हृदय स्तब्ध हो जाता है, कोमल चित्त वालों के नयन भी सजल हो जाते हैं,....''कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुआ कि उसका सहन करना असंभव था, क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो मैंने हिम का टुकड़ा खा कर उसको बुझाने का विचार किया, परन्तु उससे किंचित् आराम व सन्तुष्टि प्रतीत न हुई। पुनः नदी में उतर उसे पार करने लगा।''[३] वर्णन कुछ ऐसी शैली में किये गये हैं कि वे रोचक भी प्रतीत होते हैं और उत्सुकता को भी बढ़ाते जाते हैं। संभवतः ऐसे स्थलों के संबंध में किसी आलोचक ने कहा है—"Facts are stranger than the fiction."

आत्मकथा के लेखक को गुण तथा दोष दोनों का उल्लेख करना चाहिए, यदि उसमें दुर्बलता का समावेश न हो तो यह आत्मप्रशस्ति मात्र ही रह जायेगी। वैसे भी सहृदयजनों को दूसरे की उन्नति में उतनी ही प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती जितनी उनकी दुर्बलताओं में। अपनी मानवीय दुर्बलताओं का चित्रण करने में भी स्वामीजी ने संकोच नहीं किया है—"मैंने उनसे कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूं" तथा "दुर्भाग्यवश वहाँ मुझे एक बड़ा दोष लग गया अर्थात् भांग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई बार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता....।''[४] इसमें वर्णित सभी घटनायें अक्षरशः सत्य हैं, पर अपनी नैसर्गिकता एवं शैली की मनोरमता के कारण औपन्यासिकता का भ्रम करा देती हैं, "....मुझे कोई झोपड़ियों और कुटियायें दिखाई पड़ीं। उनके चारों ओर गोबर के ढेर लगे हुए थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी-सी नदी थी उसके तीर पर बहुत सी बकरियां चर रही थीं। झोपड़ियों और टूट-फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों में से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था, जो जाते हुए पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता

---

[१] ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित जीवन चरित्र, पृष्ठ २७-२८

[२] वही, पृष्ठ ३१

[३] वही, पृष्ठ ३२

[४] वही, पृष्ठ ३९

था । मैंने वहीं एक विशाल वृक्ष के नीचे "जो एक झोपड़ी के ऊपर फैला हुआ था, रात्रि व्यतीत की ।"[1] स्वामीजी की अकाल मृत्यु ने उनकी यह कथा पूरी नहीं होने दी, केवल "और मैंने जो उपकार करना निश्चित किया है, जहां तक बन सकेगा, आमरण तक करूंगा, पुनर्जन्मान्तर में भी ।"[2] कह कर उन्होंने इसका पटाक्षेप कर दिया । यह अपूर्ण तथा लघु रचना भी अपने अभिनव प्रयोग की दृष्टि से महान् है, इसमें जीवन के घात-प्रतिघातों का समावेश, मानवीय दुर्बलताओं और शक्तियों का सशक्त चित्रण, शैली में मनोरमता, प्रसाद गुण, नैसर्गिकता तथा प्रभावोत्पादकता का सम्मिश्रण है, इसमें कवि, कथाकार तथा इतिहासकार के तत्त्व एक साथ उपलब्ध होते हैं । अलंकारविहीन होते हुए भी यह आकर्षक है, छन्दोविहीन होते हुए भी गतिमय है, सामान्य होते हुए भी विशिष्ट है, क्षीणकाय होते हुए भी महिमामय है, पराये होते हुए भी अपनी सी लगती है, किसी की आलोचना न होने पर भी मननीय है, रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किये बिना भी सरस है, गीतात्मकता का अभाव होते हुए भी मधुर है । सर्वाधिक विस्मयकारी बात तो यह है कि इतनी विशेषताओं से युक्त होने पर भी यह हिन्दी गद्य की सर्वप्रथम आत्मकथा है, "हिन्दी गद्य की सर्वथ प्रथम[3] आत्मकथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखी है ।"[4]

हृदय की आवाज—स्वामीजी ने जो कुछ भी लिखा वह तर्क पर आश्रित है, उनमें मस्तिष्क का प्राधान्य है, पर ऐसे स्थल भी उनके साहित्य में हैं जहां हृदय का पलड़ा भारी है । बात सीधी हृदय से निकलती है और सहृदय को प्रभावित करती है, इसके लिये कोई श्रम, कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, सब कुछ अनायास हो जाता है । कुछ उदाहरणों से यह कथन पुष्ट हो जायेगा, "सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करें कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें और स्वार्थपन से पक्षपात मुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें ।...."[5] "लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो । कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा । अरे ! चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो हम तो सत्य ही कहेंगे ।"[6] दोनों ही उद्धरणों में हृदय की आवाज है और उनकी निर्भीकता तथा परार्थ की कामना है । ऐसे स्थल भी आये हैं जहां लोगों को विश्वास दिलाने के लिये उन्होंने तर्क का आश्रय नहीं लिया है अपितु अपने हृदय की आवाज का उद्घाटन किया है । स्वामीजी को लगभग धमकीपूर्ण स्वरों में कहा गया कि स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी तथा काशी के अन्य विद्वान् मिल कर आपसे शास्त्रार्थ करेंगे तो क्या होगा ? स्वामीजी ने उत्तर दिया "मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूं कि जो वे ऐसा करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सबको विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे ।"[7] संभवतः ऐसे उद्धरणों से प्रभावित उनकी

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित जीवनचरित, पृष्ठ ४४ २. वही, पृष्ठ ५३

३. बनारसीदास जैन ने पद्य में प्रथम आत्मकथा लिखी—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास —डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, पृष्ठ ५१९

४. हिन्दी गद्य साहित्य—डा. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे, पृष्ठ २९६

५. गोकरुणानिधि भूमिका, पृष्ठ २ ६. आर्यसमाज का इतिहास, पृष्ठ ११४

७. भ्रमोच्छेदनम्—श. स. द्वितीय भाग, पृष्ठ ८६७

भाषा के संबंध में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है—"ऋषि की भाषण शक्ति स्वाभाविक थी, उसमें बनावट या यत्नपूर्वक भाषा निर्माण का नाम नहीं था। जो कुछ था, हृदय का शब्द था, एक निर्भय ग्रात्मा का उद्‌गार था। यही कारण था कि ऋषि का भाषण सदा नया, सदा मनोरंजक ग्रौर सदा शिक्षाप्रद होता था।"[1]

हास्य-व्यंग्य

हास्य-व्यंग्य भाषा शैली का ही एक अंग है, तदपि महत्त्वपूर्ण होने के कारण हमने इसका पृथक् उल्लेख किया है, दूसरी ग्रोर स्वामीजी की शैली के इस पक्ष की ग्रोर ध्यान भी बहुत कम लोगों ने दिया है। ग्राधुनिक परिभाषा के ग्रनुसार स्वामीजी हास्य-व्यंग्यकार नहीं थे, यह उनके जीवन का लक्ष्य भी नहीं था। इस दिशा में उन्होंने जो कुछ भी किया है वह ग्रानुषंगिक है, ग्रनायास है। उनसे पूर्व जो हास्य हिन्दी में उपलब्ध होता है, वह प्रायः पद्य में है ग्रौर प्रायः उत्कृष्टकोटि का नहीं है। शृंगार को तो प्रायः रसराज कहा ही जाता है, भवभूति 'एकोरसः करुण एव निमित्तभेदात्' के रूप में करुण को प्रधानता देते हैं, कुछ साहित्यकार यह 'चमत्कारसारत्वे सर्वत्राणद्‌मुतारसः' के नाम पर शीर्ष स्थान ग्रद्‌भुत रस को देना चाहते हैं, पर श्री गुलाबरायजी हास्य को ही 'रसराज हास्य' की संज्ञा से विभूषित करते हैं। उनके दृष्टिकोण से "रस का प्राण ग्रानन्द में है, ग्रानन्द का मूल प्रसन्नता है ग्रौर प्रसन्नता हास्य में प्रत्यक्ष ग्रौर मूर्त्तिमती हो जाती है।"[2]

शब्दों की नई व्युत्पत्ति—स्वामीजी का व्याकरण पर ग्रसीम ग्रधिकार था, शब्दों की नवीनतम व्युत्पत्ति में वे ग्रतिनिष्णात थे। जब उन्होंने चाहा हिन्दी के शब्दों को ग्रपने ग्रभिप्राय के ग्रनुसार तोड़कर नई व्युत्पत्ति का निर्माण कर लिया। उनकी ग्रनोखी सूझ के कुछ नमूने निम्न हैं—

(क) "एक किसान हल बैल लिये खेत से लौट रहा है। उसने संन्यासी से कहा—"महाराज दण्डवत्।" स्वामीजी मुस्कराते हुए बोले—"बच्चा दण्डवत् तुम ही होंगे, मैं तो मनुष्यवत् हूं।"[3]

(ख) स्वामीजी की दृष्टि उनकी (भक्त गंगाप्रसाद) भुजा पर पड़ी। उसमें कुछ लिपटा हुग्रा देखकर पूछा—"ग्रापकी बांह में क्या बंधा है?" वे बोले—यह ग्रनन्त है। स्वामीजी झट से उसे नापकर बोले—"यह ग्रनन्त कहां? यह तो कुछ ही अंगुल का है।"[4]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में 'दण्डवत्' तथा 'ग्रनन्त' को श्लिष्ट बनाकर कितने सरल हास्य की ग्रभिव्यक्ति की है। ग्रावश्यकता होने पर उन्होंने 'हर की पैढी' को 'हाड़ पैड़ी'[5] बना लिया है, बाबाजी का ग्रर्थ उन्होंने "वा (विकल्पे) वानी—ग्रश्व का ग्रश्वतर"[6] ग्रर्थात् घोड़ा

---

[1] ग्रार्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ११४

[2] मेरे निबन्ध—जीवन ग्रौर जगत—गुलाबराय एम. ए., रसराज हास्य, पृष्ठ १४४

[3] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ ६०

[4] वही, पृष्ठ १०५

[5] सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०५

[6] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, द्वितीय भाग—घासीरामजी, पृष्ठ २२८

अथवा खच्चर किया, इसी प्रकार उनकी 'गोसाईं' शब्द की व्याख्या भी कम विचित्र नहीं है, "गो नामक पशुगुणयुक्त साईं शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करें धर्म न्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे वह गोसाई कहाता है।"[1]

अन्य रसों की भांति हास्य के भी दो पक्ष होते हैं अर्थात् १. आश्रय और २. आलम्बन। स्वामीजी तो तटस्थ भाव से रसवृष्टि करते हैं—आश्रय होते हैं सहृदय सामाजिकगण अर्थात् उनके पाठक या श्रोतागण और आलम्बन होता हैं उनका विपक्षी अथवा उसका कथन। साधारण सी बात में भी जरा सा मोड़ देकर वे चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। एक बार स्वामीजी ने एक नाई द्वारा प्रदत्त रोटी को खाना प्रारंभ किया, इस पर कुछ लोगों ने स्वामीजी से कहा—"छिः छिः आप ब्राह्मण होकर यह क्या अनर्थ कर रहे हैं ? नाई (उमेदा) की रोटी खाकर आप भ्रष्ट हो गये हैं—स्वामीजी ने कहा—"भोले ब्राह्मणों, यह रोटियां तो गेहूं की हैं। इनके खाने में दोष नहीं है। अन्न दो प्रकार से दूषित होता है, एक तो जब अन्य को दुःख देकर प्राप्त किया जाये और दूसरे जब उसमें कोई वस्तु मिल जाये।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण तो सामान्य हास्य के हैं, पर प्रसंग ऐसे भी हैं जब ये हास्य कुछ तीक्ष्ण हो गये हैं, न्याययुक्त होने पर भी उसका कथ्य कुछ लोगों के लिये कटु हो गया है, "उस दिन पंडित कालूराम शिवजी पर चढाने के लिये बेल-पत्र आदि ले जा रहे थे तो स्वामीजी कहने लगे—पंडितजी ! शिवलिंग तो तुम्हारे पत्ते खायेगा नहीं, यदि ऊंट के आगे डाल दो तो उसकी भूख इनसे कुछ न कुछ अवश्य मिट जायेगी।"[3] एक प्रसंग में स्वामीजी के विपक्षी ने कहा कि पदार्थ में दूसरे की भावना करली जाती है, इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया—"यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आपके शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुंचती है उतने समय में उतनी दूर आपका शरीर हमको पहुंचा देवे तब तो भावना ठीक नहीं तो मिथ्या।"[4] कभी-कभी स्वामीजी का यह हास्य बड़ा लट्ठमार हो गया है। स्वामीजी कहना चाहते हैं कि कालेगुण से युक्त शरीरधारी जन्म मरण वाला व्यक्ति श्रीकृष्ण भगवान् नहीं हो सकता, उनके लिये समर्पण किया जाना भी अशक्य है, इसी प्रसंग में वे कहते हैं—"....यदि कहो कि नहीं समर्पण होता है तो मल मूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये होवे, यही प्रकट न्याय है...."[5] अथवा "....गधा आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान है। इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही बनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्ण सेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा जो सहजानन्द ने बका है सो मिथ्या है।"[6]

---

१. वेदविरुद्धमतखण्डनम्, श. स.-द्वितीय भाग, पृष्ठ ८०६-८०७

२. महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ १०४   ३. वही, पृष्ठ १५८

४. वेदविरुद्धमतखण्डनम्, श. स.-द्वितीय भाग, पृष्ठ ७८३

५. वही, पृष्ठ ७९९   ६. स्वामिनारायणमतखण्डनम्, वही, पृष्ठ ८४०

तथा "....जबकि खुदा भी शैतान को बहकाता है, तब खुदा और शैतान में अंतर ही क्या रहा ? हां, एक अन्तर स्पष्ट है, खुदा बड़ा शैतान है और शैतान छोटा शैतान है। मुसलमानों का कथन है कि जो कोई धोखा देता है वह शैतान है। इस परिभाषा के अनुसार खुदा भी शैतान हो जाता है।" "........When God too misleads men. Where is the difference between Satan and God ? Yes, one difference is clear, God is the bigger Satan and the Satan the smaller. Moslems say that whosoever deceives is a Satan. This difinition makes God too Satan"[1]

ऐसे अनेक उदाहरण स्वामीजी के साहित्य से दिये जा सकते हैं जहां उन्होंने आडम्बर-प्रिय ब्राह्मणों, मौलवियों और ईसाई पादरियों को अपने हास्य का आलम्बन बनाया है। हास्य की सृष्टि के लिये आलम्बन में कुछ असंगति, बेमेलपन, वैपरीत्य या उल्टापन होना चाहिये। स्वामीजी ने परिस्थितियों को अपने अनुसार मोड़कर इन वस्तुओं की सृष्टि कर दी है।

कुछ लोगों ने हास्य को साहित्य का अंग कम और दर्शनशास्त्र का विषय अधिक माना है। इस संबंध में बर्गसा और फ्रायड के मत भी दिये हैं, पर स्वामीजी ने अपने आपको उस चक्र में उलझाया नहीं है, उनका ढंग बिल्कुल अपना ही है। इस हास में कहीं-कहीं परिहास भी सम्मिलित हो गया है। एक स्थान पर स्वामीजी शास्त्रार्थ के लिये उद्यत थे, पर विपक्षी ब्राह्मण देवता स्वामीजी को भ्रष्ट समझ कर उनका मुख भी नहीं देखना चाहते थे—इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मेरे मुख देखने से यदि आपको घृणा है तो मुंह फेर लीजिये अथवा पीठ किये खड़े हो जाइये पर मेरी बातें सुनिये अवश्य।"[2]

व्यंग्य—व्यंग्य का मार्ग अपेक्षाकृत जटिल होता है, स्वामीजी इस पथ पर चले ही नहीं हैं अपितु इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। व्यंग्य के संबंध में श्री गुलाबरायजी लिखते हैं—"व्यंग्य प्रायः सोद्देश्य होता है और किसी व्यक्ति या संस्था की ओर लक्षित भी होता है। यह प्रायः हृदय की कटुता से प्रेरित होता है चाहे वह वैयक्तिक हो चाहे सार्वजनिक।"[3] स्वामीजी के ये व्यंग्य व्यक्तिपरक भी हैं, जातिपरक भी और राजनीतिपरक भी। व्यक्तिपरक व्यंग्यों में भी उनका किसी से व्यक्तिगत द्वेष नहीं है, पर जब अन्याय, अत्याचार और आडम्बर को देखकर उनका हृदय तड़पा है तो उन्होंने किसी का लिहाज नहीं किया है। व्यक्तिपरक व्यंग्य के कुछ उदाहरण देखिये—

(क) "एक दिन महर्षि दयानन्द थाली में भोजन कर रहे थे, तभी एक संन्यासी ने छिपे व्यंग्य के स्वर में स्वामीजी से कहा—"महाराज धातुओं का स्पर्श संन्यासियों के लिये वर्जित है। और आप थाली में भोजन कर रहे हैं ?........

---

१. Wit and Wisdom of Swami Dayanand, N. B. Sen, Page 155
२. महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २४१
३. अध्ययन और आस्वाद--गुलाबराय—हिन्दी के हास्य लेखक, पृष्ठ ३३०

स्वामीजी चुपचाप भोजन करते रहे। भोजनोपरान्त उन्होंने सहज सरल भाव से कहा—"यह सिर तो संभवतः आपने जूते से मुंडवाया होगा ? धातु का स्पर्श कैसे हो सकता है—आपके लिये वर्जित है न ?"[1]

(ख) "एक दिन एक सज्जन ने कहा—'महाराज ! ध्यान में मन नहीं लगता है।' स्वामीजी ने व्यंग्य में कहा—'ध्यान नहीं लगता तो भांग का एक लोटा और चढ़ा लिया करो और यदि इससे भी काम न चले तो ब्याह और कर लो।'[2] स्वामीजी ने उसके व्यक्तिगत दुर्गुणों को परोक्ष रूप से जानकर बहुत ही करारा व्यंग्य किया है। सौ सुनार की का प्रयोग न करते हुए एक लुहार की ही का प्रयोग किया है।

(ग) "केशवचन्द्र ने स्वामीजी से कहा -'खेद है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता।' स्वामीजी हंसकर बोले—'बड़े दुःख की बात है कि ब्राह्म समाज का नेता अपने पूर्वजों और धर्म की भाषा संस्कृत नहीं जानता है। वह अपने देशवासियों को विदेशी भाषा में उपदेश देता है।"[3]

(घ) "एक दिन स्वामीजी बाल बनवा रहे थे। उसी समय एक शास्त्री उनके पास आया। उन्हें क्षौर कराते देख कर वह बोला—'संन्यासियों का धर्म तो त्याग है। आप देह को विभूषित करने में क्या लगे हैं ?' स्वामीजी ने हंसकर कहा 'यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है, तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी होगा ....।"[4]

जाति वा धर्म-विशेष पर व्यंग्य—स्वामीजी को अपने विरोधियों से अनेक शास्त्रार्थ करने पड़े। यद्यपि उनका उद्देश्य सत्यासत्य का निर्णय करना था पर कई बार अपने विरोधी का मुंह बन्द करने के लिये उन्हें अन्य उपायों का भी आश्रय लेना पड़ता था। स्वामीजी की मूर्त्तिपूजा में कोई आस्था नहीं थी, पर यह बात वे मुसलमानों से सुनना नहीं चाहते थे। अतः उनका मुंह बन्द करने के लिये उन्होंने कहा—" ...हिन्दुओं की मूर्त्तियां तो चार-पांच अंगुल से लेकर दो-चार हाथ की होती हैं। उनको तो किसी प्रकार हटाया भी जा सकता है, परन्तु मुसलमानों के बुत तो कब्र, मकबरों और ताजियों के रूप में दो-दो, तीन-तीन खण्ड के भवनों से भी बड़े होते हैं जिनका हटाना अति दुष्कर है।"[5] एक अन्य प्रसंग पर उन्होंने एक पादरी से कहा—"स्वामीजी ने (पादरी बेरी) को उत्तर दिया, "ये लीलायें तो कल्पित और मिथ्या हैं, परन्तु बुद्धि के न मानने के विषय में क्या कहा जाये। आपकी बुद्धि जब यह स्वीकार कर लेती है कि परमेश्वर की आत्मा कबूतर के रूप में एक मनुष्य पर उतरी तो कृष्णजी की लीलायें स्वीकार करने में उसे क्या कठिनाई है ?"[6] कई बार यह जातिगत व्यंग्य इतना चुभता हुआ होता है कि समझदार की तो मौत ही हो जाती है, "........एक दिन अलीजान डिप्टी कलेक्टर

---

[1] आर्यमित्र (महर्षि मोक्ष प्राप्ति विशेषांक) नवम्बर, १९७२, पृष्ठ ५८

[2] महर्षि दयानन्द—यदुवंश सहाय, पृष्ठ २८९

[3] वही, पृष्ठ १८८

[4] वही, पृष्ठ २२१

[5] वही, पृष्ठ १७२

[6] वही, पृष्ठ २३५

स्वामीजी को मार्ग में मिल गया । वह मजिस्ट्रेटी अकड़ में ऐंठकर बोला—'पण्डितजी ! अपने व्याख्यानों में तनिक जीभ संभाल कर बोला कीजिये ।' स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया—'कोई भय की बात नहीं है । अब राज्य अंग्रेजी है औरंगजेबी नहीं ।''[1] मुगलशासन पर शायद इससे बड़ा व्यंग्य हो ही नहीं सकता । यही अभिव्यक्ति हमें इसी प्रकार के अन्य प्रसंग में भी मिलती है, ''जोधपुर राज्य का एक प्रभावशाली व्यक्ति फैजुल्ला खां बिगड़ कर बोला—'अरे संन्यासी ! आज यदि मुसलमानों का राज्य होता तो तुम्हें जीता जागता न छोड़ते ।' स्वामीजी ने बड़े धैर्य और शांतिपूर्वक उत्तर दिया —'खां साहब ! यदि अवसर आता तो मैं बेंत के समान कांपने न लगता और न चुपचाप ही बैठा रहता, किन्तु निधड़क हो दो-चार वीर राजपूतों की पीठ ठोक कर विरोधियों के धुर्रे उड़ा देता । ऐसा छकाता कि उन्हें छठी का दूध याद आ जाता और उनके छक्के छूट जाते ।''[2] अपने व्यंग्य का प्रयोग उन्होंने केवल मुसलमानों पर ही नहीं किया है, अंग्रेज भी उसके शिकार हुए हैं । उनकी अवधूत अवस्था में एक बार एक अंग्रेज महिला ने उन्हें असभ्य कहा था, उस समय स्वामीजी ने उत्तर दिया था ''........मैं उस युग का मनुष्य हूँ जिस युग में बाबा आदम और माता हव्वा अदन के उद्यान में नंगे घूमने में तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं करते थे ।''[3] इस क्षेत्र में उन्होंने अपने देशवासियों का भी लिहाज़ नहीं किया है । एक बार एक व्यक्ति ने भरी सभा में स्वामीजी के ऊपर एक काला नाग फेंका और कहा कि सत्यासत्य का निर्णय यह देवता ही करेगा, स्वामीजी ने अपनी एडी से उसे रगड़ते हुए कहा, ''जिनके देवता पैरों तले कुचले जाते हों उनकी दुर्गति का क्या ठिकाना है ।''[4] कई बार स्वामीजी ने व्यंग्य के लिये रूपक अथवा अन्योक्ति का आश्रय भी लिया है । एक बार स्वामीजी गाड़ी में बैठे हुए आर्यसमाज मन्दिर जा रहे थे । मार्ग में एक कुत्ता भोंकता हुआ गाड़ी के पीछे दौड़ने लगा, थोड़ी देर पीछा करके वह रुक गया । स्वामीजी ने उस समय अपने समीप बैठे हुए व्यक्ति से जो कहा वह कथ्य के रूप में भले ही कुछ हो पर व्यंग्य की दृष्टि से अनुपम उदाहरण है, ''..... ...ये रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी लोग पहले तो बहुत गुर्राते हैं और दांत दिखाते हैं, परन्तु अन्त में हार कर बैठ जाते हैं ।''[5] स्वामीजी के साहित्य-निषंग में ऐसे अनेक व्यंग्यबाण हैं, पर विस्तारभय से हम उनका दिग्दर्शन यहां नहीं करवा रहे ।

प्रभावोत्पादकता—हास्य-व्यंग्य का चित्रण करने के लिए स्वामीजी ने न तो उर्दू भाषा का आश्रय लिया, न नायक नायिका का फूहड़पना दिखाया, न असंभव कल्पनायें दिखाईं और न अश्लीलता का आंचल पकड़ा, फिर भी उनके व्यंग्य प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से किसी से कम नहीं हैं । कहने वाले कहते हैं कि स्वामीजी की अकाल मृत्यु का कारण उनकी निर्भीकता, स्पष्टवादिता तथा उनकी व्यंग्योक्तियां ही रहीं, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि उनके हास्य-व्यंग्य का प्रभाव अमिट, गंभीर, चुटीला तथा मर्मस्पर्शी होता था ।

उपसंहार—डा० राभरतन भटनागर ने लिखा है कि स्वामीजी की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का इतना प्राचुर्य है कि उसे नागरी अथवा हिन्दी के रूप में पहचानना भी कठिन

---

[1] महर्षि दयानन्द —यदुवंश सहाय, पृष्ठ २८४

[2] वही, पृष्ठ ३२८

[3] वही, पृष्ठ १८८

[4] वही, पृष्ठ २८७

[5] वही, पृष्ठ २८५

है—"The writings of Swami Dayanand.........filled in with Sanskrit Tatsam words to such an extent that it was hardly recognisable as Hindi or Nagri as it was then called."[1] उक्त कथन उनकी भाषा के एक पक्ष को ही प्रस्तुत करता है। उन्होंने आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी किया है। उनके पत्र व्यवहार में तो सैकड़ों उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। उनकी प्रारंभिक भाषा हिन्दी के दृष्टिकोण से पर्याप्त अशुद्ध थी, पर निरन्तर अभ्यास से वह नर से नारायण बनती गई। उनको जो कुछ कहना था, उस विषय में कोई संदेह नहीं था और अपने भावों का संप्रेषण भी उन्होंने अपने पाठकों को बड़ी सजीव भाषा में करवाया। लोग उनके विचारों से असहमत हो सकते हैं, उनका विरोध कर सकते हैं पर अप्रभावित नहीं रह सकते। उनकी भाषा में एक ओर हमें उनके वैधानिक मस्तिष्क का परिचय मिलता है दूसरी ओर वर्णन की चित्रोपम शैली हमें मंत्रमुग्ध कर देती है। उनकी बहुज्ञता के साथ-साथ उनकी कहावतों तथा अंतर्निहित कथाओं ने उनकी शैली को प्रतिक्षण नवीन रहने वाली रमणीयता प्रदान की है।

स्वामीजी की भाषा में कहीं उनका कवित्व झांकता हुआ दृष्टिगोचर होता है, कहीं उनका मस्तिष्क उद्ग्रीव हो उठता है, कहीं उनका प्रसाद गुण मन हर लेता है, कहीं उनकी चलती भाषा उन पर न्यौछावर होने को विवश करती है, कहीं उनकी आवेशमयी शैली पाठक को विस्मयविमुग्ध कर देती है और कहीं उनकी सूक्तियां हृदय के अन्तस्तल तक पहुंचती हैं। उन्होंने वेदभाष्य जैसा दुष्कर कार्य भी इस भाषा के माध्यम से किया है और अंधेर नगरी के गवर्गण्ड राजा का परिचय भी इसी माध्यम से करवाया है। उनकी भाषा आवेश, प्रसाद, पांडित्य, हास्य, व्यंग्य के पुष्पों का एक गुलदस्ता है; सत्य का निरूपण, तर्क शैली का आश्रय और उपदेशात्मकता उनकी अपनी विशेषतायें हैं, उन्होंने उपदेशकों की प्रश्नात्मक शैली का भी प्रयोग किया है और पंडितों के समीकरण वाक्यों का भी, उनमें मुहावरों का भी जमकर प्रयोग किया गया है और तुलनात्मक शैली का शिलान्यास भी हिन्दी में उन्हीं की भाषा द्वारा किया गया है।

चारों वेदों का हिन्दी में भाष्य करने के अतिरिक्त हिन्दी की कई अभिनव विधाओं को उन्होंने अपनाया है। उनका "सत्यार्थप्रकाश १९वीं शताब्दी के हिन्दी गद्य का सबसे बड़ा ग्रंथ है। आकार की दृष्टि से तो सबसे बड़ा है ही, जितनी लोकप्रियता इस ग्रंथ को प्राप्त हुई उसकी समकक्षता में हिन्दी गद्य के किसी और ग्रंथ को अब तक नहीं रखा जा सकता।"[२] उनका पत्र-संग्रह "आलोच्य युग का ही नहीं समूचे हिन्दी साहित्य में पहला प्रकाशित पत्र-संग्रह है।"[३] उनकी आत्मकथा यदि हिन्दी में सर्वप्रथम नहीं तो सर्वप्रथम लिखी जाने वाली आत्म-

---

1. The Rise and Growth of Hindi Journalism (1826-1945)—Ram Ratan Bhatnagar—page 159
२. हिन्दी निबन्ध का विकास—डा० ओंकारनाथ शर्मा, पृष्ठ ६१
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ५३०

कथाओं में से एक अवश्य है। उन्होंने तर्कप्रधान तुलनात्मक शैली का बीजारोपण किया, मानव धर्म का साहित्य से समन्वय किया, संस्कृत के अमूल्य रत्नों का हिन्दी वालों से परिचय कराया और हिन्दी गद्य को सुदृढ़ आधार देकर उसे अमर बनाया। कोई उनके विचारों से सहमत हो या न हो पर यह निर्विवाद है कि उन्होंने उस युग के तथा बाद के सभी प्रबुद्ध पाठकों को प्रभावित किया है, उनकी शैली का जादू सिर पर चढ़कर बोलता है और न केवल कथ्य के रूप में अपितु शैली के रूप में भी उनको अमर बनाने के लिये पर्याप्त है।

◆◆

दशम अध्याय

तत्कालीन लेखकों पर प्रभाव तथा उनकी हिन्दी सेवा से तुलना

पिछले अध्याय में हमने स्वामीजी की भाषा शैली पर विचार किया है, इस अध्याय में तत्कालीन लेखकों पर हम उनके प्रभाव पर दृष्टिपात करेंगे। स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं विचारधारा का प्रभाव समाज, धर्म एवं साहित्य पर बहुविध था, बा. केशवचन्द्र सेन स्वामीजी से प्रभावित हो योग की ओर झुके थे, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने दोनों पुत्रों द्विजेन्द्रनाथ और हेमेन्द्रनाथ को स्वामीजी की सेवा में व्यापृत कर दिया था, स्वामीजी के कहने से ही शांति निकेतन में प्रतिदिन यज्ञ करने के लिये एक वेदपाठी श्रोत्रिय नियत किया गया था, "पहले पहल रामकृष्णजी परमहंस दयानन्दजी से प्रभावित थे।"[1] किन्तु इस अध्याय में अपने क्षेत्र को सीमित बनाते हुए हम केवल हिन्दी के लेखकों पर पड़े प्रभाव की ही चर्चा करेंगे। यद्यपि इन लेखकों में अधिकांश लेखक कवि भी हैं, पर यहां यथासंभव उनके गद्य लेखन पर भी विचार किया गया है। इन समकालीन लेखकों का चयन इस आधार पर किया गया है कि या तो उनका सम्पर्क प्रशंसक अथवा विरोधी के रूप में हुआ है अथवा उन्होंने स्वामीजी की विचारधारा का खण्डन-मण्डन अपने साहित्य में प्रचुर मात्रा में किया है। स्वामीजी से प्रभावित इन लेखकों की सूची भारतेन्दु, द्विवेदी तथा वर्तमान काल तक पहुंचकर बहुत लम्बी हो गई है, किन्तु हमने नमूने के लिये उनके समकालीन छः लेखकों को ही लिया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी साहित्य के युग निर्माता, आधुनिकता के जनक, श्रेष्ठ कवि, नाटककार तथा निबंध लेखक श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से कौन अपरिचित है, फिर भी उनके जीवन तथा साहित्य के कुछ अंश ऐसे हैं, जिनसे हिन्दी-जगत् पूर्णतः परिचित नहीं है। उनकी 'भारतेन्दु' की उपाधि के संबंध में कई विचार उपलब्ध होते हैं। कुछ लोगों के मतानुसार, उनके गुरु 'राजा शिवप्रसाद' की राजभक्ति से प्रसन्न होकर अंग्रेजों द्वारा दी गई, सितारे 'हिन्द' 'Star of India' के विरोध में जनता जनार्दन ने भारतेन्दुजी को इस उपाधि से विभूषित किया था। दूसरा मंतव्य यह भी है कि एक बार पं. बाल शास्त्री ने अपनी व्यवस्था से कायस्थों को क्षत्रिय बताया था, भारतेन्दुजी ने इसका विरोध किया था, अतः पंडित रघुनाथजी ने अप्रसन्न होकर उनसे कहा था—"आपको कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है, सभी का अपमान किया करते हो। जैसे आप अपने सुयश से जाहिर हो उसी तरह भोगविलास और बड़ों का असम्मान (अपमान) करने से आप कलंकी भी हो, इसलिये आज से मैं आपको भारतेन्दु नाम से पुकारा करूंगा।"[2] यह भी कहा जाता है कि पं. रामेश्वरदत्त व्यास ने

---

[1] आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ८६

[2] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १३४

२७ सितम्बर १८८० ई. के 'सार सुधा निधि' पत्र में एक लेख लिखकर इसका प्रस्ताव किया था, जो जनता द्वारा स्वीकृत कर लिया गया।

स्वामीजी से विरोध—जगत्प्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ में जो महानुभाव स्वामीजी के विरोध में बैठे थे, उनमें एक सज्जन 'बाबू हरीचन्द्र गुप्ता'[1] थे। संभवतः ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे, ये भारतेन्दु न भी हों तो भी पौराणिक मण्डली की पराजय सर्वाधिक भारतेन्दुजी को अखरी थी और उन्होंने स्वामीजी के विरोध में अत्यन्त असभ्य भाषा में एक पैम्फलेट 'दूषण मालिका' के नाम से निकाला था, जिसके कुछ अंश द्रष्टव्य हैं—

(क) "अथ दयानन्द नामी क्या जाने कौन जाति वा किस आश्रम के कोई नग्न पुरुष सब देशों में भ्रमण करते हुए सनातन सधर्म रूपी सूर्य को राहु की भांति ग्रास करते हुए मूर्खों और आलस्य से भरे हुए जीवों के हृदय वस्त्र को अपने रंग में रंगते हुए इसी बहाने अपना नाम लोगों में विदित करते हुए और अपने वाक्य बना के आडम्बर से साधु लोगों का हृदय दहन करते हुए काशी में आये.... ।"[2]

(ख) "आपने जो पुस्तक छपवाई है उसमें वेद के मंत्र हैं सो वेद के मंत्र शूद्रों तथा म्लेच्छादिकों के हाथ में देने से आपको दोष हुआ कि नहीं.... ।"[3]

(ग) "जो कहो कि वेद नहीं है तो दयानन्द स्वामी अमुक वंश में भये यह वेद में कहां है।"[4]

(घ) "आपके पिता या किसी पुरुषा का मृत देह या उनके चित्र जिससे उनके स्वरूप का ज्ञान हो या कागज पर उनका नाम लिखके....इन पर बुरी वस्तु डालैं तो आपको बुरा लगेगा कि नहीं.... ।"[5]

उपर्युक्त पैम्फलेट १८६९ ई. के काशी शास्त्रार्थ के तुरन्त बाद ही निकला था। आश्चर्य की बात यह है उसी वल्लभसम्प्रदायानुयायी व्यक्ति ने '१८७३ ई. में स्वामी दयानन्द के प्रतिमा-पूजन विषयक शास्त्रार्थ[6] को प्रकाशित किया....।'[7] स्वामीजी के विज्ञापन भी भारतेन्दुजी के 'कवि वचन सुधा'[8] में प्रकाशित होने लगे थे। इन तथ्यों से इतना तो ज्ञात होता ही है कि स्वामीजी का प्रभाव भारतेन्दु पर पड़ना प्रारम्भ हो गया था।

जीवन सम्बन्धी घटनाओं की तुलना—स्वामीजी का जन्म सन् १८२४ में हुआ और भारतेन्दुजी का सन् १८५० में। स्वामीजी के पिता कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे और भारतेन्दु के पिता कवि, एक ने ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर जन्मना जाति को हेय बताया, दूसरे ने अग्रवालों में जन्म लेकर (अग्रवालों की उत्पत्ति, खत्रियों की उत्पत्ति) जाति विशेष की ओर विशेष ध्यान

---

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन चरित्र—पं. लेखराम, पृष्ठ १५०
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—तीसरा भाग, पृष्ठ ६९१
३. वही, पृष्ठ ६९३ ४. वही, पृष्ठ ६९३ ५. वही, पृष्ठ ६९८
६. यह शास्त्रार्थ हुगली में स्वामीजी तथा ताराचरण तर्करत्न के मध्य हुआ था।
७. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह, पृष्ठ ४७
८. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २३

रखा। शैशव में ही भारतेन्दु मातृ-पितृ विहीन हो गये और कुमारावस्था में स्वामीजी को अपनी चचेरी बहिन तथा चाचा का वियोग सहन करना पड़ा, एक ने १३ वर्ष की लघ्ववस्था में ही काठ में पांव दे दिया और दूसरे ने आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत निभाया, एक ने अपनी शिक्षा का अधिकांश भाग घर पर बैठकर स्वयं पूर्ण किया और दूसरे ने अनेक प्रदेशों की खाक छानकर अनेक गुरुओं से सच्छास्त्रों की शिक्षा ग्रहण की, एक ने अपने गुरु राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का विरोध किया और दूसरे ने अपने नयनहीन गुरु विरजानन्द के कहने पर अपना समग्र जीवन देशहित में लगा दिया, एक ने १५ वर्ष की अवस्था में सकुटुम्ब जगन्नाथ यात्रा की, दूसरे ने एकाकी ही अनेक बार सारे देश का भ्रमण किया, एक की इसी समय से ऋण लेने की आदत भी पड़ी''[1] दूसरे ने न केवल पैतृक सम्पत्ति का अपितु, राजाओं द्वारा दिये गये लाखों रुपये के प्रलोभन का भी परित्याग किया, भारतेन्दु के घर पर ''दिवाली पर इत्र के ही दिये जलाये जाते थे''[2] दूसरे को अवधूत अवस्था में कई बार रात्रि को ईंट का तकिया लगाकर सरिता की बालू पर ही विश्राम करना पड़ता था।

भारतेन्दु ने अन्य विधाओं के साथ शृंगार रस को प्रश्रय दिया और हिन्दी में नाटकों का श्रीगणेश किया, स्वामीजी ने शृंगार रस को सर्वथा त्याज्य बताया और नाटक को भड़ुओं का कार्य बताया, एक ने देशभक्ति के साथ राजभक्ति का भी आश्रय ग्रहण किया जबकि दूसरे ने निर्भीक हो समस्त देशवासियो को स्वाधीनता का मूल मंत्र दिया। दोनों ने सुधार का कार्य किया पर एक ने पौराणिकता का आंचल पकड़ा और दूसरे ने वेदों का, दोनों ने अन्य मतावलम्बियों की चर्चा की है किन्तु भारतेन्दु ने परिचय मात्र दिया है तथा स्वामीजी ने जमकर। भारतेन्दु ने कुरानशरीफ का अनुवाद किया था जो कि केवल नौ[3] पृष्ठ तक ही किया जा सका, स्वामीजी ने पूरा भाष्य मौलवियों द्वारा करवाया था जो कि अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है, भारतेन्दु ने स्त्रियों के उपकारार्थ 'बाला बोधिनी' पत्र निकाला था जबकि स्वामीजी ने स्त्रियों की न केवल शिक्षा की अपितु उनके वेदाध्ययन की भी व्यवस्था की, न केवल भारतेन्दु अपितु समस्त 'भारतेन्दुकालीन' लेखक इस संबंध (सन् १८५७ की क्रांति) में बिल्कुल मौन हैं,[4] किन्तु स्वामीजी ने न केवल इसकी चर्चा की है अपितु कुछ लोगों के मतानुसार उन्होंने इसमें सक्रिय रूप से भाग भी लिया।

स्वामीजी ने नारी को सदा पूज्य मातृबुद्धि से ही देखा, कभी छोटी सी बालिका को नग्न देखकर वे नतमस्तक हो गये, कभी एक स्त्री द्वारा चरण स्पर्श किये जाने पर उन्होंने प्रायश्चित किया, एक बार जोधपुर के फैजुल्लाखां बाग में स्वामीजी के विश्राम करते समय कुछ स्त्रियां भूल से आ गई थीं, उनको देखकर स्वामी एकदम चीख पड़े थे, ''He got up and shouted''[5] दूसरी ओर भारतेन्दुजी कुछ रसिक प्रकृति के थे, नारियाँ न केवल उनके

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृष्ठ ३८२

[2] समीक्षात्मक निबंध—डा. सत्येन्द्र—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १५८

[3] भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृष्ठ ७६५ से ७७४ तक

[4] हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां—शिवकुमार शर्मा, पृष्ठ ४१४

[5] Life of Dayanand Saraswati —Harbilas Sarda, Page 312

काव्य का ही आधार थीं, पर उनके वैयक्तिक जीवन को भी काफी सीमा तक प्रभावित करती थीं। उनके नवासे श्री ब्रजरत्नदास ने उनके संबंध में लिखा है, "वेश्या का सहवास इनके लिये आवश्यक ही था। आज इस बहाने और कल उस बहाने जलसे होते रहते थे। गुणी गायिका अपना गुण अवश्य दिखायेगी तथा गुणग्राही पुरुष उसकी प्रशंसा करेगा ही...."[१] एक अन्य प्रसंग में स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है, "हम इन सबों का सहवास विशेषकर इसीलिये करते हैं। कहिए, यह सच्चा मजमून कैसे हो सकता था।"[२] भारतेन्दु साहित्य के एक अन्य लेखक ने भी लिखा है, "....तभी संभवतः भारतेन्दु एक बंगाली महिला के प्रति आकर्षित हो गये थे, जो स्वयं भी साहित्यिक थीं। इसी प्रकार एक और अन्य महिला, जो पहले हिन्दू थीं, फिर मुसलमान हो गई थीं, से भी उनके प्रेम की कहानी कही जाती है....।"[३] दूसरी महिला जो उनके जीवन में आई थी, वह बंगदेशीय कुलीन विधवा थी, उसका नाम मल्लिका था, अपनी प्रकाशित पुस्तकों का कुछ स्टाक भारतेन्दुजी ने उसे विक्रयार्थ दे दिया था, उसके "कार्यालय का नाम मल्लिका एण्ड चन्द्र कंपनी रक्खा गया।"[४]

भारतेन्दु साहित्य पर स्वामीजी का प्रभाव—भारतेन्दु नाटकावली प्रथम तथा द्वितीय भाग में भारतेन्दुजी के १७ नाटक संकलित हैं, जिनमें से ७ मौलिक, १ रूपान्तरित, ७ अनूदित तथा २ अपूर्ण हैं। मौलिक नाटकों में उनका एक प्रसिद्ध प्रहसन 'अंधेर नगरी' है जिसका निर्माणकाल श्री सोमनाथ गुप्त ने सन् १८८१[५] दिया है। नाटकावली के संकलनकर्ता के अनुसार भारतेन्दुजी को इसकी प्रेरणा "....एक ग्राम ऐसा ही था जहाँ मूर्ख ही बसे थे और जिनका राजा यही हरबोंग था"[६] से मिली थी, किन्तु हमें इसकी प्रेरणा का स्रोत कुछ और दृष्टिगोचर होता है। स्वामीजी ने व्यवहारभानु (सन् १८७९ ई.) में "अंधेर नगरी गवर्गण्ड राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा"[७] की कथा पर्याप्त विस्तार से कही है, उसका काफी अंश 'अंधेर नगरी' से मिलता है। स्वामीजी को यह कथा अत्यन्त रुचिकर थी और अपने उपदेशों में उन्होंने इसका अनेक बार उल्लेख किया है। यह तो स्पष्ट ही है कि स्वामीजी ने इस कथा का उल्लेख भारतेन्दु की नाटक रचना से पूर्व ही किया है, अतः यह असंभव नहीं है कि भारतेन्दुजी पर स्वामीजी की रचना का प्रभाव पड़ा हो।

२. भारतेन्दुजी का दूसरा मौलिक नाटक भी स्वामीजी के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं—'रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए। शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए', 'बालकपन में व्याहि प्रीति बल नास कियो सब', 'विधवा विवाह निषेध कियो विभिचार

---

[१] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १५१

[२] वही, पृष्ठ १५२

[३] भारतेन्दु साहित्य—रामगोपालसिंह चौहान, पृष्ठ १३

[४] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १५७

[५] हिन्दी नाटक साहित्य का विकास—सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ५४

[६] भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ११०

[७] दयानन्द ग्रन्थमाला, द्वितीय भाग—व्यवहारभानु, पृष्ठ ७६२

प्रचारचो', 'बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई' 'किये तीन तेरह सबै, चौका चौका लायं'[१] में यह भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत 'पठितव्यं तदपि मर्तव्यं·····'[२] भी थोड़ा सा रूप बदल कर 'जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं ···' (पृष्ठ ४७४) यहां उल्लिखित है। इसी के एक अन्य प्रसंग में भारत भाग्य द्वारा कहलाये गये·····'वही बाल्य विवाह, भूत प्रेत की पूजा, जन्म पत्री की विधि।'[3] आदि वाक्य स्वामीजी का स्मरण कराते हैं।

३. भारतेन्दुजी के एक अन्य प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के वाक्य का उल्लेख इसी रूप में सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १७९ पर मिलता है—कहने वाले इसे केवल संयोग कह सकते हैं, पर इसी प्रहसन में जब एक पुरोहित "·····और महाराज दयानन्द स्वामी ने इन सब का खूब खण्डन किया है पर वह तो देवी की मूर्त्ति भी तोड़ने को कहते हैं···"[४] शब्द कहता है तो यह सम्बन्ध बादरायण नहीं रह जाता। अंत में मद्य मांसाहारियों को दण्ड दिलाकर भारतेन्दुजी ने सत्य का तथा स्वामीजी की विचारधारा का ही समर्थन किया है। 'दुर्ल्लभ बंधु' यद्यपि 'शेक्सपियर' के 'मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' नाटक का अनुवाद है पर इसमें भी उन्होंने एक पात्र का 'आर्य्य' में रूपान्तरण कर दिया है। आर्यों के प्रति उनकी वितृष्णा 'शैलाक्ष' के इन शब्दों से व्यक्त होती है, "हे ईश्वर, ये आर्य्य भी कैसे मनुष्य होते हैं। जैसा इनका चित्त कठोर होता है वैसा ही औरों का भी समझ कर संदेह करते हैं····।"[५] इसी नाटक के एक अन्य पात्र सलोने को अपनी सम्पत्ति लुटने तथा बेटी के भाग जाने का उतना शोक नहीं है जितना कि उसके एक आर्य के साथ भाग जाने का, "·····हाय मेरी बेटी! हाय! एक आर्य के साथ भाग गई।—हाय मेरी अशर्फियां।····"[६]

४. अपने एक प्रहसन 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में भारतेन्दुजी ने न केवल स्वामीजी का उल्लेख किया अपितु उन्हें इसका प्रमुख पात्र भी बनाया है। केशवचन्द्र सेन और दयानन्द पर अभियोग लगाते हुए उसमें कहा गया है, "छिः। दयानन्द कभी स्वर्ग में आने के योग्य नहीं, इसने १. पुराणों का खण्डन किया, २. मूर्त्तिपूजा की निंदा की, ३. वेदों का अर्थ उलटा पुलटा कर डाला, ४. दश नियोग करने की विधि निकाली, ५. देवताओं का अस्तित्व मिटाना चाहा····"[७] स्वामीजी के बचाव में भी कम नहीं कहा गया है "···धन्य दयानन्द, जिसने आर्यावर्त निंदित आलसी मूर्खों की मोह निद्रा भंग कर दी। हजारों मूर्खों को ब्राह्मणों के (जो कंसरवेटिवों के पादरी और व्यर्थ प्रजा का द्रव्य खाने वाले हैं,) फंदे से छुड़ाया। बहुतों को उद्योगी और उत्साही कर दिया। वेद में रेल, तार, कमेटी, कचहरी

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, भारत दुर्दशा, पृष्ठ ४६५
२. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २२६
३. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, भारत दुर्दशा, पृष्ठ ४९६
४. भारतेन्दु नाटकावली, द्वितीय भाग, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, पृष्ठ ११६
५. वही, द्वितीय भाग, दुर्ल्लभ बन्धु, पृष्ठ २७९
६. वही, पृष्ठ ३१५
७. भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ८३३

दिखाकर आर्यों की कटती हुई नाक बचा ली……।"[1] यद्यपि इस प्रहसन में स्वामीजी को दोषी तो सिद्ध नहीं किया गया, पर इतना फिर भी कह दिया गया, "……दयानन्द की दृष्टि हम लोगों की बुद्धि में अपनी प्रसिद्धि पर विशेष रही। रंग रूप भी इन्होंने कई बदले। पहले केवल भागवत का खण्डन किया, फिर सब पुराणों का। फिर कई ग्रंथ माने, कई छोड़े। अपने काम के प्रकरण माने, अपने विरुद्ध को क्षेपक कहा। पहले दिगम्बर मिट्टी पोते महात्यागी थे। फिर संग्रह करते-करते सभी वस्त्र धारण किये। भाष्य में भी रेल तार आदि कई अर्थ जबरदस्ती किये……।"[2]

५. भारतेन्दु साहित्य में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहां लेखक ने स्वामीजी का नाम तो नहीं लिया है, पर उनकी विचारधारा का समर्थन अवश्य किया है।

(क) "………बहुत-सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही में ब्याह करके उनका बल, वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइये। आप उनके मां-बाप हैं या उनके शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिये……।"[3] "………लड़कों को रोजगार सिखलाओ, विलायत भेजो। छोटेपन से मेहनत करने की आदत दिलाओ।"[4] तत्कालीन समाज में हिन्दुओं की समुद्र यात्रा भी एक पाप समझी जाती थी, स्वामीजी ने समुद्र यात्रा को सर्वप्रथम वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया था।

(ख) स्वदेशी वस्त्रों और वस्तुओं के प्रयोग की ओर भी भारतीयों का ध्यान सर्वप्रथम स्वामीजी ने आकृष्ट किया था, उसकी एक झांकी भारतेन्दु साहित्य में देखी जा सकती है, "………दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने को ही देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस लूं किलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंग्लैण्ड का है………जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[5]

(ग) अपने एक पत्र में भारतेन्दु ने भी देश के ब्राह्मणों की स्थिति में सुधार चाहा है, "आज के भारतेन्दु में प्रथम पत्र आर्यसमाजियों के विषय में जो है उसमें मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि ब्राह्मणों को एक ही बेर छोड़ देने की अपेक्षा उनको सुधारना उत्तम है।"[6] एक अन्य प्रसंग में भारतेन्दुजी ने देशवासियों को उद्बोधन दिया, "……मत यह आशा रक्खो कि पण्डितजी कथा में कोई ऐसा उपाय भी बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े। तुम आप ही कमर कसो और आलस छोड़ो ……।"[7]

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ८३४ २. वही, पृष्ठ ८३७

३. वही, 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है'………पृष्ठ ९०१

४. वही, पृष्ठ ९०२

५. वही, पृष्ठ ९०२-९०३

६. वही—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पत्र, पृष्ठ ९६९

७. भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग—'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है,' पृष्ठ ८९८

उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो परिलक्षित होता है कि भारतेन्दुजी पर स्वामीजी की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। यों स्वामीजी ने भी सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में आर्य राजाओं का इतिहास लिखने में (पृष्ठ २५१) 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा 'मोहन चन्द्रिका' से पूर्ण सहायता ली है, पर अधिकांश में भारतेन्दुजी ही उनकी विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। विधवा विवाह, अनमेल विवाह, जन्म पत्री मिलाना, समुद्र यात्रा, हिन्दी भाषा का प्रचार, मांस-मदिरा निषेध आदि विषयों में स्वामीजी से सहमत होते हुए भी कुछ बातों का मोह भारतेन्दु नहीं छोड़ सके थे। उनका पुराणों के प्रति मोह था, मूर्त्ति पूजा में आस्था तथा स्वामीजी के वेद भाष्य से वे संतुष्ट नहीं थे। "उन्होंने स्वामी दयानन्द की वेद विषयक मान्यताओं का खण्डन किया है।"[१] भारतेन्दुजी में कवित्व की दैवीय प्रतिभा थी, अपनी अद्वितीय रचनाओं से उन्होंने हिन्दी के भण्डार को पुष्ट किया, कई नवीन विधाओं का सृजन किया, पर स्वामीजी की तुलना में वेद और वेदांगों पर उनका कितना अधिकार था, यह बात सहृदय लोग स्वयं ही जानते हैं। जिस प्रकार स्वामीजी ने मोक्षमूलर, मनीषी आदि नामों का हिन्दीकरण किया है, उसी प्रकार भारतेन्दु ने भी अपनी प्रतिभा से कई नामों का हिन्दीकरण किया है, दुर्लभबंधु में उन्होंने Shylock को शैलाक्ष कर लिया और Antonio को अनन्त। Bassanio बसन्त, Portia पुरश्री, Lorenzo लवंग, Jesica जसोदा आदि।

तुलना—'Comparisons are always dangerous' पर कई बार तुलना किये बिना कार्य चलता नहीं है, इसके बिना वस्तु अथवा व्यक्ति का महत्त्व स्पष्ट नहीं हो पाता। हिन्दी साहित्य के दो अनुपम महारथियों के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये ही हम यह साहस कर रहे हैं। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १४० पर लिखा है कि आर्य लोग कहीं बाहर से नहीं आये, भारत ही उनका मूल निवास स्थान था, किन्तु भारतेन्दु के अनुसार "पहले भी जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आकर बसे थे....।"[२] स्वामीजी के सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के अनेक नामों की व्युत्पत्ति की गई है, भारतेन्दु ने भी कुछ स्थानों पर इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है, "अंग्रेजों में परमेश्वर को God कहते हैं। यह गौतम का नामांतर है। उत्तर के देशों में गौतम को गोडमा कहते हैं....फारसी में मूर्त्तियों को बुत कहते हैं, यह शब्द बुद्ध से निकला है। "हरम हर्म्य से सनम शंभु से, दैर देवल से, देव देवता से...."[३] सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में भारतेन्दुजी ने आधा कफन देते हुए शैव्या के मुख से कहलाता है, "....हाय चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता...."[४] स्वामीजी ने यह दृश्य प्रयाग में गंगा के किनारे प्रत्यक्ष देखा है। एक ने यह करुण दृश्य दिखा कर दर्शकों को प्रभावित किया तथा नाटक को अनुपम बनाया, दूसरे ने उद्विग्न हो इसी से प्रेरित हो भारत की निर्धनता दूर करने का उपाय सोचा। प्रेम जोगिनी में भारतेन्दु ने 'काशी नगरी के धार्मिक समाज में प्रचलित पाखण्ड का प्रदर्शन'[५]

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—आठवां भाग, पृष्ठ २८८
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, तीसरा भाग, पृष्ठ ८९६
३. वही, पृष्ठ ७८३
४. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग—सत्य हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १२३
५. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ४९

किया है और स्वामीजी ने अपने उपदेशों तथा साहित्य में इस तथ्य को उजागर किया है। काशी के यात्रियों को पंडे कितना दुःखी करते हैं, इसका विवरण भी इस नाटक में है और स्वामीजी ने भी हरिद्वार तथा अन्य स्थानों के पंडों का चित्रण कुछ इसी भाषा में किया है। 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारतेन्दु ने प्राचीन भारत के गौरव का स्मरण कराया है और वर्तमान दशा का चित्रण कर भविष्य को उज्ज्वल बनाने की चेष्टा की है, बिल्कुल यही कार्य स्वामीजी ने अपने वाङ्मय के अधिकांश में किया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेन्दुजी ने मद्य-मांस को त्याज्य बताया है और स्वामीजी ने भी इन बुराइयों का जमकर खण्डन किया है। स्वामीजी देश, जाति तथा साहित्य की महती सेवा करते हुए भी आत्मस्तुति से सदा दूर ही रहे, किन्तु भारतेन्दु ने स्थान-स्थान पर यह स्वर पर्याप्त मुखर दिखाई देता है, "....हम लोगों का परमबन्धु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हितू, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र ही....।"[१] सूत्रधार द्वारा नाटककार के गुणों की सूचना संस्कृत नाटकों की एक परम्परा रही है पर अतिरंजन को कहीं भी गुण नहीं कहा जा सकता।

भारत की स्वतंत्रता के लिये स्वामीजी ने अनथक प्रयत्न किया, देशभक्ति, देशगौरव और स्वाधीनता की आकांक्षा उनके रग-रग में बसी थी, इसी भावना से प्रभावित होकर श्रीमती एनीबेसंट ने कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में कहा था—"जब स्वराज्य मन्दिर बनेगा तो उसमें बड़े-बड़े नेताओं की मूर्त्तियां होंगी और सबसे ऊंची मूर्त्ति दयानन्द की होगी।"[२] भारतेन्दु में भी देशप्रेम कम नहीं था, देशभक्ति का स्वर भी उनके साहित्य में स्थान-स्थान पर मुखर होता है, अंग्रेजी शासन व्यवस्था पर उन्होंने व्यंग्य भी किया है, पर उनकी राज्य भक्ति ने इस स्वर को पर्याप्त क्षीण कर दिया है, दोनों विरोधी कदम साथ-साथ उठाने में उनकी गति अवरुद्ध भले ही न हुई हो पर मन्द अवश्य हो गई है, उनकी विक्टोरिया स्तुति तथा अंग्रेज भक्ति ने भारतमाता का महत्त्व कम कर दिया है। 'भारत दुर्दशा' नाटक में वे कहते हैं—"...देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है....अंग्रेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जगोगे।"[३] "....हाय ! जो अंग्रेजों का राज्य न होता तो अब तक तो मेरे प्राण न बचते...."[४], "हे भारतवर्ष की प्रजा ! अपने परम प्रेमरूपी अश्रुजल से अपने उस उपराज्याधीश (लार्ड म्योसाहिब) का तर्पण करो जो आज तक तुम्हारा स्वामी था और जिसकी बांह की छांह में तुम लोग निर्भय निवास करते थे...."[५], "जानलारेन्स ने १८५७ ई. के गदर में अपनी अद्भुत शक्ति के प्रभाव से पंजाब को शान्त रखा था, इसीलिये आज तक भारत साम्राज्य अव्याहत...."[६], "....यह

---

[१] भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग—प्रेमजोगिनी, पृष्ठ १३३
[२] स्मारिका अंतर्राष्ट्रीय स्थापना शताब्दी समारोह-दिसम्बर १९७५, पृष्ठ ३८
[३] भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग—भारत दुर्दशा, पृष्ठ ४९६
[४] वही, द्वितीय भाग—भारत जननी, पृष्ठ २३८
[५] भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग—लार्ड म्योसाहिब, पृष्ठ ९८
[६] वही, लार्ड लारेन्स, पृष्ठ १०२

जगह तो सब तीर्थों से बढ़कर है जहां आप हमारे खुदा मौजूद हैं....''[१], ''अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग जो इस समय पर उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है।''[२] भक्त लोगों ने अपने आराध्य की प्रशंसा में भी इतने विशेषण नहीं लगाये होंगे जितने भारतेन्दुजी ने महारानी विक्टोरिया की स्तुति में लगाये हैं, ''....जगत् विख्याता, ललनाकुलकमलकलिकाप्रकाशिका, राजनिचयपूजित-पादपीठा, सरलहृदया, आर्द्रचित्ता, प्रजारञ्जनकारिणी एवं दयाशीला आर्य स्वामिनी राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण कमलों में अपने इस दुःख का निवेदन करो, वह अतीव कारुण्यमयी, दयाशालिनी और प्रजाशोकनाशिनी हैं, निस्सन्देह तुम लोगों की ओर कृपा कटाक्ष से देखेंगी और अगस्त की भांति झटित हो तुम लोगों के शोक सागर का शोषण कर लेगी....।''[३] यह कथन अन्योक्ति अथवा व्यावस्तुति में होता तो भी कोई बात थी, यहां पर यह स्तुति भारतमाता द्वारा शुद्ध अभिधा शक्ति में करवाई गई है। स्तुति वाचक विशेषणों की शृंखला अभी टूटी नहीं है, ''....कहां सन्मार्गरक्षिणी, लण्डन निवासिनी, राजधिरानी, इंग्लैण्डेश्वरी माता विक्टोरिया....।''[४] इस स्तुति में प्रजा पालन का राम का आदर्श भी फीका पड़ गया है, ''....वह अभी प्रजा के अनुरंजन हेतु प्राणप्रिय आत्मपुत्रों का भी त्याग कर सकती हैं और इतर वस्तुओं की कौन गणना है। उनके गुण अनन्त हैं। उनके समान सच्चरित्रा, साध्वी, पतिव्रता और धर्म परायणा स्त्री-कुल में उत्पन्न होना अति दुर्लभ है। वह रामचन्द्र से भी अधिक प्रजा-पालन में सदैव तत्पर रहती हैं ।''[५] संभवतः इन्हीं उद्धरणों को देखकर डा. दीक्षित ने उचित रूप से ही लिखा है, ''भारतेन्दु का व्यक्तित्व ऐसा ही था। वे अंग्रेजों को भी प्रसन्न रखना चाहते थे और इधर युग प्रवर्तक कहलाने के लिये राष्ट्रीयता का स्वर भी छेड़ देते थे। ये चाटुकार, अविश्वसनीय तथा दो चेहरे वाले व्यक्तित्व से सम्पन्न थे, कभी-कभी टैक्स, महंगाई, अकाल पर दो चार छन्दों की रचना करके जन-जनप्रिय बनने की चेष्टायें भी करते रहते थे।''[६]

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने इस विषय में भारतेन्दु की कुछ वकालत करनी चाही है, उनकी देशप्रेम की धारा में मिलित इस ब्रिटिश शासन की स्तुति को कीचड़ की संज्ञा भी दी है, पर उनके बचाव में उन्होंने कहा है ''....एक ग्यारह वर्षीय अबोध बालक का विक्टोरिया के प्रति सौजन्यतापूर्ण कविता लिख देना किसी विशेष स्वार्थ से प्रेरित नहीं माना जा सकता।''[७] कारण कुछ भी हो पर अबोधता तो अबोधता ही कही जायेगी। पहले स्वामीजी का विश्वास

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, दिल्ली दरबार दर्पण, पृष्ठ १८५

२. वही, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, पृष्ठ ८९७

३. भारतेन्दु नाटकावली, द्वितीय भाग—भारत जननी, पृष्ठ २४२

४. वही, पृष्ठ २४३-२४४ ५. वही, पृष्ठ २४६

६. हिन्दी साहित्य पर कुछ विचार—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, आर्यसमाज की हिन्दी सेवायें, पृष्ठ ४९

७. हिन्दी साहित्य : समस्यायें और समाधान—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, भारतेन्दु राजभक्त थे या राष्ट्र भक्त, पृष्ठ १४३

था कि मुक्ति अनन्त होती है, पर इसमें कालान्तर में परिवर्तन आया और उन्होंने अपने विचारों में संशोधन कर लिया। भारतेन्दु ने उपर्युक्त उद्धरण के २३ वर्ष बाद भी अपने लेख में संशोधन की कोई आवश्यकता नहीं समझी। आगे चलकर डा० गुप्त ने यह भी लिखा है "यह देश का दुर्भाग्य था कि उनका देहान्त ३४ वर्ष की अल्पावस्था में ही हो गया, यदि वे कुछ वर्ष और जीवित रहते तो कांग्रेस का आरम्भिक स्वरूप कुछ और ही होता।"[1] कल्पना यह भी की जा सकती है कि स्वामीजी को विष न दिया गया होता तो देश का भविष्य कुछ और ही होता, पर कल्पनाओं और संभावनाओं को आधार मानकर तथ्य निरूपण नहीं किया जा सकता, उसके लिये तो ठोस वास्तविकता की आवश्यकता होती है। उर्दू साहित्य के इतिहास लेखक ने स्वामीजी की चर्चा तो नहीं की है पर उन्होंने भारतेन्दु, हाली और आजाद को एक ही श्रेणी में रखा है। उन्होंने अंग्रेजों की भक्ति का अर्थ ही बदल दिया है, "उस स्थिति में स्वामि भक्ति या अंग्रेजों की प्रशंसा से तात्पर्य था कि आधुनिक युग की विचारधाराओं को समझना चाहिये·······हमें जान पड़ता है कि स्वामिभक्ति की भावना उनके लिये जीवित रहने और आगे बढ़ने का एक सहारा थी।"[2] सत्य तो यह है कि देश का नेतृत्व करने के लिये जिस त्याग तपस्या की आवश्यकता होती है उसका इनमें अपेक्षाकृत अभाव था।

यह कहना तो नितान्त असत्य होगा कि देशोन्नति तथा हिन्दी का अभिनव युग निर्माण करने में भारतेन्दु का कोई स्थान नहीं था अथवा उनका स्थान किसी सहयोगी से कम था, पर स्वामीजी का और उनका क्षेत्र पृथक् था। एक ही भाषा में विचार व्यक्त करने की प्रेरणा देते हुए भी एक का ध्यान मुख्यतः धर्म प्रचार की ओर था और दूसरे का साहित्य प्रचार की ओर, यदि एक में योग ब्रह्मचर्य और स्पष्टवादिता की शक्ति नहीं थी तो दूसरे को प्रहसन, नाटक और शृंगार परिपूरित काव्य लेखन का अभ्यास नहीं था। स्वामीजी ने जो कुछ कहा है वह स्पष्ट और निर्भीक भाषा में जबकि भारतेन्दु के कथन पर कहीं रूपक, कहीं अन्य आवरण पड़ा हुआ है। भारतेन्दु ने जो कुछ किया वह हिन्दुओं और हिन्दी भाषा वालों के कल्याण के लिये है जबकि स्वामीजी का साहित्य विश्व कल्याण के लिये है। भारतेन्दु ने हिन्दी को खड़ी बोली का बाना पहनाया, नाटकों का श्रीगणेश किया, निबंधों का प्रवर्तन किया, कई नवीन विधाओं का सृजन किया, नये लेखकों की मण्डली बनाई और स्वामीजी ने खड़ी बोली के गद्य को परिष्कृत किया, उसको तार्किक शैली दी, तुलनात्मक साहित्य की आधारशिला रक्खी और भारतेन्दु की अपेक्षा हिन्दी का अधिक प्रचार-प्रसार किया। डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त ने सत्य ही लिखा है, "इस अल्पकाल और प्रतिकूल परिस्थिति में अनेक बाधाओं से लड़ते हुए हिन्दी के लिये जो कार्य किया उसका मूल्य भारतेन्दु से अधिक है और स्तुत्य है।"

पं. बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु युग के लेखकों में सर्वाधिक आयु प्राप्त करने वाले पण्डित बालकृष्ण भट्ट थे। उनके निबंध संख्या की दृष्टि से इतने अधिक थे तथा शैली की दृष्टि मे इतने विशिष्ट थे कि

---

[1] हिन्दी साहित्यः समस्याएं और समाधान, पृष्ठ १४७

[2] उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—एहतेशाम हुसैन, पृष्ठ १९२-९३

डा० श्यामसुन्दर दास ने उन्हें हिन्दी का 'मानतेङ् (Montaign) कहा है। "वह अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं।"[1] तथा कुछ लोगों के अनुसार निबंध की दृष्टि से इस युग को भारतेन्दु युग न कहकर 'भट्ट युग' अथवा 'बालकृष्ण भट्ट युग' कहा जाना चाहिये। भट्टजी भारतेन्दु युग के अन्यतम कलाकार थे, अतः यह सिद्ध करने के उपरांत कि भारतेन्दु पर स्वामीजी का प्रभाव पड़ा था इसकी आवश्यकता नहीं रहती कि यह भी सिद्ध किया जाय कि भट्टजी भी स्वामीजी से प्रभावित थे। सम्पूर्ण युग के प्रभावित होने पर अंगविशेष तो प्रभावित होगा ही। काशी शास्त्रार्थ के दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का निधन भट्टजी के सामने ही हुआ था और दोनों के संबंध में उन्होंने अपनी सम्मति 'हिन्दी प्रदीप' में दी थी। दोनों सम्मतियां हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं ताकि सरलता से ज्ञात हो सके कि उनकी आस्था किस में थी।

बाल शास्त्री विषयक सम्मति—तत्कालीन काशी के उच्चतम विद्वान् पं. बाल शास्त्री के संबंध में 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा है, "....अब द्विगुणशोक हमें इस बात का है कि ऐसे-ऐसे महान् पण्डित भी इन प्रान्तों में खासकर काशी में धनी-मानी राजा बाबुओं को उल्लू बनाय खूब रुपया ऐंठने के सिवाय अपना नाम चिरस्मरणीय रखने के लिये कोई बात नहीं छोड़ जाते न संस्कृत को ही किसी तरह फायदा उनकी जात से पहुँचता है, न लोकोपकार महावृक्ष की जड़ सींचने की इच्छा से एक चुल्लू पानी अपने जीते जी उस पर कभी वे छोड़ते होंगे। पामर लोगों के समान ये लोग भी प्रजा को ठग मनमाना खाया, लुटाया और जहां तक धन-संचय करते बन पड़ा किया। अन्त को जैसे आए वैसे मुंह बाये चल खड़े हुए। बाल शास्त्री ने तो लोकोपकार एक ओर रहे, विद्या के अजीर्ण में आय हाल में विधयोद्धार खण्डन पर कुछ लिखा था। वाह अक़ल, पढ़ा-लिखा सब कुछ, पर पुराने ख्याल की जिन्दगी दूर न हुई।"[2] किसी की मृत्यु पर इन शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है पर इससे भट्टजी की स्पष्ट सम्मति तो प्रकट हो ही जाती है।

दयानन्द विषयक सम्मति—जिस प्रकार उपर्युक्त सम्मति को पाकर यह विश्वास करना कठिन है कि यह किसी सनातनी पंडित की लिखी हुई है, उसी प्रकार स्वामीजी विषयक सम्मति को जानकर यह विश्वास करना कठिन है कि यह किसी आर्यसमाजी विद्वान् की नहीं है। हमारा तो यह विश्वास है कि भट्टजी और कुछ न लिखकर केवल यह सम्मति ही लिख देते तो भी स्वामीजी का उन पर कितना प्रभाव था, यह स्पष्ट हो जाता...."....आर्यसमाज की बांह टूट गई, सरस्वती का भंडार लुट गया, यहां के बिगड़े समाज के संशोधन का फाटक ढह गया, यह भी इन्हीं महात्मा का पुरुषार्थ है कि भारतवर्ष के धर्म तत्व का सर्वस्व वेद....सब जाति और चारों वर्ण के लोग समझने लगे....।"[3] इसके बाद तो उनकी भाषा अत्यधिक भावुकता पूर्ण हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षात् सरस्वती ही उनकी लेखनी पर विराज गई है, "हा ! आज भारतोन्नति कमलिनी का सूर्य अस्त हो गया, हा ! वेद का खेद मिटाने वाला सद्वैद्य गुप्त हो गया। हां दयानन्द सरस्वती, आर्यों की सरस्वती

---

[1] हिन्दी निबंधकार—जयनाथ नलिन, पृष्ठ ७३

[2] दयानन्द दिग्विजयार्क—गोपालराव हरि, पृष्ठ २४१

[3] वही, पृष्ठ २००

जहाज का पतवारी, बिना दूसरे को सौंप तुम क्यों अंतर्धान हो गये ? हा ! सच्ची दया के समुद्र, हा ! सच्चे आनन्द के वारिद, अपनी विद्यामयी लहरी और हितोपदेश रूपी धारा से परितृप्त भारत भूमि को आर्द्र कर कहां चले गये !····हा, अब वे परोक्ष बल दर्शक शृगाल गण, जो तुम्हारे सिंहनाद के भय से छिपते फिरते थे, आज ऊँचे टीले पर बैठ कर पूंछ फटकारेंगे और वे उच्छिष्टभोगी पेटार्थी कौवे, जो अपने पेट के कारण तुम्हें वैरी जानते और कांव-कांव करते डोलते फिरते थे, सो सब कैसे आज मन-मगन हो आनन्द बधाई बजायेंगे। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इस अभागे भारत की भलाई और कल्याण के प्रयत्न में आपने अपने जीवन पर्यन्त एक क्षण का भी अन्तर नहीं डाला।···हा निर्लेप निःस्वार्थ शिक्षा प्रदायक हा बंधु, वात्सल्य-कुल-कुमुद सुधाकर ! इस नीच और खोटे भाव भरे भारत देश में भटकते-भटकते आप कहां से आ गये।····हमको क्योंकर आशा हो कि आपके उस भारी बोझ उठाने और असिधारापथ पर चलने का फिर भी कोई साहस वांधेगा ?····इस उजाड़ विजाड़ विपिन को सनाथ किये बिना क्यों इस वेग से ऊपर को उठ धाये ? क्या कोई पाखण्ड मत सुरलोक में भी फैला है जिसके निर्दलन के लिये आप झटपट वहां को सिधारे।····"[१] इतना कुछ भी उन्होंने तब लिखा है जब कि वे स्वामीजी से उनकी मृत्यु के १३ वर्ष पूर्व केवल एक बार मिले थे तथा उनसे संस्कृत में थोड़ी देर के लिये वार्तालाप किया था। स्वामीजी कई बार उस नगरी में पधारे पर भट्टजी अपने हृदय को "उनकी शिक्षा जनित कर्त्तव्य के अयोग्य बंधनासक्त"[२] पाकर पुनः उनसे न मिल सके।

जीवन सम्बन्धी कुछ विशेषतायें—भट्टजी के नाना उन्हें दुलारवश 'फ़ुशुन' नाम से पुकारते थे। पाठशाला जाने में उन्हें कोई रुचि नहीं थी, "कभी-कभी रास्ते में भालू का नाच देखते रह जाते। कभी मण्डी चले जाते और वहां अनाज की गाड़ियां गिनते, सराय की मशहूर दो कुंजड़ियों का प्रायः देवासुर संग्राम देखते····"[३] इतना ही नहीं जो कुछ देखते घर पहुंच कर उसी भाषा, उसी अन्दाज में नकल भी करते थे। अधिकांश जीवन उन्होंने ननिहाल में व्यतीत किया, यहां उन्हें अत्यन्त निर्धनता में दिन व्यतीत करने पड़े। जिस प्रकार मथुरा में स्वामीजी को लाला गोवर्धन सर्राफ अध्ययन करने के लिये चार आने महीना तेल का व्यय दिया करते थे, कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति बचपन में भट्टजी की थी, घर में इतना तेल सुलभ नहीं था कि भट्टजी पढ़ पाते। मौसी जब सो जाती तो दिये से बचा खुचा तेल ले आते और अध्ययन करते।[४] भट्टजी तथा स्वामी दोनों में ज्ञान पिपासा अथाह थी। संस्कृत का अध्ययन तो दोनों महानुभावों ने किया था पर अंग्रेजी का ज्ञान स्वामीजी को अत्यल्प था, भट्टजी का अंग्रेजी का ज्ञान भी इतना था कि बाइबिल की परीक्षा में उन्हें ईसाइयों से अधिक अंक मिलते। काशी में युनिवर्सिटी (इंट्रेन्स) परीक्षा में यही एक विद्यार्थी थे जिसने अन्य भाषा के रूप में संस्कृत ली थी, अतः किसी गड़बड़ी के कारण उनकी फ़ीस जमा न हो सकी, दूसरे वर्ष भी उचित व्यवस्था के अभाव में इनकी फ़ीस वापस कर दी गई। परिणामतः इन्हें शेष शिक्षा अपने घर पर ही पूर्ण करनी पड़ी।

---

[१] दयानन्द दिग्विजयार्क, पृष्ठ २०१
[२] वही, पृष्ठ २०३
[३] पं. बालकृष्ण भट्टः व्यक्तित्व और कृतित्व—डा० मधुकर भट्ट, पृष्ठ ८
[४] वही, पृष्ठ ११

ईसाई विद्यालय में अध्ययन करने के बाद भी इन पर ईसाइयत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, जिससे ईसाई लोग इनसे जलने लगे। कुछ समय बाद परिस्थितियों से विवश हो इन्होंने मिशन स्कूल का अध्यापन छोड़ दिया। एक बार स्वप्न में इन्होंने देखा कि इनके एक गुरु पादरी डेविड (जो इनसे बहुत स्नेह करते थे) कह रहे हैं कि उन्होंने हिन्दुत्व को स्वीकार कर लिया है। अगले दिन भट्टजी ने उनका पिण्डदान किया। भट्टजी का पारिवारिक जीवन भी बड़ी दुविधाओं में बीता, पिता उन्हें लक्ष्मीभक्त बनाना चाहते थे और पुत्र को सरस्वती सेवक बनने की सनक थी, संघर्ष अवश्यंभावी था, छोटे भाई और बहू तथा परिवार के अन्य सदस्यों ने वैमनस्य की आग को बढ़ाने में घी का काम किया। परिणामतः इनकी पत्नी पर अधिकाधिक अत्याचार किया जाने लगा और अंततोगत्वा इन्हें घर छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। भट्टजी को घर में सम्मान न मिलने का कारण इनके उग्र विचार थे। इनके द्वारा किया गया बाल्य-विवाह विरोध, विधवा विवाह समर्थन, स्त्री शिक्षा का अनुमोदन घर के व्यक्तियों को रुष्ट करने के लिये पर्याप्त कारण था। इतने विरोध में रह कर भी भट्टजी ने पर्याप्त समय तक घर का मोह नहीं छोड़ा और जो यातनायें, कष्ट ताने-तिश्ने और अत्याचार उन्होंने वहां सहे, वे ही कालान्तर में साहित्य का सम्बल बन गये। कितने क्षुब्ध होकर इन्होंने गृहत्याग किया होगा, इसकी कल्पना इससे की जा सकती है कि अपनी पत्नी के पास घर के गहनों की पिटारी देखकर इन्होंने उस पिटारी को कुए में फैंक दिया था। गृह त्याग स्वामीजी ने भी किया था, पर दोनों के कारण कुछ अंशों में समान होते हुए भी अधिकांश में भिन्न थे।

एक दिन ऐसा भी आया जब लाखों की सम्पत्ति के मालिक उनके पिता ने महायात्रा की। उनका पिंडदान करते समय भट्टजी ने भगवान् से निम्न तीन वर मांगे जो किसी के लिये भी विस्मयकारी हो सकते हैं —

१. पैतृक सम्पत्ति में से एक पैसा भी हमें न मिले।

२. हमारे पुत्र कन्यादि सभी का चरित्र निर्मल रहे और उनसे मेरा विछोह न हो।

३. हमारा एक पुत्र संस्कृत का विद्वान् हो।"[१] ....समय ने उनकी तीनों इच्छाओं को पूर्ण किया।

स्वामीजी के समान विचार अथवा उनके विचारों का प्रभाव—भट्टजी न तो आर्य समाज के सदस्य थे और न स्वामीजी के शिष्य, पर उनके अनेक विचारों और शिक्षाओं का समर्थन करते थे, कुछ पौराणिक प्रक्रियाओं के संबंध में उनका स्वामीजी से मतभेद था, किन्तु पर्याप्त विषयों में वे उनके विचारों का समर्थन ही करते थे :

१. बाल विवाह तथा अनमेल विवाह का विरोध—बाल विवाह को भट्टजी हिन्दू समाज के लिए कलंक समझते थे। एक स्थल पर तो वे ऐसे धर्म को 'सनातन धर्म' मानने के लिये भी उद्यत नहीं थे। उन्होंने लिखा है, "जिसमें सात वर्ष की कन्या ब्याही जाय, जिसमें आठ कन्नोजिये नौ चूल्हे हों, जिसमें लड़कपन से ही क्षीर-कण्ठ बालक का ब्याह करके स्वच्छन्द

---

[१] पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व—डॉ. मधुकर भट्ट, पृष्ठ ३९

जीवन का पांव तोड़ दिया जाये……वह सनातन धर्म क्या विचारवान् लोगों के पोषण योग्य है……वह स्वार्थी धर्म, शास्त्र-बहिर्मुख, यजमान सर्वस्व ब्राह्मणों का रुपया कमाने का इन्स्ट्रुमेन्ट है……।"[१] इसी प्रकार उन्हें अनमेल विवाह तथा बहु विवाह की प्रथा से भी चिढ़ थी। जो कुछ उन्होंने लिखा, वह केवल लिखने मात्र के लिए नहीं था, वे उस पर आचरण भी करते थे। एक बार उनके पिता पं. वेनीप्रसाद भट्ट को दूसरा विवाह करने का शौक चर्राया था, भट्टजी ने इसका विरोध किया और सफल भी हुए, "……कोई लड़का इतना बेढब नहीं हो सकता कि अपने बाप को दूसरा विवाह करने से रोके जब वे मुगली जूता, तंजेब का कुर्ता, शिर पर समला और आंखों में सुरमा लगा दूसरे विवाह को चलने के लिये तैयार हो गये। यह उनका पैर पकड़ कर बैठ गया। यह लड़का था या रेल का बन्द फाटक।"[२]

विधवा विवाह—विधवा विवाह के विषय में उनके विचारों में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। डा० राजेन्द्र शर्मा उन्हें विधवा विवाह का समर्थक घोषित करते हैं, श्री गोपाल पुरोहित लिखते हैं कि "विधवा विवाह के विरोधी थे। उनका विचार था कि बाल विवाह के रुक जाने पर वह स्वतः रुक जायेगा……।"[३] सत्य यह है कि वे अबोध बालिकाओं जिन्होंने पति का मुंह भी न देखा हो, विवाह के घोर पक्षपाती थे। इस विषय में उनके विचारों का स्वामीजी के विचारों से बहुत कुछ साम्य है। जाति भेद को उन्होंने स्पष्टतः कर्मानुसार तो नहीं माना, पर वे जाति भेद, वर्ण भेद और सम्प्रदाय भेद को हिन्दू समाज के लिये अनिष्ट-कारक अवश्य समझते थे।

अन्य सामाजिक कुप्रथायें—स्वामीजी के समान वे भी विदेश यात्रा के समर्थक थे, पर विदेशों में पहुँचकर चरित्र भ्रष्ट हो जाना उन्हें रुचिकर नहीं था, ……"वह मनुष्य हमारे किस काम का जो विलायत जा भ्रष्ट हो गले में एक गोरी बीवी बांध बिल्कुल साहब बन लौटे और यहां अपने ही भाई बन्धु से घृणा करे।"[४] यद्यपि स्वामीजी के समान उन्होंने स्पष्ट रूप से ब्रह्मचर्य धारण करने का निर्देश तो नहीं दिया तथापि वे बहु सन्तान विरोधी थे। हिन्दुओं में किसी का जन्म सुन उन्हें कुढन ही होती थी, वे कहते थे गीदड़ों में एक की वृद्धि और हो गई "……हम सब गीदड़ों की जाति के हैं, एक गीदड़ और बढ़ गया, इससे क्या हुआ? अगर हम सिंह के पैदा होने की खबर सुनते तो खुशी मनाते।"[५] अपने साहित्य द्वारा उन्होंने अस्पृश्यता निवारण का प्रयत्न किया, सनातन धर्म के ठेकेदार पेटू ब्राह्मणों पर वे सदा कुपित रहते थे। ब्राह्मणों की धनलिप्सा पर जितना व्यंग्य उन्होंने किया है, उतना बहुत कम लोगों ने किया होगा, "ब्राह्मण लोग हैं जिनसे बावर्ची खाने का काम ले लो……घर में कोई मर जाय लाश ढोआ लो, क्रियाकर्म करने वाला कोई न मिलता हो वह भी इनसे करा लो, कुछ रुपया खर्चो, भोजन करा दो बस……।"[६] स्वामीजी के समान ही वे तीर्थ यात्रा को ढोंग समझते थे।

---

१. निबंधकार बालकृष्ण भट्ट—श्री गोपाल पुरोहित, पृष्ठ ४६

२. पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ ७२

३. निबंधकार बालकृष्ण भट्ट, पृष्ठ ४८

४. पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ ६४

५. वही, पृष्ठ ५१ ६. वही, पृष्ठ ६७

पाखण्ड तथा अन्धविश्वास से किसी प्रकार का समझौता करने के लिये वे तैयार नहीं थे। उन्होंने स्वामीजी के समान वर्णाश्रम व्यवस्था का कहीं उल्लेख नहीं किया है, पर वे संयुक्त परिवार व्यवस्था के पूर्णतः विरुद्ध थे। स्वामीजी के समान ही उन्होंने स्त्री शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया है, उन्हीं के समान वे संस्कृत भाषा की भी प्रतिष्ठा करना चाहते थे।

उनके द्वारा रचित (तथाकथित) १८ नाटकों तथा ८ उपन्यासों में स्पष्टतः ऐसा कुछ नहीं है जिससे स्वामीजी की विचारधारा का खण्डन अथवा मण्डन होता हो। ये सभी रचनायें प्रायः उनके पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुई हैं, अधिकांश रचनायें आदर्शात्मक तथा उपदेशात्मकता से बोझिल हैं। प्रयत्न करने पर ऐसे कुछ अंश निकाले जा सकते हैं जहां उनका स्वामीजी से विचार साम्य हो। अपने नाटक 'इंग्लैण्डेश्वरी और भारत जननी' में उन्होंने प्रसुप्त एवं पराधीन भारतीयों को जगाने का प्रयत्न किया है, 'वेणुसंहार' में उस राजा का वर्णन है जो ऋषि-मुनियों, ब्राह्मणों, गौ और जनता पर अत्याचार करता था जिसने अपने राज्य में घोषणा करवाई थी "........उसके राज्य में कोई ईश्वर का नाम न ले, यज्ञ, दान और हवन आदि कर्म न करें......."[1] 'शिक्षा दान' में उन्होंने वेश्यागमन के कुपरिणाम का चित्रण किया है। 'आचार विडम्बन' प्रहसन में उन्होंने माधवाचार्य के माध्यम से समाज में फैले ढोंगी, पतित पाखण्डी और धोखेबाज व्यक्तियों का चित्रण किया है। 'रहस्य कथा उपन्यास' में भी उन्होंने बाल विवाह तथा अनमेल विवाह की समस्या का चित्रण किया है। 'गुप्त वैरी' में भी उन्होने समाज के आडम्बर तथा भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया है, गोसाईयों के बारे में उनकी सम्मति स्वामीजी से बहुत कुछ मिलती है, "........ये गोसाई संन्यासी कुख्यात डाकुओं से भी खतरनाक और भयंकर, हत्यारे और निष्ठुर होते हैं।"[2] उनका 'नूतन ब्रह्मचारी' बच्चों के चरित्र निर्माण के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है। 'संद्भाव का अभाव' में पुनः बाल विवाह, वेश्यावृत्ति और पाखण्ड का यथार्थ चित्रण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने साहित्य में सदा आदर्श का पल्ला पकड़ा, उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति को अपनाया, देश कल्याण की चिन्ता की और अपने राजनैतिक विचारों को निर्भीक स्वरों में अभिव्यक्त किया।

निष्कर्ष—भट्टजी आर्यसमाजी न होते हुए भी आर्यसमाज अथवा स्वामीजी से प्रभावित अवश्य थे। एक बार एक व्यक्ति ने भट्टजी से पूछा—"आप किस मत के अनुयायी हैं? सनातन धर्म या आर्यसमाज के?" भट्टजी ने जवाब दिया "बुद्धि के।"[3] उस समय की मान्यता के अनुसार बुद्धि का पर्याय आर्यसमाज ही माना जाता था, स्वामीजी के धार्मिक कार्यों से उनकी सहानुभूति नहीं थी पर सामाजिक सुधार आदि से वे पूर्णतः सहमत थे, वे अक्सर कहा करते थे—"....जीवन यदि किसी सम्प्रदाय या समाज में है तो आर्यसमाज में...."[4] एक अन्य प्रसंग में उन्होंने कहा है "....स्वामीजी की जो अच्छी बातें हैं वह तो मैं डंके की चोट पर मानता हूं और उन सिद्धान्तों का कायल हूं।"[5] स्वामीजी की भांति उन्होंने भी संस्कृत का प्रचार किया पर उनका साहित्य सृजन एक ओर तो विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से किया गया था दूसरी ओर उनका

---

१. पं. बालकृष्ण भट्टः व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ ३३२

२. वही, पृष्ठ २४६

३. वही, पृष्ठ ५९

४. वही, पृष्ठ ६९

५. वही, पृष्ठ ६६

क्षेत्र वैदिक साहित्य न होकर लौकिक साहित्य था। स्वामीजी तथा भट्टजी दोनों ने ही अपनी रचनाओं से हिन्दी के भण्डार को भरा, अपने-अपने ढंग से उसका प्रचार किया, धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया, सैद्धान्तिक समझौतों में झुकना स्वीकार नहीं किया, दोनों ने ही हिन्दी को तर्कपूर्ण, आवेशमयी मुहावरेदार, संस्कृतनिष्ठ शैली दी और देशहित को सर्वोपरि समझा।

पंडित प्रताप नारायण मिश्र

भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों में तीसरे लेखक हैं पंडित प्रताप नारायण मिश्र। श्री हंस कुमार तिवारी ने उन्हें 'भारतेन्दु युग के ही नहीं वरन् हिन्दी साहित्य के आत्म व्यंजक निबंधकारों के प्रतिनिधि'[१] माना है। इन्होंने प्रताप चरित्र नामक पुस्तक में अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है, पर अपने विषय में वे मौन ही रहे हैं। उन्होंने अपने कई उपनाम 'ईश्वरालम्बित, प्रेमदास तथा बरहमन' रक्खे थे और न केवल पद्य में अपितु गद्य में भी कभी-कभी उनका प्रयोग किया करते थे। कुछ लोग उनकी जन्म भूमि कानपुर समझते हैं पर कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार यह बैथर थी, "....हमें कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हुई है जो मिश्रजी को बेजगांव (बैथर) में उत्पन्न सिद्ध करती है।"[२] पिता ने उन्हें संस्कृत का ज्ञान कराया था जो इन्होंने अनमनेपन से किया, मिशनरी स्कूल में इंगलिश अनिच्छापूर्वक पढ़ी तथा उर्दू व फारसी का भी इन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका जीवन अभाव और चिन्ताओं में ही व्यतीत हुआ जिसके कारण ये सदा अस्वस्थ ही रहे, बवासीर तो इनके पीछे इस बुरी तरह पड़ी कि ये अंत तक उससे मुक्त नहीं हो सके। अपने पत्र 'ब्राह्मण' में भी वे कई बार ग्राहकों से प्रार्थना करते थे कि कोई उनको अनुभूत औषधि लिख कर भेज दें, "उन्हें नास सूंघने का व्यसन था....वे सांस बन्द करके घण्टों मुर्दों की तरह पड़े रहने के भी अभ्यस्त थे....।"[३]

'मिश्र बंधुओं' के अनुसार "....और जातीयता तो इनमें कूट कूट कर भरी थी....।"[४] इन्होंने अपने समाचार पत्र का नाम ही 'ब्राह्मण' रखा था। इतने पर भी ये ब्राह्मणों पर व्यंग्य करने में किसी से पीछे नहीं थे—

> "का खा गा घा हूं बिन पढ़े तिरवेदी पदवी धारण।
> कलहप्रिय जियत कनौजिया भारत कंह गारत करन।"[५]

ये भारतेन्दु के परम भक्त थे, एक बार तो ब्राह्मण होते हुए भी इन्होंने उनके चरण स्पर्श किये थे, "........एक बार जब वे भारतेन्दुजी से मिलने गये तो उनके चरणों में लोट गये थे....।"[६] भारतेन्दुजी के जीवित रहते ही लेखकों ने इन्हें उनका

---

[१] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, १३वां भाग—लक्ष्मीनारायण सुधांशु
निबन्ध का उदय—श्री हंस कुमार तिवारी, पृष्ठ ९८

[२] प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन—डा० शांतिप्रकाश वर्मा, पृष्ठ २९

[३] वही, पृष्ठ ३७

[४] मिश्रबन्धु विनोद (खण्ड ३-४), पृष्ठ १७७

[५] प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन, पृष्ठ ३८

[६] वही, पृष्ठ ४७

उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया था, भारतेन्दु के समान इनकी मृत्यु भी अल्प आयु (३८ वर्ष) में हो गई थी।

साहित्य पर स्वामीजी का प्रभाव—भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में संभवतः स्वामीजी का सर्वाधिक नामोल्लेख उन्होंने ही किया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे सदा स्वामीजी के विचारों के पक्ष में ही थे, पर उन पर पक्ष अथवा विपक्ष में उन्होंने चर्चा अवश्य की है। नीचे हम कुछ प्रसंग उद्धृत कर रहे हैं जिनसे उनकी विचारधारा का कुछ ज्ञान हो सकेगा—

(क) प्रताप नारायण मिश्र का एक नाटक 'गो संकट' कहा जाता है। यद्यपि यह नाटक आजकल अनुपलब्ध है, फिर भी इसके नाम से इतना तो ज्ञात होता ही है कि इसमें गोरक्षा की चर्चा की गई होगी और संभवतः इसकी प्रेरणा उन्हें 'गोकरुणानिधि' से मिली होगी।

(ख) उनके 'जुआरी खुआरी' नाटक में तो मुहूर्त देखने वाले ज्योतिषियों और मुहूर्त दिखलाने वाले सामाजियों पर प्रबल व्यंग्य है। इसमें चार लाला जुआ खेलने की योजना बनाते हैं और 'उनमें से एक पंडित से जुआ खेलने का मुहूर्त निकलवाता है....'[1] जुए तथा फलित ज्योतिष के विरोध में स्वामीजी ने भी बहुत कुछ लिखा है।

(ग) उनका एक नाटक 'भारत दुर्दशा' है जो भारतेन्दुजी के इसी नाम के नाटक के अनुकरण पर बना है। "इसमें व्यभिचार, मांस-मदिरा सेवन, भंड-साधुओं के कपट, दुराचारियों के अनाचार आदि दिखलाये गये हैं।"[2] इसके उन्नीस पात्र में से एक पात्र आर्यसमाजी भी है।

(घ) दयानन्द का नाम—दयानन्द का नाम प्रताप नारायण ग्रन्थावली में अनेकों बार लिया गया है। कहीं उनके प्रति सम्मान भी व्यक्त किया गया है और कहीं उपेक्षा दृष्टि भी बर्ती गई है। कुछ प्रसंगों का विवरण हम यहां दे रहे हैं। "हम तुम्हें पोप का चेला कहें तुम हमें दयानन्दजी गपास्टक वाला बनाओ....(पृष्ठ ३), 'अपना सर्वस्व खोकर हमारे घाऊघप्प पेट को ठांस ठांस न भरें वही नास्तिक, जो हमारी बेसुरी तान पर वाह-वाह न किए जाय वही क्ष्टान, हम से चूं भी करें सो दयानन्दी' (पृष्ठ ४), 'जहां किसी महात्मा ने कोई देशहित की नई बात निकाली, जो तो आप कुछ उसे न समझे तो बस झूठ उसे नास्तिक किरिस्तान या दयानन्दी खिताब दे दिया' (पृष्ठ २२), 'आज स्वामी रामानुज शंकराचार्य केशव दयानन्द प्रभृति आर्य गुरुवर के अमृतोपदेश की....' (पृष्ठ ८०), '....स्वामी दयानन्द चल बसे। छाती पर पत्थर धर लिया' (पृष्ठ ८१), 'परमेश्वर की दया और स्वामी दयानन्दादि सत्पुरुषों के उद्योग से अब वह दिन तो नहीं रहे' (पृष्ठ १५७) 'दयानन्द स्वामी घर की तहसीलदारी छोड़के फकीर भये थे, विद्या भी साधारण न थी, रूप भी दर्शनीय था, बुद्धि में भी चमत्कार था। क्या वह चाहते तो दस बीस राजाओं को भी न मूडते, दो चार गांव भी अपनी मुट्ठी में न कर लेते' (पृष्ठ १७२), 'परमेश्वर ने बड़ी दया की कि स्वामी दयानन्द, बाबू केशवचन्द्र, मुंशी कन्हैयालाल आदि पुरुषरत्नों को उत्पन्न कर दिया, जिनके वचनरूपी वरुणास्त्रों से क्रिस्तानी की भयानक अग्नि बहुत कुछ शान्त हो गई' (पृष्ठ १९२), '....इसके अनन्तर दयानन्द स्वामी....उनका मुख्य

---

[1] प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन, पृष्ठ ६४

[2] हिन्दी नाट्य साहित्य—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १३३

प्रयोजन भारत संतान को घोर निद्रा से जगाना था....(पृष्ठ ३३३), 'स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती, स्वामी दयानन्द सरस्वती....इत्यादि की प्रतिष्ठा किस विदेशी भाषा के पंडितराज से कम है' (पृष्ठ ३८३), 'जिन जिन ग्रामों में भी श्री स्वामी दयानन्दजी की शिक्षा ने प्रवेश पाया है वहां के लोगों ने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी कि वे उद्योग, उत्साह और दृढ़ता में किसी से कम नहीं हैं' (पृष्ठ ३९९), '....उन समझदारों के लिये कोई औषधि नहीं है जो केवल दयानन्दी भाष्य ही को वेद समझ बैठे हैं' (पृष्ठ ४९५), 'इसी बात पर ध्यान दिये बिना दयानन्द स्वामी सोचते सोचते परमधाम को पधार गये फिर तर्कालंकार का थक जाना क्या अचंभा है' (पृष्ठ ४९७), '...हमें श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रतिकृति अथवा वेद भगवान से वैर नहीं है पर साथ ही यह भी जिद नहीं है कि इनके सिवा और सब बुद्धि विरुद्ध है' (पृष्ठ ५१६)। इन उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मिश्रजी ने स्वामीजी को अथवा उनके सिद्धान्तों को अपने चिन्तन का विषय बनाया था।''

(ङ) आर्यसमाज चर्चा—स्वामीजी के अतिरिक्त उन्होंने आर्यसमाज का उल्लेख भी अपने लेखों में अनेक स्थलों पर किया है जिसमें से कुछ स्थल निम्न हैं—''....तिस पर भी आर्यसमाज थियोसोफिकल समाज वह विघ्न है कि अपनी चलते किसी प्रकार दूसरों को टही (दही) जमने ही नहीं देते' (पृष्ठ १५९), '....पितृ पक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते-कुढ़ते सूख जाते होंगे....' (पृष्ठ २५२), 'यदि ऐसा होता कि आर्यसमाजियों में आर्य, सनातन धर्मियों में पंडित महाराज, मुसलमानों में मुल्लाजी, ईसाइयों में पादरी साहब इत्यादि ही उपदेश करते तब कोई हानि नहीं थीं' (पृष्ठ २८०) 'जबकि आर्यसमाजी, जो वेद को भी मानते हैं और खाद्याखाद्य का भी विचार रखते हैं, वे ही समाज में पूर्णरूपेण आदरणीय नहीं है' (पृष्ठ ३२०) '....हां उसी के अन्तर्गत कुछ आर्यसमाज की करतूत भी दिखलाई गई थी जिसका खण्डन करना और सच्ची घटना का मान लेना, प्रत्येक समाजी का कर्त्तव्य था....'(पृष्ठ ४९४), '....परमेश्वर न करें कहीं उनके कथनानुसार आर्यसमाज वालों की सी समझ सब की हो जाय तो आज काशी, मथुरादि सैंकड़ों नगर नष्ट हो जायें, सहस्रों देशवासियों की रोटी हर जायं' (पृष्ठ ४९६), 'हमारे बहुत से मित्र आर्यसमाजी हैं, बहुतेरे अंग्रेजी ढंग के हैं, बहुतेरे हमारे ऐसे हैं, वे भी कभी लगावेंगे तो त्रिपुण्ड ही लगावेंगे। माला या कंठा रुद्राक्ष ही की पहनेंगे' (पृष्ठ ६३५)।'' आदि उद्धरणों में आर्यसमाज उनके मस्तिष्क पर छाया हुआ अवश्य प्रतीत होता है।

(च) कृष्णचरित्र तथा बालशिक्षा—मिश्रजी ने कृष्ण चरित्र को स्वामीजी के समान ही उज्ज्वल माना है। वे उन्हें नर्तक मात्र ही नहीं मानते, उन्होंने लिखा है, ''अरे उन सज्जन महात्माओं को क्यों बदनाम करते हो? हां, रासधारियों के ठाकुर को चाहो तो करो... महाभारत में उनके धर्म निष्ठता, धीरता, वीरता और गंभीरतादि सद्‌गुणों की कैसी स्थिति है।''[1] बच्चों की शिक्षा की ओर भी मिश्रजी ने ध्यान दिया है, स्वामीजी के 'मातृमानपितृमानाचार्यमान् पुरुषो वेद:'[2] को उन्होंने ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। इसी प्रकार उन्होंने स्वामीजी द्वारा

---

[1] प्रताप नारायण ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड—विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ २

[2] वही, पृष्ठ २३२

प्रतिपादित 'माता शत्रु: पिता वैरी येन बालो न पाठितः'[1] का भी अनुमोदन किया है। सामान्यतः उन्होंने भी बाल विवाह का निषेध किया है, "....बाल विवाह की कुरीति उठाई होती....(पृष्ठ ३), 'अरे भाई, यह बाल विवाह का प्रभाव है, वीर्य रक्षा न करने का प्रभाव है, इसमें युग विचारे का क्या दोष है ?' (पृष्ठ २३), 'पूत के लिये बाल्य विवाह दूरीकरण' (पृष्ठ ४७), 'आर्यावर्तीय जनों को सर्वथा अनिष्ट होने के कारण वेद शास्त्र, पुराण तो क्या बाल्य विवाह की विधि, आज्ञा वा प्रमाण आल्हा तक में नहीं है' (पृष्ठ ११४), आदि में उन्होंने स्पष्ट बाल विवाह का निषेध किया है पर एकाध स्थल पर इस विषय में उनके कदम बहक भी गये हैं। एक निबंध में बाल्य विवाह पर किंचित् समर्थन करते हुए वे लिखते हैं "....उन्होंने जहां कन्या की विवाह योग्य अवस्था आठ, नौ वा दश वर्ष की ठहराई है वहीं 'कन्यायाः द्विगुणोवरः' भी लिख रखा है।"[2] इसी प्रसंग में वे आगे लिखते हैं कि "हानि छोटी आयु के समागम से होती है न कि विवाह मात्र से"[3] इस एकाकी प्रसंग में खींचतान कर उन्होंने निष्कर्ष यह निकाला है कि विवाह बचपन में किया जा सकता है पर गौना वय प्राप्त होने पर ही किया जाना चाहिये। स्वामीजी के समान वे गन्धर्व विवाह के समर्थक नहीं हैं।

(छ) पुर्नविवाह—'पुर्नविवाह' अथवा 'विधवा विवाह' के संबंध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। एक स्थल पर वे लिखते हैं, "इसी प्रकार ऐसे लोगों को भी सजा ठहरा दी जाय जो कामवती बाल विधवाओं के पुर्नविवाह में बाधक होते हैं तो सोने में सुगंध हो जाये।"[4] दूसरी ओर वे यह भी लिखते हैं, "....और यदि बाल विवाह की प्रथा उठ जाय तो विधवा विवाह की आवश्यकता ही न रहे। फिर यह कुसमय की रागिनी छेड़ना समय की हत्या करना न था तो क्या था ?"[5] अपने युग के अन्य लेखकों की भांति उन्होंने वेश्यावृत्ति को सदा हेय ही बताया है। जिन हिन्दुओं को विधर्मियों ने किसी कारण अपने मत में मिला लिया, उनको फिर से हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने में मिश्रजी को कोई आपत्ति नहीं है।

(ज) मूर्त्तिपूजा—मूर्त्तिपूजा के पक्षधर होते हुए भी मिश्रजी ने कुछ स्थलों पर उसका विरोध किया है। "....वही मुक्ति जगन्नाथजी के मंदिर, जहां दीवारों पर ऐसी निर्लज्ज मूर्त्तियां बनी हैं कि होली की कबीरों को मात कर दें, में आने मात्र से मिल जाती थी।"[6] तथा "यह सब पौराणिक भलीभांति जानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि नाम भिन्न-भिन्न हैं, पर हैं वास्तव में सब एक ही परमात्मा का स्वरूप और उनके हस्तपदादि भक्तों की उमंग एवं कवियों की कल्पना मात्र है। किन्तु है सब निरवयव जगदीश्वर का वर्णन...."[7] दूसरी ओर मूर्त्तिपूजा के पक्ष में उन्होंने बड़ी विचित्र युक्तियां दी हैं जो शास्त्रीय कम हैं और व्यावहारिक अधिक, "क्या ही अच्छी बात होती यदि हमारे आर्यसमाजी भ्रातृगण समझ लेते कि प्रतिमा तो पत्थर है ही, हमें एक पत्थर के लिये सर्वदा मान्य देश गुरु पंडितों को पोप कहके चिढाने की क्या पड़ी है ?" (पृष्ठ ३०), "....जिन लोगों को मूर्त्ति पूजन में श्रद्धा नहीं है उन्हें भी जातीय गौरव के

---

[1] प्रताप नारायण ग्रन्थावली, प्रथमखण्ड —विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ २३४

[2] वही, पृष्ट ४८३

[3] वही, पृष्ठ ४८४

[4] वही, पृष्ठ १३६

[5] वही, पृष्ठ ३२१

[6] वही, पृष्ठ २५

[7] वही, पृष्ठ ३३५

अनुरोध से साथ देना चाहिये' (पृष्ठ ४१३), "....लाखों रुपये की लागत के मंदिरों में विराजित, वेद मन्त्र द्वारा पूजित देव प्रतिमा तथा एक से एक मधुर कोमलकान्तपदावलीपूर्ण सहस्रावधि विद्वानों के वर्षों के परिश्रम से निर्गत धर्म ग्रन्थ मिथ्या हैं, त्याज्य हैं, पोपों का जाल हैं। छिः। ऐसे पक्षपात के पुतलों और आत्मप्रशंसकों को हम अपने हितैषी समझ लें, ऐसे हमारी समझ पर कहां के पत्थर पड़े हुए हैं ?" (पृष्ठ ४९३), "....जिस बात को एक देश सहस्रों वर्ष से, सहस्त्र भांति, श्रद्धापूर्वक अपने जीवन का सर्वस्व, नहीं-नहीं जीवितेश्वर के मिलने का सर्वोत्तम, सीधा और सच्चा उपाय मान रहा है, उसी का विरोध करके जो अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देता है वह हितैषी कदापि नहीं कहा जा सकता।' (पृष्ठ ४९२), 'फिर मूर्त्तिपूजक लोग ईश्वर को कौन सी गाली देते हैं कि उन पर आक्षेप किया जाय' (पृष्ठ ५१३), आदि। एक स्थल पर उन्होंने मूर्त्तिपूजा के पक्ष में यह भी कहा है कि इससे अनेक व्यक्तियों की जीविका चलती है।

(झ) स्त्री शिक्षा—स्वामीजी की भांति उन्होंने स्त्री शिक्षा का समर्थन किया है, "........इधर पण्डित जो आज्ञा करें 'कुछौ पढा करौ, तो पण्डिताइन खांय फेकरौं करके कहें 'काहे का अरिष्ट चातत हौ, बैलायगे हों का ? कतौं मेहरियो पढ़ती हैं ?"[1] "हमें ऐसे देशोन्नत्यभिलाषियों पर आश्चर्य आता है कि अपने घर की उन्नति किस बिरते पर किया चाहते हैं।"[2] "........पुरुषों के लिये सब कहीं पाठशाला, इनके लिये हैं भी तो नहीं के बराबर। यदि आज सब लोग इधर झुक पड़े तो शायद कुछ दिन में आशा हो।"[3] "तुम्हारे घर की स्त्रियां बकरी भेड़ नहीं हैं, उनका भी सब बातों में उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा।"[4] उनका पृष्ठपोषण करते हुए वे इस सीमा तक पहुँच गये हैं, "........उन्हें पतिव्रता बनाने के लिये इन्हें भी स्त्रीव्रत धारण करना होगा।"[5]

(ञ) वर्ण व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था के संबंध में उन्होंने पूर्णतः स्वामीजी का समर्थन नहीं किया, पर उनका स्वर बहुत कुछ उनसे प्रभावित है। जहां अवसर आया है उन्होंने ब्राह्मणों में कुछ गुणों का होना आवश्यक माना है। "....शास्त्र में लिखा है कि विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठम्....पर इन्होंने मिथ्या कुलाभिमान, जिसका वेद शास्त्र पुराण आदि में कहीं कुछ पता नहीं मिलता, उसमें ऐसा बड़प्पन मान रक्खा है जिसका कुछ ओर छोर ही नहीं।"[6] 'ब्राह्मण का अर्थ है वेद और ईश्वर को जानने वाला, पर कहिये तो कै जने आपने देखे हैं जो त्रिवेदी कहा के गायत्री अच्छी तरह जानते हैं', 'ककहरा भी नहीं जानते पर द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, त्रिपाठी आदि उपाधि बनी है।'[7] ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण के संबंध में उन्होंने कोई संकेत नहीं किया है।

(ट) अन्य विषय—स्वामीजी का विश्वास था कि आर्य भारत के ही निवासी है, वे कहीं बाहर से नहीं आये। 'मिश्रजी' ने इसी मत का समर्थन किया है, "जिन विदेशी इतिहास

---

१. प्रताप नारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड—विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ ३३५

२. वही, पृष्ठ २५-२६

३. वही, पृष्ठ २०१

४. वही, पृष्ठ ३९९

५. वही, पृष्ठ १९०

६. वही, पृष्ठ ३८

७. वही, पृष्ठ २८७

लेखकों का यह मत है कि आर्य जाति यहां की सनातन निवासिनी नहीं है……उनका कथन तो हमारी समझ में नहीं आता।''[1] मिश्रजी ने प्रायः हिन्दू के स्थान पर आर्य शब्द का ही प्रयोग किया है। स्वामीजी के समान वे भी हिन्दू का अर्थ यहां तो आर्य सन्तानों को हिन्दू, काला आदमी, बुतपरस्त, काफर, बेईमान, अधसिखिया (Half civilized) इत्यादि अवाच्य कबीरों के सुनने की लत पड़ गई है, समझते थे। पं. माधवाचार्य शास्त्री ने हिन्दू शब्द को सम्मानजनक समझा है, ''इसलिये हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि किसी भी विदेशी ग्रन्थों में अपमानजनक अर्थों में हिन्दू शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता।''[2] किन्तु उसी ग्रन्थ में एक अन्य विद्वान् ने लिखा है ''पर यह सत्य है कि उस काल (हर्ष) से पहले कहीं हिन्दू शब्द का उल्लेख नहीं मिलता।''[3] स्वामीजी के समान ही उन्होंने स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग, पशु रक्षा, मांस भक्षण निषेध, वेश्यावृत्ति का परिहार, विदेश यात्रा का विधान आदि पर बल दिया है। स्वर्ग और नरक तो वे भी कोई स्थानविशेष नहीं समझते। ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानकर भी वे विशेष कार्यों के निमित्त उसका अवतार मानते हैं।

व्युत्पत्ति निर्माण--जिस प्रकार स्वामीजी शब्दों के नवीन अर्थ कर लेते थे, नई व्युत्पत्ति बना लेते थे, वही प्रक्रिया कुछ परिवर्द्धित रूप में मिश्रजी में भी उपलब्ध होती है। कुछ नमूने द्रष्टव्य है 'पण्डित=पा से पापी, डा से डाकू, ता से तस्कर, वेश्य=वैश्या का पुल्लिग जान पड़ता है, 'बनिया=जो कोई बनिकै आवै अर्थात् कभी झूठमूठ के भक्त,' 'लाला—सबसे सब प्रकार लाओ लाओ कहने वाला,' 'गिरस्त—आलसी जो गिरते-गिरते अस्त हो जाये,' 'बलिवैश्वदेव—बलि बकरा काट बेसवा रंडी को सर्वस्व देव। धर्म=दूसरे सम्प्रदाय के पुरुषों को गाली देना', 'वेद--आर्य समाज और धर्म सभा की फूट का बीज,' 'पुजारी—पूजा का अरि,' 'कचहरी—कच माने बाल, हरी माने हरण करने वाली,' 'हाकिम=दुःखी कहता है हा हाय तो हुजूर कहते हैं किम् अर्थात् क्या है वे। अथवा क्यों बकता है।'[4] कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जो स्वामीजी के समान सूक्तियों का कार्य करते हैं—यथा ''कपट का अंडा फूट जाने पर प्रतिष्ठा जाती रहती है।''[5]

हिन्दी भाषा से प्रेम—स्वामीजी की भांति उन्हें भी हिन्दी भाषा से प्रेम है, यदि यह कहा जाये कि कुछ अधिक ही है तो अत्युक्ति न होगी। उर्दू का सम्यक् ज्ञान होने पर भी उन्होंने उसका विरोध ही किया है, ''इसका भारी प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अंग्रेजी और उर्दू (जो यहां की भाषा न है न होंगी) के पत्रों की तो बड़ी पूंछ है, पर देवनागरी……किसी बात में किसी बोली से न्यून नहीं'' (पृष्ठ ३१७), 'हिन्दी ही अक्षर सब अक्षरों से सहज और शुद्ध हैं, हिन्दी ही भाषा सब भाषाओं में उत्तम है' (पृष्ठ ३४९) तथा 'जब तक अपनी भाषा में

---

[1] प्रताप नारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड—विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ ३८७

[2] श्रीगुरुदत्त अभिनन्दन ग्रन्थ—अशोक कौशिक, हिन्दू शब्द विवेचन, पृष्ठ १११

[3] वही, हिन्दू राष्ट्र के उद्बोधक एवं उद्घोषित मनीषी, पृष्ठ १४४

[4] सभी उद्धरण उनके कलिकोष से लिये गये हैं--प्रताप नारायण ग्रंथावली, पृष्ठ ७० से ७३ तक

[5] प्रतापनारायण ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६९८

पूर्ण रूप से पठन पाठन नहीं होता तब तक शिक्षा सदा अधूरी रहती है और पूर्ण फलदायिनी नहीं होती' (पृष्ठ ३८१)। इस प्रकार उनके हिन्दी प्रेम के अनेक उदाहरण उनके साहित्य से दिये जा सकते हैं।

निष्कर्ष—भाषा स्खलन भारतेन्दु युग की विशेषता है और प्रतापनारायण मिश्र उस भाषा के प्रयोग में अग्रणी हैं। कई स्थानों पर उन्होंने अत्यधिक अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है 'मकुना आदमी का चूतड ऐसा मुंह किस काम का' (पृष्ठ ७८), तथा 'आ आ आए होली के भंड़आ' आदि इसके अन्यतम उदाहरण हैं। इनके व्यंग्य चुभते हुए और कहीं-कहीं वे स्वामीजी की भांति लट्ठमार भी हो गये हैं। अपने अधिकांश निबंधों में वे स्वामीजी से प्रभावित प्रतीत होते हैं उन्होंने समाज सुधार का भी प्रयत्न किया है पर इनका मुख्य क्षेत्र साहित्य है धर्म नहीं। इनकी भाषा सादी और व्यंजनापूर्ण है जिसमें सर्वत्र इनका व्यक्तित्व और चरित्र झलकता है। उन्होंने हिन्दी पाठकों को प्रभावित किया है, उन्हें हास्य-व्यंग्य पूर्ण रचनायें दीं और जब वे इनके अभ्यस्त हो गये तो ये संसार के रंगमंच से चल दिये। उनके संबंध में एक आलोचक का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि हिन्दी जगत में आंख के समान ही उनका आना भी बुरा हुआ है और जाना भी।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का जन्म स्वामीजी के जन्म से एक वर्ष पूर्व सन् १८२३ में हुआ था और उनकी मृत्यु भी स्वामीजी के १२ वर्ष बाद सन् १८९५ में हुई। राजा शिवप्रसाद को मातृभाषा की सेवा करने का अवसर स्वामीजी की अपेक्षा अधिक समय तक मिला। उनकी हिन्दी-सेवा के संबंध में आलोचकों के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है, कोई उन्हें हिन्दी का पृष्ठ पोषक तथा प्राणरक्षक मानता है और कोई उन्हें हिन्दी का द्वेषी तथा महत्तम शत्रु।

जीवन परिचय—हिन्दी साहित्य कोश भाग-२ के आधार पर राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का जन्म सन् १८२३ ई. में हुआ था। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत और बंगला भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। पहले इन्होंने भरतपुर दरबार में नौकरी की, फिर १८४५ में सरकारी नौकरी में आये। तृतीय सिख युद्ध में इन्होंने अंग्रेजों की जी खोल कर सहायता की और सरकारी स्कूलों के इन्स्पेक्टर हो गये। 'मानव धर्मसार,' योगवाशिष्ठ के चूने हुए श्लोक, 'उपनिषद्सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'छोटा भूगोल हस्तामलक'' 'स्वयंबोध उर्दू', 'वामामनरजन' 'आलसियों का कोडा,' 'विद्यांकुर,' राजा भोज का सपना,' 'वर्णमाला' 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल,' 'इतिहास तिमिरनाशक (भाग १।२।३)' 'सिखों का उदय और अस्त,' 'गुटका (भाग १।२।३)' 'नया गुटका (भाग १।२), हिन्दी व्याकरण, 'कुछ बयान अपनी जुबान का', 'बालबोध' 'सैण्डफोर्ड और मारटन की कहानी,' 'अंग्रेजी अक्षरों के सीखने का उपाय,' 'बच्चों का इनाम,' 'लड़कों की कहानी,' 'वीरसिंह का वृत्तान्त', 'गीत गोविन्दादर्श' 'कबीर टीका'[1] आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियां हैं। इनमें से अधिकांश रचनायें विद्यार्थियों के दृष्टिकोण

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृष्ठ ४५९

से लिखी गई हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं एवं कार्यों से अंग्रेजी सरकार को प्रसन्न करने का सफल प्रयत्न किया, परिणामतः सन् १८७२ में उन्हें अंग्रेजी सरकार की ओर से सी. एस. आई. की उपाधि प्रदान की गई, "और १८७४ ई. में राजा हुए। १८८७ ई. में राजा की पदवी वंश-परंपरा के लिये मिल गई।"[1] वे बड़े लाट की लेजिस्लेटिव काउंसिल के मेंबर भी हुए तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के फैलो भी हो गये। सन् १८९५ ई. की २३ मई को उनका देहावसान हुआ।

भाषा संबंधी नीति—उत्तर-पश्चिम प्रान्तों में जो हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र निकला वह था 'बनारस अखबार'। यह पत्र सन् १८४५ ई. में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ। 'इसके ४४ ग्राहक थे जिनमें २३ यूरोपियन तथा २१ हिन्दू थे।'[2] इस पत्र की भाषा उर्दू भी रक्खी गई यद्यपि इसके अक्षर देवनागरी के थे। उन दिनों हिन्दी का विरोध बढ़ता जा रहा था, फ्रान्स में बैठे 'गार्सा द तासी' भी इस विरोध के लिये कटिबद्ध हो गये थे, इसके विरोध के लिये उन्होंने मजहबी जजबात को भी उभारा था। कोई हिन्दी को सामी मत के विरुद्ध समझता था, कोई इसे धार्मिक भाषा कहता था, किसी को इसमें कठिनता की गंध आती थी और कोई इसको 'गंवारी बोली' कहने में गर्व अनुभव करता था। राजा साहब की भाषा हिन्दी का आंचल त्याग कर उत्तरोत्तर उर्दू के रंग में रंगती गई, केवल लिपि देवनागरी रही अन्यथा व्याकरण पर भी अरबी, फारसी की छाप पड़नी प्रारम्भ हो गई। अपनी 'इतिहास तिमिर नाशक' की अंग्रेजी भूमिका में उन्होंने उर्दू की वकालत की, "I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books, and use in their stead Sanskrit words, quite out of place and fashion or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population."[3]

उन्होंने अपने मतानुसार आमफहम और खास पसन्द भाषा का प्रयोग किया है। हिन्दी को वे फेशनेबल बनाना चाहते थे और इस झोंग में वे इतना तक कह बैठे कि "Urdu is becoming our mother tongue."[4] जहाँ तक साक्षरता का प्रश्न था वे लोकभाषा के पक्ष में थे, किन्तु "जैसे ही उसे साहित्य और उच्च क्षेत्र का माध्यम बनाने का प्रश्न उठा वे पलायन करके अपने योग्य वर्ग—शोषक वर्ग-के साथी हो गये।"[5] उनकी भाषा नीति का विरोध तत्कालीन सभी हिन्दी प्रेमियों ने किया और जिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने

---

[1] भारतेन्दु नाटकावली, द्वितीय भाग—नाटकावली में उल्लिखित व्यक्तियों का परिचय, पृष्ठ ४८-४९

[2] The Developement of Hindi Prose Literature in the early 19th Century—Shardadevi Vedalankar, Page 180

[3] वही, पृष्ठ १८१-१८२

[4] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ १९२

[5] समीक्षात्मक निबंध—डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ १७३

अपने मुद्राराक्षस नाटक का समर्पण उन्हें 'परमश्रद्धास्पद श्रीयुत् राजा शिवप्रसाद बहादुर सी. एस. आई के चरण कमलों में केवल उन्हीं के उत्साहदान से उनके वात्सल्यभाजन छात्र द्वारा बना हुआ''[1] कह कर किया था, वे भी उनके परमविरोधी हो गये।

स्वामीजी से सम्पर्क—उस युग के लेखकों में संभवतः राजा शिवप्रसादजी ही ऐसे थे जिन्हें स्वामीजी से साक्षात्कार का सर्वाधिक अवसर प्राप्त हुआ था, जहाँ अन्य लेखकों ने स्वामीजी से प्रभावित होकर उनके कुछ सिद्धान्तों का अपने साहित्य में उल्लेख किया, वहाँ राजाजी ने स्वामीजी का विरोध करना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझा। इस विरोध के लिये उन्होंने उचित तथा अनुचित दोनों ही साधनों का उपयोग किया। स्वामीजी ने सत्यार्थ-प्रकाश में सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये भारत में प्रचलित सभी मतों पर लेखनी उठाई, जैन मत भी उनकी आलोचना से न बच सका। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द क्योंकि स्वयं जैन मतावलम्बी थे, अतः जैन मताववाद उनको रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ और वे स्वामीजी का प्रवल विरोध करने के लिये कटिवद्ध हो गये, उन्होंने अपना शिकार प्रायः पं. बालशास्त्री और स्वामी विशुद्धानन्द की आड़ में खेलना चाहा। स्वामीजी ने शिवप्रसादजी का उल्लेख सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २६५ पर भी किया है और उनके पत्र व्यवहार में उनको लिखे गये स्वामीजी के दो पत्र हैं। स्वामीजी के पत्र प्रायः उनके लेखकों द्वारा लिखे जाते थे, पर राजाजी को लिखा एक पत्र स्वयं स्वामीजी के हाथ का लिखा हुआ है (पत्र व्यवहार, पृष्ठ १९७) इससे इस पत्र की महत्ता तो स्पष्ट होती ही है।

१९ नवम्बर १८७९ को स्वामीजी बनारस पहुंचे थे और ५ मई, १८८० तक उन्होंने वहाँ वास किया था। स्वामीजी के दर्शन करने के लिये कर्नल आलकाट तथा मैडम ब्लावट्सकी भी १५ दिसम्बर '७९ को वहाँ पहुंचे थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द एक दिन कर्नल आलकाट से मिलने के लिये स्वामीजी के निवास स्थान पर पहुंचे, कर्नल से साक्षात्कार करने के पूर्व उन्होंने कुछ देर स्वामीजी से वार्ताविनिमय किया। राजाजी की बुद्धि और चतुराई की ख्याति सुनकर स्वामीजी भी उनसे मिलना चाहते थे, पर स्वामीजी ने उन्हें तथाकथित ख्याति के विरुद्ध ही पाया। उन्होंने लिखा है ''····जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है सो सब सच नहीं होती''[2] स्वामीजी ने कई विज्ञापन निकाल कर बनारस के विद्वानों तथा वहाँ की जनता को सूचित कर दिया था कि यदि किसी को कोई वार्तालाप, शास्त्रार्थ अथवा शंका-निवारण करना हो तो वह उनसे मिल ले। स्वामीजी के लगातार छः मास तक वहां रहने पर भी किसी विद्वान् या पंडित ने उनके समक्ष आने वा शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं किया। जिस दिन स्वामीजी बनारस से प्रस्थान के लिये उद्यत हो रहे थे, राजा शिवप्रसाजी ने एक व्यक्ति के द्वारा कुछ प्रश्नों की सूची मुद्रित कराके उनके पास भेजी और उनका उत्तर देने के लिये राजाजी को बुलवाया, पर वे नहीं आये। प्रश्नों की यह सूची राजाजी के लिये स्वामी विशुद्धानन्द जी ने तैयार की थी क्योंकि राजाजी में तो इतनी योग्यता भी नहीं थी कि उन प्रश्नों

---

[1] भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, पृष्ठ २६५

[2] दयानन्द ग्रन्थमाला, श. स., द्वितीय भाग—भ्रमोच्छेदनम्, पृष्ठ ८४८

को समझ सकते। स्वामीजी ने उन सभी प्रश्नों का उत्तर अपनी 'भ्रमोच्छेदन' नाम की पुस्तक में दिया है।

राजाजी की नीयत पर स्वामीजी को सन्देह था अतः उन्होंने लिखा है, "....जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेज कर प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलते समय प्रश्न पूछना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवा चार महीने पर्यन्त चुप बैठे रहना और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना....क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है....।"[1] राजाजी के प्रश्न स्वामीजी की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से सम्बद्ध थे। स्वामीजी ने एक पत्र में उन्हें लिखा, "....मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदों से लेके पूर्व मीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है। इसलिये आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित नहीं हुआ....।"[2] राजाजी ने अपने एक पत्र में स्वामीजी को लिखा कि उनसे बात करने पर उन्हें कुछ सन्देह उत्पन्न हो गये, स्वामीजी का पत्र पाकर वे सन्देह और बढ़ गये। राजाजी की नीयत को तो स्वामीजी समझ ही गये थे, स्वामी विशुद्धानन्द को भी उसी स्तर का देखकर उन्हें क्षोभ हुआ। स्वामीजी का लिखा वाक्य स्वामी विशुद्धानन्द तथा राजाजी दोनों की स्थिति को स्पष्ट कर देता है "....क्या विद्वान होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित्, अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर बिना सोचे समझे सम्मति लिख देवे।"[3] स्वामीजी ने प्रश्नों के उत्तर स्वामी विशुद्धानन्द को ही लक्ष्य करके दिये हैं "क्योंकि राजाजी विचारे संस्कृत विद्या पढ़े ही नहीं ? उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बैल के सामने अत्यन्त निपुण गाने वाले का वीणा आदि बजाना....।"[4]

भ्रमोच्छेदन के उत्तर में राजा शिवप्रसादजी ने द्वितीय निवेदन लिखा जिसका उत्तर स्वामीजी ने अपने एक ग्रन्थ 'अनुभ्रमोच्छेदन' में दिया है। स्वामीजी ने राजाजी की अज्ञता को लक्ष्य करते हुए यह भी सूचित कर दिया कि जब तक वे अपने प्रश्नों पर पं. बालशास्त्री वा स्वामी विशुद्धानन्दजी के हस्ताक्षर नहीं करवायेंगे, उनके प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये जायेंगे। यहां इस विषय की चर्चा करने का हमारा उद्देश्य प्रश्नोत्तर के औचित्यानौचित्य पर सम्मति देना नहीं है। अपितु राजाजी के चरित्र की झांकी दिखाना भर है। कभी-कभी ऐसा भ्रम होता है कि स्वामीजी ने राजाजी के प्रति कुछ कटूक्ति की है, किन्तु उनके समकालीन अन्य लेखकों ने भी राजाजी के विषय में कुछ कम अपवाद की बातें नहीं की हैं। उनके विषय में अधिकारी विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई, कुछ सम्मतियां नीचे दी जा रही हैं—

१. डा० श्यामसुन्दर दास ने उनमें देश तथा जातिप्रेम का अभाव माना है, "राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' नाटक की भूमिका में वे लिखते हैं, "....राजा लक्ष्मणसिंह

---

[1] दयानन्द ग्रंथमाला, श. स.-द्वितीय भाग—भ्रमोच्छेदनम्, पृष्ठ ८४८-४९

[2] ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १९६

[3] वही, पृष्ठ ८५४-५५

[4] वही, पृष्ठ ८६६

में सब अच्छे-अच्छे गुणों में अपने देश और जाति का प्रेम सबसे बढ़कर और प्रधान गुण था और राजा शिवप्रसाद में और गुणों के रहने पर भी इस गुण का अभाव था....।"[1]

२. पं. बालकृष्ण भट्ट ने अपने एक प्रहसन 'पतित पंचम' में उन राजभक्त भारतीयों का चित्रण किया है जो अंग्रेजी सरकार से बड़ी-बड़ी पदवियां लेकर कांग्रेस का विरोध करते हैं। इस एकांकी का पहला पापी "कुतर्क वागीश भट्टाचार्य है। इसका चरित्र तत्कालीन प्रसिद्ध राजभक्त राजा शिवप्रसाद (काशी-पत्रिका के संस्थापक) से मिलता जुलता है....इस प्रहसन में पांचों पतित पात्र स्वयं अपना-अपना परिचय देकर अपना गुणगान करते हैं।"[2]

३. पं. प्रतापनारायण मिश्र भी उन्हें विश्वास योग्य नहीं समझते। अपने एक निबन्ध 'कांग्रेस की जय' में वे लिखते हैं, "२५ ता. को हमारे राजा शिवप्रसाद साहब भी प्रयागजी में आये....पूर्व कृत्यों का अनुताप भी प्रकाशित किया। पर किसी को विश्वास न हुआ। विश्वास तो तब होता जब आप कभी किसी देशहित के काम में शरीक हुए होते....।"[3]

४. डा० नत्थनसिंह ने उन्हें चाटुकार ही समझा है, "राजा शिवप्रसाद सरकार की चाटुकारिता करने पर सितारे हिन्द की पदवी पा गये थे। उन्होंने मातृभाषा और देश की पतितावस्था का ध्यान न करके अंग्रेजों की चाटुकारिता करना प्रारंभ कर दिया था।"[4] स्वयं भारतेन्दु ने उनको लक्ष्य करते हुए लिखा है, "....मोटा भाई बना-बना कर मूंड लिया। एक तो खुद ही यह पड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धांय धांय गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई, बस हाथी के खाए कैथ हो गये....।"[5]

५. अंग्रेज लोग भी उनकी वास्तविकता समझते थे, अतः हेनरी पिनकाट ने उनके संबंध में लिखा था "....राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस बरस हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं, उन बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिये बड़े चाल से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उपयोग किया....राजा शिवप्रसाद को अपना हित सबसे बड़ी बात है।"[6]

६. डा० सत्येन्द्र ने 'हिन्दी प्रदीप' की एक किम्वदन्ती का उद्धरण देते हुए लिखा है, "....किम्वदन्ती है कि राजा शिवप्रसाद ने कौंसिल की मेम्बरी से इस्तीफा दिया था पर लार्ड रिपन ने मंजूर नहीं किया, हम पूरा विश्वास करते हैं कि यह भी गुरुओं की गुरुआई है, समाज

---

[1] शकुन्तला नाटक सचित्र—सं. श्यामसुन्दर दास, राजा लक्ष्मणसिंह का जीवन चरित, पृष्ठ ३७-३८

[2] पं. बालकृष्ण भट्टः व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ ३४६

[3] प्रतापनारायण ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २४३

[4] गद्यकार बालमुकुन्द गुप्तः जीवन और साहित्य—डा० नत्थनसिंह, पृष्ठ ३४५

[5] भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, भारत दुर्दशा, पृष्ठ ४६७

[6] हिन्दी साहित्य पर कुछ विचार – डा. त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृष्ठ ३७

में अपना गौरव बनाये रखने को खासकर बनारस के लोगों के बीच राजा ही ने शायद इस अफवाह को उड़ा दिया है नहीं तो लार्ड रिपन साहब को ऐसा क्या मीठा है कि राजा भागते फिरते और लार्ड रिपन इन्हें धाय-धाय कर पकड़ते····।"[१]

इन उद्धरणों से यदि कुछ सिद्ध होता है तो यही कि राजा साहब यशोलिप्सु, चाटुकार, अपने मुंह मियां मिट्ठू, राष्ट्र प्रेम से विरक्त और अवसरवादी थे, अतः स्वामीजी ने उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह न्यूनोक्ति पूर्ण भले ही हो अत्युक्तिपूर्ण नहीं है।

तुलना—स्वामीजी तथा राजा साहब के व्यक्तित्व की तुलना सरल कार्य नहीं है। दोनों समकालीन थे तथा दोनों ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये देवनागरी लिपि को अपनाया—इसके अतिरिक्त संभवतः दोनों में कोई वस्तु समान नहीं थी। स्वामीजी में देश प्रेम तथा राष्ट्र प्रेम कूट-कूट कर भरा था जबकि राजाजी में इसका स्थान स्वार्थपरता ने ले लिया था, स्वामीजी को भाषा के लिये प्रेरणा संस्कृत से मिलती थी जबकि राजा साहब की प्रेरणा का उद्गम उर्दू-फारसी था, स्वामीजी परम विद्वान् होकर भी सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते थे, जबकि राजा साहब अपने मत विशेष के ही पक्षपाती थे, स्वामीजी का मस्तक भगवान् के अतिरिक्त किसी के समक्ष नत नहीं होता था जबकि राजा साहब यथा-अवसर अंग्रेज, बालशास्त्री अथवा किसी भी स्वार्थ साधक के समक्ष नत मस्तक हो सकते थे। राजा साहब को स्वामीजी की अपेक्षा राष्ट्र भाषा तथा देश की सेवा का अधिक तथा उपयुक्त अवसर मिला था, किन्तु उन्होंने प्रायः अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया। स्वामीजी काश्मीर से कन्याकुमारी तक हिन्दी राष्ट्रभाषा करने का स्वप्न देख रहे थे, इसके लिये प्रयत्न भी कर रहे थे और राजा साहब हिन्दी के अपने प्रदेश में ही उसका अस्तित्व मिटाने में प्रयत्नशील थे। स्वामीजी के सम्पर्क में आकर जहां अन्य साहित्यकारों ने अपने आपको उन्नत किया, वहाँ स्वामीजी से प्रतिस्पर्द्धा करके राजा साहब ने अपनी प्रतिष्ठा को हानि पहुंचाई।

पं० अम्बिकादत्त व्यास

स्वामीजी के युग में रहकर जिन महानुभावों ने स्वामीजी के प्रबलतम विरोध का साहस किया, उनमें पं० अम्बिकादत्त व्यास अन्यतम थे। व्यासजी संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित, अनेक भाषाओं के ज्ञाता, सहृदय कवि, संगति प्रेमी आदि के अतिरिक्त सनातन धर्म के प्रचारक तथा संस्कृत भाषा के प्रचार के अभिलाषी भी थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखकर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन भी किया, एतदर्थ उन्हें सम्मान एवं धन की प्राप्ति भी हुई, पर तत्कालीन समाज सुधारक राजा राममोहनराय तथा स्वामी दयानन्दजी आदि के आर्थिक सुधार उनको रुचिकर प्रतीत नहीं हुए, अतः उन्होंने जीवन भर उनका विरोध करने का प्रयत्न किया और कई बार यह विरोध सैद्धान्तिक न होकर व्यक्तिगत सा भी हो गया।

संक्षिप्त जीवन परिचय—पं. अम्बिकादत्त व्यास ने अपने कई ग्रन्थों में अपना जीवन-वृत्त स्वयं लिखा है, विशेषकर 'निज वृत्तान्त' नामक पुस्तक में यह पर्याप्त विस्तार से दिया

---

१. समीक्षात्मक निबंध—डा० सत्येन्द्र, पृष्ठ १८२

हैं। इनका जन्म जयपुर में सन् १८५८ में हुग्रा था (हिन्दी साहित्यकोश[1] में भ्रमवश सन् १८८४ ई० लिखा हुग्रा है)। पांच वर्ष की ग्रवस्था में शास्त्रानुसार उनकी शिक्षा का श्रीगणेश हुग्रा, संस्कृत के कुछ काव्य, कोष तथा हिन्दी के ग्रनेक छन्द उन्होंने कंठस्थ कर लिये। ''बाल्यावस्था में ही जादू के खेल, शतरंज, ताश के कौतुक ग्रादि का शौक उत्पन्न हुग्रा ग्रौर वे इन कौतुकों को ग्रपने घर वालों को दिखाने भी लगे।''[2] ११ वर्ष की ग्रवस्था से ही उन्होंने हिन्दी में छन्द बनाने प्रारंभ कर दिये। उनकी रचना को देखकर लोगों को यह विश्वास नहीं होता था कि ये उन्हीं की रचनायें हैं....''उनकी कविता जो सुनता था, कहता था कि यह उनकी कविता न होकर उनके पिता श्री दुर्गादत्त की बनाई हुई कविता है क्योंकि उनके पिता भी कविमण्डल में 'दत्त' उपनाम से काव्य रचना करते थे।''[3] परीक्षा करने पर उनकी प्रतिभा छिपी न रह सकी। ग्रपने पिता की भांति ये भी भाषण करने तथा कथा करने में कुशल हो गये। एक बार जिस पंक्ति 'सूरज देखि सके नहीं घूग्घू' की समस्या पूर्ति स्वयं भारतेन्दुजी भी नहीं कर पाये थे, उसे इन्होंने भलीभांति पूर्ण कर दिया, परिणामतः इन्हें भारतेन्दुजी का ग्रमित स्नेह मिलना प्रारंभ हो गया।

ग्रपनी प्रतिभा के बल पर इन्हें ग्रनेक व्यक्तियों से भारत भूषण, भारत रत्न, शतावधान, सुकवि ग्रादि ग्रनेक उपाधियाँ प्राप्त हुईं। ग्रपनी कई रचनाग्रों का समर्पण इन्होंने किसी राजा वा ठाकुर ग्रादि धनी व्यक्ति को किया। १३ वर्ष की ग्रवस्था में ही इनका विवाह हो गया था, ग्रौर स्वतंत्र रूप से कथा करने के कारण लोग इन्हें 'व्यास' कहने लगे थे। इन्होंने 'वैष्णव पत्रिका' नामक मासिक पत्र का सम्पादन भी किया था। ग्रन्त में इन्हें केवल ३५) माहवार पर बिहार में संस्कृत का ग्रध्यापक नियुक्त किया था, सन् १८९९ तक ये वहाँ ही ग्रध्यापन का कार्य करते रहे ग्रौर कुछ ही दिनों बाद ग्रल्पायु में ही उनका देहावसान भी हो गया।

स्वामीजी से साक्षात्कार—सन् १८८० में स्वामीजी महमूदगंज में ठहरे थे ग्रौर वहां उनके व्याख्यान भी हुए थे। ''व्यासजी ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व, उद्योग, निर्भयता, परिश्रम, सदाचार ग्रौर जितेन्द्रियता से बहुत ग्रधिक प्रभावित हुए।''[4] स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा, ग्रवतार ग्रादि विचारों से वे सहमत नहीं थे, ग्रतः इन विषयों पर उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ भी किया था। इस संबंध में स्वयं उन्होंने लिखा है, ''.....स्वामीजी से प्रथम हमारा वेदान्त पर शास्त्रार्थ हुग्रा, पर जब उनका पक्ष झुकने लगा तो वे हमारी संस्कृत भाषा में ग्रशुद्धियाँ निकालने लगे। ग्रगले दिन हमने स्वामीजी की संस्कृत में व्याकरण की ग्रनेक ग्रशुद्धियां निकाल कर उनको दिखाईं तो वे बहुत क्रुद्ध हुए तथा ग्रण्डबण्ड कहा, परन्तु शीघ्र ही हमने 'ग्रबोध निवारण' नामक ग्रन्थ लिखकर स्वामीजी की संस्कृत भाषा में ग्रशुद्धियां निकालीं।''[5] उनके उपर्युक्त

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश—भाग दो, पृष्ठ ४

[2] पं. ग्रम्बिकादत्त व्यास : एक ग्रध्ययन, डा. कृष्णकुमार, पृष्ठ १३

[3] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—ग्रष्टम भाग, पृष्ठ १०१

[4] पं. ग्रम्बिकादत्त व्यासः एक ग्रध्ययन, पृष्ठ १९

[5] वही, पृष्ठ ११

कथन की पुष्टि अन्य प्रमाणों से नहीं होती। स्वामीजी की किसी जीवनी अथवा 'शास्त्रार्थ संग्रह' में भी इस शास्त्रार्थ का उल्लेख नहीं है। प्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ में पौराणिक पण्डितों में जो विद्वान् बैठे थे उनमें व्यासजी भी थे, उस शास्त्रार्थ का क्या परिणाम हुआ था, इसकी चर्चा यहां पिष्ट पेषण मात्र ही होगी। उपर्युक्त कथन में 'उनका पक्ष झुकने लगा' यह अंश ही विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि यह सत्य होता तो तत्कालीन सभी पत्र इसका ढिंढोरा अवश्य पीटते। दूसरी बात जो असंगत प्रतीत होती है वह है "....वे बहुत क्रुद्ध हुए तथा अण्ड-बण्ड कहा।" स्वामीजी के पक्षधर तो दूर—विरोधी भी यह भलीभांति जानते हैं कि यह बात उनके स्वभाव के विरुद्ध थी। जो व्यक्ति खङ्ग प्रहार करने वाले को क्षमादान दे सकता है, विषदाता को मुक्त कर सकता है, उस पर यह लांछन लगाना असभ्यता की पराकाष्ठा है। अन्य मानवों की भांति स्वामीजी की भाषा में अशुद्धि ज्ञात कर लेना कोई असंभव बात नहीं है, पर उसकी इस प्रकार की प्रतिक्रिया अविश्वसनीय ही प्रतीत होती है।

अबोध निवारण— स्वामीजी ने एक पुस्तक 'संस्कृत वाक्य प्रबोध'[1] लिखी थी, उसी की अशुद्धियां प्रकाशित करने के लिये 'ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा' के पण्डितों की ओर से 'अबोध निवारण' का प्रकाशन हुआ है। यद्यपि दोनों ग्रन्थों का संबंध संस्कृत से है फिर भी स्वामीजी तथा व्यासजी दोनों से संबंद्ध होने के कारण कुछ विवेचन किया जा रहा है। उपर्युक्त सभा तथा पुस्तक की विस्तृत चर्चा 'आर्य दर्पण' पत्र मई १८८० ई० पृष्ठ ११३-११९ तक की गई है। इसी सभा के पं. युगलकिशोरजी ने अंग्रेजी तथा हिन्दी में एक विज्ञापन छपाया कि वे तथा अन्य पण्डितगण स्वामीजी के पास संदेह निवृत्यर्थ गये थे किन्तु वहां उन्हें वेद विरुद्ध तथा शिष्टाचार विरुद्ध बातें मिलीं, अतः प्रायश्चित करके पुनः सनातन धर्म में सम्मिलित हो गये। जब आर्यसमाज के एक सभासद् नारायणसिंहजी ने पण्डितजी से कहा कि वे अन्य चार पुरुष कहां हैं, तो पण्डितजी उनको प्रस्तुत नहीं कर सके। अगली बैठक में वे सिखा-पढ़ाकर एक व्यक्ति को ले भी गये, तो उसने वहां अपना नाम भी भिन्न बताया। इस पर पण्डितजी को गुस्सा आ गया और वे कहने लगे—"जिसने दयानन्द का मुख देखा वह हिन्दू का बीज नहीं।"[2] इसी सभा के तत्वावधान में 'अबोध निवारण' प्रकाशित हुई। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर लिखा है "काशी के पण्डित अम्बिकादत्त व्यास और बाराम वर्मा ने श्रीयुत् (...स्थान रिक्त) की आज्ञानुसार प्रकाशित किया।"[3] भूमिका में रामकृष्ण ने लिखा कि पुस्तक अम्बिकादत्त व्यास ने बनाई है, प्रथम पृष्ठ पर 'रामकृष्ण वर्मा विरचितम्' लिखा है। इसके अतिरिक्त 'अबोध निवारण' की पुस्तकों पर सर्वत्र भिन्न-भिन्न नाम लिखा है। स्पष्ट है कि इस सारे मामले में जालसाजी से काम लिया गया है और टट्टी की आड़ में कुछ शिकार खेला गया है। संभव है कि यह रचना अकेले व्यासजी की न हो, कुछ अन्य विद्वानों ने भी इसमें सहयोग दिया हो। इतने पर भी अपनी जीवनी में जो व्यक्ति इसे अपनी रचना बताता हैं, उसकी अन्य बातों पर भी विश्वास करना संदिग्ध हो जाता है।

---

[1] संस्कृत वाक्य प्रबोध, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ ९९

[2] वही, पृष्ठ १००

[3] विशेष विवरण इसी पुस्तक के पृष्ठ ९९-१०१ पर देखा जा सकता है।

व्यासजी के अन्य ग्रन्थ—मिश्र बन्धुओं ने उनके ग्रन्थों[१] की संख्या ७८ निर्दिष्ट की है, किन्तु डा. कृष्णकुमार के अनुसार यह संख्या ६४ है। इनमें से २७ ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं और शेष हिन्दी में किन्तु इनमें उन्तालीस पुस्तकें[२] उनके देखने में भी नहीं आई हैं। पुस्तकों के लुप्त होने का कारण यह है कि व्यासजी के देहावसान के समय उनके पुत्र राधाकुमार की अवस्था अत्यल्प थी, अतः न तो उन्होंने उन ग्रन्थों की रक्षा की और न किसी सभा ने उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया। कुछ मुद्रित पुस्तकों की भी कोई प्रति आज उपलब्ध नहीं है। उनकी हिन्दी रचनाओं को नाटक, काव्य, कविता संग्रह, उपन्यास, धार्मिक तथा दार्शनिक रचनायें, क्रीड़ा संबंधी, काव्य शास्त्र संबंधी तथा विविध शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है।

उनकी 'ललिता नाटिका' शृंगार तथा हास्यप्रधान गीति नाटिका है और भाषा इसकी ब्रज है। 'गो संकट नाटक' सन् १८८२ में भारतेन्दुजी से प्रेरित होकर[३] लिखा था। इसमें दिखाया गया है कि अकबर ने गोवध के निषेध की आज्ञा दी थी। स्वामीजी ने भी इस विषय पर 'गोकरुणानिधि' लिखी है पर दोनों के विवेचन में आकाश-पाताल का अन्तर है। 'भारत सौभाग्य' में उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि "महारानी विक्टोरिया के शासन में भारत से मूर्खता और फूट का बहुत कुछ विनाश हो गया था।"[४] इसके संबंध में डा.सुशीला धीर ने लिखा है, "····यह रूपक प्रतीक शैली में लिखा गया है। अंग्रेजी राज्य के स्थापित हो जाने पर क्या-क्या लाभ हुए, इसका लेखा-जोखा लेखक ने प्रस्तुत किया है।"[५] 'कलियुग और घी' में घी में मिलावट की समस्या को व्यक्त किया है, पर उस काल में आर्यसमाजियों और ब्राह्म समाजियों द्वारा किये जाने वाले बालविवाह और मूर्त्तिपूजा के खंडन आदि का विरोध इस रूपक में है। 'भारत धर्म' एकांकी में भारतीयों द्वारा विदेशी वेषभूषा अपनाने पर शोक व्यक्त किया गया है। 'संस्कृत संताप' में संस्कृत भाषा के ह्रास का कारण उसके संरक्षकों का दुर्व्यसनों में लीन होना बताया गया है। 'जटिल वणिक्' में मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अंग्रेजी राज्य की तारीफों के पुल बांधे गये हैं।

'पुष्प वर्षा' लघु काव्य में भी महारानी विक्टोरिया का संक्षिप्त जीवनवृत्त तथा ब्रिटिश राज्य के विस्तार का परिचय दिया गया है, 'आश्चर्य वृत्तान्त' उपन्यास में योग की सिद्धियों के चमत्कार दिखाये हैं और स्वर्ग और नरक के दृश्य भी उपस्थित किये हैं। श्री विश्वम्भर मानव के अनुसार इसमें "········भारतीय साहित्य, संगीत और शिल्प के महत्व और यहां के प्राकृतिक वर्णन के बहाने व्यासजी ने अपने हृदय में निहित देश प्रेम को वाणी दी हैं········।"[६] मूर्त्तिपूजा नामक ग्रन्थ में उन्होंने मूर्त्तिपूजा को आवश्यक तथा वेदानुकूल सिद्ध

---

१. मिश्र बन्धु विनोद (खण्ड ३-४), पृष्ठ १६९
२. पं. अम्बिकादत्त व्यासः एक अध्ययन, पृष्ठ ४४७-४४८
३. हिन्दी नाट्य साहित्य—ब्रजरत्न दास, पृष्ठ १५१
४. पं. अम्बिकादत्त व्यास, एक अध्ययन, पृष्ठ ४२२
५. भारतेन्दु युगीन नाटक—डा० सुशीला धीर, पृष्ठ ८९
६. उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार—विश्वम्भर मानव, पृष्ठ ९२

करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार 'अवतार मीमांसा' का कथ्य है "निर्गुण और निराकार ब्रह्म पांच भौतिक शरीर धारण करके इस पृथिवीतल पर अवतीर्ण होते हैं।"[1] 'चतुरंग चातुर्य' में शतरंज खेलने का ढंग बताया है। कहा जाता है कि व्यासजी उस खेल में इतने पारंगत थे कि वे एक साथ चार फलकों पर खेल सकते थे और विरोधियों को परास्त कर सकते थे।[2]

स्वामीजी तथा व्यासजी के विचारों की तुलना—स्वामीजी तथा व्यासजी दोनों ही महान् विद्वान् थे, दोनों ने संस्कृत एवं हिन्दी का प्रचार किया, दोनों ने ही अपने साहित्य में धर्म को प्रधानता दी, दोनों ने ही समाज के उद्धार का प्रयत्न किया, पर दोनों की विचारधारा में आकाश-पाताल का अंतर था। यहां यह कहना हमें अभिप्रेत नहीं कि दोनों में कौन श्रेष्ठ था, पर इतना इष्ट अवश्य है कि दोनों में अन्तर अवश्य था।

(क) धन की दृष्टि से भाग्य व्यासजी के सदा विपरीत ही रहा, यद्यपि जीवन भर उन्होंने इसके अर्जन का प्रयत्न किया, स्वामीजी को धन की कमी नहीं थी पर उन्होंने उसका संचय न कर स्वेच्छया परित्याग किया। व्यासजी ने १३ वर्ष की अवस्था में ही काठ में पांव दे दिया। किन्तु स्वामीजी ने आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन किया।

(ख) स्वामीजी ने अपने जीवन, साहित्य तथा उपदेशों से न केवल भारतीयों का अपितु मानव मात्र का कल्याण किया जबकि व्यासजी ने केवल वर्ग विशेष के हित का चिन्तन किया।

(ग) समाज को परिष्कृत करने के लिये स्वामीजी ने अनेक प्रकार के सुधारों का आश्रय लिया, किन्तु व्यासजी पुरानी रूढ़िवादिता से ही ग्रस्त रहे। इन सुधारों का विरोध करना ही उन्होंने अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझा। इसके लिये उन्होंने असत्य तथा जालसाजी का भी आश्रय लिया।

(घ) स्वामीजी विदेशी अथवा अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध थे। अंग्रेजों के कुछ गुणों की प्रशंसा करते हुए भी उन्होंने भारत में उनके राज्य को कभी श्रेयस्कर नहीं माना, किन्तु व्यासजी ने अपने जीवन का काफी समय और अपनी प्रतिभा का काफी अंश गौरांग महाप्रभुओं की स्तुतियों के गान में व्यतीत किया है। "आपने अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा की और अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने वालों की निन्दा की। अंग्रेजी राज्य तथा तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की प्रशंसा में, आपने गीत और नाटक लिखे।"[3] अपने सुख पूर्वक रहने का कारण उन्होंने मलिका विक्टोरिया को ही माना है, 'भारत सौभाग्य', 'जटिल वणिक्' 'पुष्प वर्षा' आदि रचनाओं में अंग्रेजों की स्पष्ट स्तुति की गई है। इस विषय में उनका सनातन धर्म आड़े नहीं आता। इसी प्रकार उनकी दृष्टि में मुसलमान शासकों में केवल अकबर ही आदरणीय था। उनकी अंग्रेज परस्ती के संबंध में डा. सुशीला धीर ने उचित ही लिखा, "श्री व्यासजी, गदर के बाद तीस

---

१. पं. अम्बिकादत्त व्यास : एक अध्ययन, पृष्ठ ४३८

२. यहां विस्तार भय से उनकी केवल हिन्दी की कुछ रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

३. पं. अम्बिकादत्त व्यास : एक अध्ययन, पृष्ठ २९

वर्षों तक कहीं कोई तलवार नहीं उठा सका, इसे सुप्रबन्ध मानते हैं। वास्तव में ऐसे नाटककारों में हम राष्ट्रीय चेतनता का संबंध नहीं पाते....।''[1]

(ङ) स्वामीजी ने व्यासजी के व्यक्तित्व के संबंध में कभी कोई आलोचना नहीं की है जबकि व्यासजी ने प्रयत्नपूर्वक स्वामीजी के लिये अपशब्दों का प्रयोग किया है। विचित्र बात तो यह है कि व्याकरण के सूर्य स्वामीजी के संस्कृत व्याकरण में भी उन्होंने दोष निकालने का असफल प्रयत्न किया है।

(च) स्वामीजी ने नाटकों का निषेध किया है जबकि व्यासजी ने स्वयं कई नाटक लिखे हैं। जिन विषयों का स्वामीजी ने अपनी पाठ्यविधि में निषेध किया है, उनको आधार मानकर व्यासजी ने सहस्रनाम रामायणम्, सांख्य सागर सुधा, अवतार मीमांसा कारिका आदि कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। शृंगारपरक काव्य का स्वामीजी ने निषेध किया है और व्यासजी ने न केवल ऐसा काव्य लिखा है अपितु ऐसे कवियों के काव्य की विशद् व्याख्या भी उन्होंने की है।

भाषा शैली—व्यासजी की अधिकांश रचनायें उपलब्ध नहीं होतीं, जो उपलब्ध हैं उनमें भी कुछ अपूर्ण हैं, फिर भी अवशिष्ट रचनाओं के आधार पर हिन्दी साहित्य में उनका स्थान अतिगौरवपूर्ण नहीं है। स्वामीजी की शैली का पर्याप्त विवेचन हम यथास्थान कर चुके हैं, यहां व्यासजी की शैली के संबंध में हम श्री जगन्नाथ शर्मा के मत का उल्लेख कर रहे हैं, ''....यह सब होते हुए भी उनमें त्रुटियां अधिक थीं, जो वस्तुतः भाषा की उस उन्नत अवस्था के मेल में न थीं जो उनके समय में उपस्थित हो चुकी थीं....' 'तो' और 'भारी' की ऐसी अव्यवस्थित भरमार इन्होंने की है कि भाषा में गंवारूपन और शिथिलता आ गई है। विरामादिक चिह्नों का भी व्यवहार वे उचित स्थान पर नहीं करते थे....उनमें पंडिताऊपन इतना प्रचण्ड दिखाई पड़ता है कि कहीं-कहीं बुरा ज्ञात होने लगता है....वस्तुतः इस पंडिताऊपन के कारण व्यासजी की भाषा अपने समय से बहुत पिछड़ी हुई ज्ञात होती है। इतना ही नहीं वरन् इसमें एक प्रकार की शिथिलता पाई जाती है, जो उस समय की गद्योन्नति के प्रतिकूल थी।''[2] ये दोष यदि स्वामीजी की भाषा में होते तो क्षम्य हो सकते हैं क्योंकि उन्होंने यह भाषा सीखी थी, व्यासजी के सन्दर्भ में तो परिस्थिति सर्वथा विपरीत थी।

स्वामीजी की विद्वत्ता, त्याग आदि गुणों से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग उनका विरोध करने में ही किया। परिणामतः न तो वे स्वामीजी के समान यश के भागी हो सके और न उनके समान देश की सेवा कर सके। वर्ग विशेष के कुछ लोगों ने उनके विचारों को भले ही सराहा हो, पर जन सामान्य उनसे प्रभावित नहीं हो सका, स्वामीजी से शास्त्रार्थ में विजय की मिथ्या गर्वोक्ति करके भी वे अन्य जनों को इसका विश्वास नहीं दिला सके। हिन्दी भाषा में अनेक ग्रन्थों का निर्माण करने के बाद भी कथ्य अथवा शैली की दृष्टि से उनका स्थान स्वामीजी से उच्च प्रतीत नहीं होता।

---

[1] भारतेन्दुयुगीन नाटक—डा. सुशीला धीर, पृष्ठ १५८

[2] हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पृष्ठ ८० से ८३ तक

पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी

तत्कालीन हिन्दी के जिन धुरन्धर विद्वानों के साथ स्वामीजी का साक्षात्कार हुआ, उनमें पं. श्रद्धारामजी भी एक थे। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पंडितजी का नाम बहुत सम्मान के साथ लिया है और उनके साहित्य की पर्याप्त सराहना भी की है, किन्तु डा. नगेन्द्र उनसे सहमत नहीं हैं, "....श्रद्धाराम फुल्लौरी का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में किया गया है, उनकी कृतियों का साहित्यिक महत्त्व नहीं के बराबर है।"[१] कुछ लोग उन्हें धार्मिक व्यक्ति मानते हैं और कुछ साहित्यिक, किन्तु उनके जीवन के कुछ पक्ष ऐसे हैं जिन्हें अभी हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं मिला है।

जीवन परिचय—हिन्दी प्रेमियों में बहुत कम को ज्ञात है कि लाखों व्यक्तियों के मुख से प्रतिदिन निस्सृत होने वाली प्रसिद्ध आरती 'जय जगदीश हरे' के लेखक पं. श्रद्धारामजी ही हैं। सन् १८८० में जालन्धर के फिल्लौर (फुल्लौर) नामक स्थान को आपने अपने जन्म से कृत-कृत्य किया था। पिता से विरासत में उन्होंने संगीत तथा ज्योतिष में अभिरुचि प्राप्त की थी। बचपन में खेल कूद, मेले तमाशे तथा जादूगरी के करतब दिखाने का उन्हें बहुत शौक था "ठीकरी का रुपया बनाना, गोलियों को प्यालियों में उड़ाना, दिन में तारे दिखाना, जलते कपड़े से मुख में अग्नि—मचाना, तप्त तवे पर चलना.... इत्यादि ऐन्द्रजालिक लीलाओं से उन्होंने परिचय प्राप्त कर लिया था।"[२] उनकी बुद्धि बहुत प्रखर थी और वर्षों में प्राप्त होने वाले ज्ञान को वे कुछ ही दिनों में सीख लेते थे।

व्याकरण तथा न्याय वेदान्त आदि षड्दर्शनों का उन्होंने अध्ययन किया, महाभारत और भागवत-पुराण का अनुशीलन किया, उपनिषदों से परिचय प्राप्त किया तथा संस्कृत भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके जीवन के दो प्रमुख कार्य थे एक कथा बाँचना और दूसरा हिन्दी का प्रचार करना। दोनों कार्यों को वे प्रायः एक साथ ही किया करते थे, "वह जब भी कथा कहते, अंतिम वाक्य को हिन्दी के पक्ष में बोलते और जब कभी हिन्दी के समर्थन में कुछ कहते तो अपने कथन की पुष्टि धर्म के नाम पर करते।"[3] ब्रिटिश शासन को यह आशंका हुई कि वे अपनी कथाओं के माध्यम से विद्रोह को भड़काते हैं, अतः दो वर्ष के लिये उन्हें फिल्लौर की सीमा से बाहर कर दिया गया था। इस अवधि में वे अधिकांशतः हरिद्वार तथा ऋषिकेश में रहे। इसी समय उनका परिचय पादरी न्यूटन से हुआ जिसके अनुरोध पर उन्होंने ईसाई धर्म की कुछ छोटी-छोटी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया। इन्होंने कपूरथला नरेश रणधीरसिंह को ईसाई होने से बचाया था। इस घटना की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, "....उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का ऐसा सुन्दर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गये।"[४] एक बार

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं. डा. नगेन्द्र, पृष्ठ ४७४
२. श्रद्धाराम ग्रन्थावली—डा. सरनदास भनोट, पृष्ठ क
३. भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा—डा० ज्ञानवती दरबार, पृष्ठ ७२
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४४६

कथा कीर्त्तन के प्रबन्धकों से चढ़ावे के मामले में उनका कुछ विवाद हो गया, उसके बाद से मरण पर्यन्त उन्होंने चढावा लेना छोड़ दिया। जहां भी उन्हें अवसर मिलता वे अपने विपक्षियों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारते। कुछ लोगों का विश्वास है, "....अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य, मनमोहक शब्द वैभव एवं युक्ति चातुर्य के कारण उन्हें अपने जीवन में शास्त्रार्थ में कभी पराजय नहीं हुई।"[१]

धार्मिक विश्वासों में वे पक्के सनातनी थे, उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज का डटकर विरोध किया, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे उनके सिद्धान्तों से पूर्णतः अप्रभावित थे। उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचनाएँ की हैं जिनमें 'सत्यामृत प्रवाह' तथा 'भाग्यवती' अति प्रसिद्ध हैं। कालान्तर में उनके धार्मिक विश्वास डांवाडोल होने लगे। उन्हें अपने विचार संदिग्ध प्रतीत हुए और उसमें उन्होंने परिवर्तन भी किया, उनका अन्तिम जीवन रहस्यपूर्ण ही रहा, जिसके कारण उनकी प्रतिष्ठा को आंच भी पहुंची। उनके लेखन के सम्बन्ध में डा. ओंकारनाथ शर्मा ने यहां तक लिखा है, "वे स्वामी दयानन्द के प्रतिवाद में लिखा करते थे। इनकी रचनायें प्रायः धार्मिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टि से ही लिखी गई थीं।"[२]

स्वामीजी से सम्पर्क—पं. श्रद्धानन्दजी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह ज्ञात एवं उज्जवल पक्ष है, इसके अतिरिक्त जो दूसरा पक्ष है वह उनको सर्वथा विपरीत रूप में चित्रित करता है। सैद्धान्तिक विरोध और बात है और व्यक्ति-विद्वेष और वस्तु है। मण्डन मिश्र ने स्वामी शंकराचार्य से सैद्धान्तिक विरोध रखकर भी उनको अपना सम्माननीय अतिथि बनाया, किन्तु पं. श्रद्धारामजी ने स्वामीजी के विरुद्ध इससे विपरीत ही लीला रची। २६ अप्रैल, १८७७ को लाहौर में स्वामीजी ने दूसरा व्याख्यान दिया जिसमें उन्होंने बताया कि धर्म का भोजन से संबंध नहीं है, वेदों में जाति विशेष से अन्नग्रहण करने का कहीं निषेध नहीं है तथा अल्पआयु में विवाह करना वेद विरुद्ध है। इस पर पं. श्रद्धानन्दजी ने उस स्थान के मालिक के पास जाकर कहा कि स्वामीजी को बाग में ठहरने देना पाप है। "....Told him that it was a sin to give accomodation to Swamiji in his garden."[३] एक दिन अमृतसर में स्वामीजी के व्याख्यान में श्रोताओं में पं. श्रद्धारामजी भी उपस्थित थे और उन्होंने माथे पर तिलक भी लगा रखा था। स्वामीजी ने हंसी-हंसी में एक दृष्टान्त दिया, "....एक यात्री एक पेड़ की छाया में विश्राम कर रहा था, इतने में एक कौए ने उसके माथे पर बीट कर दी जिसने तिलक का रूप धारण कर लिया। यात्री उसी स्थिति में दिवंगत हो गया और उसको लेने यम तथा विष्णु के दूत वहां उपस्थित हो गये, दोनों दूत उसे अपने लोक में ले जाने के लिये झगड़ने लगे, अन्त में उस तिलक के कारण यमदूत उसे स्वर्ग में ले गया। अन्त में स्वामीजी ने कहा—यह कैसे संभव है कि तिलक से सामान्य पुलिस तो डरती नहीं, यमदूत कैसे भयभीत हो गये।"[४]

---

[१] श्रद्धाराम ग्रन्थावली, पृष्ठ च

[२] हिन्दी निबन्ध का विकास—डा. ओंकारनाथ शर्मा, पृष्ठ ६१

[३] Life of Dayanand Saraswati—Har Bilas Sarda, P. 178

[४] वही, पृष्ठ १८८

सन् १८७९ में हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर कुछ पौराणिक विद्वानों ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करना चाहा, इन विद्वानों में पं. श्रद्धाराम भी थे। इन लोगों की यह योजना थी कि जब स्वामीजी वहां पहुंचे तो "....एक पत्थर मारो सिर फूट जावे कुछ परवाह नहीं एक को फांसी हो जावेगी।"[1] स्वामीजी ने शास्त्रार्थ इसी शर्त पर स्वीकार किया कि प्रबंध सरकार की ओर से हो। स्वामी विशुद्धानन्दजी ने एक पत्र भेज कर स्वामीजी को इस शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिये मना कर दिया। जब उपस्थित जनता ने इस पत्र को सुना तो इस षड्यंत्र का भांडा फूट गया। इस पर पं. श्रद्धारामजी ने अपने को प्रसिद्ध बनाने के लिये एक योजना बनाई, "....पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी ने कुछ साधुओं को बहकाया कि तुम लोग सभा में आकर यह कहो कि हम दयानन्द के उपदेश सुनकर अपने धर्म से पतित हो गये थे, अब हमारा प्रायश्चित कराकर हमारी पाप निवृत्ति की जावे।"[2] इन लोगों को बाजे गाजे के साथ मेले में घुमाया गया। इस घटना को नमक मिर्च लगा कर श्रद्धारामजी ने १९ अप्रैल, १८७९ के 'कोहेनूर लाहौर' में छपवा भी दिया। पं. श्रद्धारामजी के इस अलीक कार्य को देखकर उनके साथियों में से एक पं. गोपाल शास्त्री (जम्मू निवासी) ने सच्ची बात आकर स्वामीजी की सभा में बता दी।

सत्य तो यह है कि पं. श्रद्धाराम नास्तिक थे, "उनका कोई धर्म नहीं था। एक बार ईसाइयों से दक्षिणा लेकर उन्होंने ईसाई मत के समर्थन में पंजाबी भाषा में एक पुस्तक भी लिखी थी। वह कोरे नास्तिक थे। वेदादि शास्त्र और ईश्वर में उन्हें विश्वास न था। सारे जीवन भर वह लोगों को धोखा देते रहे।"[3] इसी बात का समर्थन हमें सन् १८७९ के 'आर्य दर्पण' खण्ड दो, पृष्ठ १६४-१६९ में मिलता है। पं. श्रद्धारामजी का परिचय देते हुए वहां लिखा है "....हमारे पंडितजी पंजाबी भाषा तथा गुरुमुखी लिपि में एक पुस्तक ईसाई मत के समर्थन में भी प्रकाशित कर चुके हैं। हमें स्मरण पड़ता है कि गवर्नमेन्ट गजट पंजाब में इस पुस्तक[4] का रजिस्टर नम्बर ४९ है...."[5] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उन्होंने येनकेन प्रकारेण स्वामीजी का विरोध करने की चेष्टा की।

स्वामीजी का प्रभाव—यद्यपि पं. श्रद्धारामजी के विचारों में एकरूपता नहीं है, फिर भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहां वे स्वामीजी के पक्ष में अथवा प्रकारान्तर से उनके विचारों का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अपने 'बीज मंत्र' में पंडितजी ने परमेश्वर के अस्तित्व में संदेह व्यक्त किया है, "....जो कुछ है यह जगत् ही है। इस जगत् प्रपंच से भिन्न कोई अन्य पदार्थ, ब्रह्म, परमेश्वर, विष्णु, नारायण या भगवान् नहीं।...."[6] उन्होंने आत्मा को ही देह का एक अंग माना है, "देह के एक अंग का नाम आत्मा है जिसको हृदय कहते

---

[1] महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग दो—घासीरामजी, पृष्ठ १६५

[2] वही, पृष्ठ १६६   [3] वही, पृष्ठ १६७

[4] महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन चरित्र—पं. लेखराम, पृष्ठ ६६६

[5] इस पुस्तक में एक भजन 'ईसा मेरा राम रमैय्या, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया। मुख से ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लागेगा मोल' है।

[6] श्रद्धाराम ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४९

हैं।"[१] इस प्रकार वेदों को भी वे मनुष्य रचित मानते हैं, "शिल्प-वेदादि अपरा विद्या किसने रची है? गुरू-बुद्धिमान् मनुष्यों ने रची हैं।"[२] इन सिद्धान्तों में स्वामीजी के विरुद्ध होते हुए भी कुछ बातें उन्होंने स्वामीजी का नाम लिये बिना स्वीकृत की हैं। निदर्शन के रूप में जिनमें से कुछ निम्न हैं—

(क) "रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र आदिक शरीर जो परमेश्वर का अवतार माने जाते हैं वे सब महापुरुष थे जिन्होंने अपने समय में ज्ञान विद्या के बल के साथ अनेक प्रकार के आश्चर्य दिखलाये।"[३]

(ख) "सुख का नाम स्वर्ग और दुःख का नाम नर्क है।"[४] तथा "शुभ कर्मों के करने से जो सुख मिलता है, उसका नाम स्वर्ग और अशुभ कर्मों से दुःख मिलने का नाम नरक है।"[५]

(ग) "....उसी भांति ब्रह्म के आनन्द में मग्न होने से भी जीव और ब्रह्म की एकता न समझनी चाहिए।"[६]

(घ) "....वह मत कदापि काम का नहीं हो सकता जिसमें मदिरा का पीना, मांस का खाना और मिथ्या बोलना और व्यभिचार करना स्वीकार हो।"[७]

(ङ) अपने सम्प्रदाय के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"जिसमें बिना परब्रह्म परमेश्वर के और किसी की उपासना न होती हो।"[८]

(च) बाह्य चिह्नों तथा चक्रांकित मत के संबंध में उनका कथन है, "....यदि मन में भक्ति का चिह्न नहीं तो इन प्रकट चिह्नों के होने से भी कोई लाभ नहीं।"[९] तथा "....मैं सत्य कहता हूं कि बाह्य चिह्न, न विष्णु का मुक्ति देता न शिवजी हर को भजे सो हर का होय।"[१०] यही बात उन्होंने एक दोहे में भी कही है, "तिलक छाप माला जटा, भगवें पट तन छार। दण्ड कमण्डलु वेष तन, उदर भरण व्यवहार।"[११]

(छ) "....बस जिसका क्रियाकर्म न हुआ हो, वह धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार 'प्रेत' है।"[१२]

इसी प्रकार अनेक स्थलों पर स्वामीजी के समान उन्होंने विधवा विवाह का समर्थन किया है (पृष्ठ १२७), स्वयंवर विवाह का पृष्ठ-पोषण किया है (पृष्ठ १३२), शादी में अपव्यय (पृष्ठ १३५) तथा मिथ्याडम्बरों को रोकना चाहा है (पृष्ठ २१७), उन्होंने अवतारवाद का खण्डन भी किया है (पृष्ठ १३८) और कुरान को झूठा भी बताया है (पृष्ठ १५७), संतानों को विद्याहीन रखने वाले माता-पिता को उन्होंने शत्रु माना है (पृष्ठ १९५) और पुत्र एवं कन्या में कोई अन्तर नहीं माना है (पृष्ठ २६७)। उन्होंने ढोंगी साधुओं और कपटी ब्राह्मणों की निन्दा भी की है (पृष्ठ २९१ तथा ३०१) और माता-पिता को तीर्थ रूप माना है (पृष्ठ ३१०)।

---

[१] श्रद्धाराम ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४३

[२] वही, पृष्ठ ३५१

[३] वही, पृष्ठ ३५१

[४] वही, पृष्ठ ३५२

[५] वही, पृष्ठ ११३

[६] वही, पृष्ठ ११३

[७] वही, पृष्ठ १२१

[८] वही, पृष्ठ १२४

[९] वही, पृष्ठ १२७

[१०] वही, पृष्ठ १२८

[११] वही, पृष्ठ ९०

[१२] वही, पृष्ठ १४०

कुछ बातें ऐसी हैं जिनमें स्वामीजी के मत की पुष्टि करते हुए भी उन्होंने उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया है। बाल विवाह का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है फिर भी कन्याओं के लिये विवाह की अवधि उन्होंने ११ वर्ष की मानी है, "पं. बोले— हम लड़की का विवाह ११ वर्ष से पहले होना कभी श्रेष्ठ नहीं कहेंगे।"[१] लड़कों की आयु भी २५ के स्थान पर उन्होंने १८ वर्ष की ही मानी है। स्वयंवर विवाह का तो उन्होंने समर्थन किया है, पर कन्याओं के विवाह के संबंध में उनका 'दुहिता दुर्हिता दूरेहिता:' में विश्वास नहीं है, काशी का मोह इतना अधिक है कि वे कहते हैं—"... सो हम तो काशी के बाहर अपने बेटी-बेटे का विवाह करना नहीं चाहते।"[२] माता-पिता आदि को तीर्थ मानते हुए भी उनका तीर्थयात्रा का मोह छूटा नहीं। "पंडितानी बोली—आहा ! यह तो आपने मेरे मन ही की कही। अब हरिद्वार का कुम्भ नगीच आया है, चलो पहले वहां का स्नान कर आयें, फिर कभी दूसरी ओर देखा जायेगा।"[३] विवाह के संदर्भ में अग्नि क्रीड़ा आदि का विरोध करके भी जन्म पत्री का मिलाना आवश्यक माना है।

श्रद्धारामजी एवं स्वामीजी की तुलना—दोनों ही व्यक्ति परम विद्वान् तथा अन्यतम हिन्दी सेवी थे। स्वामीजी यदि हिन्दी को कुछ न देकर केवल 'सत्यार्थप्रकाश' ही दे देते और पंडितजी भी कुछ न लिख कर केवल 'भाग्यवती' तथा 'जय जगदीश हरे' ही लिख जाते तो भी उनके नाम हिन्दी साहित्य में अमर हो जाते। कहा जाता है कि फुल्लौरीजी ने १४०० पृष्ठों में अपनी आत्मकथा लिखी थी, पर पर्याप्त खोज करने के बाद भी वह उपलब्ध नहीं हो सकी, उसके प्राप्त होने पर भी बहुत सी गुत्थियां सुलझ सकती थीं, इसी प्रकार यदि स्वामीजी का असामयिक निधन न होता और वे चारों वेदों का भाष्य सम्पूर्ण कर लेते तो विश्व साहित्य में उनकी स्थिति कुछ और ही होती, पर आलोचना में संभावनाओं के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। स्वामीजी के साहित्य में तारतम्यता है, उन्होंने जो सिद्धान्त एक स्थान पर प्रतिपादित किया है, कहीं भी उसका विरोध नहीं किया है, किन्तु फुल्लौरीजी को परिस्थितियों से विवश होकर कई तरह के रंग बदलने पड़े हैं। कहीं उन्होंने आस्तिकता का प्रतिपादन किया है, कहीं परमेश्वर को असत्य माना है, कहीं प्रभु की आरती उतारी है और कहीं ईसा का आंचल पकड़ा है। संभवत: उन्हें ख्याति और सम्पत्ति की परम आवश्यकता थी, अत: जिस साधन से उन्हें आशा बंधी वे उसी ओर उन्मुख हो गये। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये उन्होंने कर्माकर्म, धर्माधर्म का विवेक भी खो दिया है। अपनी मृत्यु से कुछ घण्टे पूर्व एक पत्र लिख कर उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट की, "हमारी बड़ी भूल है कि हम इस वृद्धतर (बूढ़े हुए) धर्म को फिर युवा बनाने का उद्योग करें। हमने तो जगत् का भला करते-करते जन्म खो दिया। न घर के रहे न घाट के। लालजी ! अब तो कमर टूट गई। किसका उपदेश ? किसकी सभा, किसकी यात्रा ?"...[४] स्वामीजी के जीवन में कभी ऐसी स्थिति नहीं आई जब उन्हें अपने किये पर पश्चाताप की नौबत आई हो।

---

१. श्रद्धाराम ग्रन्थावली, पृष्ठ १९०

२. वही, पृष्ठ २१० ३. वही, पृष्ठ २८०

४. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—लेखराम, पृष्ठ ६७०

स्वामीजी ने अपना साहित्य केवल हिन्दी तथा संस्कृत में ही रचा, किन्तु पं. जी ने इन भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू तथा पंजाबी में भी साहित्य सृष्टि की। स्वामीजी के नारी संबंधी अनेक विचारों को पंडितजी ने 'भाग्यवती' के माध्यम से सफल रूप में प्रस्तुत किया है। स्वामीजी ने अपवादों को छोड़कर केवल गद्य का ही आश्रय लिया है जबकि फिल्लौरीजी ने गद्य-पद्य दोनों को ही अपनाया है। दोनों के ग्रन्थों में उपदेशात्मकता, आदर्शवाद तथा प्रश्नोत्तर शैली का यथास्थान प्रयोग किया गया है। पंडितजी में रोचकता है और स्वामीजी में गांभीर्य, एक में कृत्रिमता है और दूसरे में निश्छलता, एक ने बचपन में ही पंचमकारों[1] का सेवन किया है और दूसरे ने आजन्म उनसे परहेज रखा है, एक ने जीवन भर विदेशी शासन को दूर करने का प्रयत्न किया है दूसरे ने अनेक स्थलों पर अंग्रेजों की प्रशस्ति लिखी है। "अब तो ईश्वर ने हमको उस महाराज अंग्रेज की प्रजा बनाया है कि जो कभी अन्याय नहीं करता।"[2] तथा "....अंग्रेजी डाक्टर को बुला लेना चाहिये क्योंकि ये लोग एक तो विद्यावान् होते हैं...."[3] आदि अनेक उदाहरण उनके साहित्य में भरे हैं। पंडितजी तार्किक नैयायिक, शास्त्रार्थ महारथी अवश्य थे, पर इस क्षेत्र में स्वामीजी के समक्ष उनकी स्थिति 'तावद्भाभारवेर्भाति यावन्माघस्य-नोदयः' की सी हो जाती है। कई ढंग से उन्होंने स्वामीजी की निन्दा तो अवश्य की, पर खुलकर शास्त्रार्थ के लिये कभी सामने नहीं आये। 'भाग्यवती' उपन्यास को भी उन्होंने क्योंकि पाठशालाओं में पाठ्यपुस्तक के रूप में निर्धारित करवाना था, अतः सरकार के आदेशानुसार उन्होंने उसमें से कुछ उपयोगी अंश निकाल दिया था, इस प्रकार का कोई समझौता स्वामीजी के स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध था। दोनों ही महानुभावों में कितना ही मत वैभिन्य क्यों न रहा हो पर दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से हिन्दी भाषा की श्रीवृद्धि की।

उपसंहार—आधुनिक हिन्दी साहित्य को भी स्वामीजी ने कई रूपों में प्रभावित किया है, पर तत्कालीन भारतेन्दु युग में कोई भी ऐसा लेखक नहीं है जिस पर उनका प्रभाव न पड़ा हो। यह अन्य बात है कि स्वाति नक्षत्र में दयानन्द रूपी मेघ से निकला जल कहीं मोती बन गया हो, कहीं कपूर और कहीं भयंकर विष। किसी ने उनसे तार्किक शैली ग्रहण की, किसी ने उनके माध्यम से वैचारिक दरिद्रता को दूर किया और किसी ने उनके विचारों का विरोध ही जीवन का परम लक्ष्य रखा। यदि उस युग के लेखकों में से स्वामीजी के प्रभाव को निस्तृत कर दिया जाय तो जो शेष रहेगा, वह होगा रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, मिथ्याडम्बर, पुरानी परम्पराओं का पुनरावर्तन, अंग्रेजों की प्रशस्ति और शृंगार परक साहित्य की अभिवृद्धि। हम स्वामीजी के विचारों से सहमत हों या न हों, सहमत होकर भी इसे स्वीकार करें या न करें पर यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जो उस समय के साहित्यकार होने का दावा करता है, उनके प्रभाव से अछूता नहीं है।

◆◆

---

[1] "मैं तो बचपन में एक पुरुष की प्रेरणा से इस धर्म को कुछ दिन अंगीकार कर बैठा था"
—श्रद्धाराम ग्रन्थावली, पृष्ठ ११७

[2] श्रद्धाराम ग्रन्थावली, पृष्ठ १९१

[3] वही, पृष्ठ ३२२

एकादश अध्याय

निष्कर्ष एवं मूल्यांकन

(क) हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में स्वामी दयानन्द का योगदान

पिछले अध्याय में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि स्वामीजी के व्यक्तित्व, विचारधारा तथा उनके साहित्य का तत्कालीन साहित्यकारों तथा विद्वानों पर क्या प्रभाव पड़ा था। हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहास लेखकों ने हिन्दी गद्य के विकास के सन्दर्भ में फोर्ट विलियम कालिज के चार धुरन्धर आचार्यों की चर्चा करने के बाद राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का नामोल्लेख किया है, उसके बाद उनका ध्यान सीधा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' की ओर आकृष्ट हो गया है। जिन्होंने इन दोनों महानुभावों के बीच की कड़ी को जोड़ने का प्रयत्न किया है, उन्होंने भी राजा लक्ष्मण सिंह का नाम इस रूप में प्रस्तुत किया है। प्रायः सभी इतिहास लेखकों ने 'सितारे हिन्द' और भारतेन्दु के बीच की एक अन्य महत्त्वपूर्ण एवं सुदृढ़ कड़ी की ओर उदासीनता का व्यवहार किया है। वह महत्त्वपूर्ण कड़ी है 'स्वामी दयानन्द सरस्वती'। जिन्होंने इस प्रसंग में इस नाम की चर्चा की है उन्होंने भी उनके साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है।

जिन महानुभावों ने शृंगारपरक गीतों, नायिका भेद, नखशिख वर्णन तथा किसी पुराण के अनुवाद को ही साहित्य मान रक्खा है, उनके लिये स्वामीजी का नाम उचित रीति से साहित्य में सम्मिलित न करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साहित्य के महान् आलोचक होने के बाद भी जिनकी दृष्टि में साकारोपासना और निराकारोपासना का भेदभाव भरा हो, उनसे इस विषय में कुछ अधिक आशा भी नहीं की जा सकती। स्वामीजी ने नाटक, पद्य, लक्षण ग्रन्थ, कहानी और उपन्यास न लिखकर भी जो हिन्दी की सेवा की, वह न केवल उस समय के लिये अनुपम थी अपितु उसका महत्त्व आज भी न्यून नहीं हुआ है।

उर्दू-फारसी प्रभाव से मुक्ति—उस युग में राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द'[1] हिन्दी भाषा को उर्दू-फारसी का बाना पहनाने में व्यस्त थे। फारसी के गलाघोटू शब्द, उनके व्याकरण की भरमार, उनकी रचनाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही थी, तब स्वामीजी ने अपने साहित्य के माध्यम से हिन्दी को इन प्रभावों से मुक्ति दिलाई। भाषा के लिये जो कार्य राजा लक्ष्मणसिंह ने किया "....अपनी भाषा संबंधी नीति स्पष्ट करते हुए हिन्दी को उर्दू से न्यारी, केवल हिन्दुओं की बोली घोषित किया और उसमें से सतर्कतापूर्वक अरबी, फारसी के चिर-प्रचलित तथा सर्वग्राह्य शब्दों को भी अलग कर दिया।"[2] ....कुछ सीमा तक वही कार्य स्वामीजी ने भी किया। स्वामीजी के साहित्य में अगाध पाण्डित्य के साथ संस्कृत तत्सम शब्दों

---

[1] राजा साहब का विशिष्ट परिचय तथा स्वामीजी से उनके संबंध की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक के १०वें अध्याय में पृष्ठ ३२४ से ३२९ पर है।

[2] हिन्दी साहित्य कोश, भाग २—लक्ष्मणसिंह राजा, पृष्ठ ५११

का बाहुल्य है, पर स्थान-स्थान पर उसमें उर्दू, फारसी, इंगलिश, गुजराती आदि भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग है। जो वस्तु केवल पंडितों की सम्पत्ति बनी हुई थी, स्वामीजी ने उसे जन साधारण को सुलभ करा दिया।

अहिन्दी भाषी होते हुए हिन्दी का पृष्ठपोषण—आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वामीजी का जन्म हिन्दी भाषी प्रदेश में नहीं हुआ था, उन्हें हिन्दी में भाषण करने की प्रेरणा भी एक अहिन्दी भाषी ने दी थी। राष्ट्रहित में उन्होंने इस राष्ट्रीय आवश्यकता को स्वीकार किया और अपने समस्त साहित्य का सृजन इसी भाषा में किया। उन्होंने सम्पूर्ण भारत में इस भाषा का प्रचार किया और इसको 'आर्य भाषा' के नाम से विभूषित किया। कुछ समय बाद उन्हें हिन्दी का इतना अच्छा अभ्यास हो गया था कि इसमें अन्य महानुभावों की गलतियां भी निकाल देते थे। कांग्रेस के जन्म से पूर्व ही वह प्रथम स्वप्नादृष्टा थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया और अपने सभी अनुयायियों के लिये इसका अध्ययन अनिवार्य कर दिया।

वैदिक विषयों का समावेश—स्वामीजी के समय तक पं. रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वाशिष्ठ' तथा पं. लल्लूरामजी का भागवत के दशम स्कन्ध पर आधृत 'प्रेम सागर' आदि प्रकाश में आ चुके थे। भारतीय आदर्श राम तथा कृष्ण की भी चर्चा पर्याप्त विकृत रूप में हो चुकी थी, पर वैदिक साहित्य की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। स्वामीजी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने वेदों का द्वार सर्वसाधारण के लिये उद्घाटित कर दिया। उनके वेदों के भाष्य से भले ही कुछ लोग असहमत हों, पर यह तो एक मत से स्वीकार करना होगा कि हिन्दी भाषा को वेदों का भाष्यदान करने वालों में वे अग्रणी थे, इस क्षेत्र में उन्होंने उस समय प्रचलित नारे 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' की न केवल जमकर आलोचना की किन्तु इन लोगों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था भी की। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' के सृजन के बहुत पूर्व ही अनेक अहिन्दी भाषी लोगों ने केवल स्वामीजी का साहित्य पढ़ने के लिये हिन्दी सीखी। ईसाई प्रचारकों के हिन्दी भाषा के प्रचार में योगदान को कोई भी अस्वीकृत नहीं कर सकता, किन्तु इस माध्यम से अभारतीयता और विदेशीयता का जो बीज वे बो रहे थे, उसका मुंहतोड़ उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही दिया।

तर्कपूर्ण शैली—स्वामीजी न तो किसी दल विशेष के सदस्य थे और न उनका आग्रह किसी मत विशेष की ओर था। उनके जीवन का उद्देश्य ही वेद की कसौटी पर सत्यासत्य का निर्णय करना था। इस मार्ग में जो भी बाधायें आईं, उन्होंने उन्हें उन्मूलित करने के प्रयत्न किये। तर्कपूर्ण शैली का आश्रय लेकर उन्होंने विरोधियों को खुले आम चुनौती दी। उनके साहित्य में एकांश भी ऐसा नहीं है जो बुद्धिगम्य न हो, जो तर्क पर आश्रित न हो और जिसमें सत्य का निरूपण न किया गया हो। यह तर्कपूर्ण शैली उस समय की हिन्दी के लिये एक नवीन शैली थी, इसी को आधार मानकर तुलनात्मक आलोचना की नींव भी रक्खी गई। उनसे पूर्व भी लोगों ने अपनी बात कही है, पर दूसरों से तुलना करने का साहस वे नहीं जुटा पाये। अपने साहित्य में स्वामीजी ने प्रश्नात्मक शैली का भी प्रयोग किया है, वे स्वयं ही उसका उत्तर देते हैं, इस प्रकार वर्ण्य विषय के समस्त अंगों का ज्ञान सहृदय सामाजिकों को हो जाता है।

विचार और कर्म में साम्य— वेद के 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे' के स्वामीजी अनुपम निदर्शन थे। उन्होंने जो कुछ भी विचारा, उसे कर्म में परिणत किया और निर्भीक स्वरों में उसी को साहित्य में प्रतिष्ठापित किया। स्त्री शिक्षा का प्रचलन, विधवा विवाह का समर्थन, अनमेल विवाह का निषेध, समुद्र यात्रा का अनुमोदन तथा अस्पृश्यता निवारण आदि संबंधी विचार उनके साहित्य में इसी प्रवृत्ति तथा क्रियाशीलता के उदाहरण हैं। उनके साहित्य में निश्छल हृदय के उद्गार हैं, ऋषि की तपस्या है, देशोद्धार की कामना है और आर्य भाषा की सेवा करने की ललक है, अतः उनका साहित्य पाठकों को अभिभूत करता है, विपक्षियों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देता है, बड़े से बड़ा नास्तिक भी एक बार तो उनके समक्ष नतमस्तक हो जाता है, हृदय में संस्कारवश कुछ द्वंधीभाव रखकर भी बुद्धि के आधार पर उसका विरोध नहीं कर पाता। यही कारण है कि उनके ये विचार तत्कालीन लेखकों के मस्तिष्क पर चाहे-अनचाहे छा गये हैं। यदि सत्य निरूपण, निश्छल-अभिव्यक्ति और प्रभावोत्पादक को काव्य की कसौटी माना जाये, तो स्वामीजी न केवल उस समय के वल्कि वर्तमान युग के भी किसी साहित्यकार से पीछे नहीं हैं।

हिन्दी में नवीन विचारों की उद्भावना—स्वामीजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने डंके की चोट पर घोषणा की कि आर्यों का आदिदेश विदेश न होकर भारत (आर्यावर्त) ही है, वे ही स्वराज्य शब्द के प्रथम उद्घोषक रहे, उन्होंने ही बताया कि प्राचीनकाल में भारतीयों का संबंध विदेशों से भी था। वेदों की ऋचाओं के आधार पर उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि वैज्ञानिक उन्नति, ज्योतिष, गणित विद्या आदि में भारत किसी देश से पिछड़ा नहीं था, उन्होंने ही मनु के 'स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः' का समर्थन किया। तत्कालीन हिन्दी के लिये ये सभी बातें नवीन थीं। इन तथ्यों के समावेश ने हिन्दी के महत्त्व को बढ़ाया, पाठकों में जिज्ञासा जागृत हुई और उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

साहित्य शास्त्र के ज्ञाता—स्वामीजी ने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा, पर इस विषय का भी उन्हें ज्ञान अवश्य था। वेद भाष्य में उन्होंने यथा स्थान अलंकारों का निर्देश किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों की व्याख्या की है। उनमें कवि हृदय की अनुभूति थी, जीवन का व्यापक अनुभव था, गंभीर अध्ययनशीलता थी और अभिव्यक्ति सामर्थ्य भी अनुपम था, पर इनका प्रयोग उन्होंने किसी राजा की स्तुति, काल्पनिक नायक-नायिका के सौन्दर्य निरूपण में नहीं किया। वे चाहते तो तथाकथित पद्यमय काव्य की सृष्टि कर सकते थे, किसी नाटक का निर्माण कर सकते थे, पर जानबूझ कर उन्होंने अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस क्षेत्र में नहीं किया। नाटकों को वे भड़ुवापन समझते थे, रामलीला तथा रासलीला को वे महापुरुषों का उपहास मानते थे। उन्होंने जहां कहीं भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा योगिराज कृष्ण की चर्चा की है, उनका ऐतिहासिक तथा आदर्श रूप ही निरूपित किया है। उन्होंने अपने साहित्य को तथाकथित घोर शृंगार से तथा अश्लीलता से बचाया है। कुछ समय बाद यही स्वर मुंशी प्रेमचन्द की रंगभूमि में भी मुखरित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। 'प्रभु सेवक' को कविता की आलोचना करते हुए 'सोफी' कहती है—"तुम्हारी कविता बहुत उच्च कोटि की है। मैं इसे सर्वांग सुन्दर कहने को तैयार

हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश बंधुओं के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरुरत नहीं होती, इसे तुम भी स्वीकार करोगे। सामान्य कवियों के लिये कोई बंधन नहीं है—उन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है, लेकिन तुम्हें ईश्वर ने जितनी ही महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की है उतना उत्तरदायित्व भी तुम्हारे ऊपर ज्यादा है।"[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द के स्वरों में स्वामीजी की आत्मा बोल रही है।

विविधता—स्वामीजी का साहित्य विस्तीर्ण भी है और विविध भी। कहीं उसमें आत्मकथा के दर्शन होते हैं और कहीं उपदेश की झांकी दिखाई देती है, कहीं शास्त्रीय प्रमाणों का बाहुल्य है और कहीं दृष्टान्तों की रोचकता, कहीं गांभीर्य के मुक्ताओं में हास्य का डोरा भी अनुस्यूत है, कहीं गम्भीर घोष के साथ व्यंग्य की भी सरस झलक है। उनका शब्द भण्डार विशाल है, आवश्यकतानुसार उन्होंने नवीन शब्दों का निर्माण भी किया है, इस कार्य के लिये उन्होंने अधिकतम संस्कृत शब्दों की सहायता ली है। देश के अतीत गौरव के इस गायक ने जहाँ सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरप्रदत्त वैदिक ऋचाओं की चर्चा की है, वहीं आधुनिकतम वैज्ञानिक आविष्कारों का भी अपने साहित्य में उल्लेख किया है, उन्होंने अंग्रेजों के कुछ गुणों की भी सराहना की है और देश की कुप्रथाओं का भी पर्दाफाश किया है, उनके साहित्य में सद्गुणों का मंडन भी है और कुरीतियों का खण्डन भी है।

हिन्दी प्रचार के साधन—स्वामीजी ने जहां हिन्दी में साहित्य सृजन किया, वहाँ अपने प्रत्येक अनुयायी के लिये उन्होंने इस भाषा का अध्ययन आवश्यक निर्दिष्ट किया। अपने भाषणों द्वारा तो उन्होंने इस भाषा का प्रचार किया ही, शास्त्रार्थ का माध्यम भी इसे बनाया। इस भाषा के अध्यापन के लिये उन्होंने स्वयं कई पाठशालायें भी खोलीं। कर्नल आल्काट, मैडम ब्लेवट्सकी को तो उन्होंने हिन्दी अध्ययन के लिये प्रेरित किया ही, कई रियासतों के राजाओं को इस भाषा के माध्यम से इन्होंने शिक्षा दी। इस भाषा को राज्य कार्य का माध्यम बनाने के लिये उन्होंने एक मेमोरेण्डम भी तैयार करवाया था और उस पर अधिकतम व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराने का जोरदार अभियान[2] भी उन्होंने चलाया था। उन्होंने बम्बई में आर्यसमाज के जो नियम बनाये थे, उसमें ९वें नियम में ऐसी अनुज्ञा थी कि प्रत्येक प्रमुख आर्यसमाज से एक साप्ताहिक समाचार पत्र हिन्दी में प्रकाशित हो। स्वामीजी के सत्साहित्य का जनता में अधिकाधिक प्रचरित होने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उस समय प्रेस तथा मुद्रण दोनों यंत्रों की स्थापना हो चुकी थी। स्वामीजी अपने लेख तथा विज्ञापन तत्कालीन पत्रों में भी भेजते थे। वे स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कवि वचन सुधा' के प्रतिष्ठित लेखकों में थे, स्वामीजी का कुछ साहित्य ईसाई प्रचार के निरोधार्थ छोटे-छोटे ट्रैक्ट्स के रूप में भी प्रकाशित हुआ था। स्वामीजी जीवन में यदि कोई कार्य न कर केवल 'सत्यार्थप्रकाश' का निर्माण करते तो भी उनका स्थान हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण होता। उनका यह अकेला ग्रन्थ ही 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' के समग्र मौलिक ग्रन्थों के विस्तार के बराबर है। इसका संसार की अनेक भाषाओं

---

१. रंगभूमि, पृष्ठ १५७ (हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव, पृष्ठ १३४)

२. दुर्भाग्यवश उनकी अकाल मृत्यु से यह कार्य अधूरा ही रह गया।

में अनुवाद हो चुका है तथा जो ख्याति इस ग्रन्थ को मिली वह उस युग के किसी लेखक तथा किसी साहित्यिक कृति को नहीं मिली। अकेले इस ग्रन्थ ने ही जितना हिन्दी का प्रचार किया उतना कई लेखकों की सम्मिलित कृतियों ने भी नहीं किया। स्वामीजी की संस्था 'आर्यसमाज' के माध्यम से हिन्दी भाषा का प्रचार देश तथा विदेश में भी हुआ। कालान्तर में स्वामीजी की योजना के अनुरूप बने गुरुकुलों, कन्या पाठशालाओं तथा डी. ए. वी. स्कूल आदि के माध्यम से भी हिन्दी का पर्याप्त प्रचार हुआ। लिपि के संबंध में भी स्वामीजी के विचार ढुलमुल नहीं थे, उन्होंने स्पष्ट रूप से हिन्दी भाषा के लिये देवनागरी लिपि को अपनाया, इस कार्य के लिये न उन्हें रोमन लिपि स्वीकार्य थी और न फारसी लिपि। उनके द्वारा स्थापित 'परोपकारिणी सभा अजमेर' ने हिन्दी के प्रचार के लिये महती सेवा की है। स्वामीजी के जीवनकाल में ही उनकी प्रेरणा से कई आर्यसमाजों की पत्रिकायें प्रकाशित होनी प्रारम्भ हो गई थीं, जिन्होंने हिन्दी प्रचार की प्रगति को काफी आगे बढ़ाया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का जो प्रचार किया वह प्रायः शिक्षित वर्ग तथा नगरों तक ही सीमित था, जबकि आर्यसमाज के पत्र ग्रामीण जनता तक भी पहुंचे और पिछड़े प्रदेश में भी हिन्दी प्रचार में सहायक हुए। विभिन्न आर्यसमाजों से जो पत्र निकलते थे, उनमें शाहजहांपुर का 'आर्य-दर्पण' (१८७०), फर्रुखाबाद का 'भारत सुदशा प्रवर्तक' (१८७९) तथा मेरठ का 'आर्य समाचार' (१८८५) आदि अति प्रसिद्ध थे।

यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि पंजाब के कुछ आर्यसमाजी पत्र (प्रताप, मिलाप, सद्धर्म प्रचारक) आदि उर्दू भाषा में निकलते थे, पर उन्होंने हिन्दी के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। स्वामीजी की कई जीवनियां हिन्दी भाषा में लिखी गईं, जिनके द्वारा हिन्दी का पर्याप्त प्रचार हुआ। आधुनिक युग में हिन्दी प्रचार-प्रसार की जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था मानी जाती है 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' उसकी स्थापना भी स्वामी दयानन्द के पक्के अनुयायी तथा भक्त श्री रामनारायण मिश्र[1] ने की थी। पंजाब में हिन्दी प्रचार का श्रीगणेश स्वामी दयानन्द द्वारा ही किया गया, दक्षिण में भी हिन्दी की ज्योति उन्हीं के भक्त ही ले गये। स्वामीजी द्वारा संस्थापित संस्था 'आर्यसमाज' तथा उनके अनुयायियों द्वारा हिन्दी सेवा का उल्लेख यदि यहां किया जाये तो अत्यधिक विस्तृत होगा और उसके लिये पृथक् रूप से एक ग्रन्थ की आवश्यकता होगी, अतः जानबूझकर उस प्रसंग का यहाँ वर्णन नहीं किया जा रहा है।

हिन्दी साहित्य पर स्वामीजी का प्रभाव—पुष्प से यदि गन्ध को, चन्द्र से शीतलता को और वन से यदि हरीतिमा को पृथक् कर दिया जाये तो जो कुछ अवशिष्ट रह जायेगा, वही कुछ भारतेन्दु युग से स्वामीजी की विचारधारा को निस्तृत कर देने पर शेष रह जायेगा। उस युग के प्रत्येक साहित्यकार पर स्वामीजी की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' के 'रचि बहु विधि वाक्य पुरानन मांहि घुसाये', 'जाति अनेकन करी नीच ओर ऊंच बनायो', 'जन्म पत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब। बालकपन में व्याह प्रीति बल नास कियो सब।' आदि में स्वामीजी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उस युग के कुछ प्रमुख लेखकों पर स्वामीजी के प्रभाव की चर्चा हमने विगत अध्याय में की है। हिन्दी के प्रसिद्ध

---

[1] हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन—क्षेमचन्द्र सुमन, पृष्ठ १८

नाटककार तथा कवि पं. नारायण प्रसाद बेताब पर स्वामीजी का प्रभाव अत्यधिक दिखाई पड़ता है, उनका भजन 'अब हैरान हूं भगवन् तुम्हें क्यों कर रिझाऊं' तो अत्यन्त प्रसिद्ध है ही उन्होंने 'महर्षि दयानन्द प्रशस्ति' नाम से एक पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक में स्वामीजी की जीवनी का भावुकतापूर्ण चित्रण तो है ही, स्थान-स्थान पर उनकी मान्यताओं का निरूपण भी है "न बचपन की शादी है जेबा भलों को। निचोड़ो कुचल कर न कच्चे फलों को"[१] तथा श्राद्ध के संबंध में कहा गया 'बड़े पेट थे या बड़ा डाकखाना। किये पार्सल अक्सर उनसे रवाना'[२] आदि उद्धरण हमारे कथन को सिद्ध करते हैं। हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के ८वें खण्ड में भी यह स्वीकृत किया गया है, "सन् १८७५ में दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक इस आर्यसमाज की विचारधारा का व्यापक प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ चुका था।"[३]

भारतेन्दु द्वारा सम्पादित एक उपन्यास 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' है, इसे मराठी से अनूदित किया गया है। इसमें लेखक ने बूढे ढुंढिराज का नवयुवती चन्द्रप्रभा की भाँति वृद्ध विवाह की प्रथा का लेखक ने विरोध किया और लड़के-लड़कियों की शिक्षा पर जोर दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने आर्यसमाज के विरुद्ध सनातन धर्म की महिमा का वर्णन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी के विचारों का प्रभाव अन्य भाषा के लेखकों पर भी पड़ रहा था। हिन्दी के लेखकों में एक वर्ग उनके विचारों का समर्थक था तथा दूसरा विरोधी, पर प्रभावित दोनों ही थे। हिन्दी साहित्य की बागडोर उन दिनों सनातनधर्मियों के हाथ में थी पर पलड़ा भारी स्वामीजी की विचारधारा का ही रहा। डा० वार्ष्णेय ने उचित ही लिखा है, "स्वामी दयानन्द भारत के महान् निर्माताओं में से हैं। सुधारवादी सनातन धर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्यसमाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसने साहित्यिकों को तरह-तरह के विषय सुझाये और भाषा में संस्कृत तत्व को प्रोत्साहन दिया...."[४]

भारतेन्दु युग के बाद हिन्दी का अगला युग 'द्विवेदी युग' है। इसके संस्थापक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वामीजी से किस सीमा तक प्रभावित थे, यह उनके द्वारा स्वामीजी को दी गई श्रद्धांजलि से ज्ञात होता है। उन्होंने लिखा है, "सनातन धर्मावलम्बियों की सन्तति होने और देवी-देवताओं के सम्मुख सिर झुकाने पर भी मेरे हृदय में श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती पर अगाध श्रद्धा है ......मैं स्वामीजी की विद्वत्ता और उनके कार्यकलाप को अभागे भारत के सौभाग्य का सूचक चिह्न मानता हूं। उनका चित्र चिरकाल तक मेरे नेत्रों के सामने रहकर मेरी आत्मा को बल का तथा बैठने के कमरे को शोभा का दान देता रहा है.......।"

---

१. महर्षि दयानन्द प्रशस्ति—(नारायणप्रसाद बेताब)—सं. डा० भवानीलाल भारतीय, पृष्ठ १४

२. वही, पृष्ठ १५

३. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, आठवां भाग, पृष्ठ ८१

४. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई०)—डॉ० ल. सा. वार्ष्णेय, पृष्ठ ९१-९२

'धन्यंच प्राज्ञमूर्धन्यं दयानन्दं दयाधनम् ।
स्वामिनं तमहं वन्दे वारं वारंच सादरम् ॥'

गल्प सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द कुछ समय तक तो आर्यसमाज के नामजद सदस्य रहे थे, और उसके बाद तो स्वयं आर्यसमाज के ही इतने साहित्य सेवी हो गये हैं कि हिन्दी की प्रत्येक दिशा एवं विधा में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है । उसके बाद की गाथा का संबंध प्रत्यक्षः स्वामीजी से उतना नहीं है जितना कि आर्यसमाज की विचारधारा से । उस क्षेत्र का विशद् विवेचन डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन'', श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन'' तथा डा० चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे के 'हिन्दी गद्य साहित्य' में किया है । कुछ समय पूर्व ही एक पुस्तक 'वन्दना के स्वर' के नाम से प्रकाशित हुई है जिसमें महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों और कार्यकलापों का जो प्रभाव भारत के बुद्धिजीवियों विशेषतः कवियों पर पड़ा है, उसकी चर्चा है । इसमें नये-पुराने ११६ कवियों के एतद्विषयक काव्य का संकलन है । पुस्तक के निम्न कुछ अंश दृष्टव्य हैं—

१. पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी ने स्वामीजी के संबंध में लिखा है, ''महर्षि दयानन्द जी से बढ़कर भी मनुष्य होता है, इसका प्रमाण प्राप्त नहीं होता । यही वैदिक ज्ञान की मनुष्य के उत्कर्ष में प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है....'', ''ऋषि दयानन्द से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महापुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं कुछ भी न लेकर हमें अपार ज्ञान राशि वेदों से परिचित कर दिया ।''[१]

२. ''नाना विरोध वारिद पवन कदाचार कानन दहन
है निरानन्द-तरु-वृन्द के दयानन्द आनन्द घन ।''[२] —हरिऔध

३. ''राजनीतिक दासता से मुक्त हैं भारत निवासी
चेतना राष्ट्रीय लेकिन आज भी है देवदासी ।
स्वप्न भारत-भारती का है अधूरा ही हमारा ।
देश के सिर पर चढा है आज भी ऋषि ऋण तुम्हारा ॥''[३]
—आरसी प्रसाद सिंह

४ नत मस्तक सब आर्यजन, करते तुम्हें प्रणाम
अजर-अमर है विश्व में, दयानन्द का नाम ।
दयानन्द का नाम, महर्षि पदवी पाई
भूले भटके जनगणमन को राह दिखाई ।
गोरे भारत नहीं छोड़ते राजी-राजी
अगर न देते योग, देश के आर्य समाजी ॥[४] —काका हाथरसी

---

१. वन्दना के स्वर—सं. क्षेमचन्द्र सुमन, पृष्ठ १८-१९
२. वही, पृष्ठ २६ ३. वही, पृष्ठ ३०
४. वही, पृष्ठ ६९

५. "तू दिखलाता है प्रकाश ऋषि, हम आगे बढ़ते जाते हैं।
है तेरा आदेश यही ऋषि जीवन की ज्योति जगाते हैं।।"[1]
—गोपालसिंह नेपाली

६. विमल विद्या यज्ञनिष्ठा 'विश्वमार्यम्' की प्रतिष्ठा,
भर गये 'सत्यार्थ' में तुम वेद और पुराण ऋषिवर।
पतित को पावन बनाया, जो कहा करके दिखाया।।[2] —बलवीर सिंह रंग

७. "किन्तु दूर भावी के तल से उद्वेगी ध्वनि यही 'संभलना'।
भूल न जाना विप्लवकारी शिशु ऋषि दयानन्द का पलना।।"[3]
—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

८. "लिखा निज शोणित से यह लेख
'कृणध्वं विश्व मार्यम् जयति कृतबुद्धि कार्यम्'
शुद्धि-वितान तले श्रद्धा का दान किया तूने ऋषिराज....।"[4]
—मैथिलीशरण गुप्त

विस्तार भय से हमने अन्य कई प्रसिद्ध प्रतिष्ठित कवियों (सर्वश्री अनूप शर्मा, कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर, भवानी प्रसाद मिश्र, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीमती विद्यावती कोकिल, शैवाल सत्यार्थी आदि) के उद्धरण यहां नहीं दिए हैं।

उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से ऋषि दयानन्द की प्रतिष्ठा में वृद्धि भले ही न हो, पर ये उनके व्यापक प्रभाव को अवश्य सूचित करते हैं।

दयानन्द युग—स्वामी दयानन्द ने अपनी विचारधारा विद्वत्ता तथा वक्तृत्व शैली से उस युग के प्रायः प्रत्येक साहित्यकार को प्रभावित किया, परिमाण में भी उनका साहित्य उस युग के किसी लेखक से कम नहीं है, फिर उस युग का नाम 'दयानन्द युग' ही क्यों न रखा जाये, इस बात पर विचार करना यहां अप्रासंगिक नहीं है। युग प्रवर्त्तक किसे माना जाये ? इसके लिये हमें कोई कसौटी निर्धारित करनी पड़ेगी, जिस पर कस कर ही हम इस विषय में कुछ निर्णय लें सकते हैं। परीक्षण के कुछ आधार निम्न हो सकते हैं—

(क) रचनाओं का परिमाण अथवा प्राचुर्य—भारतेन्दुजी पर पूर्ण आस्था रखते हुए, उनके महत्त्व को स्वीकार करते और सराहते हुए भी युग प्रवर्तक कथित किये जाने के कारण हम उनकी तथा स्वामीजी की तुलना के द्वारा सत्यासत्य के निर्णय का प्रयास कर रहे हैं। रचनाओं की प्रचुरता कोई बहुत अच्छी कसौटी नहीं है, इस आधार पर संभवतः देव बिहारी से महान् सिद्ध होंगे, पर यदि इसे ही कसौटी माना जाय तो भारतेन्दुजी का समग्र साहित्य (अनूदित सहित) स्वामीजी द्वारा रचित साहित्य की तुलना में अत्यल्प है।

(ख) वय—कभी-कभी अन्य बातों के समान होने पर आयु को निर्णायक तत्व मान लिया जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ राजकुमार को ही राज्य का उत्तरा-

---

[1] वन्दना के स्वर-सं. क्षेमचन्द्र सुमन, पृष्ठ ४७
[2] वही, पृष्ठ ८९
[3] वही, पृष्ठ ९३
[4] वही, पृष्ठ १०४

धिकारी बनाया जाता था। संसार में कुछ दिन पहले आ जाना न तो अपने वश की बात है और न किसी श्रेष्ठता का यह उचित आधार ही है, पर यदि इसे भी आधार माना जाये तो स्वामीजी भारतेन्दुजी से पर्याप्त समय पूर्व ही इस संसार में अवतीर्ण हुए थे और इस संसार में उनसे अधिक दिनों तक जीवित भी रहे।

(ग) योग्यता—श्रेष्ठता का आधार योग्यता भी हो सकती है, पर किसी की योग्यता का निर्णय करना अति दुष्कर है। यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि स्वामीजी ने भारतेन्दुजी की अपेक्षा अधिक पुस्तकों का अध्ययन किया था, भारतेन्दुजी उनकी विचारधारा से भी प्रभावित थे, पर इसीलिये वे अयोग्य थे—यह कहना असंदिग्ध नहीं है। एक ही क्षेत्र के विद्वानों की, एक ही परीक्षा में प्रविष्ट होने वाले प्रत्याशियों की तुलना की जा सकती है, पर भिन्न क्षेत्र में कार्य करने वालों की तुलना करने का कार्य न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। स्वामीजी का प्रमुख क्षेत्र धार्मिक तथा समाजोद्धार था जबकि भारतेन्दुजी का प्रमुख क्षेत्र साहित्य सृजन था, एक ने अपने विचारों के लिये प्रमुखतः गद्य का आश्रय लिया और दूसरे ने गद्य और पद्य दोनों का। यदि एक ने नाटक तथा श्रृंगारपरक काव्य की रचना नहीं की तो दूसरा भी वेदों के भाष्य करने का साहस नहीं कर सका। दोनों ने शास्त्रार्थ किये, हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया, नवीन लेखकों को जन्म दिया, समाज सुधार का प्रयत्न किया, पर ये सब तत्त्व भी योग्यता का निर्धारण करने में सक्षम नहीं हैं, अतः योग्यता के आधार पर दोनों की श्रेष्ठताश्रेष्ठता का निर्णय करना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

(घ) निष्ठा—योग्यता की भांति किसी की निष्ठा का सम्यक् निर्णय करना भी कठिन कार्य है। भारतेन्दुजी में राजभक्ति तथा राष्ट्रप्रेम दोनों वस्तुएं ही विद्यमान थीं जबकि स्वामीजी में राष्ट्रप्रेम का ही प्राचुर्य था। भारतेन्दु ने कुछ कारणों से कई बार अपने विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं की जबकि स्वामीजी ने निश्शंक और निर्भीक होकर अपनी बात को कहा। हिन्दी प्रचार और गो भक्ति की भावना दोनों में असंदिग्ध थी, पर प्रश्न यदि उद्देश्य के लिए त्याग और बलिदान का हो तो पलड़ा स्वामीजी का भारी प्रतीत होता है।

(ङ) ख्याति—यदि श्रेष्ठता का आधार ख्याति को माना जाय तो जो ख्याति भारतेन्दुजी को मिली, उससे कुछ अधिक ही स्वामीजी को प्राप्त हुई। भारतेन्दुजी के साहित्य का प्रचार वर्ग विशेष तक ही हुआ जबकि स्वामीजी का साहित्य सामान्यजन तथा पंडितजन दोनों तक ही पहुंचा। भारतेन्दुजी ने अन्य भाषाओं की रचना का अनुवाद किया और स्वामीजी की रचनाओं का अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हुआ। भारतेन्दुजी के संदेश को हिन्दी भाषियों ने ही जाना जबकि स्वामीजी के विचारों का प्रसार न केवल देश में ही अपितु विदेश में भी हुआ। भारतेन्दुजी ने जिन अंग्रेज महाप्रभु की प्रशस्ति लिखी, उनमें से अनेक को स्वामीजी ने अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया। भारतेन्दुजी की भी कुछ जीवनियां लिखी गईं, पर उनकी संख्या स्वामीजी पर लिखी गई जीवनियों के समक्ष नगण्य है। इस प्रकार इस कसौटी पर भी स्वामीजी की श्रेष्ठता उनसे कम नहीं है।

(च) विचारधारा—यदि विचारधारा को कसौटी माना जाये तो स्वामीजी की विचारधारा में आदर्शात्मकता अधिक है और भारतेन्दुजी में यथार्थ की अभिव्यक्ति अधिक है। यह नहीं

कि स्वामीजी ने यथार्थ से मुंह मोड़ा है, पर उनके साहित्य में यथार्थ के नाम पर की जाने वाली अश्लीलता का नितान्त अभाव है। भारतेन्दुजी स्थान-स्थान पर परिस्थितियों के साथ समझौता करते हुए चले हैं जबकि स्वामीजी ने सत्य के विरुद्ध समझौता करने की कभी कल्पना भी नहीं की। देश की हित चिन्ता, राष्ट्रवासियों की गौरव वृद्धि और मानव मात्र के कल्याण की जो उदात्त भावना हमें स्वामीजी में मिलती है, भारतेन्दुजी की उड़ान वहां तक नहीं पहुंची है अतः इस कसौटी पर भारतेन्दु को युग निर्माता नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त मानदण्डों के आधार पर स्वामीजी का स्थान भारतेन्दु से ऊँचा भले ही न हो, पर नीचा तो किसी दशा में नहीं कहा जा सकता। केवल इसलिये कि उनका जन्म हिन्दी भाषी क्षेत्र में नहीं हुआ था अथवा हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी अथवा उन्होंने साहित्य की बागडोर थामे हुए सनातनियों के स्वर में स्वर मिला कर पाषाण पूजा की प्रतिष्ठा नहीं की, जीवित व्यक्तियों के स्थान पर मृतकों को प्रतिष्ठित नहीं किया अथवा वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म नहीं माना, उन्हें उनके प्राप्तव्य स्थान से वंचित करना न केवल उनके साथ अन्याय करना है अपितु संकुचित दृष्टिकोण का प्रदर्शन करना भी है। मिश्र बंधुओं ने अपने इतिहास में स्वामीजी की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही उस युग को 'दयानन्द युग' के नाम से अभिहित किया है। संभवतः दयानन्द साहित्य का अधिकाधिक मंथन होने के उपरान्त आगामी शोधकर्त्ता उस युग को 'दयानन्द युग' अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य नाम से स्मरण करना अधिक श्रेयस्कर समझें। स्वामीजी के मन्तव्यों से सहमत होना तो संभवतः सबके लिये आज भी संभव न हो, पर न्याय दृष्टि रखने वाले इतना तो अवश्य स्वीकार करेंगे कि हिन्दी भाषा के और साहित्य के विकास में स्वामीजी की देन अनुपम तथा अविस्मरणीय है। हिन्दी सेवा के लिये उनका सा संकल्प, उनका सा पाण्डित्य, उनकी सी अनथक तपस्या, उनका सा स्वार्थ त्याग और उनकी सी सत्यप्रियता का अन्य निदर्शन मिलना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

(ख) प्रदेय—महत्त्व और मूल्यांकन

स्वामी दयानन्द सरस्वती १९वीं शताब्दी की महत्तम विभूतियों में से एक थे। धर्म, समाज और साहित्य की उन्होंने अनथक सेवा की। अपनी तपस्या, योग, अध्ययन, निष्ठा और ईश्वर प्रदत्त शक्ति से उन्होंने राजनीतिज्ञों, समाजशास्त्रियों, धर्मतत्त्ववेत्ताओं तथा जन साधारण आदि सभी को प्रभावित किया। उनके धर्म संबंधी विश्वासों, समाज सुधार संबंधी कृत्यों तथा राजनीति में उनके सक्रिय योगदान पर पर्याप्त शोध कार्य किया जा चुका है और किया जा रहा है। हिन्दी के प्रति की गई उनकी सेवाओं पर तथा उनके द्वारा रचित साहित्य पर आलोचकों ने कम ही दृष्टिपात किया है। शोधकर्त्ताओं तथा इतिहास लेखकों ने भी इस विषय पर जो कुछ लिखा है, उसका सम्बन्ध स्वामी दयानन्द से कम है तथा उनके द्वारा संस्थापित संस्था 'आर्यसमाज' से अधिक है। इस दिशा में किया हुआ यह प्रथम प्रयत्न है।

प्रस्तावना में हमने 'दयानन्द सरस्वती : जीवनी तथा उनकी रचनायें' विषय की उपादेयता पर दृष्टिपात किया है। हिन्दी साहित्य में संभवतः प्रथम बार दिग्गज विद्वानों की

उन भूलों की ओर एक ही स्थान पर संकेत किया गया है, जिन्होंने दयानन्द सरस्वती के संबंध में तथ्यों को अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। यह भी दर्शाने का प्रयत्न किया है कि इनमें से कुछ भूलें अनवधानता से हुई हैं और कुछ में उनकी उपेक्षा करने के लिये एक विशेष दृष्टिकोण रहा है। साहित्यकार अपने युग तथा परिस्थितियों से कुछ न कुछ अंशों में प्रभावित होता ही है, अतः प्रथम अध्याय में उन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराया गया है जो उनके समय में विद्यमान थीं। इस कार्य के लिये हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं के ग्रन्थों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है। यथा स्थान आंकड़ें देने में भी संकोच नहीं किया गया है।

जिस व्यक्ति ने हिन्दी भाषा को २० सहस्र पृष्ठों का साहित्य प्रदान किया, हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए अहर्निश कार्य किया, दूसरे अध्याय में उसका जीवन परिचय दिया गया है। उनके जीवन की सभी घटनाओं का उल्लेख करने का अभिप्राय होता, कई शोध प्रबन्धों के लिये एक साथ सामग्री उपस्थित करना, अतः उनके जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी अंश ही हमने गृहीत किये हैं, जो अंश विवादास्पद हैं, उन पर निर्णयात्मक स्वर में विशद् चर्चा की है—इन अंशों में स्वामीजी के पिता का नाम, आर्यसमाज की स्थापना तिथि, उनका काशी शास्त्रार्थ, थियोसोफिकल सोसायटी से सम्बन्ध तथा विष द्वारा उनकी मृत्यु आदि की विशेष चर्चा है। न केवल हिन्दी में अपितु अभी तक उपलब्ध दयानन्द साहित्य में प्रथम बार चिकित्सा शास्त्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वामीजी को कौन सा विष दिया गया था। इसी अध्याय के अन्त में एक विशेष उप शीर्षक देकर अंग्रेज विद्वान फार्कुहर द्वारा किये गये आक्षेपों का भी प्रथम बार निराकरण किया गया है। तृतीय अध्याय में स्वामीजी के ख्यात-अख्यात, हिन्दी-संस्कृत, उपलब्ध-अनुपलब्ध आदि ग्रन्थों का एक साथ परिचय किया गया है, यह तो नहीं कहा जा सकता है कि यह परिचय सर्वथा मौलिक है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में इतना विशद् परिचय एक ही स्थान पर प्रथम बार ही दिया गया है। दिसम्बर १९७५ में आर्यसमाज स्थापना शताब्दी पर उपलब्ध पुस्तकों को भी इस सूची में सम्मिलित कर लिया गया है। इस दिशा में ऐसा प्रयत्न आर्य समाजी विद्वानों ने तो किया है, पर हिन्दी साहित्य में अभी उनका प्रवेश निषिद्ध ही रहा है।

चतुर्थ अध्याय में स्वामीजी की शिक्षा विषयक धारणाओं तथा उनकी निर्धारित पाठ्यविधि की चर्चा की गई है। स्वामीजी के इस रूप से हिन्दी भक्त अभी तक अपरिचित ही रहे हैं। यथास्थान आधुनिक शिक्षा प्रणाली से उनके मन्तव्यों की तुलना भी की गई है, इसी सन्दर्भ में शिक्षा के माध्यम का, शिक्षा के अवैतनिक तथा राजकीय करने का भी प्रश्न उठाया गया है। स्वामीजी ने निषिद्ध ग्रन्थों की सूची में जगत्-प्रसिद्ध कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा तुलसीकृत 'रामचरितमानस' आदि को भी रक्खा है। स्वामीजी के दृष्टिकोण की विस्तृत व्याख्या, अनेक प्रमाणों के आधार पर पहली बार ही मौलिक रूप में की गई है। अन्त में उनके मन्तव्य की आलोचना भी की गई है और उसमें समयानुकूल कुछ परिवर्तन का सुझाव भी दिया गया है।

पंचम अध्याय में स्वामीजी के 'राजा तथा राजनीति विषयक' विचारों पर दृष्टिपात किया गया है। इन विचारों के लिये उनके किसी एक ग्रन्थ को आधार न

मानकर समग्र साहित्य का ही मंथन किया गया है। राजनीति शास्त्र के ग्रन्थों में भी स्वामीजी की राजनीति विषयक विचारधारा का इतना विशद् उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रसंग में स्वामीजी द्वारा वर्णित विभिन्न शस्त्रों की चर्चा, स्वराज्य की कल्पना, भारत में राज्य व्यवस्था का प्रारंभ, स्वामीजी का १८५७ की क्रान्ति में सक्रिय योगदान आदि विषय भी आ गये हैं, स्वदेशी आन्दोलन, प्रजातंत्रवाद, साम्राज्यवाद तथा दण्ड व्यवस्था आदि का समावेश भी इसी में किया गया है। जो कुछ भी कहा है वह केवल कल्पना के आधार पर नहीं है, उसके लिये यथासंभव प्रमाण भी जुटाये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में स्वामीजी के दार्शनिक सिद्धान्तों का किंचित् परिचय दिया गया है। हिन्दी साहित्य में द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि का उल्लेख तो अनेक बार किया गया है, पर त्रैतवाद का नाम प्रथम बार दयानन्द वाङ्मय में ही उपलब्ध होता है। ईश्वर, जीव तथा प्रकृति आदि अनन्त शक्तियों को पर्याप्त स्पष्ट रूप में उपस्थित किया गया है। इसी प्रसंग में स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा विषयक विचार भी स्पष्ट रूप से दिये गये हैं, इस विषय की आलोचना-प्रत्यालोचना हमारा क्षेत्र नहीं रहा है तथापि स्वामीजी के दृष्टिकोण को पूर्णतः स्पष्ट किया गया है, वनस्पतियों में जीव है या नहीं—इस प्रश्न का उत्तर भी इसी अध्याय में दिया गया है, अन्त में मुक्ति की परिभाषा उसका सान्त अथवा अनन्त होना आदि विषय भी इसी परिधि में आ गये हैं।

सप्तम अध्याय में स्वामीजी द्वारा वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था की चर्चा है, स्वामीजी ने वर्ण को जन्मना न मानकर कर्मणा माना है, विशिष्ट कार्यों से मनुष्य का वर्ण परिवर्तित भी हो सकता है और वर्ण विशेष से उसे च्युत भी किया जा सकता है। तत्कालीन हिन्दी साहित्य में निर्भीक रूप से स्वामीजी के इस मत का समर्थन करने का साहस बहुत कम साहित्यकारों को हुआ हो, पौराणिक विद्वानों की इस संबंध में जो मान्यतायें हैं, उनका भी यहां दिग्दर्शन कराया गया है और स्वामीजी के मन्तव्यों से उनकी निष्पक्ष तुलना भी की गई है। इस विषय में प्राप्त आधुनिक ग्रन्थों का भी यथा स्थान उल्लेख किया गया है। स्वामीजी ने मानव समाज के लिये आश्रम व्यवस्था अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास को आवश्यक माना है। प्रत्येक आश्रम वाले के क्या कर्त्तव्य हैं और समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा और यह व्यवस्था आधुनिक जीवन की उलझनों को सुलझाने में कहां तक समर्थ होगी—इस पर विचार किया गया है। गृहस्थाश्रम के प्रकरण में प्रसंगवश 'नियोग' की भी चर्चा आ गई है। इस विषय पर स्वामीजी की सर्वाधिक आलोचना की गई है। इसी विषय को लक्ष्य करके आलोचकों ने उनके लिये अनेक अपशब्दों का प्रयोग किया है, अतः नियोग विषयक उनके मंतव्य के समर्थन में इस्लाम, मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, महाभारत आदि ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये हैं।

अष्टम अध्याय का वर्ण्य विषय है स्वदेश, आर्य भाषा (हिन्दी) तथा खान-पान के संबंध में स्वामीजी के विचार। देश का पूर्ण परिभ्रमण करने के बाद स्वामीजी ने उसके अतीत गौरव का गान किया है, वर्तमान दशा पर क्षोभ व्यक्त किया है। अवनति के कारणों को जानने का प्रयत्न किया है और देशोन्नति के उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं। स्वामीजी के मतानुसार देश को एकता के सूत्र में पिरोने वाले तत्त्वों की भी यहां चर्चा की गई है। तदुपरान्त स्वामीजी को

हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने वाला आदि मनीषी बताया गया है। स्वामीजी को हिन्दी बोलने की प्रेरणा कहां से मिली, इस भाषा में ग्रन्थ रचने का उनका उद्देश्य क्या था, भाषा की शुद्धता को वे किस सीमा तक आवश्यक मानते थे—इन प्रश्नों की इसमें चर्चा है। स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त हिन्दी प्रचार के साधनों का भी यहां संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इसके बाद स्वामीजी के खान-पान संबंधी विचारों का परिचय कराया गया है। उच्छिष्ट भोजन, शूद्र के हाथ की रसोई, चौका लगाना, ग्रहण के समय भोजन आदि विषय इसी प्रसंग में आ गये हैं। मांसभक्षण के संबंध में स्वामीजी के अनुयायियों में पर्याप्त मतभेद हैं, अतः दोनों पक्षों के तर्कों का विस्तृत उल्लेख यहां किया गया है, निर्णायक स्वरों में यही कहा गया है कि स्वामीजी ने मांसभक्षण का कहीं भी समर्थन नहीं किया। इसी प्रसंग में अश्वमेध, गोमेध, अजामेध आदि की भी चर्चा की गई है। इस संबंध में कुछ पौराणिक विद्वानों तथा उनके मत के समर्थक पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरण देकर पूर्व पक्ष रखा गया है, उत्तर पक्ष प्रस्तुत करने के लिये इतिहास, व्याकरण, चिकित्सा शास्त्र, धर्मशास्त्र, उपनिषद्, ललित साहित्य आदि से पर्याप्त सहायता ली गई है। इतने शास्त्रों को आधार मानकर आलोचना करने का यह प्रयत्न हिन्दी में मौलिक ही है। मधुपर्क में गोमांस आदि के संबंध में कुछ तथ्यों की नवीन ढंग से व्याख्या भी की गई है।

नवम अध्याय का संबंध स्वामीजी की भाषा शैली तथा उनके द्वारा प्रयुक्त हास्य व्यंग्य से है। स्वामीजी की शैली के विषय में कई प्रामाणिक ग्रन्थों में कुछ छुटपुट विचार मिलते हैं, पर उसका विशद् विवेचन संभवतः प्रथम बार ही किया गया है। उनकी शैली के अद्यावधि अनदेखे अंगों को भी इसमें स्पष्ट किया गया है, आत्मकथा के लेखक के रूप में हिन्दी को स्वामीजी के योगदान पर अभी तक किसी ने लेखनी नहीं उठाई है। अतः यह वर्णन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। स्वामीजी के संबंध में हास्य-व्यंग्य को शीर्षक बनाकर लिखने का भी यह प्रथम प्रयास है। दशम अध्याय में स्वामीजी के समकालीन ६ प्रमुख गद्य लेखकों से स्वामीजी की तुलना की गई है। लगभग ये सभी लेखक स्वामीजी से प्रभावित हैं, कुछ ने अपना स्वर उनके पक्ष में निस्तृत किया है और कुछ ने विपक्ष में, कुछ का लेखन तो केवल उनका विरोध करने के लिये ही हुआ है। उनमें से कुछ लेखक तो ऐसे हैं जिनका स्वामीजी से साक्षात्कार भी हुआ था। अंतिम अध्याय में हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में स्वामीजी के योगदान की चर्चा है—स्वामीजी ने अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी का पृष्ठ-पोषण किया, इसके माध्यम से वैदिक साहित्य का द्वार सभी के लिये उद्‌घाटित किया, इसमें नवीन शब्दों का निर्माण किया, इसको अभिनव शैली दी, इसके प्रचार-प्रसार के लिये अनथक प्रयत्न किया, उनके समकालीन तथा उनके बाद के भी जिन साहित्यकारों पर स्वामीजी का प्रभाव पड़ा उन्होंने स्वामीजी के संबंध में अपने उद्‌गार किन शब्दों में व्यक्त किये, उनका उल्लेख भी इसी प्रसंग में किया गया है।

उपसंहार—अन्त में यह स्वीकार करने में मुझे कोई लज्जा नहीं है कि देश निर्माता, वेदोद्धारक, समाज सुधारक, जगद्‌वंद्य, प्रातःस्मरणीय, युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा है, सत्य तो यह है कि इस पुस्तक लेखन में उनका अदृश्य वरदान मेरे कार्य को अग्रसर करता रहा है, पर इस सम्पूर्ण पुस्तक में मैंने भावुकता में भीगे बिना ही

तर्क का आश्रय लिया है। हिन्दी के गण्य-मान्य आलोचक तथा श्रद्धेय साहित्यकारों के विचारों का जहां मैंने खण्डन भी किया है, वह औद्धत्य के कारण नहीं अपितु सत्यासत्य के निर्णय करने के विचार से ही। इन श्रेष्ठ साहित्यकारों के कंधों पर चढकर ही मैंने अपना मस्तक उनसे भी अधिक ऊंचा करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में मैंने हिन्दी साहित्य के प्रेमियों को स्वामीजी के जीवन, चरित्र, उनके सिद्धान्त तथा उनकी हिन्दी विषयक सेवाओं से परिचित कराया है। इस विनम्र प्रयास में स्थान-स्थान पर मौलिक उद्भावनायें भी की गई हैं और कुछ तथ्यों की नवीन व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है।

OO

सहायक ग्रंथों की सूची

हिन्दी

अट्ठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द, प्रथम संस्करण, लेखक—वासुदेव वर्मा, भारतीय लोक समिति, करौलबाग नई दिल्ली, सन् १९७०

अथर्ववेद भाषाभाष्य (प्रथम काण्ड से सप्तम काण्ड तक), २०३० वि., लेखक—पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, २०३० वि.

अथर्ववेद भाषाभाष्य (अष्टम काण्ड से २०वें काण्ड तक), यथा पूर्व, २०३०. वि.

अध्ययन और आस्वाद (साहित्यिक निबन्ध), संस्करण अंकित नहीं, ले.—गुलाबराय, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९५७

अवतार रहस्य अर्थात् अवतारवाद का पोल खाता, प्रथम वार, ले.—डा. श्रीराम आर्य, वैदिक साहित्य प्रकाशन संघ, १९६१

अष्टोत्तरशतनाममालिका (व्याख्या सहिता), प्रथम वार, लेखक—वेदालंकार श्री पण्डित विद्यासागर शास्त्री, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान २४।३१२ रामगंज, अजमेर, सन् १९६३

आचार्य ग्रन्थमाला १२ भारतीय दर्शन : एक परिचय, ले.—विद्यासागर शास्त्री, प्र.—श्री राघवाचार्य आचार्य पीठ, बरेली

आत्मदर्शन, चतुर्थ संस्करण, ले.—श्री नारायण स्वामी, राजपाल एण्ड सन्स, सरस्वती आश्रम, लाहौर, १९३२ ई.

आधुनिक भारत का इतिहास, प्रथम संस्करण, ले.—एस. एन. पाल, रामा पब्लिशिंग हाउस ई. १३१ आतिश मार्केट, जयपुर—२, सन् १९७०

आधुनिक हिन्दी साहित्य तृतीय संस्करण, ले.—डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, सन् १९५४

आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१७५७-१८५७), प्रथम संस्करण, ले.—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, सन् १९५२

आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का विकास, प्रथम संस्करण, ले.—डा. श्याम वर्मा, ग्रन्थम रामबाग कानपुर, जनवरी १९७१

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५) ले.—डा. श्रीकृष्ण लाल, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग।

आधुनिक हिन्दी की जीवनी परक साहित्य, प्रथम संस्करण, ले.—डा. शान्ति खन्ना, सन्मार्ग प्रकाशन, बैंग्लो रोड दिल्ली-७ सन् १९७३

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, प्रथम हिन्दी संस्करण, ले.—डा. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा (अनु.—डा. सत्यनारायण दुबे), लक्ष्मीनारायण लाल अग्रवाल आगरा—३, जुलाई १९७१

आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास (A History of Modern Indian Culture), प्रथम संस्करण, ले.—डा. पी. आर. साहनी, प्रकाश बुक डिपो बरेली सन् १९६१

आधुनिक भारतीय संस्कृति, प्रथम संस्करण, ले.—एल. पी. शर्मा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा, सन् १९७२

आनन्द गायत्री कथा, द्वितीय आवृत्ति, ले.—आनन्द स्वामी; गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् १९६७

आर्यसमाज और हिन्दी, संस्करण अंकित नहीं, ले.—डा. सूर्यदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लि. अजमेर

आर्यसमाज और उसका सन्देश, प्रथम संस्करण, ले.—रघुनाथ प्रसाद पाठक, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली, सन् १९७५

आर्य-पर्व-पद्धति, तृतीय संस्करण, ले.—भवानी प्रसाद, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा, देहली, २००४ वि.

आर्योदय : सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, सं.—हरि प्रकाश, सभामंत्री, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब कार्यालय १५ हनुमान रोड नई दिल्ली, १५ नवम्बर १९६२

आर्योदय : सत्यार्थप्रकाश अंक (उत्तरार्द्ध), सं.—रघुवीरसिंह शास्त्री, यथापूर्व, ११ फरवरी १९६४

आर्यमित्र (महर्षि मोक्ष प्राप्ति विशेषांक), नवम्बर १९७२, सं.—आचार्य विश्वश्रवाः व्यास, आर्य प्रतिनिधि सभा उ. प्र.

आर्यमित्र (ऋषिबोधांक), ८ मार्च १९७०, सं.—उमेशचन्द्र स्नातक यथा पूर्व

आर्य-संगीतसागर, प्रथम संस्करण, आर्यसमाज नया बांस देहली, २०२७ वि.

आर्यसमाज का इतिहास (प्रथम भाग), संस्करण अंकित नहीं, ले.—इन्द्र विद्यावाचस्पति, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा दिल्ली, सन् १९५७

आस्तिकवाद, तृतीय संस्करण—ले.—गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए., कला प्रेस प्रयाग, सन् १९४४ ई.

इस्लाम के दीपक, प्रथम संस्करण, ले.—गंगाप्रसाद उपाध्याय, ट्रस्ट विभाग आर्यसमाज चौक इलाहाबाद, सन् १९६३

उद्धव शतक, संस्करण अंकित नहीं, ले.—रत्नाकर, इंडियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रा. लि. प्रयाग, सन् १९६५

उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार, प्रथम संस्करण, ले.—विश्वंभर मानव, स्मृति प्रकाशन इलाहाबाद, सन् १९७०

उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संस्करण अंकित नहीं, ले.—प्रो. एहतेशाम हुसैन, लोक भारती प्रकाशन, १५ ए महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद ३, सन् अंकित नहीं

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (दयानन्द सरस्वती), राज संस्करण प्रथम, ले.— पं. युधिष्ठिर मीमांसक, मंत्री श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर सन् १९६७

ऋग्वेद (हिन्दी भाष्य १—प्रथम मण्डल), आर्यसमाज स्थापना शताब्दी प्रकाशन, ले.—महर्षि दयानन्द, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा दिल्ली, २०२९ वि.

ऋग्वेद भाषाभाष्य २, यथा पूर्व

ऋग्वेद भाषाभाष्य ३, यथा पूर्व, २०३० वि.

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, प्रथम संस्करण, ले.—डा. भवानीलाल भारतीय, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, २०२५ वि.

ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास, प्रथम बार, ले.—युधिष्ठिर मीमांसक, मीरा कार्यालय अजमेर, सन् १९४९

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, प्रथम संस्करण, सं.—पं. भगवद्दत्त बी. ए; रामलाल कपूर ट्रस्ट अनारकली लाहौर, २००२ वि.

ऋषि दयानन्द स्वरचित लिखित वा कथित जीवन चरित्र, सप्तम संस्करण, ले.—दयानन्द सरस्वती, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, २०२६ वि.

एकादशोपनिषद् प्रथम भाग (मूल सहित), संस्करण अंकित नहीं, ले.—प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी विद्या विहार ४ बलवीर एवेन्यू देहरादून, सन् अंकित नहीं।

एकादशोपनिषद् द्वितीय भाग, यथा पूर्व

कर्त्तव्य दर्पण, ले.—नारायण स्वामी, सार्वदेशिक आ. प्र. दिल्ली

कल्याणमार्ग का पथिक, संस्करण अंकित नहीं, ले.—श्रद्धानन्द संन्यासी, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा. दिल्ली १९८१ वि.

कविता कौमुदी (पहला भाग—हिन्दी) सं.—पं. रामनरेश त्रिपाठी, नार्दर्न इंडिया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली—सातवीं बार, सन् १९४६

कायाकल्प, तृतीय संस्करण, ले.—बुद्धदेव विद्यालंकार, अपराजिता भल्ला ४९।५३ वैस्टर्न एक्सटेंशन एरिया करौलबाग देहली, २००६ वि.

काला चांद, प्रथमवार, ले.—स्वामी चिदानन्द सरस्वती; भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा दिल्ली, सम्वत् १९८५ वि.

काव्य कल्पद्रुम प्रथम भाग (रस मंजरी) पंचम संस्करण, ले.—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चूड़ी वालों का मकान मथुरा, २००४ वि.

कुरआन परिचय प्रथम खण्ड, प्रथमावृत्ति, ले.—पं. देवप्रकाश, ओमप्रकाश आर्य, आर्यसमाज रतलाम (म. प्र.), जनवरी १९७०

केवल भोजन द्वारा स्वास्थ्य प्राप्ति, संस्करण अंकित नहीं, ले.—कविराज हरनाम दास, गर्ग एण्ड कं. खारी बावली देहली, सन् अंकित नहीं

केण्ट मेटीरिया मेडिका प्रथम भाग, तीसरा संस्करण, ले.—जेम्स टेलर केण्ट, एम. भट्टाचार्य एण्ड को. कलकत्ता, सन् १९५९

कौटिल्य अर्थशास्त्र, पांचवां संस्करण, रूपान्तरकार—प्रो. इन्द्र एम. ए., राजपाल एण्ड संस दिल्ली, सन् १८७३

क्या वेद में इतिहास है ? प्रथमावृत्ति, ले.—पं. जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, सन् १९५४

गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त : जीवन और साहित्य, प्रथम संस्करण, ले.—डा. नत्थनसिंह, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, सन् १९५९

गाय या भैंस, संस्करण अंकित नहीं, संग्रहकर्ता—हरदेव सहाय, गौवंश रक्षिणी सभा हिसार, सन् अंकित नहीं

गाय ही क्यों, द्वितीय आवृति, ले.—हरदेव सहाय, यथा पूर्व

गोकरुणानिधि, बारहवीं बार, ले.—स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यंत्रालय अजमेर, १९९४ वि.

गोरक्षा परम कर्त्तव्य और गो हत्या महापाप, प्रथम वार, ले.—पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति, गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क देहली, २०१० वि.

चुने हुए फूल, प्रथम संस्करण, ले.—पं. बिहारीलाल शास्त्री, श्रीमद् दर्शनानन्द ग्रन्थागार २० कृष्ण गंगा मथुरा, सन् अंकित नहीं

जातिभेद, द्वितीय संस्करण, ले.—गंगाप्रसाद एम. ए. रिटायर्ड जज, पं. रामदत्तजी शुक्ल एडवोकेट अधिष्ठाता, घासीराम प्रकाशन विभाग आर्य प्रतिनिधि सभा युक्त प्रान्त, २००६ वि.

तपोभूमि (रामचरित मानस समीक्षा खण्ड), सं.—ईश्वरीप्रसाद प्रेम, वैदिक प्रेस मथुरा, जनवरी १९७१

केशवदास : जीवनी, कला और कृति, संस्करण अंकित नहीं, किरणचन्द्र शर्मा, भारतीय साहित्य मंदिर फव्वारा दिल्ली, सन् १९६१

तुलसीदास और उनका युग, प्रथम संस्करण ले.—डा. राजपति दीक्षित, ज्ञान मण्डल लिमिटेड बनारस, २००९ वि.

तुलसीदास और उनका काव्य, संस्करण अंकित नहीं, ले.—रामनरेश त्रिपाठी, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, सन् १९५१

तैत्तिरीयोपनिषद्, द्वितीय संस्करण, ले.—नारायण स्वामी, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा, दिल्ली, सन् १९४२

दक्षिण भारत के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण, ले.—श्री पी. के. केशवन् नायर, हिन्दी साहित्य भण्डार अमीनाबाद लखनऊ, सन् १९६३

दयानन्द ग्रन्थमाला (शताब्दी संस्करण) प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति, ले.—दयानन्द सरस्वती, श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर, १९८१ वि.

दयानन्द ग्रन्थमाला (शताब्दी संस्करण) द्वितीय भाग, यथा पूर्व

दयानन्द दिग्विजयार्क, प्रथम संस्करण, ले.—गोपालराव हरि, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट ४५५ खारी बावली दिल्ली, सन् १९७४

दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह, संस्करण अंकित नहीं, सं.—डा. भवानीलाल भारतीय, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत, हरियाणा), २०२७ वि.

दयानन्द सिद्धान्त भास्कर, सं.—कृष्णचन्द्र विरमानी, २६ मई, १९३२

दयानन्द सूक्ति और सुभाषित, प्रथम संस्करण, सं.—ब्र. जगदीश विद्यार्थी, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् १९६८

दर्शनानन्द ग्रंथ संग्रह (उत्तरार्द्ध क), संस्करण अंकित नहीं, ले.—स्वा. दर्शनानन्द सरस्वती, श्रीमद्दर्शनानन्द ग्रन्थागार मथुरा, २०१५ वि.

धर्म का आदि स्त्रोत, सप्तमावृत्ति, ले.—पं. गंगाप्रसादजी एम. ए; आर्य साहित्य मण्डल लि. अजमेर, सन् १९७२

नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, प्रथम संस्करण, सं.—महेन्द्र प्रतापजी शास्त्री, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा, देहली सन् १९४५

नालन्दा विशाल शब्द सागर, संस्करण अंकित नहीं, सं.—नवलजी, न्यू इम्पीरियल बुक डिपो नई सड़क देहली, २००७ वि.

निबंधकार बालकृष्ण भट्ट, प्रथम संस्करण, ले.—गोपाल पुरोहित एम. ए; हिन्दी साहित्य समाज लखनऊ २००६ वि.

पद्म पराग, प्रथम संस्करण, ले.—पद्म सिंह शर्मा, भारती पब्लिशर्स लि. मुरादपुर (पटना), १९८६ वि.

पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व, प्रथम संस्करण, ले.—डा. मधुकर भट्ट, बालकृष्ण प्रकाशन नगवा वाराणसी-५, सन् १९७२

पं. रामचन्द्र देहलवी लेखावली, प्रथम संस्करण, ले.—पं. रामचन्द्र देहलवी, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् १९६८

परमात्मा के दर्शन, प्रथम संस्करण, ले.—स्वामी सर्वदानन्दजी, नारायणदास सहगल एण्ड सन्स, लोहारी दरवाजा लाहौर, सन् १९३६

पातंजल योग प्रदीप, चतुर्थ संस्करण, ले.—श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीताप्रेस गोरखपुर, २०१८ वि.

पुराणों के कृष्ण, दूसरी वार, ले.—डा. श्रीराम आर्य, वैदिक साहित्य प्रकाशन संघ, कासगंज (उ. प्र.), सन् १९६१

पुरुषार्थ प्रकाश, प्रथम वार—स्वामी नित्यानन्दजी, सस्ता वैदिक साहित्य प्रकाशन मण्डल दरीबाकलां दिल्ली, सम्वत् १९९० वि.

पुरुषार्थ, तृतीय संस्करण, ले.—डा. भगवान दास एम. ए., डी. सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, सन् १९५३

पूना प्रवचन अर्थात् उपदेश मंजरी, प्रथम संस्करण, ले.—ऋषि दयानन्द, मंत्री—ऋषिदेवी रूपलाल कपूर पब्लिक ट्रस्ट देहली, सन् १९६९

प्रकाश गीत प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, ले.—पं. प्रकाशचन्द्र कविरत्न अजमेर, पुष्पा देवी प्रकाश साहित्य प्रकाशन अजमेर, २०१९ वि.

प्रतापनारायण ग्रन्थावली प्रथम खण्ड, प्रथमावृत्ति, सं.—विजयशंकर मल्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, २०१४ वि.

प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन, प्रथम संस्करण, ले.--डा. शांतिप्रकाश वर्मा, विश्व साहित्य भवन दिल्ली, सन् १९७०

प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास, प्रथम परिवर्द्धित, ले.—रमेशचन्द्र दत्त (अनु.—गोपालदास एवं कमलाकर तिवारी), इतिहास प्रकाशन संस्थान ४९२, मालवीय नगर इलाहाबाद, सन् १९६३

प्राचीन भारत में गोमांस : एक समीक्षा, प्रथम वार, प्रकाशक मोतीलाल जालान गीता प्रेस गोरखपुर, १५ अगस्त १९७०

बारहवां संस्कार, प्रथम संस्करण, ले.—कमलाकान्त वर्मा, साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९६१

ब्रह्मचर्य संदेश, षष्ठ संस्करण, ले.--प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् १९७१

भक्तिदर्पण, ३४वां संस्करण, सं.—राजपालजी आर्य, राजपाल एण्ड सन्स, संवत् २००४

भगवान शंकर और दयानन्द, आठवां संस्करण, ले.—आनन्द स्वामी, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् १९७३

भारतीय दर्शन, नवीन संस्करण, ले.—पं. बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर रवीन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड वाराणसी, सन् अंकित नहीं

भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा, प्रथम संस्करण, ले.—डा. ज्ञानवती दरबार, रंजन प्रकाशन नई दिल्ली, सन् १९६१

भारतीय संस्कृति का इतिहास, प्रथम संस्करण, ले.—भगवद्दत्त, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, संवत २०२२

भारतवर्ष का वृहत् इतिहास, द्वितीय संस्करण, ले.—पं. भगवद्दत्त, इतिहास प्रकाशन मण्डल दुकान संख्या २९ मार्केट दक्षिण पटेल नगर नई दिल्ली, २०१८ वि.

भारतेन्दु ग्रन्थावली (तीसरा भाग), प्रथम संस्करण, सं.—ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, २०१० वि.

भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, सं.—ब्रजरत्नदास, रामनारायण लाल इलाहाबाद, सं. १९९२

भारतेन्दु नाटकावली द्वितीय भाग, यथापूर्व, सं. १९९३

भारतेन्दु युगीन नाटक, प्रथम संस्करण, ले.—डा. सुशीला धीर, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, सन् अंकित नहीं।

भारतेन्दु साहित्य, प्रथम संस्करण, ले.—रामगोपाल सिंह चौहान, विनोद पुस्तक मन्दिर हास्पीटल रोड आगरा, सन् १९५७

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, द्वितीय संस्करण, सं.—ब्रजरत्नदास, हिन्दुस्तानी एकेडमी संयुक्त प्रान्त इलाहाबाद, सन् १९४८

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, द्वितीय संस्करण, ले.—डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, साहित्य भवन इलाहाबाद, सन् १९५६

महर्षि दयानन्द के पूर्व का भारत, ले.—पं. आत्माराम अमृतसरी, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् १९५९

महर्षि दयानन्द, प्रथम संस्करण, ले.—इन्द्र विद्यावाचस्पति, सुबोध मन्दिर बुक्स, दरियागंज दिल्ली-६, सन् १९७५

महर्षि दयानन्द, प्रथम संस्करण, ले.—यदुवंश सहाय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९७१

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग १, चतुर्थावृत्ति, ले.—पं. घासीराम, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, संवत् २०१८

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग २, तृतीया वृत्ति, यथा पूर्व संवत् २००७ वि.

महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन चरित्र, प्रथम संस्करण, ले.—पं. लेखराम (अनु.—कविराज रघुनंदन सिंह निर्मल, सं.—हरिश्चन्द्र विद्यालंकार), आर्यसमाज नया बांस दिल्ली ६, २०१८ वि.

महर्षि दयानन्द प्रशस्ति (नारायण प्रसाद बेताब), सं.—भवानीलाल भारतीय, वैद्य मोहनलाल वीरूमल आर्यप्रेमी, आर्यन फार्मेसी अजमेर, नवम्बर १९७४

महर्षि स्वामी दयानन्दजी का जीवन चरित्र, ले.—चिम्मनलाल वैश्य, तिलहर जिला शाहजहाँपुर

महाकवि कालिदास, द्वितीय संस्करण, सं.—डा. रमाशंकर तिवारी, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १, सन् १९७१

महाराजा, संस्करण अंकित नहीं, ले.—दीवान जरमनीदास (अनु.—'अरुण'), दीप पब्लिकेशन्स ११४-ए सदर बाजार आगरा केण्ट, सन् १९७०

मिश्रबंधु विनोद (खण्ड ३-४), नवीन संशोधित परिवर्धित संस्करण, ले.—मिश्रबंधु, दुलारेलाल भार्गव अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ सन् १९७२

मेरे निबंध (जीवन और जगत्), प्रथमावृत्ति, ले.—गुलाबराय एम. ए., गयाप्रसाद एण्ड सन्स आगरा, जनवरी १९५५

यवनमत समीक्षा, संस्करण अंकित नहीं, ले.—पं. लेखराम आर्य पथिक, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सन् अंकित नहीं।

यजुर्वेद भाषाभाष्य, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी प्रकाशन, ले.—महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आ. प्र. सभा दिल्ली, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी प्रकाशन

योगी का आत्मचरित्र (Autobiography of Yogi Dayanand), संस्करण अंकित नहीं, हिन्दी अनुवादक—पं. दीनबन्धु शास्त्री, पातंजल योग साधना संघ—वैदिक भक्ति साधना आश्रम रोहतक, सन् अंकित नहीं।

राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन, संस्करण अंकित नहीं, ले.—जयचन्द्र विद्यालंकार, धर्मचन्द्र नारंग हिन्दी भवन जालंधर शहर सितम्बर १९६६

रामचरित मानस (मझला साइज), नवम् संस्करण, टीकाकार—हनुमान प्रसाद पोद्दार, घनश्याम जालान, गीता प्रेस गोरखपुर सं. २०१३ वि.

रामचरित मानस की पाश्चात्य समीक्षा, प्रथम संस्करण, ले.—सुखबीर सिंह, सन्मार्ग प्रकाशन १६ यू. बी बैंग्लो रोड दिल्ली-७, सन् १९७१

राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन

राष्ट्रनिर्माता स्वामी दयानन्द, द्वितीय संस्करण, ले.—पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, वैदिक प्रकाशन मन्दिर १३, लाजपतराय लेन इलाहाबाद-३, सन् १९७०

वन्दना के स्वर, पुस्तकालय संस्करण, सं.—क्षेमचन्द्र सुमन, दयानन्द संस्थान करोलबाग नई दिल्ली-५, सन् १९७५

विक्रम स्मृति ग्रन्थ, विक्रम द्विसहस्राब्दी समारोह ग्वालियर (राज्य), २००१ वि.

विचार दर्शन, प्रथम संस्करण, ले.—श्री गुरुजी, पांडुरंग क्षीरसागर प्रकाशन विभाग राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ डा. हेडगेवार भवन नागपुर-२, संवत् २०१२

विनयपत्रिका (तुलसीदास), पंचम संस्करण सं.—वियोगी हरि, गोपालदास कृष्णदास पोड़वाल साहित्य सेवा सदन काशी, २००५ वि.

विश्व इतिहास परिचय, प्रथम संस्करण, ले.—जगन्नाथ प्रसाद चौबे, हिन्दी प्रकाशन जूनी लाइन्स विलासपुर, जुलाई १९७४

विश्व की पहेली, द्वितीय संस्करण, ले.—पूर्णचन्द्र, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, १५ अगस्त १९७०

वेदप्रकाश (विद्यार्थी लेखावली विशेषांक), सं.—विजय कुमार, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, सितम्बर १९६७

वेदप्रकाश (वैदिक धर्म विशेषांक), गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, अगस्त १९६२

वेदरहस्य, प्रथम संस्करण, ले.—महात्मा नारायण स्वामी, प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली, २००१ वि.

वेदशास्त्रतालिका (Vedic Cyclopedia), प्रथमावृत्ति, ले.—श्री जियालालजी वर्मा, वेद प्रचार मण्डल कोटा डिविजन, कोटा (राजस्थान), सन् १९५९

वैदिक इंडेक्स भाग २, प्रथम संस्करण, ले.—ए. ए. मेकडावल तथा ए. बी. कीथ (अनु.—रामकुमार राय), चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, सन् १९६२

वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र, प्रथम संस्करण, ले.—धर्मदेव विद्यावाचस्पति, प्रकाशन मन्दिर गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, २००९ वि.

वैदिक परिवार व्यवस्था, प्रथम संस्करण, ले.—पं. हरिशरणजी सिद्धान्तालंकार, सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली, संवत् २०१३ वि.

वैदिक सम्पदा, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी संस्करण, ले.—पं. वीरसेन वेदश्रमी, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, १९७३.

वैदिक सम्पत्ति, द्वितीय वार, ले.—पं. रघुनन्दन शर्मा, शेठ शूरजी वल्लभदास वर्मा. कच्छ केसल सेंडहर्स्ट ब्रिज बम्बई ४, संवत् १९९६

वैदिक साहित्य, प्रथम संस्करण, ले.—पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, अयोध्याप्रसाद गोयलीय मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड बनारस, नवम्बर १९५०

वैदिक सिद्धान्त, प्रथम संस्करण, सं.—श्री नारायण स्वामी, श्री नारायण स्वामी श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा, सन् १९२५

वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्व, संस्करण अंकित नहीं, ले.—प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजय कृष्ण लखनपाल एण्ड कं. देहरादून, सन् अंकित नहीं

वोल्गा से गंगा, तृतीय संस्करण, ले.—राहुल सांकृत्यायन, किताव महल इलाहाबाद, सन् १९६४

व्यवहारभानु (दयानन्द ग्रंथमाला भाग २) श. स., परोपकारिणी सभा, अजमेर

शकुन्तला नाटक सचित्र, दशम संस्करण, सं.—श्याम सुन्दरदास बी. ए. इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, सन् १९३१

शरत् साहित्य १५ वां भाग, तीसरी बार, अनु.—रामचन्द्र वर्मा धन्यकुमार जैन; हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, सन् १९४६

श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, सस्ता संस्करण, ले.—स्वामी सत्यानन्दजी महाराज, वेद प्रचारक मण्डल ६०।१३ रोहतक रोड नई दिल्ली—५, दीपावली १९६४

श्री कृष्ण चरित्र, प्रथमवार, ले.—डा० भवानीलाल भारतीय, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, मार्च १९५८

श्रद्धाराम ग्रन्थावली, संस्करण अंकित नहीं, सं.—डा० सरनदास भनोट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस चन्द्रलोक जवाहर नगर, दिल्ली ६, जुलाई १९६६

श्री अरविन्द साहित्य खण्ड १० (वेदरहस्य पूर्वार्द्ध), प्रथम संस्करण, ले.—श्री अरविंद, श्री अरविन्द सोसायटी, पांडीचेरी—२, सन् १९७१

श्री गुरुदत्त अभिनन्दन ग्रंथ, प्रथम संस्करण, सं.—अशोक पुरोहित, श्री गुरुदत्त अभिनन्दन समिति ७ एफ, कमलानगर दिल्ली—७, १६ फरवरी १९७७

श्रीमद्दयानन्द चित्रावली, गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता, दयानन्दावद् १०१

सत्यार्थप्रकाश, २९वीं बार, ले.—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यंत्रालय अजमेर, संवत् २००३ वि.

सत्यार्थप्रकाश (आर्यसमाज शताब्दी संस्करण), प्रथम संस्करण, सं.—युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सन् १९७२

सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण), असली सन् १८७५ प्रथमावृत्ति, सं.—कालूराम शास्त्री धर्मप्रेस मेरठ सिटी, प्रथम वार १९१६ ई०

समीक्षात्मक निबंध, प्रथम संस्करण, ले.—डा० सत्येन्द्र, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, सन् १९६२

सुदामा चरित, संस्करण अंकित नहीं, सं.—हरिशंकर शर्मा, दि युनिवर्सिटी बुक डिपो आगरा, १९९० वि. (प्राक्कथन)

संस्कारविधि २३वीं वार, ले.—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय अजमेर, संवत् २००६ वि.

संस्कारचन्द्रिका, द्वितीय संस्करण, ले.—हरिदत्त शास्त्री, काव्यतीर्थ हरिदत्त शास्त्री महाविद्यालय ज्वालापुर, १९८२ वि.

संस्कारसमुच्चय : (सरस्वती भाष्य सहित), प्रथम संस्करण, ले.—मदनमोहन विद्यासागर, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, सन् १९७०

संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका, द्वितीय संस्करण, ले.—डा. बाबूराम सक्सेना एम. ए., डी. लिट्, रामनारायण लाल इलाहाबाद, १९५१ ई०

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, ले.—प्रो. चन्द्रशेखर पांडेय तथा शान्तिकुमार नानूराम व्यास, साहित्य निकेतन कानपुर, १९४५ ई०

स्मारिका (अंतर्राष्ट्रीय आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह), सार्वदेशिक आ. प्र. सभा नई दिल्ली, २४ दिसम्बर १९७५

स्वामी दयानन्द, संस्करण अंकित नहीं, ले.—बी. के. सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, अप्रेल १९७०

हम क्या खावें—घास या मांस, प्रथम संस्करण, ले.—गंगाप्रसाद उपाध्याय, कला प्रेस प्रयाग, सन् १९४५

हायर सैकण्डरी इतिहास भाग १, संस्करण अंकित नहीं, ले.—परमेश्वरसिंह परिहार तथा कृष्णमुरारीलाल श्रीवास्तव, सांची प्रकाशन हमीदिया रोड भोपाल, जुलाई १९७३

हिन्दी उपन्यास, संशोधित परिवर्द्धित संस्करण, ले.—शिवनारायण श्रीवास्तव, सरस्वती मन्दिर जतनवर बनारस सं. २००२

हिन्दी उपन्यास पृष्ठभूमि और परम्परा, संस्करण अंकित नहीं, ले.—डा० बदरीदास, ग्रन्थम् कानपुर, सन् १९६६

हिन्दी गद्य मीमांसा, तृतीय संस्करण, ले.—रमाकान्त त्रिपाठी, सिटी चक्र हाउस कानपुर, नवम्बर १९४९

हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पंचम संस्करण, ले.—जगन्नाथप्रसाद शर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् १९९७

हिन्दी गद्य साहित्य, प्रथम संस्करण, ले.—डा. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे, ग्रन्थम् रामबाग कानपुर, सन् १९७५

हिन्दी पुस्तक साहित्य (१८६७-१९४२ ई.) सं.—डा. माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, प्रकाशन काल अंकित नहीं।

हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, प्रथम संस्करण, ले.—डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग लखनऊ, संवत् २०१८ वि.

हिन्दी में उच्चतर साहित्य, प्रथम संस्करण, सं.—राजबली पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संवत् २०१४.

हिन्दी नाट्य साहित्य, तृतीय वार, ले.—ब्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस, संवत् २००४

हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, तीसरा संस्करण, ले.—सोमनाथ गुप्त, हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद, जनवरी १९५१

हिन्दी निबंधकार, द्वितीय संस्करण, ले.—डा. जयनाथ नलिन, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, सन् १९६४

हिन्दी निबंध का विकास, संस्करण अंकित नहीं, ले.—डा. ओंकारनाथ शर्मा, अनुसंधान प्रकाशन कानपुर, सितम्बर १९६४

हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, ले.—डा. नगेन्द्र तथा डा. सुरेशचन्द्र गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, सन् १९७३

हिन्दी साहित्य पर कुछ विचार, प्रथम संस्करण, ले.—डा. त्रिलोकीनारायण दीक्षित, नवयुग ग्रन्थागार सी ७४७ महानगर लखनऊ, सन् १९६६

हिन्दी साहित्य : समस्यायें और समाधान, प्रथम संस्करण, ले.—डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, अशोक प्रकाशन दिल्ली-६, सन् १९६१

हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां, द्वितीय संस्करण, ले.—शिवकुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन दिल्ली, सन् १९६४

हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण अंकित नहीं, ले.—रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं. २००५

हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास-खण्ड १, संस्करण अंकित नहीं, ले.—डा. प्रताप नारायण टंडन, विवेक प्रकाशन, सन् १९६८

हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम भाग), प्रथम संस्करण, सं.—डा. विनयमोहन शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, सं. २०२९

हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (१३वां भाग), प्रथम संस्करण, सं.–लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् २०२२

हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन, प्रथम संस्करण ले.—श्री क्षेमचन्द्र सुमन, मधुर प्रकाशन दिल्ली, सन् १९७०

हिन्दी साहित्य की भूमिका, तीसरी आवृत्ति, ले.—हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग बम्बई—४, फरवरी १९४८

हिन्दी साहित्य कोश भाग २, प्रथम संस्करण, प्र. सं.—धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मण्डल लि. वाराणसी, संवत् २०२०

संस्कृत :

अष्टाध्यायी सूत्रपाठः, द्वितीयावृत्ति, सं.—जीवाराम उपाध्याय, पं. जीवाराम उपाध्याय सरस्वती प्रेस मुरादाबाद, संवत् १९९३

आख्यातिक, प्रथमावृत्ति, ले.—दयानन्द सरस्वती, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, सन् १९५१

उणादिकोष, छठी बार, ले.—दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय अजमेर, २०२१ वि.

कादम्बरी (बाणभट्ट), चतुर्थ संस्करण, सं.—हरिदास सिद्धान्तवागीश, हेमचन्द्र काव्य-व्याकरण पुराण तीर्थ भट्टाचार्येण प्रकाशितः, १८७२ शताब्दीय

कालिदास ग्रंथावली, तृतीय संस्करण, सं.—सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, संवत् २०१९

काव्यप्रकाश (मम्मट), संस्करण अंकित नहीं, सं.—माणिक्यचन्द्र, विनायक गणेश आपटे आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, सन् १९२१

गणपाठ, प्रथम संस्करण, दयानन्द सरस्वती, आर्यसमाहित्य मण्डल अजमेर, सं. २०१३

चतुर्वेदविषयसूची, प्रथम संस्करण, ले.—दयानन्द सरस्वती, श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर, सन् १९७१

नामिक, नवम संस्करण, लेखक—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय अजमेर, संवत् २०२६

निघण्टु, लेखक—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर संवत् २०२५

निरुक्तशास्त्रम्, प्रथम संस्करण, सं.—भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर निक्षेप निधि (ट्रस्ट) अमृतसर, संवत् २०२१

पारिभाषिक, ले.—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर संवत् २०१२

भगवद्गीता, प्रथम संस्करण, ले.— राधाकृष्णन (अनु.—विराज एम. ए.), राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, नवम्बर १९६२

मनुस्मृति, १४वीं वार, सं.—पं. तुलसीराम स्वामी, पं. छुट्टनलाल स्वामी अध्यक्ष स्वामी प्रेस मेरठ शहर २२-५-१९१२

महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित) प्रथम खण्ड, चतुर्थ संस्करण, ले.—महर्षि वेद व्यास, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् २०३०

महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित) चतुर्थ खण्ड, तृतीय संस्करण, सं.—रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् २०२६ वि.

महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित) षष्ठ खण्ड, तृतीय संस्करण, अनु.—रामनारायण दत्त शास्त्री, यथापूर्व, संवत् २०२९

मृच्छकटिकम् (शूद्रक), प्रथम संस्करण, सं.— आर. डी. कर्मारकर, आर. डी. कर्मारकर सर परशुराम भाऊ कालिज पूना-२, सन् १९३७

यजुर्वेदभाष्यम्, द्वितीय संस्करण, ले.—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, सन् १९५९

रस गंगाधर (पंडित राज जगन्नाथ) पार्ट १, तृतीय संस्करण, पं. बद्रीनाथ झा, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी-१, सन् १९७०

वर्णोच्चारणशिक्षा, तृतीय संस्करण, ले.—पाणिनि (व्याख्याकार—दयानन्द सरस्वती), वैदिक यन्त्रालय, अजमेर संवत् २०२६

विदुर नीति, प्रथमवार, सं.—युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, २०२८ वि.

वेणी संहार (भट्ट नारायण), संस्करण अंकित नहीं, सं.—एम. आर. काले, डी. वी. तथा बी. डी. मुलगांवकर प्रोपाइटर्स गोपालनारायण एण्ड कंपनी प्रिंसेज स्ट्रीज बाम्बे, सन् १९३६

शुक्र नीति, द्वितीय बार, अनु.—पं. गंगाप्रसादजी शास्त्री, भारतीय राजनीति प्रकाशन शामली (उत्तर प्रदेश), २०२७ वि.

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम् (मूल मात्रम्), प्रथम संस्करण, सं.—हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर, २०१७ वि.

श्रीमद्भागवत महापुराणम्, षष्ठ संस्करण, महर्षि वेद व्यास (मूल), घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस गोरखपुर संवत् २०१० वि.

श्रीमद्भगवत्गीता (सामर्पण भाष्य), प्रथम संस्करण, स्वा. समर्पणानन्द सरस्वती (पं. बुद्धदेव विद्यालंकार), आचार्य कृष्ण प्रकाशन समिति, वर्णाश्रम संघ आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली-६, शिवरात्रि २०२७ वि.

श्रीमद्भगवत्गीता (गीता प्रेस), बारहवां संस्करण, प्र.—घनश्यामदास जालान गीता प्रेस गोरखपुर, सं. २०१५

श्रीमद्भगवत्गीता, संस्करण अंकित नहीं,—शंकरलाल जिंदल, अवध पब्लिशिंग हाउस लखनऊ, सन् १९५४

सत्यार्थप्रकाश (संस्कृतानुवाद), प्रथम संस्करण, अनु.—शंकरदेव पाठक, प्र.—नारायण स्वामी अध्यक्ष दयानन्द जन्म शताब्दी, १९८१ वि.

साहित्य दर्पण (विश्वनाथ कविराज), द्वितीय संस्करण, व्याख्याकार-डा० सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १, संवत् २०२० वि.

संस्कृतवाक्यप्रबोध, प्रथम वार, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामलाल कपूर ट्रस्ट गुरु बाजार अमृतसर, सन् १९६९

संधिविषय, दशम वार, दयानन्द सरस्वती, वैदिक यंत्रालय अजमेर, सं. २०१६

सांख्यकारिका, प्रथम संस्करण, सीताराम शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस, सन् १९५३

सौवर, दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर. सं २०११

स्त्रैणतद्धित, दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर

⁂

ENGLISH BOOKS

An Advanced History of India, Part III (Modern India), III Edition, R. C. Majumdar, H. C. Raychaudhary, Kali Kinkar Dutt; Macmillan, St. Martins Press, New York, 1967.

A Sanskrit English Dictionary, First Edition (Indian), Sir Monier Williams M.A., K.C.I.E; Motilal Banarsidas, Varanasi, 1970.

A Study of Materia Medica, Second Edition, N.M. Chaudhary; The Presidency Homeopathic Pharmacy 12 Lindsay Street Calcutta, 1929 (as given in Introduction).

British Paramountcy and Indian Renaissance Part I, First Edition, R.C. Majumdar; Bhartiya Vidya Bhawan, Chaupatty Road Bombay 7, 1963.

Contribution of Arya Samaj In the Making of Modern India 1875-1947, Edition not given, Radhey Shyam Pareek; Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha Dayanand Bhawan Ram Lila Ground New Delhi, 1973.

The Cultural Heritage of India Vol. IV-Relegions, Editor-Haridas Bhattacharya; Swami Akhandanand Secretary The RamKrishna Mission Institute of Calcutta, Reprint 1969.

Dayanand Commemoration Volume, First Edition, Har Bilas Sarda; Chandmal Chandak Vedic Yantralaya Kaiserganj Ajmer, 1933.

Democracy and The Individual, Reprint in India 1946, Carleton Kemp Allen; Geoffery Cumberlege Oxford University Press, 1946.

Dictionary of National Biography, July 1972, Editor-S.P. Sena Vol. I; Institute of Historical Studies Calcutta, July 1972.

Handbook of Medical Jurisprudence and Toxicology, Edition not given, Khan Bahadur Ardeshir K. Turner; The Bombay Popular Book Depot Bombay, 1935.

Hinduism, First Published 1972, John R. Hinnells and Eric J. Sharpe; Oriental Press Ltd. 32 Ridley Palace New Castle Upon Tyne England.

History and Culture of the Indian People, Second Impression, R.C. Majumdar; George Allan and Unwin Ltd., 1952.

History of Dharmasastra Vol. II Part II, Edition not given, P. V. Kane; Bhandarkar Oriental Research Institute Poona, 1941.

History of Classical Sanskrit Literature, 1937, M. Krishnamachariar M.A., M.L., Ph.D; Tirumali Devasthanams Press Madras, 1937.

Hymns From Rigveda, Sixth Edition, Peter Peterson; Dr. V.S. Sukthankar Secretary The Bhandarkar Oriental Research Institute Poona 4 (India), 1937.

Kingship in Northern India, First Edition, Ram Charita Prasad Singh, Motilal Banarsidas Bungalow Road Jawaharnagar Delhi-7-, 1968.

Life and Teachings of Swami Dayanand, Second Edition (First 1903), Bawa Chajju Singh; Jan Gyan Prakashan 1597 Hardhiyan Singh Marg New Delhi-5 (India), May 1971.

Life of Dayanand Saraswati, Second Edition, Harbilas Sarda; Paropkarini Sabha Ajmer, 1968.

Modern Relegious Movement in India, First Indian Edition, J.N. Farquhar M.A; Munshiram Manoharlal P.B. 1165 Nai Sarak Delhi-6, July 1967.

Punjab University Research Bulletin (Arts) Vol. III No. 2 Oct '72, Editor-in-Chief-Prof. Raj Kumar; Punjab University, Oct. 1972.

Rambles and Recollections of an Indian Official, Edition not given; Major General Sir W.H. Sleeman K.C.B. Humphry Milford O.U.P. London, 1915.

Several Essays, Second Impression, Editor-G.F.J. Cumberledge M.A; Humphry Milford Oxford University Press, 1929.

Seven Indian Educationists, First Edition, A. Biswas-J.C. Agarwal; Arya Book Depot Karol Bagh New Delhi-5, 1968.

Sex Habits of American Women-Dr. Fritz Wittels.

The Christian Missionaries in Bengal, First Edition, Kanti Prasanna Sen Gupta; Firma K.L. Mukhopadhys 6/1A, Dhiren Dhar Sarani Calcutta 12, Aug. 1971.

The Complete Works of Shakespeare, Odham's Press Ltd., Long Acre-London W.C. 2.

The Cultural Heritage of India Vol. IV.-The Relegions, Edition not given, Editor-Haridas Bhattacharya; Swami Akhandanand, Secretary-The Ramakrishna Mission Institute of Calcutta, Reprint 1969.

The Development of Hindi Prose Literature in the Early Nineteenth Century 1800-1856 A.D., First Edition, Shardadevi Vedalankar; Lokbharti Publications 15A Mahatma Gandhi Marg Allahabad 1, July 1969.

The Rise and Growth of Hindi Journalism (1826-1945), Edition not given, Ram Ratan Bhatnagar; Kitab Mahal Allahabad, Date of Publication not given, Introduction on Aug. 31, 1947.

The Student's Sanskrit English Dictionary, Edition not given, V.S. Apte; Motilal Banarsidas Delhi, 1963.

Wit and Wisdom of Swami Dayanand, First Edition, N.B. Sen; New Book Society of India P.H. No. 250 New Delhi, 1964.

पत्र-पत्रिकायें

१. आर्यमित्र
२. आर्योदय
३. आर्यप्रेमी
४. कविवचन सुधा
५. जनज्ञान
६. तपोभूमि
७. दयानन्द संदेश
८. धर्मयुग
९. परोपकारी
१०. ब्राह्मण
११. वीर अर्जुन
१२. वेदप्रकाश
१३. वेदवाणी
१४. स्मारिका
१५. सार्वदेशिक
१६. Illustrated Weekly
१७. Punjab University Research Bulletin (Arts)
Vol. III, No. 2
आदि के अनेक अंक

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

118329

संकेत

च. सी. सो. — डा. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे
दया. — स्वामी दयानन्द सरस्वती
यु. मी. — पं. युधिष्ठिर मीमांसक
वे. शा. तालिका — वेदशास्त्रतालिका
श. स़. — शताब्दी संस्करण
स. प्र. — सत्यार्थप्रकाश

2054
- 57
1997

2026
57
69

१८८१
५७
$\boxed{१८२४}$

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Acces on		18/11/96
[illegible]		26-3-97
[illegible]		29-3-97
Tag etc		17/1/97
Filing		24/4/97
E.A.R		28.4.97
Any other		29-3-97
Checked		31-3-97

Recommended By— डा० भारत भूषण

Entered in Database

Signature with Date

२०२४
७५
1976